लोक-प्रशासन के मूल सिद्धांत

तथा

राजस्थान राज्य का प्रशासन

(विभिन्न भारतीय विश्व-विद्यालयों के स्नातक स्तर के विद्यार्थियों के लिए)

लेखक

डा० लक्ष्मणसिंह राठौर
एम. ए., पी-एच डी., डी. लिट्.
अध्यक्ष, राजनीति विज्ञान विभाग
जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर

डा० प्रकाशलाल माथुर
एम० ए०, पी-एच० डी०
प्रवक्ता, राजनीति विज्ञान विभाग
एस डी राजकीय महाविद्यालय, ब्यावर

द्वितीय संशोधित संस्करण

1980 – 81

रमेश बुक डिपो
जयपुर

प्रकाशक :
बृजमोहनलाल माहेश्वरी
रमेश बुक डिपो, जयपुर

मूल्य : 18·00 रु०

मुद्रक :
मधुसूदन प्रिन्टर्स
जयपुर

द्वितीय संस्करण की प्रस्तावना

'लोक-प्रशासन तथा राजस्थान राज्य का प्रशासन' का हम अब तक कोई नया संस्करण प्रस्तुत नहीं कर सके, जिसका हमें खेद है। इस पुस्तक का द्वितीय परिवर्द्धित संस्करण इस विषय में रुचि रखने वाले विद्यार्थियों एवं पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। इस संस्करण में पुस्तक का काया-कल्प किया गया है। सभी अध्यायों में विषय-सामग्री को बढ़ाया गया है। इस संस्करण में एक नया अध्याय 'वित्तीय प्रशासन' जोड़ा गया है। प्रत्येक अध्याय के अन्त में परीक्षोपयोगी प्रश्नों की सूची भी दी गई है जिसका विद्यार्थी उचित लाभ उठा सकें और विषय सम्बन्धी अपने अध्ययन को व्यापक बना सकें। इस संस्करण की एक महत्ता यह भी है कि इसमें इस बार अंग्रेजी भाषा में उद्धरणों को स्थान दिया गया है साथ ही प्रत्येक अध्याय में शीर्षक तथा उप-शीर्षक भी अंग्रेजी भाषा में दिये गये हैं। पिछले संस्करण में पुस्तक में किसी भी रूप में अंग्रेजी भाषा का प्रयोग नहीं किया गया था। अतः कुछ पाठकों को अंग्रेजी शब्दों के अभाव में हिन्दी में प्रयुक्त शब्दों को समझने में कठिनाई हुई। अतः प्रत्येक अध्याय में आवश्यक अंग्रेजी शब्दों को हिन्दी शब्द के साथ प्रकोष्ठ में लिख दिया गया है जिससे कि किसी भी पाठक को कठिनाई न हो।

नये संस्करण में भी विद्यार्थी के स्तर व आवश्यकता का ध्यान रखा गया है। आशा है कि यह संस्करण विद्यार्थियों की ही आवश्यकता को पूरा नहीं करेगा अपितु उनके लिए भी श्रेयकर व उपयोगी सिद्ध होगा जो इस विषय में अपनी ज्ञान पीपासा को तुष्ट करना चाहते हैं।

पाठकों से हमारा निवेदन है कि यदि इस संस्करण में कोई कमी रही हो तो उसे अवश्य अवगत करावें जिससे भविष्य में उसे सुधारा जा सके।

हम अपने प्रयास में सफलता का कारण मैं० रमेश बुक डिपो के व्यवस्थापक श्री राधाकृष्ण माहेश्वरी को भी मानते हैं जिन्होंने इस पुस्तक को सुन्दर छपाई व अमाज सज्जा के साथ आप सभी लोगों तक पहुँचाया है।

अन्त में हम अपने पाठकों के प्रति अपनी कृतज्ञ ... न का
होने ... कार्यपालिका ... की प्रत्येक
द्वितीय-संस्करण ... प्रबन्धकीय पद्धति की विशेषताएँ ...
...र्यपालिका के प्रशासकीय कर्मचारी हैं।

...य का संगठन, इंग्लैण्ड में ...

...सन के गुण।

दो शब्द

भारत में स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व लोक-प्रशासन की ओर कोई समुचित ध्यान नहीं दिया गया था। परन्तु हमारे देश में प्रजातान्त्रिक व्यवस्था तथा लोक-हितकारी राज्य की स्थापना होने के साथ इस विषय का महत्त्व भी बढ़ा। प्रारम्भ में लोक-प्रशासन का अध्ययन स्नातकोत्तर कक्षाओं तक ही सीमित रखा गया। लेकिन अब कुछ वर्षों से इस विषय को स्नातक स्तर की कक्षाओं में भी पढ़ाया जाने लगा है। इस विषय का इतना महत्त्व होने पर भी हमारे देश में लोक-प्रशासन पर आवश्यक साहित्य का अभाव है। वैसे यह विषय लेखकों की कलम से अछूता तो नहीं रहा, लेकिन जो पुस्तकें लिखी गई हैं, वे अधिकांशतः अंग्रेजी भाषा में हैं और जो हिन्दी भाषा में पुस्तकें मिलती हैं उनमें अंग्रेजी को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया गया है। इसके अतिरिक्त यह पुस्तकें स्नातक स्तर के विद्यार्थियों के लिए अधिक उपयोगी नहीं रही हैं, अतः विद्यार्थियों के इस अभाव की पूर्ति करने के लिए इस पुस्तक को लिखने का प्रयास किया गया है।

इस पुस्तक की महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें अंग्रेजी के शब्दों तथा परिभाषाओं को कोई स्थान नहीं दिया गया है। भाषा सरल, सुबोध तथा रोचक बनाने का प्रयत्न किया गया है, इस पुस्तक में हिन्दी भाषा के सरल शब्दों का प्रयोग किया गया है तथा अनावश्यक साहित्य को कोई स्थान नहीं दिया गया है। पुस्तक के लिखते समय विद्यार्थियों के मानसिक स्तर का भी ध्यान रखा गया है।

यह पुस्तक तीनों विश्वविद्यालयों—जोधपुर, राजस्थान तथा उदयपुर के पाठ्यक्रमों को ध्यान में रखकर लिखी गई है। इस पुस्तक में लोक-प्रशासन के सिद्धान्त के अतिरिक्त राजस्थान राज्य के प्रशासन का विस्तार से वर्णन किया गया है।

इस पुस्तक के लिखने में जिन पुस्तकों से सहायता ली गई है, उन विद्वान लेखकों के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करना हम अपना परम कर्तव्य समझते हैं।

यह पुस्तक स्नातक स्तर के विद्यार्थियों के लिए उपयोगी तथा हितकर होगी, ऐसी आशा की जाती है। लेखक इसी में अपने परिश्रम को सफल समझेंगे

—लेखक

मुद्रक :
मधुसूदन प्रिन्टर्स
जयपुर

विषय-सूची

1

लोक-प्रशासन का अर्थ, क्षेत्र, प्रकृति एवं महत्त्व

(MEANING, SCOPE, NATURE AND IMPORTANCE OF PUBLIC ADMINISTRATION)

मानव सभ्यता के आदि युग में समाज का स्वरूप बहुत सरल तथा सादा था। मनुष्य को केवल उन्हीं वस्तुओं की आवश्यकताएँ थी जिनसे उसका जीवन चला रह सके। अतः उस युग में प्रशासन का स्वरूप बहुत सरल था। ज्यों-ज्यों मनुष्यों की आवश्यकताओं में वृद्धि होती गई त्यों-त्यों मानव समाज सरलता से जटिलता की ओर अग्रसर होता गया और उसी के अनुपात में प्रशासन भी जटिल बनता गया। उदाहरण के लिए, आदिकाल का मानव अपनी क्षुधा की तृप्ति जानवर को मारकर, उसका कच्चा माँस खा कर करता था। परन्तु जब से उसको इस बात का ज्ञान हुआ कि माँस को पकाकर खाना स्वादिष्ट तथा पौष्टिक होता है तो उसने आग जलाने की क्रिया का पता लगाया। इसी प्रकार मानव ने शरीर को सर्दी तथा गर्मी से बचाने के लिए वस्त्रों की आवश्यकता महसूस की। प्रारम्भ का मनुष्य अपने शरीर को पेड़ के पत्ते तथा छाला से ढक कर रखता था। इन सब वस्तुओं को प्राप्त करने तथा समाज में उनका उपयोग करने में मानव-समाज को प्रशासन की आवश्यकता रही है। किसी भी युग में मानव समाज का बिना प्रशासन के कोई भी कार्य पूरा नहीं हुआ है। यह तथ्य आज भी पूर्णत सत्य है।

आधुनिक काल में राज्यों के कार्यों में बहुत वृद्धि हो रही है। यहाँ तक कि राज्य के सम्बन्ध में जो धारणा या विचार था, उसमें भी परिवर्तन हो गया है। 19वीं शताब्दी में राज्य का मुख्य कार्य अपने लोगों को सुरक्षा प्रदान करना था तथा उनके जान-माल की रक्षा करना था। परन्तु 20वीं शताब्दी का राज्य पुलिस राज्य नहीं रहा, अपितु लोक-कल्याणकारी राज्य (Welfare State) है। इस प्रकार की व्यवस्था में राज्य द्वारा अनेक महत्त्वपूर्ण जनोपयोगी कार्य किये जाते हैं। जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त मानव-जीवन को व्यवस्थित तथा नियमन करने का कार्य वर्तमान राज्य का है। वर्तमान लोक-कल्याणकारी राज्य लोगों की प्रत्येक आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए अत-सक्रिय है। इसमें रोटी, रोजी तथा मकान की व्यवस्था के अतिरिक्त और भी कई सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं।

राज्य की निरन्तर बढ़ती हुई क्रियाओं के साथ ही साथ, लोक प्रशासन का योग तथा महत्त्व भी लगातार बढ़ता ही जा रहा है। राज्य के द्वारा सम्पादित कार्यों की सफलता तथा असफलता उन कर्मचारियों पर निर्भर करती है जो कि राज्य की नीति को क्रियान्वित करते हैं। प्रशासकीय नीतियाँ चाहे कितनी ही लाभदायी क्यों न हों, तब तक सफल नहीं हो सकती जब तक कि कुशल प्रशासकों द्वारा क्रियान्वित न हों। इस सत्य का अनुभव भारत में भी किया जाने लगा है। कांग्रेस के 65वें अधिवेशन में 'नियोजित विकास के कार्य-क्रमों को क्रियान्वित करना' पर एक प्रस्ताव पारित हुआ था। इसमें अन्य बातों के साथ-साथ यह भी स्पष्ट किया गया था कि—

"हमें यह समझ लेना चाहिए कि नीति तथा कार्यक्रमों का निर्धारण करना ही पर्याप्त नहीं है, इसके औचित्य की कसौटी उनका निष्पादन तथा उनको पूरा करना है। निष्पादन की इस कसौटी पर ही सभी श्रेणियों के पदाधिकारियों के कार्यों का मूल्यांकन किया जा सकता है और उन्हें प्रशंसा या आलोचना का भाजन बनाया जा सकता है।"

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक समाज में लोक-प्रशासन का महत्त्व कितना अधिक है। कुछ विद्वानों ने इसे 'आधुनिक सभ्यता का हृदय' (heart of modern civilization) कहा है। समाज में शान्ति तथा सुरक्षा को बनाये रखने तथा उसके चहुँमुखी विकास के लिए प्रशासन आवश्यक है। यदि किसी राज्य में सभ्यता नष्ट होगी तो उसका उत्तरदायित्व वहाँ के प्रशासन पर जायेगा। लोक-प्रशासन के द्वारा ही सभ्यता का विकास होता है। अतः इस विषय का हमारे दैनिक जीवन में अत्यन्त महत्त्व है और इसका अध्ययन करना ही महत्त्वपूर्ण हो जाता है। प्रो० ह्वाइट (L. D. White) का कथन है कि "'लोक-प्रशासन' एक विस्तृत शब्द 'प्रशासन' का महत्त्वपूर्ण अंग है।" अतः 'लोक-प्रशासन' के अर्थ को समझने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि पहले हम 'प्रशासन' के अर्थ को भली-भाँति समझ लें।

प्रशासन शब्द का अर्थ
(Meaning of Administration)

प्रशासन शब्द का अर्थ अत्यन्त व्यापक है, परिणामस्वरूप इस शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया गया है। उदाहरण के लिए, इस शब्द का प्रयोग मन्त्रिमण्डल के पर्यायवाची रूप में किया जाता है, जैसे—नेहरू प्रशासन ने देश की एकता तथा प्रगति के लिए विभिन्न कार्यों को सम्पादित किया गया। इसी प्रकार प्रशासन का अर्थ समाजशास्त्र के उस विभाग से लगाया जाता है जिसका सम्बन्ध अनुशासन अथवा बौद्धिक अनुशासन से है। उदाहरणार्थ, लोक प्रशासन एक सामाजिक विज्ञान है। कभी इसका प्रयोग उन सभी क्रियाओं के लिए किया जाता है जो कि लोक-नीति अथवा लोक नीतियों को क्रियान्वित करने तथा कुछ सेवाएँ अथवा

लाभ प्रदान करने के लिए सगठित की जाती है जैसे भारतीय प्रशासन, क्षेत्र प्रशासन आदि। प्रशासन शब्द का प्रयोग प्रबन्ध कर्ता के लिए भी होता है, जैसे—अमुक व्यक्ति प्रशासन मे दक्ष है। इस प्रकार प्रशासन के ये सभी अर्थ एक-दूसरे से इतने भिन्न हैं कि उन सब को एक परिभाषा मे सम्मिलित नही किया जा सकता।

एकीकृत तथा प्रबन्धात्मक दृष्टिकोण
(Integral and Managerial View) :

प्रशासन के उपर्युक्त अर्थों मे से प्रथम अर्थ हमारे लिए निरर्थक है। शेष अर्थों का ध्येय प्रशासन को एक क्रिया अथवा अध्ययन की शाखा तथा एक क्रिया बताना है। यह क्रिया उस अध्ययन का विषय-क्षेत्र है। यहाँ यह विवादास्पद प्रश्न उपस्थित होता है कि किन क्रियाओं को प्रशासन के क्षेत्र मे लिया जाय और किन को नही। इस सम्बन्ध मे दो विचारधारायें हमारे सामने हैं। प्रथम विचारधारा के अनुसार कुछ विद्वानो की मान्यता है कि प्रशासन मे उन सभी क्रियाओं का समावेश होना है जिनका सचालन एक निश्चित क्षेत्र मे नीति अथवा नीतियों के क्रियान्वयन मे होता है जिसमे कार्य करने वाले सभी व्यक्तियों के कार्य प्रशासन के अन्तर्गत आ जाते हैं चाहे वे प्रबन्धकीय वर्ग, तकनीकी वर्ग, श्रमिक वर्ग, लिपिक वर्ग चतुर्थ श्रेणी वर्ग से सम्बन्धित हो इस विचारधारा को प्रशासन का एकीकृत दृष्टिकोण (Integral view of Administration) कहा जाता है। यह *प्रशासन का व्यापक अर्थ है। विस्तृत अर्थ मे इसकी परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि सर्वमान्य लक्ष्यो की पूर्ति के लिए सहयोग करने वाले वर्गों की क्रियाएँ ही प्रशासन है।*

प्रशासन की प्रकृति के सम्बन्ध मे दूसरी विचारधारा यह है कि प्रशासन के क्षेत्र मे केवल वे ही क्रियाएँ आती हैं जिनका सम्बन्ध 'प्रबन्ध' से होता है तथा जो सम्पूर्ण सगठन को सामूहिक कार्य की सम्पन्नता के लिए एकीकृत तथा नियन्त्रित करती है। इसमे प्रशासन का सम्बन्ध केवल उन मनुष्यों से सम्बन्धित प्रबन्ध (management), निदशन (direction), निरीक्षण (supervision), व उनके नियन्त्रण (control) से है जो किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सहयोग कर रहे हैं। कुछ वाञ्छित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए मनुष्यों तथा सामग्री के उचित सगठन व निदेशन को सगठन कहा जाता है। इस प्रकार प्रशासन मे केवल प्रशासकों की क्रियाएँ ही आती हैं, एक चतुर्थ श्रेणी या लिपिक का कार्य प्रशासन की इस विचारधारा मे नही आता है। इस दृष्टिकोण को प्रशासन मे प्रबन्धात्मक दृष्टिकोण (Managerial View of Administration) कहा जाता है।

इन दोनो विचारधाराओं के बीच मौलिक अन्तर रहता है। जब हम एकीकृत विचारधारा को स्वीकार कर लेते हैं तथा यह मान लेते है कि प्रशासन विभिन्न सामान्य लक्ष्यों की पूर्ति के लिए की जाने वाली समस्त क्रियाओं का योग है तब उद्यम का प्रत्येक कर्मचारी—चतुर्थ श्रेणी से लेकर प्रबन्धक तक, प्रशासन के अग मान

लिये जायेंगे। इसके विपरीत, यदि हम प्रबन्धकीय विचारधारा को मानते हैं तो उसमें केवल उच्च तथा निरीक्षण एवं प्रबन्ध का कार्य करने वाले पदाधिकारी ही प्रशासन के अंग माने जायेंगे। इस प्रकार प्रशासन का विषय-क्षेत्र नियोजन, समन्वय, निर्देशन, वित्तीय नियन्त्रण आदि प्रबन्ध की विधियों और नीतियों तक ही सीमित हो जाता है। इस उदाहरण के द्वारा प्रशासन के अन्तर्गत आने वाली क्रियाओं के सम्बन्ध में दोनों प्रकार की विचारधारा को और स्पष्ट तरीके से समझा जा सकता है। एक चीनी का कारखाना (Sugar factory) है जिसमें विभिन्न लोग कार्य करते हैं जिनका कार्य एक-दूसरे से भिन्न है। कारखाने के संचालन के सम्बन्ध में नीतियाँ बनाने के लिए एक निदेशक-मण्डल (Board of Directors) है, उन नीतियों को लागू करने तथा समन्वय बनाये रखने के लिए एक प्रबन्धक (Manager) है, विभिन्न सभागों में कार्य के निरीक्षण एवं नियन्त्रण के लिए सभागाध्यक्ष, अधीक्षक, फोरमैन, लिपिक वर्ग है, गन्ने को ढोने, मशीन में डालने और अन्य कार्य के लिए श्रमिक, चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी तथा सन्देशवाहक आदि कर्मचारी हैं। यदि हम एकीकृत विचारधारा को स्वीकार करते हैं तो इस कारखाने में कार्य करने वाले निदेशक से लेकर निम्न श्रेणी के कर्मचारी प्रशासन के अंग माने जायेंगे। यदि हम प्रबन्धात्मक दृष्टिकोण से देखें तो केवल निदेशक, प्रबन्धक, सभागाध्यक्ष, अधीक्षक तथा फोरमैन के कार्य ही प्रशासन की सीमा में आयेंगे। लिपिक, श्रमिक, सन्देशवाहक एवं चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी प्रशासन की परिधि में नहीं आ सकते।

उपर्युक्त उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी संगठन में दो प्रकार के पदाधिकारी होते हैं—एक वे जिनका सम्बन्ध केवल प्रबन्ध से होता है तथा दूसरे वर्ग का सम्बन्ध कार्य को करने से है। इस प्रकार पहला वर्ग कार्य कराता है जबकि दूसरा वर्ग कार्य करता है। हेनरी फेयोल (Henri Fayol) का विचार यहाँ प्रस्तुत करना उपयोगी होगा। उनके विचार में कर्मचारी चाहे कितने ही निम्न स्तर का क्यों न हो, उसके कार्यों में प्रशासन का किसी न किसी मात्रा में अवश्य ही समावेश होता है। उन्होंने लिखा है, "किसी बड़े औद्योगिक संस्थान में श्रमिक द्वारा व्यतीत किये गये सौ घण्टे में से केवल कुछ घण्टे ही प्रशासकीय प्रकृति के कार्यों में व्यय होते हैं। उसकी तुलना में एक फोरमैन का अधिकांश समय प्रशासनिक कार्यों को सम्पन्न करने में ही व्यतीत होता है। इस प्रकार एक औद्योगिक पद-सोपान (Industrial hierarchy) में एक कर्मचारी का पद जितना ऊँचा होता जाता है, उसे प्रशासनिक कार्यों में उतना ही अधिक समय लगाना होता है।"

'प्रशासन' शब्द का अर्थ
(Meaning of Administration)

'प्रशासन' शब्द अंग्रेजी के 'एडमिनिस्ट्रेशन' (Administration) का हिन्दी रूपान्तर है। अंग्रेजी भाषा में इस शब्द की रचना दो लैटिन शब्दों 'Ad' और

'minister' से मिलकर हुई है जिसका अर्थ है 'सेवा करना'। एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका (Encyclopedia Britannica) में इस शब्द का अर्थ "कार्यों का प्रबन्ध या उनको पूरा करना" व्यक्त किया गया है। इस प्रकार प्रशासन किसी निर्दिष्ट लक्ष्य अथवा उद्देश्य की पूर्ति के लिए किये जाने वाले सभी मानवीय उद्यमों का प्रतीक है। प्रशासन एक सर्वव्यापी शब्द है जो मानव जगत की सामूहिक क्रियाओं के प्रबन्ध के लिए प्रयुक्त किया जाता है। अधिकांश मानवीय क्रियाओं की प्रकृति सामूहिक या सहयोगपूर्ण होती है इसलिए प्रशासन का हस्तक्षेप प्रायः प्रत्येक संगठन के कार्यों में होता है चाहे वे सार्वजनिक हों अथवा व्यक्तिगत, चाहे छोटे हों अथवा बड़े। प्रशासन को एक सहयोगपूर्ण प्रयत्न माना जाता है जो कि सचेतन रूप से निर्धारित किये किसी लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयास करता है। किसी उद्देश्य के लिए किये जाने वाले सभी प्रकार के नियमों की एक विशेषता के रूप में प्रशासन आधुनिक युग की कोई विशेषता या विचित्रता नहीं है। इसकी उपस्थिति सभ्यता के विकास के प्रारम्भ से ही दृष्टिगत होती है। आदिमकाल से ही मनुष्य प्रशासन से किसी न किसी तरह प्रभावित हुआ है।

इस प्रकार प्रशासन सभी आयोजित मानवीय क्रिया-कलापों में विद्यमान रहता है। जो कार्य किसी एक ही व्यक्ति के द्वारा सम्पादित किये जाते हैं वहाँ प्रशासन का तत्त्व सन्निहित नहीं रहता। पिफनर तथा प्रिस्थस ने प्रशासन शब्द को परिभाषित करते हुए उपयुक्त ही लिखा है कि "वांछित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए मानवीय तथा भौतिक साधनों का संगठन तथा संचालन ही प्रशासन है।"

प्रशासन की परिभाषाएँ
(Definitions) —

प्रशासन के स्वरूप से सम्बन्धित दोनों विचारधाराओं का अध्ययन करने के पश्चात् यह उचित होगा कि महत्त्वपूर्ण विद्वानों के द्वारा समय-समय पर दी गई परिभाषाओं का उल्लेख किया जाए।

प्रो० जॉन ए० वीग (Prof John A Vieg) के अनुसार, "" कार्यों को व्यवस्थित ढंग से क्रमबद्ध करना तथा साधनों का पूर्व-निर्धारित रीति से उपयोग करना ही प्रशासन है, जिसका उद्देश्य है कि उन्हीं कार्यों को होने दिया जाए जिन्हें कि हम सम्पन्न करना चाहते हैं और साथ ही साथ, ऐसी वृद्धियों को रोका जाय जिनका हमारी इच्छाओं के साथ सामंजस्य न बैठता हो।" एल० डी० ह्वाइट (L D White) के अनुसार, "प्रशासन प्रत्येक सामूहिक प्रयास, सार्वजनिक या व्यक्तिगत, सैनिक या असैनिक, बड़े पैमाने या छोटे पैमाने का सामान्य क्रम है। यह क्रम एक बैंक, विश्वविद्यालय या हाई स्कूल, रेल-रोड, होटल अथवा नगर के शासन में कार्य करता है।" ("Administration is a process Common to all group efforts public or private, civil or military, large scale or small scale It is a process at work in a departmental

store, a bank, a university or high school, a rail-road, a hotel or a city government ")

फ़िग्रो (Nigro) के शब्दों में, "किसी उद्देश्य की प्राप्ति हेतु मनुष्यों तथा वस्तुओं का जो संगठन तथा उपयोग किया जाता है, उसे प्रशासन कहते हैं।" (Administration is the organisation and use of man and material to accomplish a purpose.")

ई० एन० ग्लैडन (E. N. Gladden) के शब्दों में, "प्रशासन लोगों की परवाह, देख-भाल व कार्यों का प्रबन्ध करना है।"

लूथर गुलिक (Luther Gullick) के अनुसार, "प्रशासन का सम्बन्ध कार्यों को पूरा करने से है, जिससे साथ ही साथ निर्धारित लक्ष्य पूरा हो सके।" (Administration has to do with getting things done with the accomplishment of defined objectives.")

फिफनर (Pfiffner) के कथनानुसार, "वांछित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए मानवीय तथा भौतिक साधनों का संगठन तथा निदेशन ही प्रशासन है।" ("The organisation and direction of human and material resources to achieve designed ends.")

हर्बर्ट ए० साइमन (Herbert A. Simon) के अनुसार, "सबसे अधिक व्यापक अर्थ में समान लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए वर्गों या समूहों द्वारा साथ मिलकर की जाने वाली क्रियाओं को प्रशासन कहा जा सकता है।" ("In its broadest sense administration can be defined as the activities of groups co-operating to accomplish common goals.")

हार्वे वाकर (Harvey Walker) के अनुसार, "सरकार कानून को लागू करने के लिए जो कार्य करती है, उसे प्रशासन कहते हैं।" ("The work which government does to give effect to a law, is called administration.")

उपर्युक्त परिभाषाओं का अध्ययन तथा मनन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जब कुछ लोग परस्पर एक साथ मिलकर निश्चित उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए कार्य करते हैं तो उन क्रियाओं को प्रशासन कहा जाता है। वांछित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए मनुष्यों तथा सामग्री के उचित संगठन तथा निदेशन को भी प्रशासन कहा जाता है।

लोक-प्रशासन का अर्थ

(Meaning of Public Administer)

'प्रशासन' शब्द को समझ लेने के पश्चात् लोक-प्रशासन के अर्थ को आसानी से समझा जा सकता है। लोक-प्रशासन दो शब्दों से मिलकर बना है—लोक तथा प्रशासन। लोक का अर्थ है, सम्पूर्ण जनता और प्रशासन का अर्थ है, कार्यों का प्रबन्ध

करना या सेवा करना । इस प्रकार लोक-प्रशासन का अर्थ हुआ, राज्य में सम्पूर्ण जनता के लिए सेवा कार्य करना । वैसे तो समाज में कई संस्थाएँ होती हैं जो जन-कल्याण के कार्य करती है लेकिन वास्तव में उनका कार्य-क्षेत्र सम्पूर्ण जनता नहीं हो पाता । लोक-प्रशासन, प्रशासन का ही व्यापक तथा सार्वजनिक स्वरूप है । राज्य अपने उद्देश्य की पूर्ति सरकार के माध्यम से करता है । एलेक्जेन्डर हेमिल्टन ने लोक-प्रशासन की बड़ी सुन्दर व्याख्या की है और कहा है कि, चूँकि सरकार की क्रियाएँ सार्वजनिक अथवा लोक-हित के लिए सम्पन्न की जाती है अतः सरकारी कार्यों के प्रशासन को लोक-प्रशासन कहा जाता है । जब प्रशासनिक सूत्रों तथा स्रोतों का प्रयोग लोक-हित प्राप्त करने की दृष्टि से किया जाता है, जिसमें अधिकांश जनता का हित प्रभावित होता है वो लोक-प्रशासन कहलाता है । अस्पताल, अपराधियों की रोक-थाम के लिए पुलिस व्यवस्था, नहरों का निर्माण, सड़कों एवं राष्ट्रीय मार्गों का निर्माण लोक प्रशासन की कुछ क्रियाओं के उदाहरण है।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि लोक-प्रशासन में सरकार के कौन से कार्य सम्मिलित किये जाने चाहिए । यह विवादास्पद प्रश्न है और इस पर विद्वान एकमत नहीं है । कुछ विद्वान जो लोक-प्रशासन को व्यापक रूप प्रदान करना चाहते है, उनका विचार है कि लोक-प्रशासन में सरकार के समस्त कार्य आ जाते है । सरकार के तीन अंग होते है—व्यवस्थापिका (Legislature), कार्यपालिका (Executive) तथा न्यायपालिका (Judiciary) । इस प्रकार लोक-प्रशासन में सरकार के इन तीनों शाखाओं के कार्य उसकी परिधि में आ जाते है । इसके विपरीत, कुछ विचारक यह मानते है कि लोक-प्रशासन के अन्तर्गत कार्यपालिका शाखा के कार्य ही आते है । यह लोक-प्रशासन का संकुचित अर्थ है । वास्तव में लोक-प्रशासन के क्षेत्र में केवल वे कार्य आते है जिनका सम्बन्ध किसी लोक-नीति के निष्पादन अथवा कार्यान्विति से होता है ।

सामान्य व्यवहार में, लोक-प्रशासन की क्रियाओं के क्षेत्र को सरकार की केवल कार्यपालिका शाखा के संगठन तथा कार्य-कलापों तक ही सीमित रखा जाता है । यह विश्वास किया जाता है कि यदि लोक-प्रशासन के अन्तर्गत सरकार की तीनों ही शाखाओं की उन सभी जटिल क्रियाओं का, जो कि सार्वजनिक उद्देश्यों के लिए सम्पन्न की जाती है, अध्ययन किया गया तो इसमें विषय अत्यन्त व्यापक हो जायेगा । व्यापकता के कारण लोक-प्रशासन के अध्ययन में कई भ्रम उत्पन्न हो जायेंगे तथा विषय की एकरूपता समाप्त हो जायेगी । संकुचित अर्थ में, लोक-प्रशासन के अन्तर्गत मुख्यतः संगठन, कार्मिक वर्ग तथा कार्य करने की उन रीतियों को सम्मिलित किया जाता है जो कि सरकार की कार्यपालिका शाखा को सौंपे गये असैनिक कार्यों को प्रभावशाली ढंग से पूरा करने के लिए आवश्यक हों । लोक-प्रशासन के प्रसिद्ध विद्वान डब्ल्यू० एफ० विलोबी (W F Willoughby) *का यह विचार उद्धृत करना उचित होगा जिसके अनुसार, "राजनीति विज्ञान में 'प्रशासन'*

शब्द दो अर्थों में प्रयोग किया जाता है। व्यापक अर्थ में इस शब्द का प्रयोग सरकार के समस्त क्रियाकलापों के लिए किया जाता है, इसलिए यह कथन पूर्णतया सही है कि प्रशासन की विधायनी शाखा का प्रशासन, न्यायिक प्रशासन अथवा कार्यपालिका शक्तियों का प्रशासन। इसी प्रकार सरकार की प्रशासकीय शाखा में कार्यों का प्रशासन अथवा सामान्य रूप से सरकार के कार्यों का संचालन आदि। अपने संकुचित अर्थों में यह केवल प्रशासकीय शाखा के कार्यों को ही सूचित करता है।" इन दो अर्थों के होने के कारण लोक-प्रशासन की परिभाषाएँ एक-दूसरे से मेल नहीं खाती, क्योंकि वे किसी न किसी एक दृष्टिकोण पर आधारित हैं। अध्ययन के हेतु यहाँ कुछ प्रमुख विद्वानों की परिभाषाएँ दी जा रही हैं जिनके द्वारा उनमें अन्तर को स्पष्ट किया जा सकता है।

लोक-प्रशासन की परिभाषायें
(Definitions) ·

लूथर गुलिक के अनुसार, "प्रशासन का सम्बन्ध कार्यों को पूरा करने से है लोक-प्रशासन, प्रशासन के विज्ञान का एक विशिष्ट अंग है जो सरकार से सम्बन्धित है और इसलिए मुख्यतया उसका सम्बन्ध कार्यपालिका शाखा से है, जहाँ सरकार का काम किया जाता है, यद्यपि वहाँ व्यवस्थापिका व न्यायपालिका शाखाओं से सम्बन्ध की समस्याएँ भी स्पष्ट रूप से होती हैं।" (Administration is that part of the science of administration which has to deal with government, and thus concerns itselfs' primarily with the executive branch, where the work of the government is done, though there are obviously administrative problems also in connection with the legislative and judicial branches ")

डॉ० ह्वाइट (Dr L. D White) का मत है कि, "लोक-प्रशासन में वे सभी कार्य आ जाते हैं जिनका उद्देश्य सार्वजनिक नीतियों को पूरा करना या लागू करना होता है।" (Public Administration consists of all those operations having for their purpose the fulfilment or enforcement of public policy.")

पर्सी मक्वीन (Percy Mequeen) के शब्दों में, "लोक-प्रशासन वह प्रशासन है जिसका सम्बन्ध सरकार के कार्यों से है, चाहे वह केन्द्रीय हो अथवा स्थानीय।" ("Public Administration is administration related to the operations of government whether Central or Local ")

वुडरो विल्सन (Woodrow Wilson) के अनुसार, "लोक-प्रशासन विधि को विस्तृत एवं क्रमबद्ध रूप से क्रियान्वित करने का नाम है। विधि को क्रियान्वित करने की प्रत्येक क्रिया एक प्रशासकीय क्रिया है।" ("Public Administration

s a detailed and systematic study of law Every particular application of law is an act of administration ")

हार्वे वाकर (Harvey Walker) के मतानुसार, "सरकार कानून को क्रियान्वित करने के लिए जो कार्य करती है, वह प्रशासन कहलाता है।" ("The work which a government does to give effect to a law is called administr tion)

विलोबी (Willoughby) के अनुसार, 'प्रशासकीय कार्य वास्तव में सरकार की व्यवस्थापिका शाखा द्वारा घोषित और न्यायपालिका शाखा द्वारा निर्वाचित कानून को प्रशासित करने से सम्बद्ध है।" ("The administrative function is the function, actually administering the law as declared by the legislature and interpreted by the Judicial branches of the government ")

जॉन एम० फिफनर (John M Pfiffner) ने लोक-प्रशासन की परिभाषा करते हुए लिखा है कि, लोक-प्रशासन का सम्बन्ध सरकार के कार्यों से है चाहे वह स्वास्थ्य प्रयोगशाला में एक्स-रे (X–Ray) मशीन का संचालन हो अथवा टकसाल में सिक्के बनाने का कार्य हो। लोक-प्रशासन का लक्ष्य मनुष्यों के कृत्यों में सामंजस्य उत्पन्न करना है जिससे वे किसी पूर्व निश्चित लक्ष्य के प्रयासों को जुटा सकें।" ("Public Administration consists of doing the work of government, whether it be running X–Ray machine in a health laboratory or coining money in the mint .. . .. Administration consists of getting the work done by co-ordinating the efforts of people so that they can work together or accomplish their set task ")

ई० एन० ग्लेडन (E N Gladden) के शब्दों में, "लोक-प्रशासन में लोक-पदाधिकारियों के वे समस्त कार्य सम्मिलित हैं, जिनका सम्बन्ध प्रशासन से है, चाहे वे व्यक्तिगत प्रशासक हों या क्लर्क।" ("Public Administration includes the activity of all public officials concerned with administering whether as administrators or clerks ')

वाल्डो (Waldo) के कथानुसार, "लोक-प्रशासन मानवीय सहयोग का एक पहलू तथा विभिन्न वर्गों वाले प्रशासन से सम्बन्धित एक वर्ग है जो कि उच्च-कोटि की विचार-शक्ति से युक्त एक प्रकार का सामूहिक मानवीय प्रयत्न है। ("one phase or aspect of human co-operation a species belonging to the genus administration which in turn is a type of co-operative human effort that has a high degree of rationality ")

मार्क्स तथा साइमन (Marx and Simon) के शब्दों में, "लोक-प्रशासन का अर्थ स्थानीय एवं राष्ट्रीय सरकार के कार्यकारिणी विभागों की प्रतिक्रियाओं से

ही है।" ("By Public Administration is meant in common usage the activities of the executive branches of the National, State and Local governments.")

डिमोक (Marshall E. Dimock) के अनुसार, "प्रशासन का सम्बन्ध सरकार के 'क्या' और 'कैसे' से है।" ("Administration is concerned with 'what' and 'how' of the government.")

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर लोक-प्रशासन का व्यापक तथा संकुचित अर्थ बताने का विद्वानों ने प्रयत्न किया है। लेकिन वास्तव में लोक-प्रशासन के स्वरूप को निश्चित तरीके से नहीं बताया जा सकता, जिस प्रकार कि हम एक भौतिक विज्ञान के स्वरूप को बता सकते हैं। लोक-प्रशासन की सीमा रेखाएँ निर्धारित करके उसके स्वरूप की निश्चित व्याख्या नहीं की जा सकती। लोक प्रशासन की विभिन्न परिभाषाओं के सम्बन्ध में लोक-प्रशासन के प्रसिद्ध विद्वान डॉ० एम० पी० शर्मा (M. P. Sharma) का विचार है कि इनको प्रकार चार भागों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम वे परिभाषाएँ हैं जो प्रशासन की प्रकृति की व्यापक किन्तु लोक-प्रशासन के क्षेत्र की संकुचित व्याख्या करती हैं, जैसे एल० डी० व्हाइट द्वारा दी गई परिभाषा, जिसके अनुसार लोक-प्रशासन में उन समस्त क्रियाओं का समावेश होता है, जिनका प्रयोजन सार्वजनिक नीतियों को क्रियान्वित करना होता है। दूसरे, कुछ ऐसी परिभाषाएँ हैं जो लोक-प्रशासन की प्रकृति तथा क्षेत्र दोनों के सम्बन्ध में ही संकीर्ण दृष्टिकोण अपनाती हैं। तीसरे प्रकार की वे परिभाषाएँ हैं जो प्रशासन की प्रकृति के सम्बन्ध में संकीर्ण, परन्तु लोक-प्रशासन के क्षेत्र के सम्बन्ध में व्यापक दृष्टिकोण अपनाती हैं। उदाहरण के लिए, लूथर गुलिक द्वारा दी गई परिभाषा है, जिसके अनुसार प्रशासन का अर्थ तो केवल 'कार्य करना' है परन्तु लोक-प्रशासन के क्षेत्र के सम्बन्ध में उनका मत है कि उसमें कार्यों के अतिरिक्त शासन के अन्य अंगों की क्रियाओं का भी समावेश होता है। चौथे प्रकार की वे परिभाषाएँ हैं जो प्रशासन की प्रकृति तथा लोक-प्रशासन के क्षेत्र, दोनों के सम्बन्ध में व्यापक दृष्टिकोण अपनाती हैं। इनमें डिमोक तथा फिफनर के द्वारा प्रस्तुत परिभाषाएँ मुख्य हैं।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि लोक-प्रशासन का सम्बन्ध सरकार की उन विभिन्न क्रियाओं से है, जो कि कानून को लागू करने तथा लोक-नीतियों को कार्यान्वित करने के लिए सम्पन्न की जाती हैं परन्तु यह एक प्रक्रिया तथा एक व्यवसाय भी है। एक प्रक्रिया के रूप में, नीति के क्रियान्वयन के लिए उठाये जाने वाले प्रत्येक कदम से यह सम्बन्धित है और एक व्यवसाय (Vocation) के रूप में, इसका सम्बन्ध एक सरकारी अभिकरण (Public agency) में अन्य लोगों की क्रियाओं की व्यवस्था से है।

लोक-प्रशासन का क्षेत्र
(The Scope of Public Administration)

लोक प्रशासन की व्याख्या करते समय हमारे सामने दो प्रकार की विचारधाराएँ आई। एक विचारधारा लोक प्रशासन के व्यापक अर्थ को बतलाती है तथा दूसरी विचारधारा लोक-प्रशासन के संकुचित अर्थ को प्रस्तुत करती है। यदि लोक-प्रशासन की व्यापक परिभाषा को स्वीकार किया जाए तो इसके अध्ययन क्षेत्र में सरकार की व्यवस्थापिका (Legislature), कार्यपालिका (Executive) तथा न्यायपालिका (Judiciary) तीनों शाखाओं के कार्यों का समावेश हो जाता है। यह दृष्टिकोण व अध्ययन क्षेत्र बहुत अधिक विस्तृत है तथा इसे स्वीकार कर लेने से अध्ययन सम्बन्धी असीमित भार की समस्या खड़ी हो जाती है। इस प्रकार सरकार द्वारा की जाने वाली हर क्रिया को लोक-प्रशासन की सीमा में सम्मिलित करना होगा, जो कि वस्तुतः असम्भव सा ही प्रतीत होता है। इतने विस्तृत क्षेत्र के अध्ययन में अनेक प्रकार के भ्रम उत्पन्न हो जाने की सम्भावना रहती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सरकार के तीनों अंगों में प्रशासन होता है तथा वह भी निश्चित रूप से लोक-हित के उद्देश्य से होता है। परन्तु प्रश्न यह है कि इस प्रकार से लोक-हित के उद्देश्य से की जाने वाली समस्त प्रशासनिक क्रियाओं का इसमें समावेश करने से क्या लोक-प्रशासन में कर्म-विषयक व पूर्ण अध्ययन करना सम्भव रह जायेगा ?

इसी व्यावहारिक कठिनाई के आधार पर अधिकतर विद्वानों ने लोक-प्रशासन के क्षेत्र का निर्धारण इसके संकुचित अर्थ के आधार पर किया है, अर्थात् लोक-प्रशासन का क्षेत्र सरकार की कार्यपालिका शाखा के प्रशासनिक कार्यों तक ही सीमित है। यह सीमा बन जाने के बाद इस विज्ञान के निश्चित एवं कर्म-विषयक अध्ययनों में स्वाभाविकता आ जाती है। लोक-प्रशासन के क्षेत्र में संगठन, कर्मचारी-वर्ग के कार्यों तथा कार्य करने की उन रीतियों का समावेश होता है, जो कि सरकार की कार्यपालिका शाखा के अन्तर्गत आती है। सरकार के कार्यपालिका शाखा के द्वारा नागरिक या असैनिक व्यवस्था की स्थापना से सम्बन्धित कार्य मुख्य रूप से किये जाते है।

लोक-प्रशासन का क्षेत्र राज्य के कार्यों के साथ ही साथ बदलता भी रहा है तथा यह दोनों एक साथ चलते रहते है। जैसे— राज्य का कार्य पहले जनता में सुरक्षा स्थापित करना था परन्तु अब राज्य के कार्यों में अत्यधिक विस्तार हो गया है। आज राज्य से केवल यही आशा नहीं की जाती है कि वह अपराधियों को दण्ड दे तथा अपने नागरिकों की सुरक्षा करे। वर्तमान राज्य से सुरक्षा के अतिरिक्त कई अन्य कार्यों की भी आशा की जाती है, जैसे —नागरिकों की शिक्षा, स्वास्थ्य की व्यवस्था, न्याय का सम्पादन, समाज के विभिन्न हितों तथा स्वार्थों के बीच एकता स्थापित करना। संक्षेप में, अच्छे जीवन की प्राप्ति का प्रशासन एवं राज्य के लक्ष्यों

से सम्बन्ध है। आज राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में लोक-कल्याणकारी मत प्रचलित है। इसी आधार पर लोक-प्रशासन के क्षेत्र में भी लोक-कल्याणकारी क्रियाओं का समावेश हो जाता है तथा इसमें इनका विस्तृत अध्ययन किया जाता है। इस कथन से लोक-प्रशासन तथा राज्य के सम्बन्ध का स्पष्टीकरण होता है तथा यह भी स्पष्ट होता है कि प्रशासन के लक्ष्य राज्य के साध्य होते हैं तथा इनमें परिवर्तन समानान्तर रूप से ही होते हैं।

यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि लोक-प्रशासन विभिन्न प्रशासकीय विभागों की व्यक्तिगत समस्याओं की अवहेलना नहीं करता तथापि यह निर्विवाद सत्य है कि विभागीय समस्याएँ लोक-प्रशासन के अध्ययन का मुख्य विषय नहीं हैं। लोक प्रशासन मुख्य रूप से प्रशासकीय संगठन, प्रबन्ध, कार्य-पद्धति टेकनीक आदि से सम्बन्धित है। लोक-प्रशासन के क्षेत्र में निम्न बातों के अध्ययन का समावेश है—

(1) **सामान्य प्रशासन** (General Administration) —लक्ष्य निर्धारण व्यवस्थापिका एवं प्रशासन सम्बन्धी नीतियाँ सामान्य कार्यों का निर्देशन, स्थान तथा नियन्त्रण इसके अन्तर्गत आते हैं।

(2) **संगठन** (Organisation) —संगठन का सम्बन्ध प्रशासन के स्थायी ढाँचे से साथ है। इसमें प्रशासकीय कार्य को सम्पन्न करने के लिए सेवाओं का संगठन किस प्रकार से होना चाहिए।

(3) **कर्मचारी वर्ग** (Personnel) —लोक-प्रशासन के क्षेत्र में कर्मचारी-वर्ग की भर्ती, प्रशिक्षण, सेवाओं की दशा, अनुशासन तथा कर्मचारी संघ आदि समस्याओं का व्यापक रूप से अध्ययन करता है।

(4) **सामग्री व पूर्ति** (Material and Supply) —कर्मचारियों को अपना कर्त्तव्य-पालन करने के लिए कुछ सामग्री की आवश्यकता होती है, जैसे—सामान की खरीद, स्टोर करना, प्राप्त करने के साधन तथा कार्य करने के यन्त्र आदि से सम्बन्धित कठिनाइयों का अध्ययन किया जाता है।

(5) **वित्त** (Finance) —लोक-प्रशासन में जन-कल्याण के कार्यों को सम्पन्न किया जाता है जिसके लिए धन की आवश्यकता होती है। उस धन को किस प्रकार से प्राप्त किया, इस बात की विवेचना लोक-प्रशासन के अन्तर्गत की जाती है।

(6) **प्रशासकीय उत्तरदायित्व** (Administrative Accountability) —प्रजातान्त्रिक व्यवस्था में प्रशासन को न्यायपालिका, व्यवस्थापिका तथा जनता के प्रति उत्तरदायी बनाया जाता है। इस सम्बन्ध में उत्पन्न होने वाली समस्याओं का अध्ययन लोक-प्रशासन के क्षेत्र में किया जाता है।

(7) **सरकार के 'क्या' और 'कैसे' का अध्ययन** (Study of 'What' and 'How' of the Government) :—लोक-प्रशासन का सम्बन्ध सरकार के 'क्या'

से है, जिसका तात्पर्य है उन समस्त लक्ष्यों की उपस्थिति, जिनको वहते है, और जिनको पूर्ण करने के लिए वे प्रयत्नशील रहती है। 'कैसे' का सम्बन्ध साधनों से है जिनका प्रयोग सरकार उन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए करती है। वित्त, कर्मचारियों की भर्ती, निदशन, नेतृत्व आदि इसके उदाहरण है। इसके अन्तर्गत प्रशासन के दोनों पहलू आते हैं— सिद्धान्त तथा व्यवहार।

लोक-प्रशासन के क्षेत्र के सम्बन्ध मे 'पोस्डकार्ब दृष्टिकोण'

('POSDCORB' View of the Scope of Public Administration)

लोक-प्रशासन के अधिकांश प्रारम्भिक अमेरिकन लेखक इस विचार को सैद्धान्तिक अथवा व्यावहारिक सुविधा की दृष्टि से स्वीकार करते है कि प्रशासन प्रमुखत प्रबन्धकारी समस्याओं से सम्बन्धित है। इस विचार का समर्थन विशेषतौर से व्यावसायिक एवं औद्योगिक प्रबन्ध के लेखकों ने किया। इस प्रकार यदि हम यह स्वीकार कर ले कि लोक-प्रशासन केवल प्रबन्ध की क्रिया है तो हमें यह देखना होगा कि उसका अध्ययन क्षेत्र क्या है। हेनरी फॉयल के अनुसार प्रशासन मे सगठन, निदशन, व्यवस्था नियन्त्रण तथा समन्वय आदि तत्व सम्मिलित है। उनके अनुसार प्रशासन के ये वर्ग केवल तर्क बुद्धि पर आधारित नहीं है परन्तु ये व वास्तविक प्रक्रियाएँ भी है जो प्रशासन के सचालन मे योगदान देती है। फॉयल के इस विचार से उरविक भी सहमति प्रकट करता है। पी० मेकरीन ने लोक-प्रशासन के अध्ययन क्षेत्र का वर्णन सादे, सक्षिप्त, सरल और सुन्दर रूप म किया। वे लोक-प्रशासन मे केवल तीन तत्त्वों —मनुष्य, भौतिक साधन तथा रीतियाँ, का समावेश मानते है।

प्रारम्भिक अमरिकन विद्वान व्यावसायिक चिन्तन और सगठन से बहुत प्रभावित थे परन्तु फॉयल उरविक तथा उनके अनुयायियो ने लोक-प्रशासन के क्षेत्र मे जिन तत्त्वों का उल्लेख किया है वे बहुत अमूर्त हैं तथा लोक-प्रशासन की महत्त्व-पूर्ण प्रक्रियाओं को मापने के लिए बहुत सकीर्ण हैं। अत उन्होंने उनको समुचित रूप मे सशोधित करने की चेष्टा की। इस सम्बन्ध मे विलोबी (Willoughby) का नाम स्मरणीय है जिसने अपनी पुस्तक 'लोक-प्रशासन के सिद्धान्त' (Principles of Public Administration) को पाँच भागो मे विभक्त किया है—(1) सामान्य प्रशासन, (2) सगठन, (3) कर्मचारी वर्ग, (4) पदार्थ व सामग्री, तथा (5) वित्त।

इन उप-विभागो को और भी सशोधित एव विस्तृत करके अमेरिकन प्रशासकीय चिन्तन ने लोक-प्रशासन के अध्ययन क्षेत्र को क्रियात्मक तत्त्वो (functional elements) के चारो ओर केन्द्रित कर दिया। इस क्रियात्मक तत्त्वो का सकेत 'पोस्डकॉर्ब (POSDCORB) के अक्षरो से मिलता है। इस शब्द की रचना लूथर गुलिक ने की है, जो अग्रेजी शब्दो के प्रथम अक्षर के मिलकर बना है। इस शब्द के अक्षर अग्रलिखित क्रियाओ का बोध कराते हैं :—

P = Planning (योजना)

O = Organisation (संगठन)
S = Staffing (कर्मचारियों की व्यवस्था करना)
D = Direction (निर्देशन करना)
CO = Co-ordination (समन्वय करना)
R = Reporting (प्रतिवेदन तैयार करना)
B = Budgeting (बजट तैयार करना)

यहाँ उपर्युक्त शब्दों की संक्षिप्त व्याख्या करना अनुचित न होगा—

योजना (Planning) —इसका अभिप्राय उन कार्यों की रूप-रेखा तैयार करना है जिनका सम्पादित करने की आवश्यकता है। इसके साथ इसमें उन तरीकों का भी निश्चय करना होता है जिनके द्वारा उन कार्यों को पूरा किया जाता है।

संगठन (Organisation) —संगठन का कार्य लोक प्रशासन के क्षेत्र में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। प्रशासन के स्थायी ढाँचे से साथ संगठन का सम्बन्ध होता है। इसमें प्रशासकीय कार्यों का बँटवारा, प्रबन्ध एवं समन्वय किया जाता है।

कर्मचारियों की व्यवस्था करना (Staffing) —प्रशासन में कार्य करने वाले सभी कर्मचारियों की नियुक्ति, प्रशिक्षण और उनके कार्य करने की अनुकूल दशाओं का निर्माण करना।

निर्देशन करना (Directing) —कर्मचारी वर्ग के पथ-प्रदर्शन के लिए निर्देशन देना, विभिन्न विषयों व आज्ञाओं के बारे में निश्चय करना इसी के अन्तर्गत आते हैं। प्रशासन में निर्णय तथा निर्देशन का अत्यन्त प्रभावी स्थान होता है।

समन्वय करना (Co-ordination) —इसका सम्बन्ध लक्ष्य की प्राप्ति के लिए विभिन्न विभागों के कार्यों में सामंजस्य उत्पन्न करने से है। इसके द्वारा विभागों की विषमताओं को समाप्त किया जाता है।

प्रतिवेदन तैयार करना (Reporting) —प्रशासन के अन्तर्गत जो कार्य हो रहा है, उस कार्य की प्रगति सम्बन्धी सूचनाएँ कार्यपालिका को नियमित रूप से देनी होती है। यह सूचना निरीक्षण, अनुसंधान तथा शोधों के आधार पर एकत्रित की जाती है।

बजट तैयार करना (Budgeting) —इसमें वित्तीय योजनाएँ तैयार करना, हिसाब रखना, प्रशासकीय विभागों को वित्तीय साधनों के द्वारा अपने नियन्त्रण में रखना आदि बातें आती हैं।

'पोस्डकोर्ब' दृष्टिकोण की आलोचना
(Criticism of 'POSDCORB' View) —

पोस्डकार्ब युक्त द्वारा लोक प्रशासन के क्षेत्र की व्याख्या की कुछ विद्वानों ने आलोचना की है। जैसे पोस्डकार्ब की क्रियाएँ सभी बड़े पैमाने के संगठन में सम्पन्न की जाती है। ये प्रबन्ध सम्बन्धी सामान्य समस्याएँ हैं जो सभी संगठनों में पाई जाती हैं, चाहे वह संगठन किसी प्रकार का क्यों न हो। लेकिन पोस्डकार्ब की क्रियाएँ न तो

समूचे प्रशासन की प्रतिनिधि है और न वे उसका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग ही। ये केवल संस्थागत क्रियाएँ (institutional activities) हैं जो सब प्रकार के प्रशासन में आवश्यक होती हैं। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि विभिन्न संगठनों की प्रकृति एवं विषय तथा उनके द्वारा सम्पन्न की जाने वाली सेवाएँ भिन्न होती हैं। विभिन्न संगठनों में अलग अलग प्रकार की प्रशासकीय समस्याएँ पाई जाती हैं। समाज-कल्याण विभाग अथवा कृषि विभाग अथवा पुलिस विभाग के प्रशासन के मुकाबले शिक्षा विभाग में भिन्न प्रकार का कार्य सम्पन्न किया जाता है तथा उनमें समन्वय के तरीके भी एक-से नहीं होते। 'पोस्डकॉर्ब' का विचार केवल उन क्रियाओं का उल्लेख करता है जो व्यवहारतः सभी प्रशासकीय स्थितियों में पाई जाती हैं, परन्तु ल्यूइस मेरियम ने कहा कि इसके अन्तर्गत लोक प्रशासन से सम्बद्ध एक आवश्यक तत्त्व की उपेक्षा कर दी गई है और वह तत्त्व है 'पाठ्य विषय का ज्ञान' (Knowledge of the subject matter)। उनका कहना है कि पोस्डकार्ब में 'विषय ज्ञान' को कोई स्थान नहीं दिया है। उन्होंने 'लोक सेवा तथा विशिष्ट प्रशिक्षण' नामक अपने व्याख्यानों में कहा कि "हम कुछ कार्यों की योजना बनानी होती है, हमें कुछ कार्यों का संगठन करना होता है तथा कुछ कार्यों का निर्देशन करना होता है।" इस सम्बन्ध में उनका मत है कि प्रशासकीय अभिकरण के प्रभावी एवं बुद्धिमान प्रशासन के लिए अभिकरण से सम्बद्ध विषय का प्रगाढ़ ज्ञान आवश्यक है।[1]

ल्यूइस मेरियम ने लोक-प्रशासन के क्षेत्र की इस विषयवस्तु में निम्न बातों का उल्लेख किया है—

(i) कानून व व्यवस्था की स्थापना
(ii) शिक्षा
(iii) जन-स्वास्थ्य
(iv) कृषि
(v) जन-कार्य
(vi) सामाजिक सुरक्षा
(vii) न्याय
(viii) सुरक्षा

लोक प्रशासन के क्षेत्र की विषय वस्तु की सीमा यहीं तक समाप्त नहीं हो जाती वरन् उसमें और भी अनेक विषय सम्मिलित होते हैं। इन विषयों की अपनी पद्धतियाँ हैं जिनका समावेश पोस्डकार्ब सूत्र के अन्तर्गत नहीं होता है। उदाहरण के

1 "Intimate knowledge of the subject-matter with which any administrative agency is primarily concerned is indispensable to the effective, intelligent administration of the agency."

लिए पुलिस के प्रशासन को लिया जा सकता है जिसमें अपराध रोकने तथा अपराधी को पकड़ने के लिए अनेक ऐसी पद्धतियों व तकनीकों का प्रयोग किया जाता है, जिनका सामान्य संगठन, प्रबन्ध समन्वय या वित्त से सीधा सम्बन्ध नहीं होता। लोक प्रशासन के क्षेत्र में विषय वस्तु के विचार का समावेश होने के बाद ही यह *विज्ञान व्यावहारिक उपयोगिता प्राप्त कर सकता है।* लेकिन इसका अर्थ यह नहीं समझ लेना चाहिए कि लोक प्रशासन के क्षेत्र में पोस्डकोर्ब सूत्र का कोई महत्त्व नहीं है। वास्तव में उसके क्षेत्र की पूर्ण व्याख्या में पोस्डकार्ब तथा विषय-वस्तु दोनों का ही समावेश आवश्यक है। विषय-वस्तु का ज्ञान कितना आवश्यक है, उसकी विवेचना करते हुए ल्यूइस मेरियम ने कहा कि, 'लोक प्रशासन कैंची के दो फलकों के समान वाला औजार है। इस औजार का एक फलक है पोस्डकार्ब के अन्तर्गत आने वाले क्षेत्रों का ज्ञान और दूसरा फलक है उस विषय-वस्तु का ज्ञान जिसमें यह तकनीकें लागू की जाती हैं। इस औजार को प्रभावशाली बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसके दोनों ही फलके ठीक हों।'[1]

ल्यूइस मेरियम के उपर्युक्त कथन का सार यही निकलता है कि पोस्डकार्ब सिद्धान्त अपूर्ण है। एक फलक की कैंची जिस प्रकार बेकार है या एक पहिये की गाड़ी जिस प्रकार निरर्थक है उसी प्रकार पोस्डकार्ब का सिद्धान्त भी अव्यावहारिक है। पोस्डकार्ब सिद्धान्त केवल लोक-प्रशासन से सम्बन्धित विधियों का ज्ञान कराता है उसने व्यावहारिक प्रशासन (applied administration) की तो बिल्कुल उपेक्षा कर दी है।

मानवीय सम्बन्धों के दृष्टिकोण (Human Relations approach) के समर्थक विद्वानों ने भी पोस्डकार्ब के सिद्धान्त की आलोचना की है। हाथोर्न प्रयोग (Hawthorne experiments) ने इस बात पर बल दिया कि पोस्डकार्ब की तकनीकों को प्रशासन में महत्त्व नहीं दिया जाए। इस प्रयोग के द्वारा यह निश्चित हुआ कि उत्पादिता (productivity) का सम्बन्ध अध्ययन में लगे वर्गों की कार्य करने की दशाओं तथा उनसे सम्बन्धित होने वाले सामाजिक परिवर्तनों से है। श्रमिक भी तो मनुष्य ही है। प्रशासन में उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस प्रकार पोस्डकार्ब *का सिद्धान्त प्रशासन में इस महत्त्वपूर्ण तत्त्व की उपेक्षा करता है।* आधुनिक लोक प्रशासन का सम्बन्ध वर्गीय प्रक्रिया (group process), पत्र-व्यवहार, नेतृत्व देने तथा निर्णय लेने से है। उसका सम्बन्ध अपने संगठन में तथा अपनी सरकारी

---

1 "Public Administration is an instrument with two blades like pair of scissors. One blade may be knowledge of the fields Covered by POSDCORB, the other blade is knowledge of the subject-matter in which these techniques are applied. Both blades must be good to make an effective tool."

या वर्ग के साथ पक्षपात किया जाता है तो उससे परिणामस्वरूप दूसरे व्यक्तियों या वर्गों में गम्भीर असन्तोष उत्पन्न हो जायेगा जिसकी भारी आलोचना होगी। जब कि व्यक्तिगत प्रशासन में इस प्रकार की समरूपता बनाये रखने की आवश्यकता नहीं होती और बिना किसी बाधा के वह अपने ग्राहकों के एक वर्ग के साथ विशेष रियायत या सम्बन्ध बनाये रख सकता है, जिसके लिए उसकी कोई निन्दा नहीं की जा सकती। उदाहरण के लिए, एक व्यापारिक संस्थान उस ग्राहक को विशेष रियायतें देता है जो उससे रोज माल खरीदता है जबकि रेलवे का एक बुकिंग-क्लर्क रोजाना रेल यात्रा करने वाले को टिकट कम दामों पर या उधार नहीं देता। व्यक्तिगत प्रशासन के उन व्यक्तियों के प्रति अगाध रुचि प्रकट की जाती है जिनसे व्यापारिक संस्थान को अधिक से अधिक लाभ हो सकता हो।

(2) लोक प्रशासन में वित्त पर नियन्त्रण कार्यपालिका (Executive) का न होकर व्यवस्थापिका का होता है। प्रजातान्त्रिक राज्यों में लोक प्रशासन के कार्यों को सम्पादित करने के लिए सरकार जनता से करों को प्राप्त करती है और प्राप्त धन-राशि को जन-कल्याण के कार्यों में लगाया जाता है जिसकी स्वीकृति व्यवस्थापिका से प्राप्त की जाती है। प्रशासन एवं वित्तीय विषयों पर इस प्रकार का विभाजन व्यक्तिगत प्रशासन में नहीं मिलता।

(3) *लोक प्रशासन जनता के प्रति उत्तरदायी होता है।* इस प्रकार का उत्तरदायित्व संसदीय शासन व्यवस्था में स्पष्ट तथा विस्तृत होता है। प्रत्येक छोटी-बड़ी प्रशासकीय घटना अथवा निर्णय पर संसद में प्रश्न उठाया जा सकता है और सरकार को, विशेषतौर से सम्बन्धित मंत्री को, उसका सन्तोषजनक उत्तर देना होता है। लोक प्रशासन में इस बात की बड़ी सावधानी रखी जाती है कि प्रशासकीय परिपाटियों का उल्लंघन नहीं किया जाए। नियम, व्यवस्थाएँ, परिपाटियों के आधार पर प्रशासन चलाया जाता है और उन्हें तोड़ा नहीं जा सकता। प्रशासन को जनता की इच्छा का ध्यान रखना पड़ता है। यही कारण है कि लोक प्रशासन में लाल-फीताशाही दृष्टिगत होती है जिसके लिए प्रायः सरकार की आलोचना की जाती है। व्यक्तिगत प्रशासन इस रूप में जनता के प्रति उत्तरदायी नहीं रहता। जैसा कि पीछे बताया गया है, व्यक्तिगत प्रशासन पूर्णरूप से जनता की अवहेलना तो नहीं करता फिर भी वह उस प्रकार से जनता के प्रति उत्तरदायी नहीं होता जिस प्रकार से लोक प्रशासन जनता के प्रति उत्तरदायी होता है। व्यक्तिगत प्रशासन में लाभ कमाने की भावना होती है और वे किसी कार्य को तब तक करते हैं जब तक कि उनका यह लक्ष्य पूर्ण होता रहता है।

(4) व्यक्तिगत प्रशासन का मूल आधार लाभ कमाना है। एक सफल व्यापारी किसी भी व्यापारिक क्रिया को करने से पहले यह देखता है कि उसमें उसे क्या मिलेगा। जब व्यापारी इस बात से सन्तुष्ट हो जाता है कि उसमें लाभ की गुंजाइश है तभी वह किसी कार्य को प्रारम्भ करेगा। वह कोई ऐसा कार्य नहीं करेगा जिससे कि उसे लाभ न हो। लोक प्रशासन में लाभ कमाना आधार नहीं होता,

अपितु जनता की सेवा आधार होता है। लोक-प्रशासन का उद्देश्य जन-कल्याण के कार्य करना है। लोक प्रशासन का अर्थ ही जनता की सेवा करना है। सरकार जन-कल्याण के कार्य को सम्पादित करते समय लाभ की बात नहीं सोचती। सरकार ऐसे कई कार्यों को करती है जिनमें केवल धन खर्च होता है और आर्थिक लाभ कुछ भी नहीं होता जैसे स्कूलों को चलाना, अस्पतालों की स्थापना करना, सड़कें व पुल बनाना आदि। संक्षेप में कहा जा सकता है कि व्यक्तिगत प्रशासन का माप-दण्ड आर्थिक लाभ कमाना है जब कि लोक प्रशासन का मापदण्ड जनता को सुविधाएँ प्रदान करना है।

क्या व्यक्तिगत प्रशासन लोक प्रशासन की अपेक्षा अधिक निपुण है ?

(Is Private Administration more efficient than Public Administration)

कुछ विद्वान व्यक्तिगत प्रशासन को लोक प्रशासन से अधिक दक्ष तथा निपुण समझते हैं। इसका मुख्य कारण वे यह बताते हैं कि व्यक्तिगत प्रशासन में जो लाभ होता है उसका कारण दक्षता है। यदि हम इस कथन का गहराई से अध्ययन करें तो हमारे सामने यह तथ्य उपस्थित होता है कि प्रशासन के दोनों रूपों में अन्तर मात्रा का अधिक है गुण का कम। आज बड़े उद्योगों में प्रशासन का स्वरूप व आधार लोक प्रशासन के समान ही है। उनमें भी वैसे ही कायदे व कानून होते हैं जैसे लोक प्रशासन में होते हैं। कोई भी व्यक्तिगत उद्योग आज सरकार की नीतियों के विरुद्ध कार्य नहीं कर सकता। उसमें भी जन भावना का आज उतना ही महत्त्व है जितना कि लोक प्रशासन में।

दूसरा तर्क विचारक यह देते हैं कि व्यक्तिगत प्रशासन में कर्मचारियों की सक्रियता अधिक होती है। इसका मूल कारण यह है कि वे भी लाभ के भागीदार होते हैं। लोक-प्रशासन में व्यक्तिगत लाभ के अभाव के कारण कर्मचारी कार्यों में अधिक रुचि नहीं लेते। इस सम्बन्ध में यह उदाहरण दिया जा सकता है कि एक सरकारी संचालित बस में चाहे एक भी यात्री क्यों न हो, ड्राइवर उसे रवाना कर देता है और रास्ते में भी सवारियों को बिठाने का यत्न नहीं करता है क्योंकि वह मानता है कि इसमें उसका कोई लाभ नहीं है। परन्तु यह बात उस व्यक्तिगत व्यापार के सम्बन्ध में बड़े सत्य हो जहाँ पर कि स्वयं मालिक वस्तुओं का क्रय-विक्रय करता है। वास्तविकता यह है कि व्यक्तिगत प्रशासन में कार्य करने वाले कर्मचारियों में उतना उत्साह और सक्रियता नहीं होती जितना कि हम सोचते हैं। व्यक्तिगत महत्त्व को कम नहीं किया जा सकता, परन्तु प्रश्न यह है कि क्या कार्य करने के लिए प्रेरणा का कोई अन्य स्रोत नहीं हो सकता। क्या सर्वदा कार्य हम व्यक्तिगत लाभ के लिए करते हैं ? यह सत्य है कि कभी-कभी हम सामाजिक हित को ध्यान में रख कर भी कार्य करने के लिए प्रेरित होते हैं। स्वार्थ अथवा व्यक्तिगत हित का सिद्धान्त प्रत्येक

स्थिति में सत्य नहीं माना जा सकता। अतः यह कहना कि लोगियों बहुधा कर्मचारियों में सक्रियता का अभाव होता है, निःसन्देह गलत है। । यहाँ यह

अन्त में हम कह सकते हैं कि व्यक्तिगत प्रशासन के दोष, अंश विज्ञानों (Huxley) ने कहा है कि "व्यक्तिगत प्रशासन की त्रुटियों का अनुभव हम करते हैं कि यह ईंट तथा चूने के बनाये हुए मकान में रहता है। शीशे के मकान में, जिसके दोष प्रत्येक व्यक्ति देख सकता है। लोक-प्रशासन का उद्देश्य जन-कल्याण करना है। लोक-प्रशासन सभ्यता. निश्चयपूर्वक सहायक होता है। डोनहन (Donhan) का कहना है कि "यदि हमारी किया जाता पतन होता है तो वह प्रशासकीय असफलता का परिणाम होता है।"[2] लोक-समझना में कर्मचारियों को योग्य तथा दक्ष होना चाहिए और कर्मचारियों को प्राप्त करने लिए 'लोक सेवा आयोग' (Public Service Commission) का गठन होता है। प्रजातन्त्र में लोक-प्रशासन का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। वाल्डो का मत है कि "लोक-प्रशासन में समान व्यवहार न्याय तथा दायित्व का भाव होता है। लोक-प्रशासन में वित्तीय स्थिरता रहती है तथा सावधानी का पुट अधिक होता है। ये सब बातें व्यक्तिगत प्रशासन में नहीं होतीं। अतः लोक-प्रशासन व्यक्तिगत प्रशासन से श्रेष्ठ होता है।

उपर्युक्त तर्क जो लोक-प्रशासन के पक्ष में प्रस्तुत किये गये हैं, उनका अभिप्राय यह नहीं है कि लोक-प्रशासन में कोई दोष नहीं है और वह केवल जनता के कल्याण में वृद्धि करने के कार्य सम्पन्न करता है। उक्त तर्कों को देने का उद्देश्य केवल उन भ्रान्तियों का निराकरण करना है जिस पर जन-साधारण की यह भावना बन गई है कि व्यक्तिगत प्रशासन लोक-प्रशासन से अधिक दक्ष तथा निपुण है। वास्तव में लोक-प्रशासन के समक्ष यह बहुत बड़ी समस्या है कि वह किस प्रकार प्रशासकीय निपुणता में वृद्धि करे। यह समस्या इसलिए जटिल है कि लोक-प्रशासन का सम्बन्ध राज्य की समूची विषम परिस्थितियों के साथ है। इस समस्या का समाधान करना अत्यन्त आवश्यक है और प्रत्येक राज्य इस समस्या को सुलझाने में प्रयत्नरत है।

लोक प्रशासन की प्रकृति

(The Nature of Public Administration)

लोक-प्रशासन का अर्थ तथा उसका व्यक्तिगत प्रशासन से भेद समझने के पश्चात् हमारे सामने एक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न आता है कि लोक-प्रशासन की प्रकृति

1. "The State lives in a glass house, we see what it tries to do, and all its failures, partial or total are made the most of. But private enterprise is sheltered under good opaque, bricks and mortar."

2. "If our civilization fails, it will be mainly because of a breakdown of administration."

...ज्ञान की शाखा की प्रकृति के विषय में अध्ययनकर्ताओं में जिज्ञासा का [होना स्वाभाविक] है। आधुनिक वैज्ञानिक युग में, जबकि मनुष्य चन्द्रमा पर पहुँचने [में] ...तथा प्रगति करता जा रहा है, यह स्वाभाविक है कि प्रत्येक अध्ययन विज्ञान सिद्ध करने का दावा करे। यह समस्या लोक-प्रशासन के ही साथ नहीं, अपितु समस्त सामाजिक शास्त्रों के बारे में यह प्रश्न किया [जाता है कि इन]की प्रकृति क्या है। अधिकांश विद्वानों का मत है कि समाज शास्त्र, राजनीति शास्त्र आदि के समान ही लोक-प्रशासन भी एक विज्ञान है। [इस वि]चार के आलोचक भी बहुत हैं जो यह कहते हैं कि लोक-प्रशासन [विज्ञान न]हीं है। वे अपने-अपने तर्क प्रस्तुत करते हैं। कई विद्वान लोक-प्रशासन को ...कला मानते हैं।

लोक-प्रशासन राज्य के मामलों में लागू होने वाले प्रबन्ध का विज्ञान व कला है। इसका अर्थ यह है कि लोक-प्रशासन में विज्ञान तथा कला दोनों रूपों का समावेश है—वस्तु-स्थिति क्या है, क्या लोक-प्रशासन विज्ञान है, अथवा कला या यह दोनों है। इस प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व 'विज्ञान' शब्द के अर्थ को समझ लेना आवश्यक है।

विज्ञान का अर्थ
(Meaning of Science) :

विज्ञान का अर्थ ज्ञान होता है। परन्तु 'विज्ञान' साधारणतः गणित, रसायन शास्त्र, भौतिक शास्त्र जैसे प्राकृतिक भौतिक विज्ञानों के साथ जुड़ा हुआ है। अतः जन-साधारण की भाषा में इसका अर्थ उस ज्ञान से लगाया जाता है जो प्रत्येक दशा में ठीक तथा सत्य प्रमाणित हो। कार्ल पियर्सन ने विज्ञान की परिभाषा करते हुए लिखा है कि, "तथ्यों का वर्गीकरण, उनके क्रम और सापेक्षिक महत्त्व की मान्यता ही विज्ञान का कार्य है। इस प्रकार विज्ञान के नियम निश्चित होते हैं, उनके निर्णय निश्चित होते हैं। इस प्रकार के विज्ञानों का अध्ययन अनुसन्धान, परीक्षण, प्रयोग, वर्गीकरण, सह-सम्बन्ध आदि पर आधारित होता है। अतः निष्कर्ष, नियम और सिद्धान्त इन विज्ञानों के सदा सच्चे होते हैं और इनमें की जाने वाली भविष्यवाणियाँ सदा ठीक होती हैं। इन आधारों पर लोक-प्रशासन सहित कोई भी सामाजिक शास्त्र विज्ञान नहीं कहला सकता। यह विज्ञान का संकुचित अर्थ है। इसलिए समाजशास्त्री विज्ञान को उसके संकुचित अर्थ न लेकर उसके व्यापक अर्थों में समझने का प्रयत्न करते हैं। व्यापक क्षेत्र में विज्ञान का अर्थ है, 'क्रम-बद्ध ज्ञान' (Systematic knowledge)। सामाजिक शास्त्रों के विद्वानों के अनुसार कोई विषय विज्ञान है या नहीं, इस बात पर निर्भर करता है कि उसका अध्ययन क्रमबद्ध है या नहीं। यहाँ यह स्पष्ट कर देना भी उचित होगा कि भौतिक विज्ञानों के द्वारा की गई भविष्यवाणियाँ भी सदा ठीक नहीं होतीं। इस सम्बन्ध में ऋतु विज्ञान का

उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है जिसकी मौसम सम्बन्धी भविष्यवाणियाँ बहुधा सत्य नहीं होतीं। परन्तु इसका अर्थ नहीं कि ऋतु-विज्ञान, विज्ञान नहीं है। यहाँ यह कहा जाना उचित होगा कि जहाँ तक निश्चियात्मकता का प्रश्न है, सामाजिक विज्ञानों एवं भौतिक विज्ञानों में अन्तर केवल मात्रा का है, गुण का नहीं।

लोक-प्रशासन एक विज्ञान के रूप में
(Public Administration as Science)

विज्ञान का सकुचित एवं व्यापक अर्थ समझने के पश्चात् यह निश्चयपूर्वक *कहा जा सकता है कि सामाजिक शास्त्रों का अध्ययन क्रमबद्ध रूप में किया जाता* है। अतएव इस दृष्टिकोण से उन्हें विज्ञान की श्रेणी में ही रखा समझना चाहिए। लोक-प्रशासन में भी क्रमबद्ध रूप में वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर अध्ययन किया जाता है। यद्यपि लोक-प्रशासन का क्रमबद्ध अध्ययन वर्तमान युग की देन है फिर भी इसे विज्ञान की सज्ञा दी जा सकती है क्योंकि भौतिक विज्ञानों की भाँति उसके भी अपने निश्चित नियम हैं। उदाहरणार्थ यह कहा जा सकता है कि विशिष्टीकरण (Specialization) से प्रशासकीय कुशलता में वृद्धि होती है अथवा प्रशासकीय कर्मचारियों को पद-सोपान के सिद्धान्त (Principles of Hierarchy) के आधार पर सगठित करने से प्रशासन में कुशलता को लाया जा सकता है। कुछ विद्वानों का यह कहना है कि लोक-प्रशासन के अध्ययन में पूर्ण निश्चयता एवं यथार्थता नहीं पाई जाती और इस अभाव के कारण वह विज्ञान की श्रेणी में नहीं आ सकता। जबकि वस्तु-स्थिति यह है कि अध्ययन की निश्चितता (Exactness) व पूर्णता तो भौतिक विज्ञान में भी नहीं पाई जाती और अध्ययन की पूर्णता या अपूर्णता विज्ञान की कसौटी नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि अध्ययन की वैज्ञानिकता इस बात पर निर्भर करती है कि वह अध्ययन किस सीमा तक वैज्ञानिक प्रणालियों का प्रयोग कर सकता है, न कि इस बात पर कि उसमें कितनी यथार्थता अथवा निश्चितता है। जिस विषय के अध्ययन में वैज्ञानिक प्रणालियों का प्रयोग किया जाना सम्भव हो, उसे विज्ञान कहा जा सकता है।

सामाजिक विज्ञानों में निश्चितता एवं पूर्णता नहीं होने का एक मुख्य कारण यह है कि उनका अध्ययन-विषय (Subject matter) मानव और उससे सम्बन्धित संस्थाएँ हैं, जो परिवर्तनशील हैं। अतः कोई नियम सभी मनुष्यों पर कठोरता के साथ लागू नहीं हो सकता, जिस कठोरता के साथ भौतिक विज्ञानों में होता है, क्योंकि उनका विषय-वस्तु पदार्थ है, जो अपरिवर्तनशील है। इसका अर्थ यह नहीं है कि मनुष्यों के स्वभाव में परिवर्तनता के कारण उसका अध्ययन नहीं किया जा सकता। वास्तव में मानव-स्वभाव के बारे में भी मोटे तौर पर कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। ये निष्कर्ष भौतिक विज्ञानों के सूत्रों की भाँति शत-प्रतिशत तो सही नहीं हो सकते, तथापि सम्भावनाओं के रूप में वे बहुत उपयोगी सिद्ध होते हैं।

लोक-प्रशासन को विद्वान निम्न तीन तर्कों के आधार पर विज्ञान मानते है—

(1) कुछ विद्वान इस बात को मानते हैं कि भले ही लोक-प्रशासन के विज्ञान की वर्तमान स्थिति में उसे विज्ञान न कहा जा सके परन्तु कालान्तर में वह विज्ञान का रूप अवश्य ले लेगा। वर्तमान में लोक-प्रशासन का अध्ययन उसके स्वरूप का सुसंगठित विचारों का एक ढाँचा प्रस्तुत करता है और यह आगे जा करके अध्ययन तथा विश्लेषण का आधार बन सकता है और जब यह अध्ययन व विश्लेषण एक निश्चित सीमा तक पहुँच जायेगा तो यह भी अन्य सामाजिक विज्ञानों की भाँति एक संगठित विज्ञान के रूप में हमारे सामने होगा। एल० उर्विक (L. Urwick) ने इस विचार का समर्थन करते हुए कहा है कि, "इस समय लोक-प्रशासन के विद्यार्थी को एक ऐसे क्षेत्र में कार्य करना है जहाँ अनेक अज्ञात तत्त्व हैं, तथा जिसका अधिकांश क्षेत्र अभी तक अनखोजा पड़ा है। इस समय वह केवल यह कर सकता है कि विचारों का एक ढाँचा सुझा दे तथा सिद्धान्तों एवं विचारों का ऐसा प्रबन्ध कर दे जो दूसरों को उनके स्वयं के अनुभवों के आधार पर संवाद (Synthesis) का अवसर प्राप्त हो सके। अन्त में प्रशासन का एक विज्ञान सम्भव हो जायगा।' एफ० डब्ल्यू० टेलर (F. W. Taylor) का भी यही विचार था कि नये प्रबन्ध का सर्व प्रथम कर्त्तव्य यह है कि वह मनुष्य के कार्य के प्रत्येक तत्त्व के लिए एक विज्ञान का विकास करे जो कि पुरानी पद्धति का स्थान ले सके।

(2) कुछ ऐसे विचारक हैं जो यह मानते हैं कि लोक-प्रशासन अपने वर्तमान स्वरूप में एक विज्ञान ही है। अन्य सामाजिक विज्ञानों की भाँति लोक-प्रशासन के अध्ययन का क्षेत्र निश्चित कर लिया गया है और ऐसे आँकड़ों तथा तथ्यों की भारी मात्रा में संग्रह कर लिया गया है जिन पर वैज्ञानिक अध्ययन पद्धतियों का प्रयोग किया जा रहा है। एफ० मरसन जो इस मत के समर्थक है, उनका विचार है कि 'लोक प्रशासन व्यक्तिगत प्रशासन, व्यवसाय एवं नीति से भिन्नता रखता है। लोक-प्रशासन का अध्ययन केवल वैज्ञानिक विधियों के आधार पर ही किया जा सकता है।

(3) लोक-प्रशासन के कुछ विद्वान इस बात का दावा करते हैं कि इस विषय में यथार्थता तथा निश्चितता का कुछ सीमा तक समावेश हो चुका है। उनका कहना है कि लोक-प्रशासन के निष्कर्ष भले ही प्रशासक को यह न बता सकें कि उसे क्या निर्णय लेना चाहिए, परन्तु उन्होंने इतनी सुनिश्चितता अवश्य प्राप्त कर ली है कि वे उसे त्रुटिपूर्ण मार्ग अपनाने से सावधान कर सकते हैं। चार्ल्स ए० बीयर्ड का कथन है कि, "लोक-प्रशासन ने ऐसे नियमों तथा स्वयं-सिद्ध (Self-made) सूत्रों का विकास कर लिया है और उनके अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये वास्तविक व्यवहार में चरितार्थ होते हैं तथा उनके सहारे कुछ भविष्यवाणियाँ की जा सकती हैं।"[1] हम व्यावहारिक जगत में प्रायः यह देखते हैं कि प्रशासकीय विशेषज्ञ अनेक प्रशासकीय समस्याओं के बारे में भविष्यवाणियाँ करते रहते हैं और

प्रायः वे सत्य सिद्ध हो जाते हैं। बजट, लेखा, नागरिक सेवा आदि विषयों पर कुछ सिद्धान्त तथा नियम बना दिये गये हैं। जब कभी इन सिद्धान्तों की अवहेलना की जाती है तो अव्यवस्था फैल सकती है। प्रो० हर्बर्ट ए० साइमन ने 'प्रशासकीय व्यवहार' (Administrative Behaviour, 1947) नामक अपनी पुस्तक में कुछ प्रशासकीय सिद्धान्तों का वर्णन किया है जिसके आधार पर प्रशासकीय व्यवहार के सम्बन्ध में पूर्वकल्पना एवं भविष्यवाणी की जा सके। ये सिद्धान्त प्रशासन की कार्य-विधि को सरल करने में प्रशासकीय विश्लेषणों का पथ-प्रदर्शन करते हैं। उनके मुख्य सिद्धान्त निम्न हैं—

(1) वर्गों के बीच कार्यों के विशेषीकरण (Specialization) के द्वारा प्रशासकीय कार्य-कुशलता एवं निपुणता बढ़ जाती है।

(2) किसी एक वर्ग के सदस्यों को सत्ता के निर्धारित पद-सोपान (Hierarchy) में क्रमबद्ध करके प्रशासकीय निपुणता बढ़ाई जा सकती है।

(3) पद-सोपान के किसी भी स्तर पर नियन्त्रण के क्षेत्र को कुछ सीमित करने पर प्रशासकीय निपुणता बढ़ सकती है।

(4) नियन्त्रण करने की दृष्टि से, उद्देश्य, प्रक्रिया सेवा किये जाने वाले व्यक्ति अथवा स्थान के अनुसार कर्मचारियों के वर्ग बनाने से प्रशासकीय निपुणता बढ़ जाती है।

परन्तु ये सिद्धान्त दृढ़ता के साथ लागू नहीं किये जा सकते फिर भी इनकी उपयोगिता के बारे में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। फिफनर (Pfiffner) का कथन यहाँ उल्लेखनीय है कि "लोक-प्रशासन के विशेषज्ञों ने उन समस्याओं के समाधान के बारे में पर्याप्त मतैक्य प्राप्त कर लिया है जो कि सम्पन्न की जाने वाली प्रत्येक प्रकार की क्रिया अथवा सेवा में उत्पन्न होती है। यदि समस्याओं व समाधान के तरीकों के बारे में विद्वानों की काफी मात्रा में मतैक्य पाया जाना ही विज्ञान का लक्षण है तो लोक-प्रशासन का यह अधिकार है कि वह विज्ञान होने का दावा कर सके।"

साइमन तथा उनके सहयोगियों का विचार है कि प्रशासन विज्ञान के विषय में लोगों की भ्रमपूर्ण धारणाएँ हैं। इस विज्ञान का सम्बन्ध सम्भवतः दो बातों से है। प्रथम यह समझना कि संगठन में लोग किस प्रकार व्यवहार करते हैं। दूसरे यह कि प्रशासन का संचालन अच्छी प्रकार से करने के लिए कौन सी व्यावहारिक बातें हैं। जैसे-जैसे प्रशासकीय ज्ञान बढ़ता जायेगा, वैसे-वैसे यह सम्भव होता जायेगा कि

1. "Public Administration had developed a body of rules and axioms which experience has demonstrated to be applicable to concrete practice and to working out approximately of forecast."

प्रशासक के मार्ग-दर्शन के लिए निश्चित नियम बनाए जा सकें। इस सम्बन्ध में यह सुझाव दिया जाता है कि जिस प्रकार न्यायिक निर्णयों का रिकार्ड रखा जाता है और उसी प्रकार प्रशासकीय निर्णयों का भी रिकार्ड रखा जाना चाहिए जिससे कि भविष्य में वे मार्ग-दर्शक बन सकें।

अन्त में, उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर लोक-प्रशासन न तो प्राकृतिक विज्ञानों की भाँति यथार्थ और निश्चित विज्ञान है, और न भविष्य में ही उसके वैसा बन जाने की कोई सम्भावना है। यह बात केवल लोक-प्रशासन के बारे में ही सत्य नहीं है अपितु सभी सामाजिक विज्ञान इसी श्रेणी में आते हैं। लेकिन सामान्य व्यवहार में सामाजिक अध्ययनों के लिए 'विज्ञान' शब्द का प्रयोग किया जाता है, अतः लोक-प्रशासन को भी विज्ञान मानना कोई गलत नहीं है। आशा है भविष्य में शोध (Res arch) के फलस्वरूप लोक-प्रशासन की अनिश्चितता समाप्त हो जाय तथा चिन्तन के फलस्वरूप प्राकृतिक विज्ञानों की इस बात की उपमा कम हो जाए कि वे यथार्थ और सुनिश्चित हैं। तब यह बात सरलता से स्पष्ट हो जायगी कि प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञानों में मौलिक भेद नहीं है, उनमें केवल मात्रा का अन्तर है।

लोक प्रशासन कला के रूप में

(Public Administration as an Art)

लोक प्रशासन को कुछ विद्वान कला मानते हैं। लेकिन वास्तव में हमारा विषय कला है या नहीं, इस प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व हमें कला का अर्थ समझ लेना आवश्यक है। अर्थ में जिस कौशल या गुण के कारण किसी वस्तु में उपयोगिता और सुन्दरता आती है, उसे 'कला' की संज्ञा दी जाती है। दूसरे शब्दों में कला का अर्थ है—"ज्ञान को व्यवहार में लाना"। जब ज्ञान कल्पना लोक से उतर कर क्रियात्मक रूप में प्रकट होता है, तो वह कला कहलाता है। जब तक ज्ञान को व्यावहारिक रूप में परिणत नहीं किया जाता, तब तक उसका कोई अर्थ नहीं होता। ई० एन० ग्लैडन (E. N. Gladden) का मत है कि, "कला मानव की योग्यता में सन्निहित ज्ञान है, जिसका क्रियात्मक सफलता पर विशेष बल दिया जाता है।" प्रसिद्ध जर्मन विद्वान हीगल (Hegal) कला को परम मन की दशा में एक माध्यम मानता था। दूसरे शब्दों में यह मानव-मन में उठने वाले विचारों या भावों को व्यक्त करने का एक माध्यम मात्र है। कोई कार्य किस ढंग से किया जाए, यह कला का विषय है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि लोक प्रशासन एक कला है। जिस प्रकार एक चित्रकार अपने चित्र या मूरत अपने मस्तिष्क और रंगों की सहायता से बनाता है उसी प्रकार एक प्रशासक या कर्मचारी अपने विभाग का कार्य अथवा अपना कर्तव्य अपने मस्तिष्क और प्राप्त साधनों द्वारा पूरा करता है। एक अच्छा प्रशासक वही व्यक्ति है जो दूसरे व्यक्तियों को निर्देश दे सकता है, उनका पर्यवेक्षण कर

इकाई में शक्ति सम्बन्धों से भी है। स्वयं लूथर गुलिक ने कहा था कि तकनीकों पर स्थित 1930 तथा 1940 का लोक प्रशासन 1960 में सफल नहीं हो सकता। उन्होंने कहा, "कुछ लोग यह सोच सकते हैं कि नगरों में हमारी सबसे बड़ी आवश्यकता पानी, अथवा नालियों या चौड़ी सड़कों या अधिक स्कूलों या गृह-निर्माण की है। मौलिक रूप में ये गलत हैं। वस्तुतः जिन चीजों की आवश्यकता है वे हैं मस्तिष्क, चरित्र-निर्माण, संगठन और नेतृत्व।" वास्तव में यह बात उपयुक्त है। जहाँ मस्तिष्क, चरित्र, संगठन और नेतृत्व नहीं है या उनकी कमी है तो कोई भी कार्य ठीक प्रकार से नहीं होगा। सभी आवश्यकताओं की पूर्ति इन तत्त्वों के उपस्थित होने से हो सकती है।

इस प्रकार आधुनिक युग में प्रशासन की क्रियाओं को ध्यान में रखा जाय तो पोस्टकॉर्ब का दृष्टिकोण अपर्याप्त दृष्टिगत होगा।

वास्तव में लोक-प्रशासन की क्रियाओं का क्षेत्र कितना हो, इस बात पर निर्भर करेगा कि लोग सरकार से क्या आशा करें कि सरकार का कार्य शान्ति तथा व्यवस्था को बनाये रखना तथा कानूनों को लागू करना है तो लोक प्रशासन के कार्य इसके अनुरूप होंगे अर्थात् कम होंगे। इसके विपरीत यदि लोग सरकार से यह आशा करें कि वह उनके स्थाई कल्याण में वृद्धि करेगी, जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त सामाजिक सुरक्षा की गारन्टी देगी और अच्छे रहन-सहन के स्तर का आश्वासन देगी आदि-आदि तो लोक प्रशासन की क्रियाओं का क्षेत्र अपेक्षाकृत विस्तृत होगा। इस प्रकार जैसे-जैसे राज्य के कार्यों में वृद्धि होगी, लोक प्रशासन के कार्य में स्वतः ही वृद्धि होगी। आज राज्य के लोक-कल्याणकारी बन जाने से लोक-प्रशासन के कार्य इतने बढ़ गये हैं कि उनकी सूची बनाना कठिन है। मनुष्य के जन्म से लेकर उसकी मृत्युपर्यन्त लोक प्रशासन की क्रियाएँ दृष्टिगत होती हैं।

लोक प्रशासन तथा व्यक्तिगत प्रशासन
(Public and Private Administration)

प्रशासन के दो रूप होते हैं, लोक प्रशासन एवं व्यक्तिगत प्रशासन। इन्हें सरकारी तथा गैर-सरकारी प्रशासन की संज्ञा भी दी जाती है। लोक प्रशासन एवं व्यक्तिगत प्रशासन जैसा कि उसके नाम से प्रकट होता है, पृथक-पृथक लोक-कार्यों एवं व्यक्तिगत कार्यों से सम्बन्ध रखते हैं। 'लोक' का अर्थ जनता से होता है, अतएव किसी ऐसी संस्था के प्रशासन को, जिसका सम्बन्ध देश अथवा राज्य की सम्पूर्ण जनता से होता है, लोक प्रशासन कहते हैं। इस प्रकार की संस्था सरकार ही हो सकती है। सरकार के प्रशासकीय विभाग के कार्य राज्य की सम्पूर्ण जनता पर प्रभाव डालते हैं। जैसे, आन्तरिक व्यवस्था के लिए पुलिस का प्रबन्ध, विदेशी आक्रमण से सुरक्षा के लिए सेना का प्रबन्ध, अस्पताल, यातायात के साधनों का प्रबन्ध, सार्वजनिक निर्माण के कार्य, नहर, नलकूपों की व्यवस्था तथा रेल, तार,

डाक की व्यवस्था आदि सार्वजनिक उपयोगी सेवा कार्य हैं। इन कार्यों को करते समय सरकार का उद्देश्य सार्वजनिक सेवा होता है। सरकार लाभ की दृष्टि से इन कार्यों को सम्पादित नहीं करती। इसके विपरीत, व्यक्तिगत प्रशासन का सम्बन्ध कुछ ही लोगों से होता है जो उसके साथ जुड़े होते हैं। जैसे किसी व्यापारिक संस्थान का प्रशासन उस संस्था के साझेदार एवं कर्मचारियों से ही सम्बन्धित होता है, यद्यपि ऐसी संस्था के कार्यों का प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप से जनता पर पड़ता है तथापि इन संस्थाओं के प्रशासन द्वारा आर्थिक लाभ या हानि जो इन संस्था या संस्थाओं को होती है उससे जनता का कोई भी सम्बन्ध नहीं होता। जैसे बिड़ला मिल का प्रबन्ध, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय का संचालन, कोरिएण्टल कम्पनी का संचालन, इलैक्ट्रिक कैमीकल वर्क्स का प्रबन्ध तथा गुलेरा वर्क्स की व्यवस्था व्यक्तिगत या गैर-सरकारी प्रशासन के उदाहरण हैं। इन उद्योगों या संस्थाओं का लक्ष्य व्यक्तिगत लाभ कमाना है। प्रत्येक गैर-सरकारी संस्थाओं में प्रशासन का तरीका भिन्न होता है तथा उनके कानून व कायदे भी भिन्न होते हैं। लेकिन इतना होते हुए भी कई ऐसी बातें हैं जो लोक प्रशासन तथा व्यक्तिगत प्रशासन में एक सी देखने को मिलती हैं।

जो कुछ विभिन्नताएँ दोनों प्रकार के प्रशासन में देखने को मिलती हैं वे 'प्रकार' की न होकर 'मात्रा' की अधिक होती है। दोनों के बीच प्रशासनिक अन्तर कम है परन्तु दोनों के संगठनात्मक तरीकों में अन्तर के कारण अनेक छोटे-बड़े भेद उत्पन्न हो जाते हैं। वैसे दोनों प्रकार के प्रशासनों में कार्य-प्रणाली तथा तकनीकें एक समान होती हैं और दोनों प्रकार के प्रशासन के बीच कोई स्पष्ट विभाजन-रेखा खींचना बहुत कठिन है। कुछ विद्वानों का कथन है कि सभी प्रकार के प्रशासन का स्वरूप एक सा होता है और सबकी आधारभूत विशेषताएँ एक जैसी हैं। अतः प्रशासन में भेद करना बुद्धिमत्ता का काम नहीं है। इस दृष्टिकोण के समर्थकों में हेनरी फायल (Henri Foyal), ए०पी० फौलेर (A. P. Foler) तथा एल० उरविक (L. Urwick) के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। हेनरी फॉयल के अनुसार "अब हमारे सामने कई प्रशासनिक विज्ञान नहीं है बल्कि केवल एक ही है जिसे सार्व तथा निजी दोनों ही प्रशासनों के लिए समान रूप से अभिभांति लागू किया जा सकता है।"[1] प्रशासकीय विज्ञान के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन के द्वितीय अधिवेशन में भाषण देते हुए फॉयल ने कहा था कि " 'प्रशासन' शब्द को जो मैंने अर्थ दिया है उससे प्रशासकीय विज्ञान का क्षेत्र पर्याप्त रूप से विस्तृत हो जाता है। उसमें न केवल लोक-

1. "We are no longer confronted with several administrative sciences, but with one which can be applied equally well to public and private affairs."

सेवाऐं सम्मिलित हैं किन्तु उसमें हर आकार के, हर किस्म के और प्रत्येक उद्देश्य को पूरा करने वाले धन्धे भी शामिल हैं । सभी प्रकार के प्रशासनों को योजना, सगठन, आदेश, समन्वय एवं नियन्त्रण की आवश्यकता होती है तथा ठीक प्रकार से अपने कार्य को चलाने के लिए सभी को एक से सामान्य सिद्धान्तों का पालन करना होता है ।''[1]

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि लोक–प्रशासन तथा व्यक्तिगत प्रशासन में समानता तथा असमानता दोनों ही पाई जाती है जिसका अध्ययन हम नीचे दे रहे है ।

लोक प्रशासन तथा व्यक्तिगत प्रशासन मे समानता

(Similarities between Public and Private Administration) .

(1) दोनों प्रकार के प्रशासनों में एक ही प्रकार की योग्यताओं की आवश्यकता पड़ती है तथा दोनों मे कार्य का स्वरूप भी एक बड़ी सीमा तक एक सा होता है। इस कथन की सत्यता का अनुमान हम इस बात से लगा सकते हैं कि दोनों प्रकार के प्रशासनों के कर्मचारी अपने पदों को एक–दूसरे से अक्सर बदला करते हैं। हमारे यहाँ साधारणतया यह देखा जाता है कि अवकाश-प्राप्त सरकारी कर्मचारी व्यापारिक और औद्योगिक संस्थाओं मे नौकरी पा जाते हैं। यही नहीं, जब भारत स्वतन्त्र हुआ और समस्त अंग्रेजी प्रशासक भारत छोड़कर अपने स्वदेश चले गये तो यहाँ पर अधिकारियों का भारी अभाव हो गया था, परिणामस्वरूप 1949–50 में भारत सरकार ने उद्योगों तथा व्यक्तिगत संस्थाओं में काम करने वाले अधिकारियों को आवेदन भेजने का निमन्त्रण दिया। इसी प्रकार इंग्लैण्ड में जब कोयला, गैस, विद्युत और यातायात के साधनों का राष्ट्रीयकरण हुआ तो उस समय उसमे कार्य करने वाले अधिकांश व्यक्तियों को सरकारी सेवा मे ले लिया गया। इन दृष्टान्तों से यह स्पष्ट हो जाता है कि लोक प्रशासन व व्यक्तिगत प्रशासन में बहुत अधिक अन्तर नहीं है ।

(2) दोनों प्रकार के प्रशासन में समान प्रकार की पद्धतियों का उपयोग किया जाता है। व्यापारिक संस्थाओं मे जिन पद्धतियों का अनुसरण किया जाता

---

1. "The meaning which I have given to the word 'administration' broadens considerably the field of administrative science. *It embraces not only the public service, but enterprises of every size and description of every form and every purpose* All undertakings require planning, organization, command, co-ordination and control ,and in order to function properly, all must observe the same general principles "

है उनका प्रभाव लोक प्रशासन की पद्धतियों पर भी आज पड़ने लगा है। सार्वजनिक निगमों (Public Corporations) के पीछे जो मुख्य विचारधारा कार्य कर रही है वह यह है कि सरकारी प्रशासन में उन विशेषताओं को अधिक से अधिक स्थान दिया जाये जिससे व्यक्तिगत प्रशासन लाभ प्राप्त करता है। दूसरे शब्दों में लोक प्रशासन भी व्यावसायिक और व्यक्तिगत संस्थाओं में पाये जाने वाले अनुभवों से लाभान्वित होना चाहता है। यह बात सत्य है कि लोक प्रशासन पर व्यापारिक एवं औद्योगिक संगठनों का प्रभाव पड़ा है, वहाँ यह भी सही है कि लोक प्रशासन के अनुभवों से व्यक्तिगत प्रशासकीय संस्थाएँ लाभान्वित हुई हैं। उदाहरण के लिए अपने कर्मचारियों को सुविधायें प्रदान करने का कार्य आज सरकारी सेवाओं में ही नहीं होता अपितु व्यक्तिगत संस्थायें भी अपने कर्मचारियों को सन्तुष्ट रखने के लिए अनेक प्रकार के सुविधाओं की व्यवस्था करती है। इस सम्बन्ध में कुमारी फौले आदि लेखकों ने कहा है कि, "व्यावसायिक एवं औद्योगिक प्रशासन में सबसे बड़ा गुण यह रहा है कि वह हमारे युग की परिवर्तनशील गति के साथ अनुकूलता करने की दिशा में बहुत जागरूक रहा है, तथा लोक-प्रशासन के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह प्रशासकीय कौशल का उच्च स्तर बनाये रखने की दृष्टि से प्रबन्ध की नई तकनीकों की खोज में इन क्षेत्रों में होने वाले प्रयोग की उपेक्षा कर सके।"

(3) बहुत सी प्रबन्धकीय तकनीकें दोनों प्रशासन में समान पाई जाती हैं। हिसाब-किताब रखना, नस्तीकरण इत्यादि कुछ ऐसी बातें हैं जो लोक तथा व्यक्तिगत प्रशासन में बिलकुल एक जैसी ही दिखाई पड़ती हैं और यही कारण है कि रिटायर हो जाने के बाद अनेक सरकारी प्रशासक व्यक्तिगत प्रशासन में नौकरी पा जाते हैं तथा कई व्यक्तिगत प्रशासन के अधिकारी सरकारी कार्यालयों में प्रशासकों के रूप में नियुक्त किये जाते हैं। प्रशासकों की योग्यताओं तथा क्षमताओं में भी अनेक समान तत्त्व होते हैं जो दोनों प्रकार के प्रशासकों के लिए अनिवार्य हैं। बड़े पैमाने के व्यक्तिगत प्रशासनों जैसे, बर्माशैल, हिन्दुस्तान लिवर, गोदरेज, बिड़ला संस्थान आदि में सरकारी प्रशासन के ही समान संगठन पाया जाता है।

(4) दोनों ही प्रकार के प्रशासनों का लक्ष्य विकास और उन्नति है। प्रगति और विकास का सिद्धान्त दोनों ही प्रशासनों के लिए समान रूप से आवश्यक है। आधुनिक युग में यह कहना गलत होगा कि व्यक्तिगत प्रशासन केवल लाभ के लक्ष्य द्वारा ही संचालित होता है। इसका लक्ष्य भी लोगों की सेवा करना होता है। कोई भी व्यवसाय अधिक दिनों तक नहीं चल सकता यदि वह अपना लक्ष्य दूसरों की भलाई का न बना ले।

अतः यह स्पष्ट है कि लोक प्रशासन तथा व्यक्तिगत प्रशासन में पर्याप्त समानता है।

लोक प्रशासन तथा व्यक्तिगत प्रशासन में असमानता :
(Difference between Public and Private Administration)

दोनों प्रशासनों में अत्यधिक समानता होते हुए भी अनेक भेद पाये जाते हैं। लोक प्रशासन तथा व्यक्तिगत प्रशासन में भेदों का समर्थन करने वाले विद्वानों में एप्लिबी (Appleby) का नाम शीर्ष स्थान पर लिया जाता है। इस सम्बन्ध में उन्होंने अपना मत व्यक्त करते हुए कहा है कि व्यापक अर्थ में सरकारी कार्य व स्थिति के कम से कम तीन ऐसे पूरक पहलू हैं जो सरकार तथा अन्य सभी संस्थाओं व क्रियाओं (व गैर-सरकारी प्रशासन) के बीच विभिन्नता प्रकट करते हैं। वे पहलू हैं—क्षेत्र प्रभाव व विचार का विस्तार जनता के प्रति उत्तरदायित्व राजनैतिक प्रवृत्ति। ' लोक प्रशासन तथा व्यक्तिगत प्रशासन में निम्न भेद किये जा सकते हैं—

(1) लोक प्रशासन एवं व्यक्तिगत प्रशासन जैसा कि उनके नाम से प्रकट होता है पृथक-पृथक लोक कार्यों एवं व्यक्तिगत कार्यों से सम्बन्ध रखते हैं। 'लोक' का अर्थ जनता से है। अतएव किसी ऐसी संस्था के प्रशासन को जिसका सम्बन्ध देश अथवा राज्य की सम्पूर्ण जनता से होता है, लोक प्रशासन कहलाता है। इसके विपरीत व्यक्तिगत प्रशासन थोड़े से व्यक्तियों से सम्बन्ध रखता है। जैसे किसी व्यापारिक संस्था का प्रशासन उस संस्था के साझेदार एवं कर्मचारियों से ही सम्बन्धित होता है। यद्यपि ऐसी संस्था के कार्यों का प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप से जनता पर पड़ता है तथापि इस संस्था के प्रशासन द्वारा आर्थिक लाभ या हानि संस्था को होती है, उसमें जनता का कोई सम्बन्ध नहीं होता। अतः यह कहा जा सकता है कि लोक प्रशासन एवं व्यक्तिगत प्रशासन के उद्देश्यों में मौलिक अन्तर होता है। लोक प्रशासन का एकमात्र उद्देश्य लोकहित है जबकि व्यक्तिगत प्रशासन का उद्देश्य निजी होता है।

(2) लोक प्रशासन और व्यक्तिगत प्रशासन में भेद इस आधार पर भी किया जाता है कि लोक प्रशासन का संगठन नौकरशाही (Bureaucratic) के आधार पर होता है जबकि व्यक्तिगत प्रशासन व्यापारिक या व्यावसायिक आधार पर संगठित होता है। इसका कारण यह है कि लोक प्रशासन का संचालन राज्य के कर्मचारियों के द्वारा होता है जिनकी नियुक्ति पर राजनैतिक प्रभाव की छाया होती है। परन्तु दूसरी ओर व्यक्तिगत प्रशासन में कर्मचारियों की नियुक्ति राजनैतिक प्रभाव से दूर होती है। उनकी नियुक्ति का आधार व्यापारिक निपुणता, योग्यता, एवं उनकी उपयोगिता होता है।

(3) लोक प्रशासन के कृत्यों का जनता पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है, अतएव लोक प्रशासन जनता के प्रति उत्तरदायी रहता है। उसको जनता के प्रति अपने सभी कार्यों की न्यायोचितता सिद्ध करनी पड़ती है। वह व्यवस्थापिका तथा न्यायपालिका द्वारा नियन्त्रित होता है। कोई भी अधिकारी मनमाने ढंग से कार्य

नहीं कर सकता क्योंकि उसके कार्यों को न्यायालय में चुनौती दी जा सकती है। लोक प्रशासन में त्रुटि आ जाने पर या उसके कार्यों से जनता का अहित होने पर जनता उस शासन के प्रति उदासीन हो जाती है। कभी-कभी उदासीनता इतनी बढ़ जाती है कि जनता शासन में परिवर्तन या शासन के प्रति विद्रोह करने के लिए प्रस्तुत हो जाती है। इसके विपरीत, व्यक्तिगत प्रशासन में किसी प्रकार त्रुटि होने पर उसके कर्मचारी जनता के प्रति उत्तरदायी नहीं होते बल्कि केवल उन व्यक्तियों के प्रति उत्तरदायी होते हैं जो संस्था से जुड़े हुए हैं। लेकिन यह कहना उचित नहीं होगा कि व्यक्तिगत प्रशासन जनता के प्रति उत्तरदायी नहीं होता। स्वस्थ व्यापारिक संस्थाएँ इस बात का भरसक प्रयत्न करती हैं कि उनके ग्राहक किसी प्रकार से अप्रसन्न न रहें।

(4) लोक प्रशासन के कार्य तथा परिचालन व्यक्तिगत प्रशासन के कार्यों की अपेक्षा अपरिहार्य होते हैं। फैलिक्स ए० निग्रो के अनुसार, "लोक प्रशासन का वास्तविक हृदय वह अनिवार्य सेवा है जो जनता के लिए की जाती है, जैसे पुलिस, आग से रक्षा, मार्ग-निर्माण, शिक्षा, मनोरंजन, स्वच्छता, सामाजिक सुरक्षा, कृषि सम्बन्धी अनुसन्धान और राष्ट्रीय प्रतिरक्षा आदि। यही कारण है कि लोक प्रशासन का क्षेत्र इतना विस्तृत है, क्योंकि इन सेवाओं में से प्रत्येक विभिन्न आवश्यकताओं के कारण उत्पन्न होती है जो स्वयं आधुनिक समाज में व्यक्तियों पर अधिक प्रभाव डालती रहती है।

(5) लोक प्रशासन में कार्यों को करने के लिए कानूनीपन अधिक होता है। उदाहरण के लिए, किसी विभाग में कोई सामान खरीदना है तो उसके लिए टेण्डर लिए जायेंगे, तत्सम्बन्धी रजिस्टर में इन्दराज किए जायेंगे, जिसमें भी सच्चाई के लिए समय सीमा दी जायगी आदि। व्यक्तिगत प्रशासन में इस प्रकार की कठिनाई नहीं होती। यहाँ खुले बाजार से आवश्यकतानुसार सामान प्राप्त किया जा सकता है।

(6) कुछ लोगों ने लोक प्रशासन और व्यक्तिगत प्रशासन के भेद बतलाते हुए कहा है कि लोक प्रशासन का कार्य कर्मचारियों द्वारा चलाया जाता है। इन कर्मचारियों की नियुक्ति राजनीतिक प्रभावों से खाली नहीं होती। व्यक्तिगत संस्थाओं में कर्मचारियों की नियुक्ति राजनीतिक प्रभावों से दूर रहती है एवं इन संस्थाओं का प्रशासन व्यापार के समान होता है। इन लोगों का तर्क है कि राजनीतिक प्रभावों के कारण लोक प्रशासन का कार्य बहुत ही धीरे-धीरे आगे बढ़ता है। अर्थात् प्रशासकीय यन्त्र की ढिलाई के कारण लोक प्रशासन के कार्य में बड़ी देर लगती है। लोक-प्रशासन की इस ढिलाई को अंग्रेजी भाषा में रेड टेपिज्म (Red Tapism) कहते हैं। रेड टेपिज्म का अर्थ है कि किसी विषय से सम्बन्धित कागजात और पत्र-व्यवहार महीनों और कभी-कभी वर्षों तक लालफीते वाली फाईलों में बन्द पड़े रहते हैं और उन पर तभी विचार होता है जब कि विभागीय कर्मचारी उनको विभागों के उच्च पदाधिकारियों के सामने प्रस्तुत करे। कभी-कभी व्यक्तिगत वैमनस्यता होने या रिश्वत

(11) लोक प्रशासन में राजनीतिक दलों (Political Parties) का प्रभाव रहता है। विभिन्न प्रकार की सरकारों में विभिन्न प्रकार की शासन व्यवस्था होती है। जो राजनीतिक दल सत्ता में होता है, उसी का विशेष प्रभाव प्रशासन पर छाया रहता है। प्रशासन उसी दल विशेष के निर्देशन पर चलता है। व्यवस्थापिका में जो भी राजनीतिक दल बहुमत में होता है। उसी दल की नीतियाँ सरकारी नीतियाँ बन जाती हैं। दल विशेष का हित ही प्रशासन का उद्देश्य बन जाता है। साम्यवादी शासन (Communist Government) में साम्यवादी दल ही सरकार की नीति का निर्धारण करता है। वहाँ व्यवस्थापिका नाम-मात्र की होती है। वहाँ कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी न होकर दल की कार्यकारिणी के प्रति उत्तरदायी होती है। जनता का हित, दल विशेष का हित ही माना जाता है। गैर-साम्यवादी देशों में सत्ता विभिन्न दलों में बदलती रहती है। सरकारी कर्मचारी चाह न करने पर उनकी नीतियाँ दल के अनुसार परिवर्तित होती रहती हैं। इसके विपरीत व्यक्तिगत प्रशासन में राजनीतिक दलों का प्रभाव रहता है। उसकी नीतियों पर सरकार के बदलने का कोई विशेष प्रभाव नहीं होता है।

(12) व्यक्तिगत प्रशासन के कर्मचारी लोक प्रशासन के कर्मचारियों की अपेक्षा अधिक लगन एवं परिश्रम के साथ कार्य करते हैं। लोक प्रशासन के कर्मचारियों की अपेक्षा उनकी कार्य-क्षमता कहीं अधिक होती है। इस सम्बन्ध में व्यक्तिगत प्रशासन के समर्थक एक बड़ी ही उपहासजनक बात कहते हैं—एक बार किसी सरकारी कर्मचारी के मस्तिष्क का ऑपरेशन किया गया। ऑपरेशन समाप्त होने पर-शल्य चिकित्सक दिमाग का अन्दर रखना भूल गया। वह मेज पर ही रखा रहा। उसने सिर में टाँके लगा दिये। कई दिन इसी प्रकार बीत गये। उस कर्मचारी ने जिक्र तक नहीं किया। हार कर डॉक्टर महोदय ने ही उसको सूचित किया कि वे अपना दिमाग ले जायें जो ऑपरेशन के समय भूल से बाहर रखा रह गया था, तब वह कर्मचारी स्वयं आया तो डाक्टर ने आश्चर्य के साथ पूछा कि वह इतने दिनों बिना दिमाग के कैसे कार्य करता रहा? उस कर्मचारी ने हँस कर कहा कि सरकारी नौकरी में दिमाग की आवश्यकता नहीं पड़ती, इसके बिना भी कार्य कर सकता है। यद्यपि सरकारी कर्मचारियों का यह मूल्यांकन सत्य नहीं है, परन्तु फिर भी लोक प्रशासन की अपेक्षा व्यक्तिगत प्रशासन में कार्य-कुशलता की मात्रा अधिक मानी जाती है।

इस प्रकार लोक प्रशासन तथा व्यक्तिगत प्रशासन में विद्वानों ने कई आधारों का मान कर भेद किये हैं। लोक प्रशासन के एक प्रसिद्ध विद्वान सर जोशुआ स्टॅम्प ने दोनों प्रकार के प्रशासन में निम्न चार भेद बतलाये हैं—

(1) लोक प्रशासन में समानता के सिद्धान्त को महत्त्व दिया जाता है। इसमें प्रशासकीय कार्य तथा निर्णय नियमों के आधार सम्पन्न किये जाते हैं। किसी के साथ भेद-भाव नहीं किया जा सकता। यदि किसी प्रशासन में किसी एक व्यक्ति

सकता है तथा उन पर नियन्त्रण रख सकता है। "किसी उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए अनेक व्यक्तियों का निदेशन, एकीकरण एवं नियन्त्रण प्रशासन की एक कला है।"[1]

मानव इतिहास में लोक-प्रशासन को कला के रूप में बहुत प्राचीन काल में ही माना गया है। राम राज्य का प्रशासन तथा युधिष्ठिर के धर्म राज्य का प्रशासन 'रामायण' तथा 'महाभारत' में हम अध्ययन करने को मिलता है। प्लेटो (Plato) ने अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' (Republic) में प्रशासकों के प्रशिक्षण पर अधिक बल दिया है। इसी प्रकार अरस्तू (Aristotle) ने अपनी पुस्तक 'राजनीति' (Politics) में कौटिल्य (Kautilya) ने 'अर्थ शास्त्र' में और मेकियावली (Machiavelli) ने अपनी कृति 'प्रिन्स' (The Prince) में शासकों को कुछ ऐसी तरकीबें बतलाई है जिन पर आचरण करने से प्रशासन सुचारू रूप से चलाया जा सकता है। मध्य युग में अकबर (Akbar) के नवरत्न अबुल फज़ल की 'आइन-ए-अकबरी' लोक प्रशासन पर काफी प्रकाश डालती है। सिसरो (Cicero) की 'दि ऑफिसियल्स' (The Officeals) पुस्तक भी लोक प्रशासन पर लिखी प्रामाणिक पुस्तक है।

उपर्युक्त ग्रन्थों से हम ज्ञान की प्राप्ति कर सकते है, अपने पूर्वजों के अनुभवों से लाभ उठा सकते हैं। अन्य सामग्री भी हमें लोक प्रशासन का ज्ञान करा सकती है, पर ज्ञान को जब तक हम क्रिया का रूप नहीं देंगे, तब तक उसकी सत्यता कैसे सिद्ध होगी। इसलिए लोक प्रशासन में जहाँ ज्ञान तथा अनुभव की आवश्यकता है वहाँ उसे क्रियात्मक रूप देने के लिए अभ्यास की भी आवश्यकता है। यह सत्य है प्रत्येक कला में युक्ति एवं चातुरी की आवश्यकता रहती है और बिना अभ्यास के कोई भी कला पूर्ण नहीं हो सकती। यदि कोई मूर्ति बनाने में अपने चातुरी का प्रयोग नहीं करता अथवा अपनी कला का अभ्यास नहीं करता तो उसकी कला अपूर्ण रहेगी और वह एक कुशल मूर्तिकार नहीं बन सकता। कुशल कलाकार बनने के लिए कठिन परिश्रम एवं लगन की आवश्यकता होती है। प्रशासन के लिए भी चातुरी एवं अभ्यास अनिवार्य बातें हैं, इसमें भी परिश्रम एवं लगन की उसी भाँति आवश्यकता पड़ती है जिस प्रकार अन्य किसी कला में इनकी आवश्यकता रहती है। इस प्रकार प्रशासन भी एक कला है।

प्रशासन की कला प्रगतिशील कला है। एक प्रशासक अपने कार्यों को, उन्हीं साधनों में, जो उसके पास हैं, चातुरी के साथ चलाता है और निश्चित लक्ष्य को पूरा करने का यत्न करता है। समय और परिस्थितियों के अनुसार साधनों में कमी या वृद्धि होती रहती है तथा प्रशासन के तरीकों में भी परिवर्तन होता रहता है।

---

1. "The art of administration is the direction, co ordination and control of many persons to achieve some purpose or objective."

कुशल प्रशासक वही है जो बदली हुई परिस्थितियों और साधनों के अनुकूल प्रशासकीय कार्य को युक्ति तथा चातुरी से पूरा करे तथा प्रशासन के उन नये तरीकों एवं साधनों का समुचित प्रयोग समय एवं परिस्थितियों की माँग के अनुसार करे।

कुछ लोगों का यह विश्वास है कि कला ईश्वर की देन है और श्रम से प्राप्त की जाने वाली उपलब्धि कम। यह कहा जाता है कि कोई सगीत तभी सीख सकता है जब उसकी आवाज सुरीली हो। इसी प्रकार कवि जन्मजात होता है अर्थात् कवि पैदा होते हैं बनाये नहीं जाते। इस कथन में सत्यता का कुछ अंश है, परन्तु पूर्ण रूप से यह बात सत्य नहीं है। वैसे तो हर कला के लिए एक सीमा तक स्वाभाविक दक्षता आवश्यक है, लेकिन उससे यह पूर्ण कलाकार नहीं बन सकता है। उसे भी अभ्यास करना होगा। चातुर्य को काम में लाना होगा। इसी प्रकार प्रशासन को कार्य-कुशल बनाने के लिए यह अनिवार्य है कि एक विशेष कौशल को प्राप्त किया जाए। प्रारम्भ में प्रशासन को कुछ लोगों का गुण माना जाता था। यूनानी दार्शनिक एवं राजनीतिक विचारक 'प्लेटो' (Plato) ने आदर्श राजा की व्याख्या करते समय प्रशासन के गुणों को एक विशेष महत्त्व प्रदान किया था। वास्तविकता यह है कि चित्रकारी, मूर्तिकला, धनुविद्या आदि कलाओं की भाँति प्रशासन को अभ्यास के द्वारा सीखा जा सकता है। प्राचीन काल में शाही वंश के राजकुमारों को प्रशासन की शिक्षा दी जाती थी जिससे वे प्रशासन की कला को सीख सकें। वर्तमान युग में भी सरकार (केन्द्रीय तथा राज्य) अपने कर्मचारियों को प्रशिक्षण (Training) देकर उनमें प्रशासनिक योग्यता बढ़ाने का कार्य करती है।

कला का जन्म आन्तरिक प्रेरणा से हुआ है। आन्तरिक प्रेरणा ही रुचि उत्पन्न करती है। लोक प्रशासन में भी आन्तरिक प्रेरणा का महत्त्व कम नहीं है। यह बात निर्विवाद रूप से सत्य है कि सभी व्यक्तियों में प्रेरणा समान नहीं होती, फिर भी अभ्यास से आन्तरिक प्रेरणा उत्पन्न की जा सकती है। इस उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है। सगीत में स्वर साधा जाता है, लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि सभी लोग समान रूप से स्वर-साधना कर सकते हैं। इतने पर भी यह तो सत्य है कि कुछ अपवादों को छोड़कर, अभ्यास से स्वर सध सकता है, और सधता है। यही स्थिति प्रशासन की है।

अतः यह कहा जा सकता है कि अभ्यास से प्रशासन की कला सीखी जा सकती है, लेकिन उनमें सामान्य योग्यता का होना नितान्त आवश्यक है।

प्रशासन का दर्शन
(A Philosophy of Administration)

लोक प्रशासन को कुछ लोग दर्शन मानते हैं। मार्शल ई० डिमॉक (Marshall E. Demock) ने अपनी पुस्तक का शीर्षक 'प्रशासन का दर्शन' रखा

है। इस पुस्तक की प्रस्तावना ऑर्डवे टीड ने लिखी है, जिसमें उन्होंने प्रशासन के दर्शन की औचित्यता को बताते हुए लिखा है कि, "यह कार्यपालकों में आज की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत व्यावसायिक चेतना और दिशा तथा सामाजिक औचित्य की अधिक विश्वासपूर्ण भावना का सचार करेगा। वर्तमान युग में इस बात की अत्यधिक आवश्यकता अनुभव की जा रही है कि लोक-प्रशासन को भी दर्शन के रूप में विकसित किया जाये। इसका कारण यह है कि अन्ततः लोक-प्रशासन उन मनुष्यों के व्यवहार से सम्बन्धित है जिसमें सप्रयोजन कार्य करने तथा मूल्य-निर्धारित करने की क्षमता होती है। वैज्ञानिक अध्ययन की रीतियाँ प्रशासन के उपकरण, तथा उसकी तकनीक एवं सगठनात्मक पद्धतियों पर प्रकाश डाल सकती है, परन्तु ये हमें उसके मौलिक प्रयोजन अथवा लक्ष्य का बोध नहीं करा सकती है। इसलिए लोक-प्रशासन के एक दर्शन की आवश्यकता है।

प्राचीन काल में मनुष्य स्वावलम्बी होते थे। केवल मनुष्य ही, नहीं अपितु ग्राम व नगर-समाज भी स्वावलबी होते थे। ऐसे समय में लोक-प्रशासन का कार्य शान्ति, व्यवस्था तथा न्याय तक ही सीमित था। परन्तु आज के समाज की परिस्थितियाँ बिल्कुल विपरीत हैं। विज्ञान के विकास ने भी मानव को नई दिशा दी है। इससे मनुष्य जीवन राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा अन्य प्रकार की जटिलताओं से भरा हुआ है। इन कठिनाइयों के परिणामस्वरूप समाज की नींव हिल सकती है। अणु युग में कोई भी मनुष्य या समाज अपने-आप को सुरक्षित नहीं मानता। किसी भी समय युद्ध की विभीषिका मनुष्य व समाज को जला कर राख कर सकती है। अतः जब तक हमारे में इसके जटिल सम्बन्धों को व्यवस्थित रूप देने की क्षमता न हो तो वह समाज विघटित हो सकता है। चार्ल्स ए० बीयर्ड इसी कारण से यह विचार दिया है कि सभ्य शासन का, तथा मेरे विचार में स्वयं सभ्यता का भी भविष्य हमारी इस क्षमता पर निर्भर करता है कि हम प्रशासन को एक ऐसे विज्ञान, दर्शन और व्यवहार के रूप में विकसित कर सकते है या नहीं, जो सभ्य समाज के कार्यों को पूरा करने में समर्थ हो।

उपर्युक्त समस्याओं का निराकरण करने के लिए प्रशासन के दर्शन की आवश्यकता है, क्योंकि प्रशासक ही यह निश्चित करते हैं कि मानव संस्थाएँ कैसी होनी चाहिए और इन्हीं पर उस जीवन का स्वरूप निर्भर रहता है, जिससे समाज को गुजरना होता है। वास्तव में मार्शल ई० डिमॉक को प्रशासन के दर्शन की इतनी अधिक आवश्यकता प्रतीत होती है कि वे विश्वास के साथ कहते हैं कि "प्रशासन का क्षेत्र इतना विस्तार पा गया है कि प्रशासन दर्शन जीवन-दर्शन जैसा प्रतीत होने लगा है।" एक जीते-जागते दर्शन को क्या करना चाहिए और क्या पाने का प्रयास करना चाहिए।

वे कुछ परीक्षणों का उल्लेख करते हैं, जिनकी कसौटी पर लोक-प्रशासन के दर्शन को सही उतरना चाहिए। वे परीक्षण अग्रलिखित है :—

(1) प्रशासकीय कार्यों में प्रवेश पाने वाले सभी तत्त्वों पर इसे प्रकाश डालना चाहिए।

(2) उन तत्त्वों को एक सुसम्बद्ध इकाई के रूप में संयोजित किया जाना चाहिए, जिससे कि वे समुचित सम्बन्धों की एक व्यवस्था के द्वारा समन्वित हो जाएँ।

(3) जहाँ सम्भावित सिद्धान्त विकास पा चुके हैं वहाँ यह समझ लेना चाहिए कि वे ऐसे भावी कार्य के लिए उपयुक्त मार्ग-दर्शन हैं जो वास्तव में बिल्कुल वैसी ही परिस्थितियों में किया जा रहा हो।

(4) यद्यपि प्रशासन के लक्ष्यों की परिभाषा करना एक महत्त्वपूर्ण कार्य है, तथापि इन लक्ष्यों की सिद्धी के लिए उपयुक्त साधनों और पद्धतियों की खोज उससे भी महत्त्वपूर्ण है। लक्ष्यों तथा साधनों का कुशलतापूर्वक किया गया समन्वय ही प्रशासन की उत्कृष्टता की कसौटी है।

(5) प्रशासन का दर्शन, प्रशासन के विज्ञान की अपेक्षा अधिक व्यापक होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, लोक-प्रशासन को केवल उन तथ्यपूर्ण परिस्थितियों तथा उन उपकरणों व बुद्धि-कौशल का वर्णन करके ही सन्तोष नहीं कर लेना चाहिए, जिनकी सहायता से प्रशासक उन जटिल परिस्थितियों को सुलझाते हैं, अपितु उसे मौलिक एवं अन्तिम तत्त्वों का दर्शन करना चाहिए जो कि प्रशासकीय क्रियाओं की व्यवस्था को अर्थ एवं प्रयोजन प्रदान करते हैं।

(6) वर्तमान में लोक प्रशासन को प्रजातान्त्रिक रूप ग्रहण करना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि उसे जन-मैत्री होना चाहिए। अधिक से अधिक जन-कल्याण लोक-प्रशासन का अन्तिम उद्देश्य होना चाहिए।

लोक-प्रशासन के अध्ययन का विकास
(Study of the Development of Public Administration)

एक क्रिया के रूप में लोक प्रशासन उतना ही पुराना है जितना सामाजिक जीवन। बहुत समय तक व्यक्तिगत प्रशासन तथा लोक-प्रशासन में कोई अन्तर नहीं था, क्योंकि प्रारम्भिक जीवन इतना सरल था कि सभी कार्य निश्चित रूप से मुखिया, नेता अथवा शासक के व्यक्तिगत व्यवसाय के साथ सम्पादित किये जाते थे। परन्तु जैसे-जैसे राज्य के कार्यों में वृद्धि हुई, उसका विकास हुआ, वैसे-वैसे वह सामाजिक जीवन और उससे सम्बन्धित संगठनों से पृथक् होने लगा। यहाँ से लोक-प्रशासन को स्वतन्त्र क्रिया के रूप में स्वीकार किया जाने लगा। सर्वप्रथम मिस्र, चीन, भारत, मैसोपोटामिया आदि देशों की घाटियों में जहाँ एक तरफ सभ्यता का विकास हुआ वहाँ दूसरी तरफ उन्होंने लोक-प्रशासन को पृथक् अस्तित्व प्रदान किया। प्रतियोगिता परीक्षाओं द्वारा लोक सेवाओं में भर्ती की व्यवस्था सर्वप्रथम चीन में ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में ही प्रारम्भ हो गयी था। उत्तरी भारत के बहुत से राज्यों में तथा प्राचीन गणराज्यों में इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि वहाँ बहुत प्राचीन काल से ही प्रशासन की सुविकसित व्यवस्था विद्यमान थी। प्राचीन यूनान के नगर-राज्यों में भी

इस प्रकार के उदाहरण मिलते हैं कि वहाँ पर प्रशासन की व्यवस्था बहुत ही उत्तम थी। इतिहास के आधार पर यह स्पष्ट है कि इन नगर राज्यो मे सरकारी पदो पर नियुक्ति के लिए लॉटरी पद्धति को अपनाया जाता था, साथ ही वहाँ बहुल कार्य-पालिका (Plural Executive) व्यवस्था थी तथा निम्नतर पदो पर दासो को नियुक्त किया जाता था। रोमन शासको ने प्रशासन को मापदण्ड एव स्वरूप प्रदान किया। मध्ययुग मे लोक-प्रशासन को विकेन्द्रित रूप प्रदान किया। परन्तु बहुत ही शीघ्र फ्रान्स, इगलैण्ड तथा एशिया के एकतन्त्रात्मक राज्यो ने इस व्यवस्था को समाप्त कर दिया। राजतन्त्रो मे राजाओ की सैनिक शक्ति के प्रति महत्त्वाकाक्षाओ तथा उनकी युद्ध-प्रिय नीतियो के कारण राजमहल के कर्मचारियो मे लगातार वृद्धि होती रही। फलस्वरूप राज्य के प्रशासन-कार्य को सचालयों, विभागो और उनके क्षेत्रीय कार्यालयो मे सगठित किया गया। परन्तु कर्मचारियो की भर्ती इस समय *योग्यता के आधार पर नही अपितु सिफारिश के आधार पर की जाती थी।* प्रशा विश्व का सबसे प्रथम देश था जिसने अपनी लोक-सेवाओ मे भर्ती का आधार योग्यता व गुण को बनाया। इस प्रकार की लोक-सेवाओं मे भर्ती ने विश्व के सभी राज्यो का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया और उन्होंने भी इस पद्धति को अपने राज्यो मे स्थान दिया।

औद्योगिक क्रान्ति, विज्ञान की उन्नति तथा लोकतन्त्र के विकास के परिणाम-स्वरूप लोक-प्रशासन के सम्मुख विभिन्न प्रकार की समस्याएँ उपस्थित हुई। इसके फलस्वरूप लोक प्रशासन के सगठन तथा उसकी कार्य-विधि पहले की अपेक्षा अधिक जटिल हो गई, *साथ ही लोक-प्रशासन के क्षेत्र मे अत्यधिक विस्तार हो गया।* सामाजिक, आर्थिक, न्यायिक, धार्मिक, राजनैतिक तथा सुरक्षा से सम्बन्धित समस्याओ को सुलझाने का उत्तरदायित्व प्रशासन पर आ पडा। यह माना जाने लगी कि इन परिस्थितियो को देखते हुए लोक-प्रशासन को व्यक्तिगत प्रशासन मे भी हस्तक्षेप करना पडा। अत लोक प्रशासन पर आज सम्पूर्ण समाज और उसके जीवन के प्रबन्ध का भार आ पडा है।

प्रथम विश्व-युद्ध तक लोक-प्रशासन राज्य की चारदीवारी तक ही सीमित था, परन्तु उसके बाद आवागमन के साधनो तथा वैज्ञानिक उपकरणो ने विश्व के *देशो को इतना निकट कर दिया कि कोई भी राज्य अपना प्रशासन अकेले रह कर* नही चला सकता। आज अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग एक नितान्त आवश्यकता बन गया है। इसमे राष्ट्रीय प्रशासन के साथ अन्तर्राष्ट्रीय प्रशासन व्यवस्था का उदय हुआ है।

बहुधा यह माना जाता है कि लोक-प्रशासन एक क्रिया के रूप मे उतना ही पुराना है जितना कि समाज। परन्तु अध्ययन की एक शाखा के रूप मे उसका उदय वर्तमान काल मे ही हुआ है। विद्वानो का विचार है कि लोक प्रशासन के अध्ययन का प्रारम्भ उन्नीसवी शताब्दी के अन्त मे हुआ। इस दृष्टिकोण मे सत्यता नही है, क्योकि लोक-प्रशासन जैसी विस्तृत एव महत्त्वपूर्ण क्रिया के सम्बन्ध मे एक लम्बे

समय तक किसी प्रकार का चिन्तन एवं विचार नहीं हुआ हो असम्भव है। तथापि, यह सत्य है कि एक लम्बे समय तक लोक-प्रशासन का चिन्तन एक स्वतन्त्र विद्या या विषय के रूप में न हो कर राजनीति नीति-शास्त्र तथा विधि-शास्त्र के साथ सम्बद्ध रहा। महान् हिन्दू ग्रन्थों, जैसे—रामायण तथा महाभारत में राजनीतिक चिन्तन के साथ प्रशासन सम्बन्धी चिन्तन भी प्रचुर मात्रा में मिलता है। स्मृतियाँ, हिन्दुओं के विधि-ग्रन्थ हैं, उनमें न्यायिक संगठन तथा सामान्य प्रशासन का विस्तार से वर्णन किया गया है। राजनीति सम्बन्धी हिन्दू-ग्रन्थों में राज्य के सैद्धान्तिक आधारों की अपेक्षा प्रशासन की समस्याओं का अधिक विश्लेषण किया गया है। कौटिल्य द्वारा रचित 'अर्थशास्त्र' इसका एक उदाहरण है। प्राचीनकालीन चीन में कन्फ्यूशियस (Confucious) की शिक्षाओं में हम लोक-प्रशासन सम्बन्धी बहुत से सूत्र प्राप्त होते हैं। अरस्तू की कृति 'राजनीति' (Politics) में भी लोक-प्रशासन के सम्बन्ध में काफी प्रकाश पड़ता है। मेकियावली के ग्रन्थ 'प्रिन्स' में शासन-संचालन तथा प्रशासन सम्बन्धी कई बातों का बोध होता है। परन्तु वास्तविकता यह है कि लोक-प्रशासन शब्द का प्रयोग अठारवीं शताब्दी तक नहीं किया गया था। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हैमिल्टन ने विश्व-प्रसिद्ध 'फैडरेलिस्ट' (Federalist) के 72वें परिच्छेद में लोक-प्रशासन की परिभाषा तथा उसके विषय-क्षेत्र की व्याख्या प्रस्तुत की है। इस विषय पर पहला स्वतन्त्र ग्रन्थ सन् 1812 में चार्ल्स जीन बाउनन द्वारा लिखा गया जिसका शीर्षक "Principle D. Administration Politique" था। यह सत्य है कि जिस प्रकार राजनीति, नीति-शास्त्र, इतिहास आदि पर प्रमाणित ग्रन्थों की लगातार रचना हुई है, वैसे लोक-प्रशासन पर कोई ग्रन्थ नहीं लिखे गये। इसका कारण यह ही लगता है कि कुछ समय पूर्व तक भी इस विषय का इतना विशेषीकरण नहीं हो पाया था तथा व्यवहारिक दृष्टि से यह इतना महत्त्वपूर्ण नहीं माना गया था कि इसका स्वतन्त्र चिन्तन किया जाता।

औद्योगिक क्रान्ति के परिणाम-स्वरूप राज्य के सामने विषम समस्याओं का सूत्रपात हुआ और यहीं से लोक-प्रशासन के सम्बन्ध में सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों प्रकार से विचार प्रारम्भ हुआ। इन समस्याओं को समझने व सुलझाने के लिए विशेष अध्ययन की आवश्यकता महसूस हुई। इन समस्याओं को हल करने के लिए लोक-सेवाओं की स्थापना की गई और उसमें योग्यता और अनुभव को महत्त्व दिया गया। प्रशासकीय संहिताओं तथा नियमावली का निर्माण किया गया। फिर भी कुछ समय तक ये संहिताएँ तथा नियमावली प्रशासकों का ही विषय बनी रहीं। जैसे-जैसे प्रशासकीय क्रियाएँ जन-साधारण को प्रभावित करने लगीं वैसे-वैसे उसकी समस्याओं और प्रक्रियाओं में अन्य लोगों ने रुचि लेना प्रारम्भ किया और लोक-प्रशासन के सम्बन्ध में सैद्धान्तिक चर्चाएँ होने लगीं।

संयुक्त राज्य अमेरिका में लोक-प्रशासन के सम्बन्ध में सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों रूपों में गम्भीर विचार किया गया। इसका मूल कारण तत्कालीन

राष्ट्रपति जैक्सन की 'लूट-प्रथा' (Spoil System) की नीति थी, जिससे लोक-प्रशासन अयोग्य तथा अक्षम हो गया। अमेरिका में प्रशासन सम्बन्धी सुधार करने के लिए वहाँ एक आन्दोलन किया गया। इस आन्दोलन के कारण सन् 1880 में पेंडलेटन अधिनियम (Paddelton Act, 1880) पारित हुआ, जिसके अनुसार संघीय लोक-सेवाओं में एक सीमा तक योग्यता के आधार पर चयन किया जाने लगा। इसके साथ ही वहाँ लोक-प्रशासन को एक स्वतन्त्र विद्या के रूप में विकसित करने के लिए आन्दोलन आरम्भ किया गया। इस आन्दोलन का प्रारम्भ वुडरो विल्सन के एक लेख में हुआ जो त्रैमासिक पत्रिका 'पॉलिटिकल साइन्स' में प्रकाशित हुआ। इस लेख का शीर्षक 'प्रशासन का अध्ययन' (The Study of Administration) था। इस लेख ने लोक-प्रशासन के लिए नव-जीवन का संचार किया, इसलिए वाल्डो ने वुडरो विल्सन को 'एक विद्या के रूप में लोक-प्रशासन' का जन्मदाता माना है।

संयुक्त राज्य अमेरिका में लोक-प्रशासन के विषय में सबसे पहले दो महत्त्वपूर्ण पुस्तकों की रचना हुई— (1) प्रो० ह्वाइट (Prof White) की लोकप्रिय पुस्तक 'लोक-प्रशासन की प्रवेशिका (Introduction to the Study of Public Administration, 1926) तथा (2) विलोबी (W F. Willoughby) द्वारा लिखित 'लोक-प्रशासन के सिद्धान्त (Principles of Public Administration, 1927)। इन पुस्तकों के प्रकाशन से लोक-प्रशासन पर तकनीकी रूप से दृष्टिपात किया गया। लोक-प्रशासन को राजनीति से पृथक अध्ययन के रूप में स्वीकार करने के लिए समर्थन प्रदान किया गया।

सन् 1940 के पश्चात् लोक-प्रशासन में नये युग का प्रारम्भ होता है। यही कारण है कि प्रो० वाल्डो (Prof. Waldo) 1940 को नूतन तथा प्राचीन प्रशासन सम्बन्धी अध्ययन की विभाजन-रेखा मानता है। इस वर्ष के पश्चात् लोक-प्रशासन के सम्बन्ध में कई बातें उभरती हैं। प्रथम, राजनीति तथा प्रशासन का गठबन्धन पुनः स्वीकार किया गया। राजनीति तथा प्रशासन के मध्य परम्परागत पृथकता का अन्त कर दिया गया। द्वितीय, लोक-प्रशासन को विज्ञान के रूप में स्वीकार किया गया और उसके सिद्धान्तों को सर्वत्र सामान्य रूप से लागू करने योग्य माना जाने लगा। तृतीय, 'मितव्ययिता' तथा 'कार्य-कुशलता' के स्थान पर सामाजिक कार्य-कुशलता प्रशासन के प्रयासों का लक्ष्य माना जाने लगा। इस युग की चौथी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि 'पोस्डकॉर्ब' के सिद्धान्त की काया लगभग पलट ही हो गई—जैसे 'योजना' शब्द के अर्थ में अब आर्थिक, राजनैतिक तथा वैज्ञानिक समस्याएँ सम्मिलित हो गई हैं। 'प्रतिवेदन' (Reporting) का महत्त्व कम हो गया है। इसका स्थान संचारण (Communication) ने ले लिया है, जो एक व्यापक शब्द है। पाँचवीं, लोक-प्रशासन के सम्बन्ध में अब जॉन डेवी (John Dewey) के प्रेगमेटिक दर्शन का प्रभाव प्रारम्भ हुआ है। लोक-प्रशासन में सत्यता की खोज

अनुभव के आधार पर होने लगी है। लोक-प्रशासन का उपयोगितावादी दर्शन के आधार पर अध्ययन होने लगा। छठी बात यह कि लोक-प्रशासन के अध्ययन में सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक प्रयोगों का स्थान मिलने लगा।

इंग्लैण्ड में बहुत समय तक लोक-प्रशासन के विषय को स्वतन्त्र स्थान नहीं दिया गया। वहाँ लोक-प्रशासन के पाठ्यक्रमों में, प्रशासन, संवैधानिक इतिहास, आर्थिक व सांख्यिकीय विकास, राजनीति, सांख्यिकी तथा कहीं-कहीं लेखा-विधि एवं कार्यालय संचालन सम्बन्धी अभ्यास को भी सम्मिलित किया जाता है। अध्ययन के लिए एक पृथक विषय के रूप में लोक-प्रशासन को स्थान दिलाने में संयुक्त राज्य अमेरिका में सबसे अधिक सफलता प्राप्त हुई। अमेरिकन विश्वविद्यालयों तथा महाविद्यालयों में प्रशासन तथा उसके साधनों के बारे में एक पूर्ण पाठ्यक्रम बनाने की चेष्टा की गई और पाठ्यक्रम में संगठन, प्रबन्ध, कर्मचारी-प्रशासन, वित्तीय प्रशासन, लेखा परीक्षण, सांख्यिकी, लेखा-विधि आदि प्रश्न-पत्र सम्मिलित किये गये। वुडरो विल्सन ने ठीक ही कहा है, "प्रशासन का विज्ञान हमारे राजनैतिक अध्ययन का सबसे बाद का फल है, जो लगभग 2200 वर्ष पहले प्रारम्भ हुआ था। यह हमारी ही शताब्दी तथा पीढ़ी की उत्पत्ति है।"[1] कोलम्बिया विश्व-विद्यालय के 'लोक-प्रशासन संस्थान' (Institute of Public Administration) तथा साइरेक्यूज विश्वविद्यालय के *'मैक्सवेल स्कूल ऑफ सिटीजनशिप एण्ड पब्लिक अफेयर्स'* (Maxwell School of Citizenship and Public Affairs) तथा लोक-प्रशासन संस्थान, न्यूयार्क (Institute of Public Administration, New York) ने लोक-प्रशासन के अध्ययन के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। लोक-प्रशासन के अध्ययन के क्षेत्र में सराहनीय कार्य 'लन्दन स्कूल ऑफ पॉलिटिकल साइंस' ने भी किया है।

भारत में लोक-प्रशासन के अध्ययन का विकास स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् हुआ है। इसके पूर्व लोक-प्रशासन का अध्ययन राजनीति विज्ञान, अर्थ-शास्त्र तथा इतिहास के पाठ्यक्रमों में सम्मिलित कर लिया जाता था। भारतीय विश्वविद्यालयों में नागपुर विश्वविद्यालय का नाम इस विषय के अध्ययन में अग्रणीय रहेगा। इस विश्वविद्यालय में लोक-प्रशासन तथा स्थानीय स्वशासन से सम्बन्धित स्नातकोत्तर डिप्लोमा की व्यवस्था स्वर्गीय डॉ० महादेव प्रसाद शर्मा की सलाह पर सन् 1950 में प्रारम्भ की गई। सन् 1954 में 'भारतीय लोक-प्रशासन संस्थान' (India Institute of Public Administration) की स्थापना नई दिल्ली में की गई।

[1] "The Science of Administration is the latest fruit of the study of politics which was begun some twenty-two hundred years ago. It is a birth of our own century, almost of our own generation."

यहीं से लोक-प्रशासन की त्रैमासिक पत्रिका (Indian Journal of Public Administration) प्रकाशित होती है। इस संस्थान में प्रशासन सम्बन्धी नई योजना को प्रोत्साहन दिया जाता है। इसके अतिरिक्त पटना, मद्रास, उसमानिया, नागपुर, आदि विश्वविद्यालयों में डिप्लोमा पाठ्यक्रम प्रारम्भ किये गये। राजस्थान विश्व-विद्यालय में 'अर्थशास्त्र तथा लोक-प्रशासन' विषय में स्नातकोत्तर डिग्री का स्वतन्त्र पाठ्यक्रम संचालित हो रहा है। देहली स्कूल ऑफ इकॉनामिक्स व्यावसायिक प्रशासन के पाठ्यक्रम चला रहा है तथा बम्बई के सिडन्हम-कॉलेज ऑफ इकॉनॉमिक्स एण्ड कॉमर्स में व्यावसायिक तथा लोक-प्रशासन में डिप्लोमा पाठ्यक्रम संचालित किया जाता है। हाल ही में दक्षिण हैदराबाद में इग्लैण्ड के 'हैन्ल-प्रान-टेन' के स्टाफ कॉलेज के नमूने पर एक स्टाफ-कॉलेज की स्थापना की गई है, जिसके अन्तर्गत व्यापारिक प्रशासन के सम्बन्ध में शिक्षण तथा शोध-कार्य होता है। लखनऊ विश्वविद्यालय में लोक-प्रशासन के एक स्वतन्त्र विभाग की स्थापना की गई है। 1959 में भारतीय सरकार ने उच्च लोक-कर्मचारियों के प्रशिक्षण के लिए प्रशिक्षण की व्यवस्था मसूरी में National Academy of Administration की स्थापना की है।

इस प्रकार लोक-प्रशासन के अध्ययन का भविष्य भारत में आशाजनक दिखाई देता है। इस दिशा में यहाँ काफी कार्य हो चुका है। भारत में लोक-कल्याणकारी राज्य की स्थापना के विचार को फलीभूत करने के लिए इस विषय के गम्भीर अध्ययन की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में किसी प्रकार की उपेक्षा देश में प्रशासनिक हितों को हानि पहुँचा सकता है।

लोक-प्रशासन का महत्त्व
(Importance of Public Administration)

लोक-प्रशासन राज्य सरकार का एक आवश्यक अंग है। इसका मुख्य कार्य जनता की अधिक से अधिक भलाई करना है। लोक-प्रशासन आज मनुष्य के दैनिक जीवन में व्याप्त हो गया है। समाज का प्रत्येक व्यक्ति लोक प्रशासन से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। सम्भवतः मानव इतिहास में कभी ऐसा समय नहीं रहा जबकि समाज प्रशासन के बिना रहा हो। परन्तु आधुनिक राज्यों में लोक-प्रशासन को अभूतपूर्व स्थान प्राप्त हुआ है। आज लोक-प्रशासन आन्तरिक अव्यवस्था और अशान्ति दूर करने के लिए पुलिस की व्यवस्था ही नहीं करता अपितु वह शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा, मनोरंजन, राष्ट्रीय उद्योग-धन्धे, सामाजिक सुरक्षा तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध आदि की भी व्यवस्था करता है। आधुनिक राज्य में लोक-प्रशासन के महत्त्व एवं अपरिहार्य योगदान को देखकर ही कुछ विद्वान आधुनिक राज्य को मूल रूप से 'प्रशासनिक राज्य' (Administrative State) कहते हैं। इतना ही नहीं, लोक-प्रशासन सभी को न्याय और प्रगति के समुचित अवसर देकर समाज को स्थायित्व प्रदान करता है और समाज में शान्ति बनाये रखता है। यही

समाज के विभिन्न वर्गों के बीच में सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न करता है। वास्तव में लोक-प्रशासन का लक्ष्य ही राज्य का अन्तिम लक्ष्य है।

आज लोक-प्रशासन व्यक्ति के जीवन से लेकर मृत्यु तक की समस्त समस्याओं से सम्बन्ध रखता है। आधुनिक राज्य व्यक्ति के जीवन में इतना घुल गया है कि राज्य के बिना हम व्यक्ति के अस्तित्व को भी सुरक्षित नहीं मानते। व्यक्ति राज्य का सदस्य माता के गर्भ में आते ही हो जाता है। राज्य के विभिन्न कार्यों में से एक यह भी कार्य है कि वह गर्भवती स्त्रियों की देखभाल करें। चिकित्सालय तथा प्रसूति गृह-निर्माण करना तथा नर्सों कि नियुक्ति कर गर्भवती स्त्रियों का लेखा-जोखा तैयार करना, समय-समय पर उन स्त्रियों की देखभाल करना आदि कार्य इसी उद्देश्य से किये जाते हैं। जब बच्चा जन्म लेता है तब उसका नाम शहर में नगरपालिका में तथा गाँव में पंचायत आदि में दर्ज किया जाता है। जन्म के बाद उसकी रक्षा की व्यवस्था पूर्ण रूप से राज्य पर है। जब बच्चा बड़ा होता है तो उसके स्वास्थ्य की देखभाल भी राज्य ही करता है। उसको अच्छे नागरिक बनाने के लिए वह उसकी शिक्षा की व्यवस्था भी करता है। युवा होने पर काम दिलाने का उत्तरदायित्व भी राज्य पर ही है। बेकारी को दूर करना, अन्धे, बहरे तथा अपंग लोगों की रक्षा करना तथा बूढ़े लोगों को पेंशन देना आदि कार्य राज्य के द्वारा सम्पादित होते हैं।

लोक-प्रशासन को समाज की एक स्थायी शक्ति कहा जाता है। प्रजातन्त्र में सरकारें बदलती रहती हैं। एक राजनैतिक दल से सत्ता हट कर दूसरे राजनैतिक दल के हाथों में सत्ता आती है। लेकिन प्रशासन में कोई उग्र परिवर्तन नहीं आता। इस सम्बन्ध में सन् 1967 में हुए भारत में आम चुनावों का उदाहरण दिया जा सकता है, जिसके परिणामस्वरूप आधे से अधिक राज्यों में कांग्रेस को बहुमत प्राप्त नहीं हुआ और वहाँ पर विभिन्न राजनैतिक दलों ने मिलकर संयुक्त मोर्चा बनाया और सरकार का गठन किया। परन्तु प्रशासन वैसा ही रहा, उसकी निरन्तरता में कोई खास परिवर्तन नहीं आया और न उसका स्वरूप ही परिवर्तित हुआ।

वर्तमान वैज्ञानिक युग में मानव प्रगति की ओर भागा जा रहा है। वह उन सभी भौतिक सुख-सामग्री को प्राप्त करने में संघर्षरत है। आज विज्ञान की उन्नति के साथ सभ्यता का भी विकास हुआ है। लेकिन यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि जब तक लोक-प्रशासन कुशल तथा योग्य है तभी वहाँ सभ्यता का विकास हो सकता है। इसके विपरीत जहाँ लोक-प्रशासन भ्रष्ट है तथा अयोग्य है, वहाँ विकास की गति मन्द होगी। समाज में आर्थिक, सामाजिक तथा अन्य प्रकार के परिवर्तन लोक प्रशासन के माध्यम से ही सम्पन्न हो सकते हैं। जिस देश में लोक-प्रशासन इन कार्यों को पूरा करने में असफल हो जाता है तो वहाँ क्रान्ति की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं।

राज्य के कार्य-क्षेत्र विस्तृत हो जाने के कारण आर्थिक व्यवस्था के क्षेत्र में योजनाओं का सूत्रपात हुआ। आर्थिक योजनाओं के द्वारा ही चहुँमुखी विकास हो सकता है, सम्पन्न जीवन सम्भव हो सकता है, देश में आवागमन की सुविधाएँ बढ़ सकती है, कुटीर उद्योगों का विकास हो सकता है, ग्रामीण जीवन के लिए अधिक साधन जुटाये जा सकते है। इन आर्थिक योजनाओं को सफल बनाने के लिए बड़े पैमाने पर कुशल प्रशासन की आवश्यकता होती है। अतः यह कहा जाता है कि नियोजित अर्थव्यवस्था ने भी लोक-प्रशासन के क्षेत्र को व्यापक बनाया है।

लोक-प्रशासन ही लोक कल्याणकारी राज्य की कल्पना को साकार बनाता है। जनता की इच्छाओं और आकांक्षाओं को पूरा करने का कार्य राज्य का है। अधिक से अधिक जनता का हित करने वाली सरकार ही आधुनिक युग में जीवित रहने का स्वप्न देख सकती है। अतः लोक-प्रशासन पर महान् उत्तरदायित्व आ गया है। जनता के मौलिक अधिकारों की रक्षा लोक-प्रशासन का मुख्य कर्तव्य है। जिस प्रशासन में पूँजीपति मजदूरों का शोषण करता है, जहाँ सरकारी अधिकारी या धनवान बेकारों से बेगार लेने का कार्य करता है, अज्ञानता, गरीबी तथा भोलेपन का जहाँ *बेजा लाभ उठाने की मनोवृत्ति फैली हुई है, उसे हम लोक-प्रशासन* की संज्ञा नहीं दे सकते। जहाँ चोरों से जनता की जान-माल की रक्षा नहीं होती है, जहाँ स्त्रियों के सतीत्व की रक्षा नहीं होती है, जहाँ असहाय तथा निस्सहाय लोगों को न्याय नहीं मिलता हो, वहाँ लोक-प्रशासन कैसा ? इन बुराइयों को दूर करने वाला ही लोक-कल्याणकारी प्रशासन कहा जा सकता है। जनता सुखी हो, सुख-शान्ति में जीवन-यापन करती हो, चहुँमुखी विकास करने के लिए लोग स्वतन्त्रता अनुभव करते हों वही प्रशासन योग्य है, चाहे उसका स्वरूप कैसा ही हो।

एलेक्जेण्डर पोप *का कथन इस सम्बन्ध में बहुत महत्त्वपूर्ण है। उनके अनुसार,* "राज्य के स्वरूपों पर मूर्खों को लड़ने दो, वही प्रशासन सर्वोत्तम है, जो सर्वोत्तम कार्य करता है।"[1]

यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि राज्य चाहे जिस राजनैतिक विचार-धारा पर संगठित किया जाए, लोक-प्रशासन का महत्त्व कम नहीं होता। यद्यपि अराजकतावादी राज्य के कट्टर विरोधी हैं और वे राज्य का अन्त कर एक वर्ग विहीन समाज की स्थापना करना चाहते है। इसी प्रकार साम्यवादी भी एक ऐसे समाज की कल्पना करते हैं जिसमें राज्य का स्वतः ही लोप हो जायेगा। लेकिन प्रश्न यह है कि राज्य के लोप हो जाने से लोक-प्रशासन का भी लोप हो जायेगा। इस पेचीदे प्रश्न पर यदि गहराई से अध्ययन किया जाए तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि भले ही वर्गहीन समाज की स्थापना हो जाए, परन्तु प्रशासन के महत्त्व में कमी नहीं

1. "For forms of government let fools contest; what is best administered is best".

जायेगी। इसका मुख्य कारण यह है कि समाज के लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति तथा उनमें अनुशासन के लिए इसकी आवश्यकता बनी रहेगी।

लोक-प्रशासन के महत्त्व की व्याख्या करते हुए प्रो० डोनहम (Donham) ने कहा है कि, "यदि हमारी सभ्यता का पतन होता है तो वह प्रशासकीय असफलता का परिणाम होगा"।[1]

चार्ल्स ए० बीयर्ड (Charles A Beard) के शब्दों में, "प्रशासन के विषय से अधिक महत्त्वपूर्ण कोई दूसरा विषय नहीं है। सभ्य सरकार का भविष्य, और मेरी सम्मति में सभ्यता का भविष्य हमारी इस योग्यता पर आधारित है कि हम प्रशासन के सम्बन्ध में एक ऐसे विज्ञान, दर्शन एवं व्यवहार को विकसित करें जो सभ्य समाज के कर्तव्यों को पूरा करने की क्षमता रखता हो"।[2]

लोक-प्रशासन के महत्त्व को स्वीकार करते हुए सर जॉशुआ स्टेम्प ने तो यहाँ तक लिखा है कि, "मेरा मस्तिष्क इस सम्बन्ध में बिल्कुल साफ है कि प्रशासकीय कर्मचारी नये समाज को प्रेरणा देने वाला स्रोत होगा। हर मंज़िल पर वह मार्ग निर्देशन, प्रोत्साहन और परामर्श का कार्य करेगा"।[3]

वस्तुतः जैसे-जैसे राज्य के कार्य में वृद्धि होती है वैसे-वैसे लोक-प्रशासन के कार्यों में स्वतः ही वृद्धि हो जाती है। उन्नीसवीं शताब्दी तक राज्य का मुख्य कार्य रक्षात्मक था, अतः लोक-प्रशासन का क्षेत्र भी सीमित था। परन्तु वर्तमान राज्यों का आधार जन-हित है। दूसरे शब्दों में, आधुनिक राज्य लोक-कल्याणकारी राज्य हैं। इस प्रकार के राज्यों में लोक-प्रशासन का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पग-पग पर लोक-प्रशासन की आवश्यकता रहती है। शुद्ध भोजन, स्वच्छ जल, सफाई, मकान, शिक्षा, बीमारी में सहायता आदि प्राप्त करने के लिए प्रशासकीय कर्मचारियों पर हम निर्भर रहते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि लोक-प्रशासन की अनुपस्थिति में सभ्य समाज में जीवन की आवश्यकताओं को पूरा

1. "If our civilization fails, it will be mainly because a break-down of administration."

2. There is no subject more important.. ..... than this subject of administration. The future of civilized government, and even, I think of civilization itself rests upon our ability to develop a science and a philosophy and a practice of administration competent to discharge the functions of civilised society."

3. "I am quite clear that the official must be the mainspring of the new society, suggesting, promoting, advising at every stage."

करना असम्भव-सी बात है। प्रो० व्हाइट (L. D. White) ने आधुनिक राज्यों में लोक-प्रशासन के महत्व को स्वीकार करते हुए कहा है कि, "आज से दो शताब्दी पूर्व लोग सरकार से केवल दमन की आशा करते थे। एक शताब्दी पहले यह आशा करने लगे कि उन्हें अकेला छोड़ दिया जायेगा और आज के लोग विभिन्न प्रकार की सेवाओं और सुरक्षाओं की आशा करते हैं।"[1] इस प्रकार से राज्य के दृष्टिकोण में परिवर्तन के साथ ही साथ लोक-प्रशासन के महत्व में वृद्धि हुई है।

परीक्षोपयोगी प्रश्न

1. लोक-प्रशासन के अर्थ को बताइए तथा उसके क्षेत्र तथा महत्व की समीक्षा कीजिये।

   Define Public-Administration and discuss its scope and importance.

(2) "प्रशासन का सम्बन्ध कार्यों को पूरा करने से है, जिससे साथ ही साथ निर्धारित लक्ष्य पूरे हो सकें।" इस कथन के सन्दर्भ में लोक-प्रशासन के क्षेत्र की विवेचना कीजिए।

   "Administration has to do with getting things done, w th the accomplishment of defined objectives.' Discuss the scope of administration in the light of above statement.

3 "लोक-प्रशासन का सम्बन्ध उन सार्वजनिक नीतियों को लागू करने से है जो प्राधिकारयुक्त सत्ता द्वारा बनाई जाती हैं।' क्या यह लोक-प्रशासन की प्रकृति तथा क्षेत्र की उचित व्याख्या है ? यदि नहीं, तो इसकी कमियों का वर्णन कीजिये।

   "Public Administration is concerned with the implementation of public policy as formulated by competent authority ' Is this an adequate description of the nature and scope of Public Administration ? If not, point out its deficiencies.

   वर्तमान युग में लोक-प्रशासन के बढ़ते हुए महत्व के कारणों का वर्णन कीजिए।

   Account for the growing importance of Public Administration in the conten porary state

5 लोक-प्रशासन तथा व्यक्तिगत प्रशासन में समानता तथा असमानताओं का वर्णन कीजिये।

   Explain brifly the similarities and dis-similarities in Public and Private Administration.

---

1. "Two centuries ago people expected little but oppression. A century ago they expected chiefly to be let alone. Now they expect a wide variety of services and projection."

6. "लोक-प्रशासन सदा नीति का दास होता है, चाहे इसका व्यावहारिक क्षेत्र सार्वजनिक हो अथवा व्यक्तिगत।" इस कथन की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

"Whether the sphere of interest be public or private, administration is always the servant of policy." Critically examine the above statement

"क्या निजी प्रशासन को लोक-प्रशासन से अधिक कार्यकुशल कहना उचित है ?" अपने उत्तर की तर्कों से पुष्टि कीजिए।

"Will it be correct to describe Private Administration as more efficient than Public Administration " Give arguments.

लोक-प्रशासन एक विज्ञान है अथवा कला या दोनों ? सविस्तार विवेचना कीजिए।

Is Public Administration a Science or an Art or both ? Discuss in details

2

लोक-प्रशासन का अन्य सामाजिक विज्ञानों के साथ सम्बन्ध एवं अध्ययन पद्धतियाँ

(RELATION OF PUBLIC ADMINISTRATION WITH OTHER SOCIAL SCIENCES AND ITS METHODS OF STUDY)

सिजविक का कथन है, "यदि हमें किसी विषय या विज्ञान का अन्वेषण करना है तो यह बहुत लाभदायक होगा कि हम उस विज्ञान या विषय का अन्य विज्ञानों या विषयों से सम्बन्ध मालूम करें, और फिर यह जानने का प्रयत्न करें, कि उस विषय या विज्ञान ने अन्य विषयों से क्या लिया है और उसने स्वयं अन्य विषयों को क्या दिया है।" परन्तु लोक-प्रशासन के प्रारम्भिक लेखकों ने इस विषय का दूसरे सामाजिक विज्ञानों के साथ सम्बन्ध जोड़ने का प्रयत्न नहीं किया था, इसका कारण यह था कि उस समय वे इस विषय को एक स्वतन्त्र विज्ञान के रूप में प्रस्तुत करने में संलग्न थे। चूँकि ऐतिहासिक दृष्टिकोण से लोक-प्रशासन राजनीति विज्ञान का एक अंग माना जाता था, इसलिए इस विषय के आदि लेखकों का राजनीति विज्ञान के प्रति विरोध का दृष्टिकोण अपनाना नितान्त आवश्यक था। किन्तु धीरे-धीरे लोक-प्रशासन के लेखकों में सम्मिश्रता का प्रादुर्भाव हुआ और वे दूसरे सामाजिक विज्ञानों के प्रति विशेष रूप से राजनीति शास्त्र के प्रति अपना आभार प्रकट करने लगे। लेकिन बाद में लोक-प्रशासन के विद्वानों के दृष्टिकोण में परिवर्तन आया और वे इस बात को मानने में सहमत हो गये कि लोक-प्रशासन का अन्य सामाजिक विज्ञानों के साथ सम्बन्ध है। इसका श्रेय समाजशास्त्रियों तथा सामाजिक मनोविज्ञानियों को है जिन्होंने अपने अन्वेषण से यह बताया कि प्रशासन समाजशास्त्र एवं सामाजिक मनोविज्ञान की खोज के लिए विस्तृत क्षेत्र प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त लोक-प्रशासन और अन्य विज्ञानों के सम्बन्धों को बढ़ाने का श्रेय वैज्ञानिक प्रबन्ध पद्धति आन्दोलन (Scientific Management Movement) को है जिसने सामाजिक गतिशीलता एवं स्थिरता को समझाने के लिए प्रेरणा दी और इस प्रकार प्रशासकीय विज्ञान को वैज्ञानिक रूप प्रदान किया। यहाँ हम लोक-प्रशासन का कुछ महत्वपूर्ण सामाजिक विज्ञानों के साथ सम्बन्ध का वर्णन करेंगे।

लोक-प्रशासन तथा राजनीति विज्ञान
(Public Administration and Political Science)

सामाजिक विज्ञानों में लोक-प्रशासन का सबसे अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध राजनीति विज्ञान से है, किन्तु लोक-प्रशासन के प्रारम्भिक लेखकों ने अपने विषय को ज्ञान की एक स्वतन्त्र शाखा घोषित करने के उद्देश्य से राजनीति विज्ञान और लोक-प्रशासन के भेदों पर ही बल दिया। वास्तव में लोक-प्रशासन का प्रतिपाद्य विषय सरकार की प्रशासनिक गतिविधियाँ हैं। प्रो० फिफनर (Pfiffner) ने इसकी परिभाषा करते हुए कहा है कि, *"सार्वजनिक नीति को नियन्त्रित करने के लिए* सामूहिक प्रयत्नों का समन्वय हो। लोक-प्रशासन में ऐसे समस्त विषयों का समावेश हो जाता है जिन्हें सरकार की नागरिक संस्थाएँ राज्य के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए करती हैं। वास्तव में, लोक-प्रशासन राजनीति विज्ञान का ही एक भाग है, यद्यपि अब उसे पृथक विषय माना जाने लगा है। इसका कारण यह है कि उन्नीसवीं शताब्दी में लोक-प्रशासन शब्द राजनीति विज्ञान में दो अर्थों में प्रयुक्त होता था। *व्यापक दृष्टि से लोक-प्रशासन का अर्थ सरकारी कार्यों के वास्तविक संचालन से होता* था सरकार की किसी शाखा विशेष के कार्यों से नहीं। संकुचित अर्थ में उसका अभिप्राय सरकार की प्रशासनिक शाखा से होता था। यह सार्वजनिक नीति को नियन्त्रित करने से सम्बन्ध रखता था सार्वजनिक नीति के निर्माण से नहीं। सार्वजनिक नीति के निर्माण का कार्य सरकार की राजनीतिक शाखा का कार्य समझा जाता था। सरकार की इन दो शाखाओं के भेद के फलस्वरूप लोक-प्रशासन को एक पृथक विषय समझा जाने लगा।" जो विद्वान लोक-प्रशासन को एक पृथक एवं स्वतन्त्र मानते हैं उनमें वुडरो विल्सन, गुडनो तथा व्हाइट मुख्य हैं। विल्सन ने अपने एक लेख "प्रशासन का अध्ययन (Study of Administration) में दोनों विषयों के के भेद को स्पष्ट किया है। उन्होंने अपने लेख में लिखा था कि, 'प्रशासन राजनीति परिधि के बाहर है। प्रशासकीय समस्याएँ राजनीतिक समस्याएँ नहीं हैं। यद्यपि राजनीति के द्वारा प्रशासन के लिए कार्य निर्धारित किया जाता है, तथापि उसे प्रशासकीय पदों के साथ जोड़-तोड़ करने की स्वीकृति नहीं मिलनी चाहिए।'[1]

अमेरिका में राजनीति तथा लोक-प्रशासन को बहुत समय तक दो पृथक पाठ्यविषय के रूप में माना जाता रहा है। राजनीति का सम्बन्ध सामान्य नीति *निर्धारण से है और प्रशासन का उन नीतियों का लागू करने से।* इस सम्बन्ध में प्रो० गुडनो का कथन है कि, "सत्य यह है कि प्रशासन का बहुत-सा भाग राजनीति से सम्बन्ध नहीं रखता। इस भाग को यदि पूरी तरह नहीं, तो बहुत सीमा तक

1. "Administration lies outside the proper sphere of Politics. Administrative questions are not political questions. Although politics sets the tasks for administration, it should not suffered to manipulate its officers."

राजनीतिक संस्थाओं के नियन्त्रण से अलग कर देना चाहिये। यह राजनीति से इसलिए सम्बद्ध है क्योंकि इसमें अर्द्ध-वैज्ञानिक अर्द्ध-न्यायिक और अर्द्ध-वाणिज्यिक या व्यापारिक गतिविधियाँ आ जाती हैं। इनका राज्य की वास्तविक इच्छा की अभिव्यक्ति पर बहुत कम प्रभाव पड़ता है। प्रसिद्ध जर्मन लेखक ब्लण्ट्ली (Bluntschli) ने भी लोक-प्रशासन को राजनीति से स्वतन्त्र बताते हुए कहा है कि, "राजनीति राज्य की ऐसी प्रक्रिया है जिसका सम्बन्ध बड़े अथवा सार्वजनिक कार्यों से होता है। परन्तु इसके विपरीत प्रशासन का सम्बन्ध व्यक्ति तथा छोटे कार्यों से होता है। इस प्रकार राजनीति तो राजनीतिज्ञ का ही विशिष्ट कार्य-क्षेत्र होता है और प्रशासन तान्त्रिक दृष्टि से कुशल अधिकारियों के क्षेत्र से सम्बन्धित है।

उक्त विद्वानों के कथनों से ऐसा लगता है कि राजनीति तथा लोक-प्रशासन एक-दूसरे से स्वतन्त्र हैं। राजनीतिक विज्ञान केवल कल्पना से सम्बन्धित है और प्रशासन व्यवहार से सम्बन्धित है। एक राजनीतिज्ञ का कार्य है—योजना तथा योजना के क्रियान्वयन की प्रक्रिया को निश्चित करना, परन्तु प्रशासन का कार्य है—योजनाओं को व्यावहारिक रूप देना। राजनीतिज्ञ का कार्य है कि शक्ति का संचय कर अपने विरोधियों को नीचा दिखाने के लिए चालें चलना जबकि प्रशासन शक्ति का उपयोग जन-सेवा में लगाकर अधिक से अधिक जन-कल्याण के कार्य करना है।

राजनीति तथा प्रशासन को एक-दूसरे से पृथक व स्वतन्त्र रखने के विचार की पिछले कुछ दिनों में कटु आलोचना हुई है। आलोचकों का विचार है कि इस दृष्टिकोण ने प्रशासन को राजनीति से इतना दूर पहुँचा दिया कि प्रशासकीय कर्मचारी शासन विधान की अवहेलना करके अपने स्वतन्त्र सिद्धान्तों पर आचरण करने लगे। परन्तु उपर्युक्त दृष्टिकोण को किसी भी स्थिति में उचित नहीं ठहराया जा सकता, क्योंकि किसी भी देश की राजनीतिक व्यवस्था उस देश के प्रशासन के लिए समुचित वातावरण प्रस्तुत करती है। वास्तव में, सत्य तो यह है कि प्रजातान्त्रिक शासन-व्यवस्था में मन्त्रिमण्डल के सदस्य सामान्य नीति के निर्धारण में प्रशासकीय अधिकारियों के परामर्श से ही कार्य करते हैं। अतः यह कहना बिल्कुल गलत तथा निराधार है कि प्रशासन नीति-निर्धारण में कोई भाग नहीं लेता। अतः तत्कालीन विचारक राजनीति तथा प्रशासन में घनिष्ठता पर बल देते हैं। वे प्रशासन को राजनीति विज्ञान का पूरक मानते हैं। वे प्रशासन और राजनीति की पारस्परिक निर्भरता पर बल देते हैं तथा उनके विचार में दोनों विषयों का एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता; भले ही उनमें कुछ अन्तर दिखाई देता हो। इस सम्बन्ध में लेसली लिप्सन (Leslie Lipson) का कथन है कि, "सरकार के कार्यों को विभाजित करने वाली कोई सरल रेखा नहीं खींची जा सकती। सरकार एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है। यह सही है कि किसी भी प्रक्रिया में बहुत सी मंजिलें होती हैं। व्यवस्थापन एक मंजिल है और प्रशासन दूसरी। इतना होने पर भी ये मंजिलें सब

एक-दूसरे से इतनी मिली हुई हैं कि कुछ स्थानों पर इनमें बिल्कुल ही भेद नहीं किया जा सकता।"[1] डोनेल्ड किंग्सले (Donald Kingsley) ने ठीक ही कहा है कि "प्रशासन राजनीति की एक शाखा है।"[2] इस प्रकार आज लोक-प्रशासन कानूनी विचारों अथवा यन्त्रवत् स्वयं-सिद्ध मान्यताओं का कोई शुष्क अध्ययन मात्र नहीं है। यह गतिशील है और अपनी प्रगति तथा विकास की प्रत्येक मंजिल पर मानव-विवेक से सम्बन्धित है। अतः लोक-प्रशासन के अध्ययन में भी वे सभी प्रक्रियाएँ सम्मिलित हैं जिनके द्वारा नीति निर्धारित की जाती है। इस प्रकार लोक-प्रशासन के नवीन दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप उसके कार्य-क्षेत्र में पहले की अपेक्षा अधिक व्यापकता आ गई है।

लोक-प्रशासन तथा राजनीति की घनिष्ठता निम्न अध्ययन से और अधिक स्पष्ट हो जाती है

(क) राजनीति की सफलता प्रशासन के सहयोग पर आधारित है। प्रजातान्त्रिक व्यवस्था में मन्त्रियों का सम्बन्ध राजनीति से होता है। प्रत्येक मन्त्री अपने विभाग की नीति का निर्धारण करता है और उन्हें लागू करवाने का कार्य भी करता है। परन्तु वास्तविकता यह है कि मंत्री प्रशासन के कार्यों में दक्ष नहीं होते, अतः उन्हें नीति-निर्माण करते समय तथा उन्हें लागू करवाते समय प्रशासकीय अधिकारियों का परामर्श व सहयोग लेना होता है। इस प्रकार दोनों को एक-दूसरे से सहयोग को प्राप्त करके चलना होता है। सहयोग की भावना के अभाव में प्रशासन में शिथिलता आ जायेगी जो प्रजातन्त्र के लिए अशुभ होगा। जॉन एम० गॉस (John M. Goss) का कथन है कि "आजकल के जमाने में लोक-प्रशासन के सिद्धान्तों से राजनीति के सिद्धान्तों का तात्पर्य होता है।"[3] डोनेल्ड सी० स्टोव (Donald C. Stove) के विचार इस सम्बन्ध में बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। उनके अनुसार, "विश्व की समस्याओं को हल करने की सफलता के लिए आवश्यक है कि बातचीत

---

1. "…. the attempt to demorcate clear cut functions of government is impossible. Government is a continuous process. It is true that the process contains phases. Legislation is one phase, Administration another. But they are merged together and at certain points become indistinguishable."

2. "Administration is a branch of Politics"

3. "A theory of Public Administration means in our times a theory of politics too."

करने वाले लोग जो नीतियों को चलाते हैं और प्रशासन कार्य सम्भालने वाले सचिवालय—ये दोनों ही पक्ष सुसंगठित तथा सुप्रशासित हो।"[1] इस प्रकार प्रशासन की सफलता राजनीति की सफलता है। दुर्बल तथा दूषित प्रशासन राजनीति के लिए क्षय रोग से कम नहीं है।

(ख) योजनाओं की सफलता प्रशासन पर निर्भर करती है योजना चाहे कितनी ही अच्छी क्यों न हो, उसका लाभ तब तक नहीं हो सकता जब तक कि उसे योग्यता द्वारा क्रियान्वित न किया जाए। अतः प्रशासकीय अनुभव के द्वारा नीतियों को जब लागू किया जाता है तो वाञ्छित लाभ की प्राप्ति हो सकती है। राजनीतिज्ञ को अपने कार्य में तभी सफलता मिलती है, जब उसे कुशल, योग्य, ईमानदार तथा अनुभवी प्रशासक मिल जायें। यही कारण है कि डोनेल्ड प्रशासन को राजनीति की एक शाखा मानते हैं। प्रो० लास्की (Laski) ने इस सम्बन्ध में अपना मत देते हुए कहा कि "शत-प्रतिशत प्रशासन पर छा जाने का दृष्टिकोण उतना ही घृणित है, जितना राजनीति को प्रशासन से बाहर रखने का दृष्टिकोण।" वास्तव में सरकार की सफलता राजनीति एवं प्रशासन के समन्वय में है।

(ग) जैसा कि कहा गया है, प्रजातन्त्र में मंत्री विभाग का राजनीतिक अध्यक्ष होता है। वही अपने विभाग के लिए नीति निर्धारित करता है। नीति निर्धारण में सही आँकड़ों तथा सूचनाएँ एकत्रित करनी होती हैं। इस सामग्री को प्रशासकीय कर्मचारी एकत्रित करते हैं। इस प्रकार राजनीतिज्ञों को प्रशासन पर निर्भर रहना होता है। सत्य तो यह है कि राजनीति का स्वरूप ही लोक-प्रशासन के द्वारा निश्चित किया जाता है।

(घ) प्रशासन की गतिशीलता तथा लोकतन्त्र में जन-कल्याण तभी सम्भव है, जबकि राजनीतिज्ञ तथा प्रशासक के बीच अच्छे सम्बन्ध हों। फिफनर (Pfiffner) ने उन विद्वानों की कड़ी आलोचना की है जिन्होंने राजनीति और प्रशासन को एक-दूसरे से अलग रखने में योगदान दिया है। उनके अनुसार, "राजनीति और प्रशासन के बीच विभाजन से तात्पर्य केवल कार्य करने के नियम बनाने से है, जो कि अधिकांश मामलों में स्वयमेव इस बात का निश्चय कर देंगे कि कोई भी विशिष्ट प्रश्न विधान-मण्डलीय क्षेत्र से सम्बन्धित है अथवा प्रशासकीय क्षेत्र से।" लेकिन कार्य-विभाजन का अर्थ पृथकता नहीं होता है। प्रशासकीय कर्मचारियों के महत्त्व को बताते हुए रैम्जे म्योर (Ramsay Muir) ने कहा कि "इंग्लैण्ड में मंत्री स्थायी कार्यकारिणी के हाथों का खिलौना होता है। सरकारें आती हैं और जाती हैं, मन्त्रियों का भी आना-जाना बना रहता है, किन्तु देश का प्रशासन स्थाई रूप से चलता रहता है। कोई

1. "If international organizations are to be successful in dealing with world problems, the policy organs through which negotiations are conducted and the Secretariats which handle the administrative work must be properly organized and administered."

शान्ति इसमें परिवर्तन नहीं ला सकती और न कोई उथल-पुथल इसे उखाड़ सकती है।"

इस प्रकार लोक-प्रशासन का राजनीति के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। लेकिन यहां यह बता देना आवश्यक है कि जब हम लोक-प्रशासन तथा राजनीति के सम्बन्धों की व्याख्या करते हैं तो हमें अतिवादी दृष्टिकोण से बचना चाहिए। हमें दोनों के बीच समन्वय की स्थापना करनी होगी और मध्यम रास्ता अपनाना होगा। लोक-प्रशासन का शुद्ध राजनीतिक दृष्टिकोण उतना ही बुरा है जितना कि वह दृष्टिकोण जहाँ राजनीति को कोई स्थान नहीं दिया जाता। इस सम्बन्ध में कोई निश्चित सूत्र नहीं बनाया जा सकता, लेकिन यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि राजनीति और राजनीतिज्ञों को प्रशासन के व्यापक उद्देश्यों की परिभाषा और राजनीतिक सत्ता की प्राप्ति के लिए चेष्टा तक ही सीमित रहना चाहिए। यह राजनीतिक सत्ता ही प्रशासन की चालक शक्ति है। दूसरी ओर प्रशासन और प्रशासकों का कार्य राजनीतिक शक्ति को नीति निर्माण के लिए आंकड़े, तथ्य, सूचनाएँ, सुझाव आदि प्रस्तुत करना है तथा नीति-निर्माण के पश्चात् उसे लागू करना भी उन्हीं का कार्य है। जब तक यह सिद्धान्त वास्तविक रूप में मान्य होगा और राजनीतिज्ञों के हाथों में केवल राजनीतिक सत्ता रहेगी, प्रजातन्त्र को कोई खतरा नहीं हो सकता। साथ ही जब तक राजनीतिज्ञ प्रशासकीय कार्यों में तथा नीति के क्रियान्वयन के कार्य में विशेषज्ञ नहीं हैं और वे इस सम्बन्ध में अपनी सीमाओं को पहचानते हैं, तब तक प्रशासन को अपने अधिकारों के सम्बन्ध में चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी क्षेत्र हैं जो प्रशासन और राजनीति दोनों की परिधि में आते हैं। इतिहास एवं परम्परा के कारण कुछ देशों में दूसरे देशों की अपेक्षा इन क्षेत्रों का विस्तार अधिक पाया जाता है, किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि दोनों विषयों के भेद को भुला देने की आवश्यकता है। वास्तव में, इस क्षेत्र में स्वस्थ परम्पराएँ उसी देश में विकसित होती हैं जहाँ राजनीति एवं प्रशासन में विभेद को दृष्टिगत रखा जाता है।

उदाहरण के लिए, ब्रिटेन को लिया जा सकता है, जहाँ राजनीति तथा प्रशासन दोनों ही के क्षेत्र में स्वस्थ परम्पराएँ कायम हैं। वहाँ लोक सेवा के सदस्य अधिकांशतः मध्यम वर्ग के होते हैं। लेकिन इंग्लैण्ड की सरकार चाहे श्रमिक दल (Labour Party) या रूढ़िवादी दल (Conservative Party) की बनी हो, लोक सेवकों ने उनकी नीतियों को लागू करने में सामान्य रूप से सहयोग दिया है। दोनों राजनीतिक दल मन्त्रियों तथा प्रशासकीय अध्यक्षों के कार्य-क्षेत्रों की भिन्नता को इतनी भली प्रकार समझते तथा जानते हैं कि दोनों के मध्य संघर्ष की सम्भावना ही कम हो गई है। ब्रिटेन में मन्त्री लोग अपने अधीनस्थ प्रशासकीय अधिकारियों द्वारा अपने विचारों की स्वतन्त्रतापूर्वक अभिव्यक्ति को ही केवल सहन नहीं करते, अपितु उन्हें

अनिवार्य भी मानते हैं तथा अधिकारी अपने राजनीतिक अध्यक्षो द्वारा निर्धारित नीतियो को पूरी लगन के साथ लागू करने के लिए तत्पर रहते हैं, भले ही प्रारम्भिक अवस्थाओ मे उन्होंने उन नीतियो के विरुद्ध विचार व्यक्त किया हो। जब भारत स्वतन्त्र हुआ तो यहाँ पर भी प्रशासकीय अधिकारियो ने कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलो को पूर्ण सहयोग दिया, हलाकि वे विदेशी कर्मचारीतन्त्र की परम्पराओ मे पोषित हुए थे। अतः मन्त्रियो ने भी उनके सहयोग की मुक्त कठ से सराहना की।

इतना ही नहीं कुछ ऐसे विषय हैं जो राजनीति विज्ञान की परिधि म आते है, लेकिन लोक-प्रशासन का अध्ययन करने के लिए उनका अध्ययन करना आवश्यक है। ये क्षेत्र हैं—सवैधानिक कानून, स्थानीय शासन, शासन तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध। सवैधानिक कानून तथा प्रशासन मे इतना गहरा सम्बन्ध है कि साधारण व्यक्ति इन दोनो विषयो को एक ही मानता है। यहाँ तक कि भारतीय लेखको ने हमारे सविधान मे भी सवैधानिक सिद्धान्त एव प्रशासकीय सिद्धान्त को कई स्थानो पर मिला दिया है जबकि लोक-प्रशासन सवैधानिक कानून का भाग नही है, तथापि यह सही है कि उसके सगठन एव स्वरूप का निर्धारण सविधान द्वारा ही किया जाता है। इसी प्रकार स्थानीय प्रशासन के क्षेत्र मे राजनीति विज्ञान एव लोक प्रशासन दोनों का कार्य-क्षेत्र एक-दूसरे मे बहुत जगह मिलता है।

प्रथम विश्व-युद्ध तक लोक-प्रशासन का अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के साथ कोई सम्बन्ध नही था। इसका कारण यह था कि उस समय तक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध को कूटनीति का विषय माना जाता था। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र मे सहकारिता की भावना के जाग्रत होने से, अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ का लोक-प्रशासन मे भी सम्बन्ध स्थापित हो गया है। आज समस्त विद्वानो द्वारा यह बात स्वीकार की जाने लगी है कि अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ केवल कूटनीतिक ही नही, अपितु प्रशासनिक भी हैं। राष्ट्र सघ (League of Nations) की स्थापना के साथ कुछ दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय सगठनो की स्थापना हुई। उदाहरण के लिए, अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक सगठन (International Labour Organization) आदि। इसी प्रकार द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात् जब सयुक्त राष्ट्र सघ (United Nations Organization) की स्थापना हुई तो उसके साथ उसकी अन्य शाखाएँ भी स्थापित की गई। उनमे विश्व बैंक (World Bank), अन्तर्राष्ट्रीय वित्त कोष (International Monetary Fund) आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन सस्थाओ के कार्यों को सम्पादित करने के लिए किसी न किसी प्रकार के प्रशासन की आवश्यकता थी। इस प्रकार लोक-प्रशासन का क्षेत्र राष्ट्र से बढ़कर अन्तर्राष्ट्रीय हो गया है। डोनेल्ड सी० स्टोन (Donald C Stone) का विचार है कि "यदि अन्तर्राष्ट्रीय सगठनो को विश्व की समस्याओ को हल करने मे सफल होना है तो उन सभी सस्थाओ को समुचित रूप से सगठित एव प्रशासित होना चाहिए, जिनके माध्यम से

समझौते की बातचीत चलाई जाती है तथा प्रशासकीय कार्य सचालित होता है।" इस प्रकार यह स्पष्ट है कि राजनीति विज्ञान का लोक-प्रशासन के साथ गहरा सम्बन्ध है। यही देख कर कुछ विद्वान यह मानते हैं कि लोक-प्रशासन का जन्म राजनीति की कोख से हुआ है।

लोक प्रशासन तथा कानून
(Public Administration and Law)

लोक प्रशासन तथा कानून या विधि में गहरा सम्बन्ध है। लोक प्रशासन को कानून के अन्तर्गत रहकर ही अपना कार्य करना होता है। कोई भी लोक प्रशासक कानून का उल्लंघन नहीं करना चाहता और न ही ऐसा कार्य कर सकता है जो विधि के अन्तर्गत नहीं आता हो। प्रशासन कानून का अनुचर है और उसका मुख्य कार्य यह देखना होता है कि कानून को ठीक तरीके से लागू किया गया है या नहीं। वुडरो विल्सन (Woodrow Wilson) ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि "सार्वजनिक कानून को विस्तृत तथा व्यवस्थित रूप से कार्यान्वित करने का नाम ही लोक प्रशासन है। सामान्य कानून का प्रत्येक विशिष्ट क्रियान्वयन ही प्रशासन का कार्य है। उदाहरण के लिए, करों का निर्धारण एवं संग्रह करना, अपराधी को दण्ड की व्यवस्था, डाक का आवागमन तथा वितरण, सेना तथा नौसेना के लिए सामग्री जुटाना तथा भर्ती करना आदि सब स्पष्ट रूप से प्रशासन के ही कार्य हैं, किन्तु सामान्य कानून जो कि इन सब कार्यों को करने के बारे में निर्देश देते हैं, वे प्रशासन की परिधि से बाहर तथा ऊपर होते हैं।" प्रशासन स्वयं कानून की सीमा में रह कर कार्य करता है और यदि सीमा का उल्लंघन किया जाता है तो उसकी औचित्यता के सम्बन्ध में न्यायालय में उचित कार्यवाही हेतु लाया जा सकता है। न्यायालय को यह अधिकार प्राप्त है कि प्रशासक के कार्यों को उसके अधिकारों से परे घोषित कर सकता है अर्थात् उसके कार्यों को गैर-कानूनी करार दे सकता है तथा कानून के उल्लंघन करने वाले कर्मचारियों को दण्ड भी दे सकता है।

एक और दृष्टिकोण से भी कानून तथा लोक-प्रशासन में गहरा सम्बन्ध है, और यह दृष्टिकोण है—कानून का निर्माण। यह सर्वविदित है कि कोई भी कानून जब बनता है तो उस पर प्रशासन का गहरा प्रभाव होता है। उदाहरण के लिए, जब कोई विधेयक (Bill) व्यवस्थापिका (Legislature) के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है तो उसकी रूपरेखा तथा उसकी विषय-सामग्री आदि प्रशासनिक अधिकारियों के द्वारा ही तैयार की जाती है। प्रशासकों को मन्त्रिगण विशेषज्ञों की तरह मानते हैं एवं हर नीति एवं विधि के निर्माण में उनका परामर्श लिया जाता है।

इतना ही नहीं, आधुनिक युग में प्रशासकों को कानून निर्माण के अधिकार भी प्राप्त हो गये हैं। वास्तव में कानून तो व्यवस्थापिका के द्वारा बनाये जाते हैं, परन्तु वर्तमान में व्यवस्थापिका के कार्यों में इतनी वृद्धि हो रही है कि वह उसमें

रखे जाने वाले समस्त विधेयकों पर पूर्णरूप से विचार नहीं कर सकती। समय के अभाव के कारण व्यवस्थापिका विधेयक की रूपरेखा निश्चित कर देती है तथा उसके अन्तर्गत प्रशासक कानून का निर्माण कर प्रशासन को सचालित करता है। इस कारण से एक व्यवस्था का प्रशासन में विकास हो रहा है जिसे 'हस्तान्तरित विधि' (Delegated Legislation) का नाम दिया जाता है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत *प्रशासकों को कुछ नियम तथा उप-नियमों को बनाने का अधिकार प्राप्त* हो जाता है। इस प्रकार के नियमों का निर्माण व्यवस्थापिका की देख-रेख में होता है तथा उसका उन पर नियन्त्रण भी रहता है।

अन्त में कहा जा सकता है कि कानून वह साधन है जिसके द्वारा लोक-प्रशासन को उत्तरदायी बनाया जाता है। इसके अतिरिक्त कानून के माध्यम से ही नागरिकों की स्वतन्त्रता की रक्षा की जा सकती है। कानून लोक-प्रशासन को उसकी सीमा के उल्लघन करने से रोकता है। कानून के अभाव में प्रशासन अपग हो जायेगा और प्रशासन के बिना कानून। दोनों विषयों की घनिष्ठता को देखते हुए यह कहा जाता है कि कानून राज्य सचालन के लिए रक्त-वाहिनियों का कार्य करता है। वह लोक-प्रशासन का सगठन करता है, उसका सचालन करता है तथा उस पर नियन्त्रण रखता है। कानून प्रशासकों का मार्ग-दर्शन करता है उनके अधिकारों की उचित व्याख्या करता है तथा जन-कल्याण करने के लिए अपनी मानवीय शक्ति के प्रयोग का अवसर देता है। *वास्तव में यह तभी सम्भव है जबकि योग्य व्यक्ति प्रशासन में लगे हों।* इस प्रकार लोक-प्रशासन तथा कानून एक-दूसरे पर निर्भर है।

लोक प्रशासन तथा इतिहास
(Public Administration and History)

इतिहास मानव समुदाय के विकास की कहानी है। वह मानव सभ्यता के क्रमिक विकास का विवरण प्रस्तुत करता है। गैटल (Gettell) ने कहा है, "*इतिहास की घटनाओं और विचारों, उनके कारणों तथा पारस्परिक सम्बन्धों का लेखा है।* वह आर्थिक, धार्मिक, बौद्धिक एवं सामाजिक दशाओं के साथ-साथ राज्य, उनके *विकास, सगठन तथा पारस्परिक सम्बन्ध का भी वर्णन प्रस्तुत करता है।*"[1] इस प्रकार सामाजिक विज्ञानों के सम्बन्ध का ज्ञान इतिहास में किसी न किसी रूप में मिलता है। लोक-प्रशासन इस नियम का अपवाद नहीं हो सकता। लोक-प्रशासन के विद्यार्थी एवं स्वय प्रशासकों के लिए इतिहास का ज्ञान महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसके

1. "History is the record of past events and movements, their causes and inter-relations It includes a survey of conditions and development in economic, religious, intellectual and social, affairs as well as study of states, their growth and organisation, and their relations with one another."

अध्ययन से यह पता चलता है कि अतीत में प्रशासन का स्वरूप क्या था, उसके सामने कौन-कौन सी समस्याएँ थी और उनका निराकरण किस प्रकार किया गया। समय तथा परिस्थितियाँ प्रशासन के रूप को निर्धारित करती है। इतिहास में हम ऐसे कई कालों (Periods) का अध्ययन करते है जिन्हें स्वर्णकाल कहा जाता है। इसके विपरीत इतिहास में कुछ ऐसे भी समय रहे है जिसमे राज्यों के पतन भी हुए हैं। इन सब के पीछे प्रशासन का हाथ रहा है। जिसमें शासन में प्रशासन उत्तम रहा, वह स्वर्णकाल कहलाया और उस राज्य के सम्राट महान् कहलाये, जैसे अशोक, चन्द्रगुप्त मौर्य, अकबर आदि। लेकिन जिन राज्यों में प्रशासन भ्रष्ट रहा, उन राज्यों का पतन हुआ। इन सब प्रशासनिक घटनाओं का अध्ययन इतिहास में मिलता है। आज के प्रशासक इतिहास से सबक ले सकते हैं। इतिहास उनके लिए पंचायती का कार्य करता है। प्रशासकों को इतिहास से यह ज्ञान लेना चाहिए कि भूतकाल की त्रुटियों की पुनरावृत्ति न हो। इस प्रकार लोक-प्रशासन के लिए इतिहास ही एक ऐसा विषय है जो पथ-प्रदर्शक का कार्य कर सकता है। लोक-प्रशासक उन प्राचीन तकनीकों को सीख सकता है जिन्हें अतीत में किसी समस्या को सुलझाने के लिए प्रयोग में लाया गया था। वर्तमान में वैसी ही समस्या किसी प्रशासक के सामने आती है तो वह उस तकनीक का प्रयोग कर उसे हल कर सकता है। लोक-प्रशासन के पास भौतिक विज्ञानों के समान अपनी कोई प्रयोगशाला नहीं है तथा उसे अपने नियमों एवं सिद्धान्तों की परीक्षा व मूल्यांकन के लिए अपने देश व दूसरे देशों के पूर्व अनुभवों की ओर देखना होता है और यह पूर्व अनुभव हमें इतिहास में ही मिलते हैं।

यहाँ यह कहना उचित होगा कि इतिहासकारों ने इतिहास लिखते समय प्रशासकीय समस्याओं पर अधिक ध्यान नहीं दिया फिर भी जहाँ कहीं भी थोड़ा बहुत जिन पुस्तकों में प्रशासन के सम्बन्ध में लिखा गया है, वह हमारे लिए उपयोगी है। ऐसी पुस्तकों में कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र', अल्लाउद्दीन के शासन की जियाउद्दीन बर्नी द्वारा लिखी 'फिरोजशाही', अकबर की शासन-व्यवस्था पर लिखी गई अबुल फजल की 'आइन-ए-अकबरी' आदि हैं।

अन्त में कहा जा सकता है कि प्रशासन की सफलता की पृष्ठभूमि इतिहास ही तैयार करता है। विभिन्न देशों के इतिहास से हम प्रशासन को सफल बनाने की सामग्री प्राप्त कर सकते हैं और अपने देश की सफलता के मार्ग पर अग्रसर कर सकते हैं। इस प्रकार इतिहास तथा लोक-प्रशासन में अटूट सम्बन्ध है।

लोक प्रशासन तथा अर्थशास्त्र
(Public Administration and Economics)

अर्थशास्त्र अन्य सामाजिक शास्त्रों की भाँति एक स्वतन्त्र तथा पृथक विज्ञान है, फिर भी लोक-प्रशासन के साथ इसका निकट का सम्बन्ध है। यह मनुष्य के

आर्थिक जीवन से सम्बन्धित है। यह धन का विज्ञान (Science of Wealth) है जिसका सम्बन्ध मनुष्य के जीवन तथा उसके कार्य से है। मार्शल ने कहा है कि "अर्थशास्त्र एक ओर तो सम्पत्ति का अध्ययन है और दूसरी ओर अधिक महत्त्वपूर्ण दिशा में मनुष्य के अध्ययन का एक अंश है। अर्थशास्त्र के मुख्य भाग हैं—उत्पत्ति (Production), उपभोग (Consumption), विनिमय (Exchange) तथा वितरण (Distribution)। अर्थशास्त्र का मुख्य उद्देश्य है—मानव के जीवन को सुखी और सम्पन्न बनाना।

प्रारम्भ में राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में लोगों की धारणा बहुत सीमित थी। उस समय राज्य का मुख्य कार्य देश में शान्ति तथा व्यवस्था बनाये रखना एवं बाहरी आक्रमण से देश की रक्षा करना था। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में लोगों के दृष्टिकोण में परिवर्तन होने लगा और राज्य से यह आशा की जाने लगी कि वह अपने लोगों के लिए सुख और समृद्धि के कार्यों को सम्पन्न करेगा। इस दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप राज्य के कार्यों में वृद्धि होने लगी। आधुनिक राज्य का स्वरूप लोक-कल्याणकारी है और इसमें राज्य को विभिन्न प्रकार के जन-कल्याणकारी कार्यों को सम्पन्न करना होता है। इन कार्यों को सम्पादित करने के लिए धन की आवश्यकता होती है। टैक्स (Tax) से धन को प्राप्त किया जाता है जिसके द्वारा समस्त प्रशासकीय ढाँचा चलता है। इसके अतिरिक्त वर्तमान राज्यों को व्यापारिक भी कार्य करने होते हैं। इस प्रकार के कार्यों को सम्पन्न करने के लिए सरकारी निगम, राज्य द्वारा प्रबन्धित उद्योग तथा राज्य सचालित उद्योग की स्थापना की जाती है, जो आज साधारण बात हो गई है।

लोक-प्रशासन पर आधुनिक समय में बड़ा उत्तरदायित्व आ गया है। औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् विभिन्न प्रकार की आर्थिक समस्याओं का जन्म हुआ है जैसे—वर्गवाद की समस्या, मालिक और मजदूरों के सम्बन्ध, कार्य के घण्टे, बोनस आदि। इन समस्याओं को सुलझाना टेढ़ी खीर है। राज्य के प्रशासन को ही इन झगड़ों का समाधान खोजना होगा। अतः प्रशासकों को आर्थिक समस्याओं का ज्ञान होना चाहिए। आर्थिक समस्याओं के समाधान में अर्थशास्त्र लोक-प्रशासन का मार्ग-दर्शन करता है।

राज्य की आर्थिक उन्नति हो इसलिए सरकार अपने नागरिकों को उचित सहायता देती है। नये-नये उद्योग-धन्धों की स्थापना के लिए सरकार देशी तथा विदेशी पूँजी का स्वागत करती है। साथ ही वह इस बात का ध्यान भी रखती है कि पूँजी का एकीकरण कुछ ही लोगों के हाथों में न हो। पूँजीपति जनता का शोषण न करें, वस्तुओं के दाम बढ़ने न पायें। यदि पूँजीपति जनता का शोषण करते हैं, तो सरकार हस्तक्षेप कर वस्तुओं के दाम निश्चित कर सकती है। सरकार महत्त्वपूर्ण उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर सकती है। इस प्रकार सार्वजनिक हित के उद्देश्य से

सरकार व्यक्तिगत उद्योगों में हस्तक्षेप कर सकती है। इतना ही नहीं, आपातकाल में सरकार राशनिंग एवं कन्ट्रोल व्यवस्था चालू करती है।

अतः यह आवश्यक है कि वर्तमान प्रशासकों को आर्थिक समस्याओं के बारे में पर्याप्त ज्ञान हो। प्रशासकीय नीतियों का मूल्यांकन आर्थिक परिणामों को ध्यान में रख कर किया जाता है। देश में आर्थिक समृद्धि को सम्भव बनाने का उत्तरदायित्व प्रशासन का माना गया है। देश में रहने वालों के आर्थिक स्तर में सुधार के लिए विकास योजनायें बनाई जाती हैं लेकिन उन योजनाओं की सफलता प्रशासन पर ही निर्भर करती है प्रशासन ही इन योजनाओं के लिए धन उपलब्ध कराता है। इस प्रकार प्रशासन वित्तीय समस्याओं के सन्तोषजनक हल निकालने में महत्त्वपूर्ण योगदान देता है।

आधुनिक युग में राज्य ने व्यक्ति की भांति आर्थिक क्रियायें प्रारम्भ कर दी हैं। इसका मुख्य कारण उत्पादन का समुचित वितरण है। देश में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को उत्पादन का समान हिस्सा मिलना चाहिए। सरकार अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सरकारी निगमों (Public Corporation) की स्थापना करती है।

अन्त में यह कहना अनुचित नहीं होगा कि प्रशासन के अभाव में आर्थिक क्रियाएँ और नीतियाँ सफल नहीं हो सकती और जब तक प्रशासकों को अर्थशास्त्र का ज्ञान नहीं होगा, वे अपने उत्तरदायित्व को निभाने में सफल नहीं हो सकते। अतः दोनों विषयों का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

लोक प्रशासन तथा आचारशास्त्र
(Public Administration and Ethics)

आचारशास्त्र या नीतिशास्त्र का सम्बन्ध नैतिकता से है, और वह ऐसे नियमों का निर्माण करता है जो समाज में रहने वाले मनुष्यों के आचरण को प्रभावित करते हैं। आचारशास्त्र मनुष्य के आचरण में औचित्य तथा अनौचित्य और उन आदर्शों की, जिनकी दिशा में उसे यत्नशील होना चाहिए, खोज करता है। आचरण की पवित्रता एवं शुद्धता की शिक्षा हम आचारशास्त्र से ही पाते हैं। नैतिकता समाज को ऊँचा उठाती है तथा उसे निरन्तर प्रगति के पथ पर ले जाती है। जिस प्रकार व्यक्ति के जीवन में नैतिकता का महत्त्व होता है, उसी प्रकार लोक-प्रशासन में भी नैतिकता का विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। नैतिकता के अभाव में स्वस्थ प्रशासन की आशा नहीं की जा सकती। भ्रष्ट आचरण वाले कर्मचारियों पर सरकार अधिक समय तक नहीं टिकी रह सकती। किसी सरकार या राज्य का पतन होता है तो उसके पीछे अनेक कारणों में से एक महत्त्वपूर्ण कारण भ्रष्ट आचरण का प्रशासन है। जनता प्रशासकों को आदर्श के रूप में देखती है। अगर वे भ्रष्ट हैं तो जनता भी वैसी ही बन जायेगी। प्राचीन काल से यह कहावत चली आ रही है—"यथा राजा तथा प्रजा"। विलासी राजाओं ने जनता के चरित्र को भी भ्रष्ट कर दिया। इतिहास साक्षी है कि भारत में राजाओं की विलासिता तथा भ्रष्ट प्रशासन के परिणामस्वरूप विदेशी जातियों ने उनको हरा कर भारत पर अपना

आधिपत्य स्थापित किया। भ्रष्ट आचरण के कारण ही मुगल शासकों को अपना विशाल साम्राज्य खोना पड़ा।

नैतिकता बड़ी मूल्यवान वस्तु है। वह राष्ट्र अथवा समाज की आधारशिला है। प्रशासकवर्ग का यदि आचरण शुद्ध है, तो उनके निर्णयों के पीछे आदर तथा सत्कार की भावना भरी रहती है। जनता राज्य तथा सरकार के कानूनों का पालन खुशी से करती है। वास्तव में लोक-प्रशासन की सफलता की कुञ्जी नैतिकता ही है। नैतिकता नीतिशास्त्र का आधार है।

लोक-प्रशासन के प्रारम्भिक विद्वानों ने आचारशास्त्र से इसका सम्बन्ध नहीं माना है। इसका कारण यह था कि उस समय प्रशासन का सम्बन्ध साध्य से था, साधन से नहीं। परन्तु इस दृष्टिकोण में धीरे-धीरे परिवर्तन हुआ और साधन को भी साध्य के समान महत्त्व दिया जाने लगा। अच्छे साध्य को पाने के लिए अच्छे साधनों की आवश्यकता होती है। जब से इस दृष्टिकोण को महत्त्व दिया जाने लगा है, तब से ही लोक-प्रशासन तथा नीति या आचरणशास्त्र का गहरा सम्बन्ध होने लगा है। अच्छे लोक-प्रशासन की कसौटी मितव्ययिता या कार्यकुशलता नहीं है, अपितु नैतिकता भी है। प्रशासन का उद्देश्य सर्वथा ही नैतिक होना चाहिए। नैतिकता से गिरे हुए प्रशासन से हम किसी प्रकार की प्रगति तथा जीवन में मूल्यों की स्थापना की आशा नहीं कर सकते। वुडरो विल्सन (Woodrow Wilson) ने भी इसी प्रकार का भाव व्यक्त किया है, "हम एक हत्यारे से हत्या करने की इच्छा को उधार लिये बिना चाकू पैना करने की विधि सीख सकते हैं। इसी प्रकार हम यूरोप में निरंकुश राजतन्त्रों से अच्छी प्रशासकीय विधियों को इसलिए सीख सकते हैं ताकि प्रजातन्त्र के लक्ष्य को प्राप्त करने पर उनका प्रयोग अच्छी प्रकार से किया जा सके।"[1] इस प्रकार नीति शास्त्र का अध्ययन तथा उसके सिद्धान्तों का अनुसरण लोक-प्रशासन की सफलता के लिए आवश्यक बन गया है।

लोक-प्रशासन तथा समाजशास्त्र
(Public Administration and Sociology)

सभी सामाजिक विज्ञानों का सम्बन्ध समाज शास्त्र के साथ है। समाज शास्त्र के अन्तर्गत हम समाज के विभिन्न अंग तथा उनकी उत्पत्ति से लेकर वर्तमान समय तक के कार्यों का अध्ययन करते हैं। समाज शास्त्र एक व्यापक विषय है और इसके अध्ययन से दृष्टिकोण में व्यापकता आती है। समाज में उत्पन्न होने वाले

1. "We can learn from a murderous rogue his technique of sharpening a knife without borrowing his intent to commit murder. So we can learn efficient techniques of administration from the autocracies of Europe and use these efficient techniques the better to realise the good of our democracy."

समुदायों के विकास, प्रकृति, पारस्परिक सम्बन्ध तथा उनकी उत्पत्ति एवं प्रशासन सम्बन्धी समस्याओं का समाधान करने के लिए इसका ज्ञान आवश्यक है। प्रशासन की समस्याओं को समझने के लिए केवल व्यक्ति को समझना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु उस वातावरण को समझना भी आवश्यक है जिसमें वह रहता है। समाज-शास्त्र लोक-प्रशासन के विद्यार्थियों के सम्मुख खोज करने के लिए एक विस्तृत क्षेत्र प्रदान करता है।

जब समाज-शास्त्र का अध्ययन किया जाता है तो लोक-प्रशासन का अध्ययन भी उसमें आ जाता है। लोक-प्रशासन समाज-शास्त्र का एक भाग है। समाज के स्वरूप के अनुरूप ही लोक-प्रशासन अपने कार्य-कलापों को निश्चित करता है। लोक-कल्याणकारी राज्य में प्रशासन को जन-कल्याण के अनेक कार्यों को सम्पादित करना होता है। लोक-प्रशासन समाज की कुप्रवृत्तियों को समाप्त करने का कार्य करता है, अच्छे व्यक्तियों की दुष्ट जनों से रक्षा करता है तथा समाज में शान्ति व व्यवस्था बनाये रखता है। व्यक्तियों के व्यवहारों तथा सम्बन्धों पर नियन्त्रण रखने का कार्य भी लोक-प्रशासन के द्वारा सम्पादित किया जाता है। लोक-प्रशासन के द्वारा इन कार्यों को समाज के हित के लिए पूरा किया जाता है। संगठन का विस्तृत रूप में अध्ययन समाज-शास्त्र तथा लोक प्रशासन में किया जाता है। प्रशासकीय गुत्थियाँ सुलझाने में लोक-प्रशासन को समाज-शास्त्रीय अध्ययनों का सहारा लेना होता है। कुछ समाज-शास्त्रियों ने प्रशासकीय अध्ययन भी किये हैं और प्रशासन को अपनी खोज का विषय बनाया है। इस प्रकार के समाज-शास्त्रियों में मैक्स वेबर (Max Weber) का नाम उल्लेखनीय है, जिन्होंने "नौकरशाही" (Bureaucracy) पर अपना निबन्ध लिखा।

समाज-शास्त्र ने लोक-प्रशासन को एक नया दृष्टिकोण प्रदान किया है। समाज-शास्त्र लोक-प्रशासन के लिए आवश्यक मान्यताएँ प्रदान करता है तथा प्रशासन में एक तीक्ष्ण दृष्टि को विकसित करने में उसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। यह समाज-शास्त्र का ही प्रभाव है कि लोक-प्रशासन के आधुनिक लेखक प्रशासकीय समस्याओं का अध्ययन उनकी वातावरण सम्बन्धी पृष्ठभूमि में ही करते हैं। इस प्रकार समाज-शास्त्र का ज्ञान प्रशासक को अधिक लोकप्रिय बना देता है।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि समाज में शान्ति एवं व्यवस्था, उसकी प्रगति एवं विकास अधिकांश लोक-प्रशासन के द्वारा ही सम्भव है। लेकिन प्रशासक तब तक अपने उत्तरदायित्वों को निभा नहीं सकेगा तथा अपने कार्यों में सफल नहीं होगा जब तक कि उसे समाज-शास्त्र का ज्ञान नहीं होगा, अतः समाज-शास्त्र एवं लोक-प्रशासन में गहरा सम्बन्ध है।

लोक-प्रशासन का उपर्युक्त वर्णित विषयों के साथ ही केवल सम्बन्ध हो, ऐसी बात नहीं है। वास्तविकता यह है कि लोक-प्रशासन का सभी सामाजिक विज्ञानों के साथ गहरा सम्बन्ध है।

लोक-प्रशासन के अध्ययन की पद्धतियाँ
(Methods of the Study of Public Administration)

प्रत्येक विज्ञान की एक विशेष अध्ययन पद्धति होती है जो कि उसके विषय की अन्वेषण सम्बन्धी परिस्थितियों और सुविधाओं को ध्यान रख कर निर्धारित की जाती है। कुछ विज्ञानों का विषय इतना जटिल होता है कि एक ही पद्धति से उनका अध्ययन नहीं किया जा सकता और उनमें कई पद्धतियों का अनुसरण करना पड़ता है। विशेषतौर से सामाजिक विज्ञानों के सम्बन्ध में यही बात है और यही कारण है कि भिन्न-भिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न पद्धतियों को काम में लिया है। ज्ञान की विभिन्न शाखाओं का अध्ययन करने के लिए दो पद्धतियों का अध्ययन किया जाता है निगमनात्मक (Deductive) तथा आगमनात्मक (Inductive)। प्राकृतिक विज्ञानों का अध्ययन करने के लिए आगमनात्मक अध्ययन पद्धति का प्रयोग किया जाता है। इस पद्धति में पर्यवेक्षण और प्रयोग के द्वारा विशिष्ट से सामान्य की ओर बढ़ा जाता है। पर्यवेक्षण के द्वारा तथ्यों का संग्रह करके उनका वर्गीकरण कर लिया जाता है। वर्गीकरण से तथ्यों के पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट हो जाते हैं अर्थात् कार्य-कारण के सम्बन्ध का अनुमान कर लिया जाता है और उस अनुमान के आधार पर व्यापक नियम बना लिया जाता है। नियमों की सत्यता जाँचने के लिए प्रयोग किये जाते हैं। प्रयोगों के आधार पर प्रमाणों की सिद्धि हो जाने पर वह नियम सर्वमान्य हो जाता है। इस प्रकार आगमनात्मक पद्धति में विशेष उदाहरणों से व्यापक नियम की ओर बढ़ते हैं। इस उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी। मलेरिया ज्वर का कारण ढूंढने में यह देखा गया कि इसका प्रयोग उन स्थानों पर अधिक होता है जहाँ मच्छर पाये जाते हैं। कई रोगियों के रक्त की परीक्षा की गई और उनमें एक विशेष प्रकार के कीटाणु पाये गये। यही कीटाणु मच्छरों के शरीर के रक्त में पाये गये। इस आधार पर यह अनुभव किया गया कि रोग का कारण मच्छरों के काटने पर उन कीटाणुओं का मनुष्यों के शरीर में प्रवेश कर जाना ही है। इस उदाहरण में व्यवहृत तर्क-प्रणाली यह है कि मलेरिया के रोगी 'अ' का रोग मच्छरों के काटने से प्रविष्ट कीटाणुओं के कारण है, मलेरिया के रोगी 'ब' का रोग मच्छरों के काटने द्वारा प्रविष्ट कीटाणुओं के कारण है, और मलेरिया के रोगी स, द, य, फ आदि का रोग भी इन्हीं कीटाणुओं के कारण है। अतः सभी मलेरिया के रोगियों का रोग मच्छरों के काटने से शरीर में प्रवेश कर जाने वाले कीटाणुओं के कारण होता है।

आगमनात्मक पद्धति मुख्य वैज्ञानिक पद्धति है। इस पद्धति की शृंखला में चार कड़ियाँ होती है, अर्थात् (1) निरीक्षण द्वारा उपयुक्त सामग्री या उदाहरणों का संग्रह, (2) संग्रहीत सामग्री की समानता के आधार पर वर्गीकरण, (3) कारण का अनुमान करके *व्यापक नियम की कल्पना, और (4) कल्पित नियम की उत्पत्ति*

अर्थात् उनका प्रमाणों द्वारा सिद्ध करना। कारण का अनुमान करने और उपपत्ति के प्रस्तुत करने में प्रयोगों द्वारा बड़ी सहायता मिलती है, यदि वे सम्भव हों।

ज्ञान के अध्ययन के लिए जिस दूसरी पद्धति का प्रयोग किया जाता है, उसे निगमनात्मक पद्धति कहते हैं। यह आगमनात्मक पद्धति के ठीक विपरीत है। निगमनात्मक पद्धति सामान्य से प्रारम्भ करके विशेष की ओर बढ़ती है। गणित ज्यामिति, तर्कशास्त्र, दर्शन आदि में इसी पद्धति का अनुसरण किया जाता है। इसे दार्शनिक पद्धति भी कहा जाता है। इस पद्धति में हम कुछ या अधिकस्वयं सिद्धियों (axioms) को आधार बनाते हैं। ये स्वयंसिद्धियाँ स्वतः सिद्ध होती हैं, अर्थात् उनके प्रमाण की किसी को आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती। फिर उनसे क्रमशः तर्क द्वारा अनेक और नियम निकाले जाते हैं जिनकी व्यापकता उत्तरोत्तर कम होती जाती है। इस पद्धति का सबसे अच्छा उदाहरण ज्यामिति में देखने में आता है। राजनीति-शास्त्र में इस पद्धति का उपयोग प्लेटो, काण्ट, हीगल, ग्रीन, बोसांके आदि ने किया है। साधारणतया सभी सामाजिक विज्ञानों के अध्ययन में इस पद्धति का प्रयोग किया जाता है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि सामाजिक विज्ञानों के सम्बन्ध में किसी एक पद्धति को पर्याप्त नहीं माना जा सकता है। उनके सम्बन्ध में प्रत्येक उस सम्भव पद्धति को अपनाया जा सकता है, जिससे हमारे लक्ष्य की पूर्ति होती हो। सामाजिक विज्ञानों के सन्दर्भ में 'पद्धति' शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया जा सकता है। इसका अर्थ विशेष प्रकार के दृष्टिकोण से होता है जो हम उनके अध्ययन के विषय में करना चाहते हैं।

लोक-प्रशासन सामाजिक विज्ञान की एक शाखा है। उसके अध्ययन के लिए सामान्यतः निम्न पद्धतियों का प्रयोग किया जाता है—

(1) कानूनी दृष्टिकोण (Juristic Approach):—लोक-प्रशासन के अध्ययन में कानूनी पद्धति का प्रयोग यूरोप के जर्मनी, बेल्जियम तथा फ्रांस आदि देशों में हुआ। इन देशों में लोक-विधि (Public Law) को दो प्रमुख शाखाओं में विभक्त कर दिया गया है—प्रशासनिक विधि (Administrative Law) तथा संवैधानिक विधि (Constitutional Law)। राजनीति का अध्ययन प्रधानतः संवैधानिक विधि की दृष्टि से ही कर किया जाता है। इसका उद्देश्य मौलिक रूप से सरकार के तीनों अंगों (कार्यपालिका, व्यवस्थापिका तथा न्यायपालिका) के कार्यों की व्याख्या करना तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों का वर्णन करना है। प्रशासनिक विधि का सम्बन्ध राज्य, जिले, स्थानीय स्वशासन संस्थाएँ, सार्वजनिक निगमें जैसी सार्वजनिक संस्थाओं के संगठन एवं कार्यों तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों, अधिकार तथा कर्तव्यों का वर्णन करना है। फ्रांस में प्रशासनिक कर्मचारियों के परीक्षण के समय कानूनी ज्ञान पर अधिक बल दिया जाता है। इंग्लैण्ड और अमेरिका में भी इस पद्धति को समर्थन प्राप्त हुआ है और इसी से प्रेरित होकर यहाँ प्रशासकीय

विधि एवं प्रशासकीय न्याय का अध्ययन प्रारम्भ किया गया है। संयुक्त राज्य अमेरिका नियामकीय आयोगों के सम्बन्ध में भी इसी दृष्टिकोण को अपनाया जाता है।

लोक-प्रशासन अपने राज्य के वैधानिक ढांचे में कार्य करता है, अतः उस ढाँचे पर प्रकाश डालने के लिए कानूनी दृष्टिकोण उपयोगी सिद्ध होता है। इस दृष्टिकोण की एक सीमा यह है कि यह प्रशासन की समाजशास्त्रीय पृष्ठभूमि की सर्वथा उपेक्षा करता है। एक विधि-वेत्ता समय-समय पर वर्तमान विधि के सम्बन्ध में पीछे नहीं देखता और न ही यह पता लगाता है कि अमुक विधि किन परिस्थितियों में बनी। *परिणामस्वरूप प्रशासन का कानूनी अध्ययन औपचारिक, सैद्धान्तिक तथा रूढ़िवादी बन जाता है* और प्रशासनिक क्रियाओं तथा व्यवहार सम्बन्धी मूल स्रोतों का अभाव होता चला जाता है।

(2) ऐतिहासिक पद्धति (Historical Approach) —ऐतिहासिक पद्धति राजनीति शास्त्र के विद्यार्थियों के लिए कोई नई पद्धति नहीं है। लोग प्राचीन काल से ही इससे परिचित है। इस पद्धति में भिन्न-भिन्न देशों और कालों की संस्थाओं और व्यवस्थाओं का अध्ययन व विश्लेषण करके उनके आधार पर विकास अथवा संगठन के व्यापक नियमों की स्थापना की चेष्टा की जाती है। इस पद्धति का अरस्तू, माण्टेस्क्यू, लॉर्ड ब्राइस आदि ने बहुत सफलतापूर्वक प्रयोग किया है। इतिहास हमें यह बताता है कि किन परिस्थितियों में एक विशेष सरकार ने रीति-रिवाजों से प्रभावित होकर किस प्रकार के प्रशासकीय नियम निर्धारित किये और किस सीमा तक सफल रहे। *ऐतिहासिक घटनाओं को ध्यान में रखते हुए वर्तमान प्रशासक* अपने सिद्धान्तों को पूर्वकालीन दोषों से मुक्त रखने का प्रयत्न करते हैं। प्रत्येक राष्ट्र का प्रशासन प्राचीन परम्पराओं से बहुत कुछ प्रभावित रहता है। उन परम्पराओं को समझने के लिए इतिहास का ज्ञान आवश्यक है। ऐसे कई लेखकों के ऐतिहासिक ग्रन्थ हैं जिनमें प्रशासन सम्बन्धी ज्ञान का भण्डार है। कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' अपने तत्कालीन शासन व्यवस्था पर लिखा गया अमर ग्रन्थ है। इसमें अर्थशास्त्र की बातें कम और प्रशासन सम्बन्धी बातें अधिक विस्तार से लिखी गई है। मैकियावली ने अपनी कृति 'प्रिन्स' में शासकों को कुछ ऐसी तरकीबें बतलाई हैं जिन पर आचरण करने से प्रशासन सुचारु रूप से चलाया जा सकता है। मध्य युग में अकबर के नवरत्न अबुल फजल की 'आइन-ए-अकबरी' लोक-प्रशासन पर काफी प्रभाव डालती है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक समय में लिखी गई प्रशासन पर पुस्तकें वर्तमान प्रशासक के लिए लाभदायक व उपयोगी सिद्ध होती है। वे उनका लाभ उठा कर जनता को अच्छा प्रशासन दे सकते हैं।

प्रशासक जब इन पुरातन प्रशासकीय ग्रन्थों का अध्ययन करता है, उस समय उसे इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि पुरानी व अब की परिस्थितियों में रात-दिन का अन्तर है। इस अन्तर को उन्हें ध्यान में रखना होगा। इसके अतिरिक्त

मानव-स्वभाव परिवर्तनशील है, परिणामस्वरूप जीवन की मान्यताओं में भी समय की गति के साथ अन्तर आ जाता है। अतः इन सारी बातों को ध्यान में रखते हुए उसे कार्य करना होगा। प्राचीन प्रशासकीय तरीकों को लागू करने से यदि लाभ की प्राप्ति होती है, तभी उसे ऐसा करना चाहिए अन्यथा नहीं। फिर भी यह सत्य है कि इतिहास वर्तमान प्रशासकों के लिए चेतावनी प्रस्तुत करता रहता है।

ऐतिहासिक पद्धति से मिलती-जुलती एक और पद्धति है जिसे आत्मकथा या संस्मरणात्मक पद्धति (Biographical Method) कहते हैं। इस पद्धति में प्रशासकों के अनुभवों को लिपिबद्ध किया जाता है और उनका अध्ययन करके प्रशासनिक अनुभवों को प्राप्त कर प्रशासन में सफलता प्राप्त की जा सकती है। ये अनुभव या तो प्रसिद्ध प्रशासकों ने स्वयं लिखे हैं अथवा दूसरे व्यक्तियों ने उनके प्रशासकीय गुणों को लिखा है। इस प्रकार के संस्मरणों से प्रशासकीय समस्याओं तथा निर्णय प्रक्रिया का वास्तविक और व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त होता है। इस प्रकार की आत्मकथाओं में यह दोष देखने में मिला है कि उनमें राजनीतिक महत्त्व की बातों पर अधिक ध्यान रखा गया है और प्रशासकीय बातों पर कम। वर्तमान समय में इस बात का प्रयत्न किया जा रहा है कि प्रशासकीय अनुभव वाले लोग या तो अपने अनुभवों को स्वयं लिखें या दूसरे लोगों को यह अवसर प्रदान करें कि वे उनके अनुभवों को लिख सकें। इस दिशा में यथेष्ट प्रयत्न किए जा रहे हैं। भारत जैसे राज्य में, जहाँ अभी भी प्रशासन योग्य नहीं है, उसे इस प्रकार की आत्मकथाओं की अधिक आवश्यकता है। अतः इस बात का प्रयत्न किया जाना चाहिए कि प्रशासकीय अनुभव वाले व्यक्तियों से अपने अनुभव लिखवाये जाएँ और आवश्यकता हो तो उन्हें सभी सुविधाएँ उपलब्ध कराई जाएँ। ऐसा करने से देश के प्रशासन के स्तर को ऊँचा करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकेंगे।

(३) **राजनीतिक पद्धति** (Political Approach)—लोक प्रशासन के इतिहास में एक परम्परागत विचारधारा यह रही है कि लोक-प्रशासन को राजनीति से पृथक रखा जाए। लेकिन इस विचारधारा को स्वीकार नहीं किया गया कि प्रशासन का अध्ययन उसके सामाजिक और राजनीतिक सन्दर्भ से परे रह कर एक लक्ष्य के रूप में किया जा सकता है। जॉन गॉस पॉल एप्पलबी आदि कुछ प्रसिद्ध अमेरिकी लोक-प्रशासन-वेत्ताओं ने खुल कर इस विचारधारा का खण्डन किया और यह स्वीकार कर लिया कि लोक-प्रशासन का अध्ययन राजनीतिक दृष्टिकोण से होना चाहिए। सामान्य नीति निर्धारण तथा उसको कार्यान्वित करने की प्रक्रिया में हम कोई विभाजन-रेखा नहीं खींच सकते। लोक-प्रशासन को यदि हम राजनीति का व्यावहारिक रूप कहें तो अनुचित नहीं होगा। प्रजातान्त्रिक अथवा प्रतिनिधात्मक व्यवस्था में प्रशासन अपने-आप को उनके अनुरूप बनाने का प्रयत्न करता है। सरकार की सफलता प्रशासन पर निर्भर करती है। प्रजातन्त्र में जहाँ राजनीतिक सत्ता एक दल से दूसरे दल में आती-जाती रहती है, वहाँ प्रशासक सत्ता में जो दल

है, उसकी विचारधाराओं के अनुसार कार्य करता है तथा उसकी नीतियों को लागू करने का सफल प्रयत्न करता है। प्रशासन राजनीति से दूर नहीं रह सकता। कानून बनाने के क्षेत्र में भी लोक-प्रशासन का ज्ञान आवश्यक होता है। मन्त्री राजनीतिक अधिक और प्रशासक कम होता है उसे अपने नीति-निर्माण से लेकर उसे लागू कराने तक प्रशासकों पर निर्भर रहना पड़ता है। प्रशासक प्रत्येक परिस्थिति में अपने-आप को ढाल लेते हैं। अतः लोक-प्रशासन में राजनीतिक पद्धति का विशेष महत्त्व है। इसकी उपादेयता बढ़ती जा रही है। किसी भी राज्य में प्रशासन की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि वह राजनीतिक संदर्भ में कार्य करे।

प्रशासन का राजनीतिक दृष्टि से अध्ययन करने में प्रजातान्त्रिक देशों में एक सबसे बड़ा दोष उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है कि वहाँ पंस और लूट-प्रथा जैसी बुराइयाँ उत्पन्न न हो जाएँ। इसके लिए यह आवश्यक है कि लोकतान्त्रिक शक्तियों को इस प्रकार की बुराई को पनपने में रोकना चाहिए जिसमें श्रेष्ठ शासन तथा स्वशासन की आवश्यकता के मध्य सामञ्जस्य बना रहे। यदि सन्तुलन बिगड़ता है तो दोनों के लिए खतरनाक सिद्ध होगा। भारत के प्रशासन के सम्बन्ध में यह कहा जा रहा है कि यहाँ की लोक सेवा में कई प्रकार की बुरी प्रवृत्तियाँ घर कर रही हैं। यदि इन्हें तुरन्त नहीं रोका गया और प्रशासन को शुद्ध नहीं बनाया गया तो यहाँ की सरकार को एक बहुत बड़ा खतरा उत्पन्न हो जायेगा।

(4) **मनोवैज्ञानिक पद्धति** (Psychological Approach)—वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ में मनोविज्ञान ने राजनीति को प्रभावित किया है, परन्तु अब वह लोक-प्रशासन के अध्ययन को भी प्रभावित करने लगा है। प्रशासन भी मानवीय व्यवहार से सम्बन्धित है, तथा यह स्पष्ट है कि मनोविज्ञान उसे समझने में हमारी सहायता कर सकता है। यही कारण है विचारकों का एक ऐसा वर्ग बन गया है जो लोक-प्रशासन के अध्ययन के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण का समर्थन करता है। लोक-प्रशासन के अध्ययन के क्षेत्र में मनोवैज्ञानिक पद्धति के प्रयोग का श्रेय कुमारी एम० पी० फॉलेट (M. P Follet) को है। उसने यह बताया कि व्यक्तियों एवं समूहों की इच्छाएँ, उनके पूर्वाग्रह तथा नैतिक मूल्य प्रशासन के भीतर किस प्रकार उनके व्यवहार को प्रभावित करते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रशासन अनिवार्यतः मानवीय सम्बन्धों का अध्ययन है। मनोविज्ञान आज हमारे जीवन में इतना घुल-मिल गया है कि हम आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक समस्याओं का समाधान मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि में ढूँढते हैं। इस पद्धति का औद्योगिक क्षेत्र में इतना प्रयोग होने लगा है कि मनोविज्ञान को एक विशेष शाखा के रूप में विकसित किया गया है जिसे औद्योगिक मनोविज्ञान कहा जाता है। प्रशासन के मनोवैज्ञानिक अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि व्यक्तियों तथा समूहों की मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाओं के परिणामस्वरूप प्रशासन में एक ऐसा

अनौपचारिक संगठन बन जाता है और प्रशासक उसकी अवहेलना नहीं कर सकता है, और यदि अवहेलना करता है तो शायद वह भी संकट में पड़ जाता है। इसलिए अब सभी समस्याओं का समाधान मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से निकालने का प्रयत्न किया जा रहा है। यहाँ तक कि विद्यार्थियों के अनुशासनहीनता और उपद्रव की भावना आदि का हल भी मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से निकाला जा रहा है। यह पद्धति लोक-प्रशासन के अध्ययन के क्षेत्र में बहुत महत्त्वपूर्ण है और इसके द्वारा कई समस्याओं का हल पाया जा सकता है।

(5) वैज्ञानिक पद्धति (Scientific Approach)—संयुक्त राज्य अमेरिका में गत कई वर्षों से लोक-प्रशासन के सम्बन्ध में वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया जाता रहा है। वहाँ इस बात को बड़ा समर्थन मिल रहा है कि लोक-प्रशासनीय कर्मचारियों की कार्य-कुशलता बढ़ाने के लिए, दलीय प्रशासन की भाँति, जहाँ भ्रष्टाचार नहीं होता, वैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रयोग किया जा सकता है, और उसके सम्बन्ध में कुछ निश्चयात्मक रूप से तथा कुछ कम निश्चयात्मक रूप से सामान्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जा सकता है। इस पद्धति के चार स्तर हैं —

(1) उन कार्यों का विश्लेषण करना जो जनता के सम्मुख रखे गये हों।

(2) व्यक्तियों का उनके साथ तालमेल बिठाना।

(3) तथ्यों से सम्बन्धित व्यापक अनुभवों का उनके साथ सम्पर्क स्थापित करना।

(4) इसके पश्चात् नेतृत्व, आदर्श आदि के द्वारा तथ्यों के एक समूह से दूसरे समूह से सम्बन्ध स्थापित करना।

लोक-प्रशासन के सम्बन्ध में, वैज्ञानिक पद्धति को व्यावहारिक रूप से प्रिय बनाने का श्रेय एफ० डब्ल्यू० टेलर (F. W. Taylor) को जाता है, जो स्वयं एक अभियन्ता (Engineer) थे। लोक-प्रशासन के सम्बन्ध में वैज्ञानिक पद्धति के प्रयोग का अर्थ है कि हम किस सीमा तक पर्यवेक्षण, प्रयोग, विश्लेषण को अपना कर कुछ सामान्य सिद्धान्तों का निरूपण किया जा सकता है। लोक-प्रशासन में केवल साध्य की महत्ता नहीं है, अपितु साधनों पर भी अधिक जोर दिया जाता है। इस दृष्टि से इस पद्धति का लोक-प्रशासन में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह लोक-प्रशासन में नई दिशा प्रदान करने का सूचक है।

(6) विषय-वस्तु पद्धति (Subject Matter Context)—यह कोई नई पद्धति नहीं है। सामान्यतया अन्य पद्धतियों में हम लोक-प्रशासन पर सामान्य रूप से विचार करते हैं, परन्तु इसके अन्तर्गत लोक-प्रशासन की किसी विशेष सेवा अथवा उसके कार्यक्रमों के अध्ययन पर विशेष बल दिया जाता है। इस पद्धति का इंग्लैण्ड तथा भारत में प्रयोग बहुत समय से शिक्षा, पुलिस प्रतिरक्षा, राजस्व, कर निर्धारण तथा मदद, निर्धन सहायता आदि विशेष सेवाओं के अध्ययन के लिए किया जाता रहा है। इस विभागों के द्वारा जो सांख्यिकी, अभिलेख, जाँच करने वाली समितियों व

प्रायोगों के प्रतिवेदन के द्वारा बहुत-सी सामग्री प्राप्त हो जाती है और उनके आधार पर हम प्रशासन के स्वरूप मे भी प्रकाश डाल सकते हैं। प्रो० मुनरो, फिफनर, वारेन तथा अन्य विद्वानों की कृतियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि सयुक्त राज्य अमेरिका मे भी काफी समय से स्थानीय प्रशासन की समस्याओं का अध्ययन विषय-वस्तु पद्धति से ही किया जाता रहा है। राष्ट्रीय स्तर पर अमेरिकी प्रशासन के अध्ययन के क्षेत्र मे यह पद्धति हाल ही मे प्रयोग मे लाई गई है और इसके परिणामस्वरूप जॉन गॉस तथा वाल्कार्ट की पुस्तक 'पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन एण्ड दी यूनाइटेड स्टेट्स डिपार्टमेन्ट ऑफ एग्रीकल्चर' (Public Administration and the United States Department of Agriculture) प्रकाश में आई। इसके पश्चात् कई अनेक पुस्तकें विभागीय व अन्तर्विभागीय सम्बन्धों को लेकर लिखी गई। विषय-वस्तु पद्धति का मुख्य आधार यह है कि सगठन तथा प्रशासन किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए एक साधन है और बिना उनके प्रयोग किये हम किसी विभाग के कार्यों की सराहना नहीं कर सकते।

( ) **समस्यात्मक पद्धति (Case Method Approach)**—लोक-प्रशासन के अध्ययन की विभिन्न पद्धतियों मे समस्यात्मक पद्धति भी एक महत्त्वपूर्ण पद्धति है। लोक-प्रशासन की इस अध्ययन पद्धति के लिए अमेरिका की विशेष देन है। इसमे किसी एक परिस्थिति के सम्बन्ध मे, जो कि प्रशासन को हल करनी पड़ी हो अथवा वास्तव मे हल कर ली गई हो, विचार किया जाता है कि वह 'क्यों और कैसे' उत्पन्न हुई, किन प्रशासनिक स्रोतों द्वारा इसका समाधान किया गया, उसके सम्बन्ध मे कौन-कौन सी दशाएँ अथवा स्थितियाँ थी। साथ ही इस तथ्य का भी पता लगाया जाता है कि निर्णय करने के लिए किन-किन प्रक्रियाओं को काम मे लिया गया और क्या कदम उठाये गये, एव जो कुछ भी निर्णय किया गया उसका तार्किक आधार क्या था? उपर्युक्त सारी बातों के आधार पर निर्णय का मूल्यांकन किया जाता है। सन् 1940 मे सयुक्त राज्य अमेरिका की सामाजिक अनुसंधान परिषद की लोक-प्रशासन समिति ने समस्यात्मक अध्ययन (Case Studies) प्रकाशित करने का कार्य प्रारम्भ किया। अब तक नीति निर्माण पुनर्संगठन और ऐसी ही अन्य अनेक समस्याओं से सम्बन्धित कई समस्या-अध्ययन-मालाएँ प्रकाशित की जा चुकी है। इस पद्धति के समर्थकों का यह कहना हैं कि लोक-प्रशासन के क्षेत्र मे इसका व्यापक प्रयोग हो जाने पर, ऐसा सम्भव है कि न्याय-प्रशासन की भाँति लोक-प्रशासन के सम्बन्ध मे ऐसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर सकेंगे, जिसका प्रयोग हम सफलता के साथ लोक-प्रशासन की बहुत सी समस्याओं को सुलझाने के लिए कर सकते है। चिकित्सा-विज्ञान तथा कानून के अध्यापन मे इस पद्धति का व्यापक एव स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयोग किया जाता है और लोक-प्रशासन के अध्ययन मे भी अब इस पद्धति को काम मे लाया जाने लगा है। इस सम्बन्ध से यह आपत्ति उठाई जाती हैं कि वर्तमान काल मे इस पद्धति का प्रयोग करते समय प्रशासन के औपचारिक तरीकों पर अधिक ध्यान दिया जाता है एव

वास्तविक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण प्रशासकीय समस्याओं की उपेक्षा कर दी जाती है। लेकिन यह दोष इस पद्धति का नहीं है और समुचित ध्यान दिये जाने पर इस कमी को दूर किया जा सकता है।

लोक-प्रशासन के अध्ययन में यह पद्धति तभी सफल हो सकती है जबकि प्रशासकों का वास्तविक रूप से सहयोग प्राप्त हो। जो विद्यार्थी या शोध-कर्ता इस सम्बन्ध में कार्य कर रहे हों, उन्हें कार्यालय की आवश्यक फाइलें देखने की स्वीकृति देकर तथा आवश्यक सूचनाएँ प्रदान कर प्रशासकों को उन्हें सहयोग प्रदान करना चाहिए जिससे कि उनका उत्साह बढ़े। भारत में स्थिति बड़ी भिन्न है। यहाँ विभागीय अधिकारी फाइलें और सूचनाएँ दिखाने में अपनी असमर्थता प्रकट कर देते हैं, और तो और वे ऐसे विषयों पर विचार-विमर्श करने को भी तैयार नहीं होते। यहाँ तक कि पुरातत्व-विभाग भी कई फाइलों को गोपनीय बता कर विद्यार्थियों को अध्ययन से वंचित रख देते हैं। इस सम्बन्ध में सरकार को सकारात्मक कदम उठाने चाहिए जिससे कि सही तथ्यों की खोज की जा सके और उनके आधार पर किसी सिद्धान्त को बनाया जा सके।

(8) परिमाणात्मक मापक पद्धति (The Method of Quantitative Measurement) :—भौतिक विज्ञानों के अध्ययन में इस पद्धति का प्रयोग विशेष रूप से होता है। प्रायः यह कहा जाता है कि किसी भी क्षेत्र में सच्चे वैज्ञानिक ज्ञान की प्रगति इस बात पर निर्भर करती है कि उसमें तथ्यों तथा परिणामों के परिमाण मापने (Quantitative Measurement) की किस सीमा तक गुन्जाइश है। लोक प्रशासन सहित सभी सामाजिक विज्ञानों में मूल्यों के प्रश्न निहित होते हैं, अतः उनमें परिमाणात्मक पद्धति को लागू करना कठिन हो जाता है। सामाजिक विज्ञानों में गुणों पर भी अधिक बल दिया जाता है, परिणामस्वरूप यह पद्धति इन विषयों के अध्ययन में अधिक सफल नहीं हो पाई है। इस बात को एक उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में शिक्षा को लिया जा सकता है। किसी भी राज्य की शिक्षा नीति की सफलता का अनुमान इस बात से नहीं लगाया जा सकता कि राज्य में कितने शिक्षालय हैं और उनमें कितने विद्यार्थियों को शिक्षा दी जा रही है तथा प्रति विद्यार्थी कितना धन खर्च किया जाता है। शिक्षा का स्तर तथा विद्यार्थियों के ज्ञान का मापदण्ड भी उसका सही मूल्यांकन प्रस्तुत कर सकता है। यह सम्भव नहीं है कि गुण और मात्रा दोनों को मापने का तरीका एक-सा हो सके। इतने पर भी इस पद्धति का प्रयोग लोक-प्रशासन के दो क्षेत्रों में किया जा रहा है—(i) प्रशासकीय नीतियों तथा कार्यवाही के बारे में जनता का मत अथवा उसकी प्रतिक्रिया जानने के लिए, तथा (ii) किसी प्रशासकीय अभिकरण के कर्मचारियों की संख्या तथा उनकी धन सम्बन्धी आवश्यकताओं के बारे में निर्णय करने की दृष्टि से उनके कार्यभार का परिमापन करने के लिए। प्रशासकीय नीतियों या

कार्यवाहियो के बारे मे जनमत या उनकी प्रतिक्रिया जानने के लिए उन नीतियो से प्रभावित होने वाली जनता के विभिन्न वर्गों के कुछ प्रतिनिधि लोगो के मत सग्रह कर लिये जाते है। यह जनमत सग्रह उस जनमत सग्रह से भिन्न होता है जो किसी सरकार की नीतियो पर जनता से राय ली जाती है। इसमे सम्पूर्ण जनता का मत नही लिया जाता अपितु किसी विशेष प्रशासकीय नीति से प्रभावित होने वाले विविध हितो के लोगो मे से थोडे से लोगो के मतो का सग्रह नमूने के आधार पर किया जाता है। इस अध्ययन से निर्णय निकाले जा सकते हैं। यदि कोई नीति जनता को अच्छी नही लगती है तो उसमे उनके अनुसार परिवर्तन किया जा सकता है और किसी प्रशासकीय नीति को उपयोगी बनाया जा सकता है।

इस नीति का प्रयोग प्रशासन मे उस कार्य के लिए भी किया जा सकता है जो बार-बार करना पडता हो, जैसे—टाईपिंग, फाइलें बनाने का कार्य तथा डाक का कार्य। इसमे यह पता लगाया जा सकता है कि साधारणतया एक व्यक्ति दिन मे कितना कार्य कर सकता है। अमुक विभाग या सेक्शन मे कितना कार्य है, अतः कितने कर्मचारियो की आवश्यकता होगी। इससे यह भी पता लगाया जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति के कार्य की लागत क्या होगी। हालाँकि हर व्यक्ति की कार्यक्षमता भिन्न होती है, अत कुछ कठिनाइयाँ अनुमान लगाते समय सामने आती है। इस कारण लागत, प्रयास, कार्य की मात्रा, परिणाम, पर्याप्तता तथा कार्यक्षमता को मापने के लिए अलग-अलग मापदण्डो की आवश्यकता होगी। कोई भी एक मापदण्ड इन सब को मापने के लिए पर्याप्त नही होगा। इस पद्धति का विशेष रूप मे समर्थन रिडले तथा साइमन (Ridley & Simon) ने किया, किन्तु एक ब्रिटिश अध्यापक स्टीर (Steer) ने अपने देश की शैक्षणिक सेवा को मापने के लिए इस योजना को प्रयोग मे लाने की चेष्टा की। उसके द्वारा किये गये परीक्षण अधिक उत्साह-वर्द्धक नही रहे। अतः उसने कहा कि सेवाओ के मापने के लिए कोई व्यावहारिक परिमाप योजना तैयार करने मे बहुत अधिक शोध और चिन्तन की आवश्यकता होगी।

निष्कर्ष (Conclusion) —लोक-प्रशासन के अध्ययन के लिए विभिन्न पद्धतियो को काम मे लाया जाता है। परन्तु उपर्युक्त अध्ययन मे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कोई भी पद्धति अपने-आप मे पूर्ण नही है। अत किसी भी एक पद्धति के द्वारा विषय-वस्तु का अध्ययन नही किया जा सकता। आधुनिक युग मे लोक-प्रशासन अत्यधिक जटिल होता जा रहा है और जैसे-जैसे उसके कार्यों मे वृद्धि होगी, उसकी जटिलता और बढ़ेगी। अत आवश्यकता इस बात की है कि लोक-प्रशासन की समस्याओ के कारणो को जानने के लिए तथा उन समस्याओ के हल निकालने के लिए हमे उसका अध्ययन विभिन्न दृष्टिकोणो से करना होगा। हमे सभी पद्धतियो को लोक-प्रशासन के अध्ययन के लिए काम मे लाना होगा। हमे सभी पद्धतियो को एक-दूसरे का पूरक मानना होगा।

परीक्षोपयोगी प्रश्न

1. लोक-प्रशासन का राजनीति विज्ञान, इतिहास, अर्थशास्त्र, नीति-शास्त्र, समाज-शास्त्र से सम्बन्धों की व्याख्या कीजिए।

   Describe in brief the relations that exist between Public Administration and the following subjects :

   (1) Political Science, (2) History, (3) Economics, (4) Ethics (5) Sociology

2. लोक-प्रशासन के अध्ययन की विविध विधियों का वर्णन कीजिए।

   Describe the various methods of the study of Public Administration

3

लोक-प्रशासन पर नियन्त्रण

(CONTROL OVER PUBLIC ADMINISTRATION)

आधुनिक युग प्रजातन्त्र का युग है। विश्व के अधिकांश राज्यों ने प्रजातान्त्रिक शासन-व्यवस्था को अपनाया है। इस व्यवस्था में यह आशा की जाती है कि जनता का शासन पर नियन्त्रण प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से रहेगा। राजनीति इतिहास में रूसो (Rouceseau) प्रथम विचारक था जिसने इस सिद्धान्त का विकास किया कि शासन पर जनता का नियन्त्रण होना चाहिए। साधारणतया इस प्रकार की शासन व्यवस्था में व्यवस्थापिका (Legislature) का कार्यकारिणी (Executive) पर नियन्त्रण होता है। मन्त्रिमण्डल को ही कार्यकारिणी कहा जाता है। ये मन्त्री प्रशासनिक विभागों के राजनीतिक अध्यक्ष होते हैं। ये ही विभाग के लिए नीति का निर्माण करते हैं और यह भी देखते हैं कि नीति को ठीक प्रकार से कार्यान्वित किया जा रहा है या नहीं। मन्त्री अपने विभागीय कार्यों के लिए व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होते हैं। व्यवस्थापिका के सदस्य उनसे सम्बन्धित विभागों के सम्बन्ध की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। व्यवस्थापिका के अधिकांश सदस्य जनता के द्वारा निर्वाचित होते हैं। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से जनता का कार्यकारिणी अर्थात् विभागीय प्रशासन पर नियन्त्रण रहता है। प्रजातान्त्रिक शासन-व्यवस्था में राज्य का प्रशासन वास्तव में कार्यकारिणी के द्वारा ही चलाया जाता है। आज के युग में कार्यकारिणी की शक्तियाँ इतनी बढ़ गई हैं कि कई विद्वानों ने उसे निरंकुश भी कहा है। इतना सब होते हुए भी व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होना पड़ता है। इस सम्बन्ध में प्रो० एलन (Allen) के विचार बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। उनके अनुसार, "आज की संवैधानिक स्थिति में आकर्षण का केन्द्र कार्यपालिका के पास चला गया है और संसद का महत्त्व उसी अनुपात में कम हो गया है। परन्तु इस बात से सचेत अवश्य रहना चाहिए कि व्यवस्थापिका को जो कुछ भी दिया गया है, वह वैधानिक सिद्धान्त के महत्त्व का नहीं है।[1] यद्यपि इस कथन में काफी सत्यता है कि दिन-प्रतिदिन

1 "In the present phase of Constitution the centre of gravity has shifted to the Executive and the role of the Parliament has proportionately diminished, but the care be taken that what is in fact left to the executive is not a matter of substantive) Legis l tive."

व्यवस्थापिका की शक्तियाँ क्षीण होती जा रही हैं, परन्तु यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण ही होगा कि व्यवस्थापिका पूर्ण रूप से दुर्बल है। प्रत्येक राष्ट्र में व्यवस्थापिका का अपना अलग महत्त्व होता है। वहीं समस्त शक्तियों का स्रोत होती है और इसलिए सम्प्रभुता का निवास इसी में मानते हैं। कार्यपालिका का चाहे इस युग में कितना ही विकास क्यों न हो, गया हो, परन्तु व्यवस्थापिका आज भी सरकार का एक ऐसा अंग मानी जाती है, जिसकी इच्छा का पालन सरकार के अन्य अंगों को करना होता है।

इस प्रकार सरकार राज्य का एक महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक अंग है। राज्य एक कल्पना है जो स्वयमेव कार्य नहीं करती। राज्य का कार्य सरकार द्वारा होता है जो कि इसका वास्तविक स्वरूप है। अतः सरकार राज्य का अंग तथा प्रतीक दोनों ही है। वास्तव में सरकार राज्य की एक मशीन है जिसके द्वारा राज्य की इच्छाओं को निर्मित, प्रदर्शित तथा कार्यान्वित किया जाता है। सरकार के तीन अंग होते हैं—(1) व्यवस्थापिका (Legislature), (2) कार्यपालिका (Executive) तथा (3) न्यायपालिका (Judiciary)। सरकार राज्य के उद्देश्यों की पूर्ति अपने इन अंगों के द्वारा करती है। व्यवस्थापिका कार्य करने की नीति बनाती है तथा उस नीति को कार्यान्वित करने के लिए कानूनों का निर्माण करती है। कानूनों को कार्यान्वित करने का कार्य कार्यपालिका करती है। कानूनों का उल्लंघन करने वाले को दण्ड देने की व्यवस्था न्यायपालिका करती है। इस प्रकार सरकार के तीनों अंग सहयोग तथा एक दूसरे की सहायता से राज्य की इच्छा तथा आकांक्षाओं को पूर्ण करते हैं।

यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि सरकार का कार्य प्रशासकीय शाखा के द्वारा किया जाता है। कई लोग कार्यपालिका तथा प्रशासन में भेद नहीं करते, इससे भ्रम उत्पन्न हो जाते हैं। उनकी इस भ्रान्ति का कारण एक ही कारण है और वह यह है कि जनसाधारण की भाषा में कार्यपालिका और प्रशासन में कोई अन्तर नहीं है। वास्तव में कार्यपालिका शक्तियों में और प्रशासकीय शक्तियों में बहुत भेद है। कार्यपालिका शक्ति का सम्बन्ध समस्त शासन के प्रतिनिधित्व से है तथा इस बात को देखने से है कि राज्य के कानूनों का समुचित पालन उसके विभिन्न इकाइयों के द्वारा होता है या नहीं। प्रशासकीय कार्यों का सम्बन्ध व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित तथा न्यायपालिका द्वारा व्याख्या किए गए कानूनों को वास्तव में क्रियान्वित करने से है। इसके अतिरिक्त कार्यपालिका का कार्य राजनीतिक है जबकि प्रशासकीय कार्य का सम्बन्ध नीति को क्रियान्वित करने से है तथा उन आदेशों का पालन करने से है जो उसे कार्यपालिका से प्राप्त होते हैं।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि प्रशासकीय शाखा प्रशासन का सबसे निम्न अंग होता है जिसका कार्य वाहित अधिनियमों एवं कानूनों, नीतियों एवं योजनाओं को कार्यरूप में परिणित करना होता है। शासन का सबसे निम्न अंग

होने से प्रशासकीय शाखा को कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान नहीं की जा सकती। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि लोक-प्रशासन पर नियन्त्रण रखा जाय। ऐसा करने से लोक-प्रशासन में दृढ़ता आती है और कभी भी इस बात का भय नहीं रहता कि आज्ञाओं, आदेशों, निर्देशों के विरुद्ध कार्य होगा।

कार्यपालिका प्रशासकीय कार्यों की देख-रेख तथा उन पर नियन्त्रण रखती है। यदि कार्यपालिका का नियन्त्रण प्रशासन पर रहे और उस स्वयं पर कोई नियन्त्रण न रखा जाए तो कार्यपालिका के अनुत्तरदायी व निरंकुश बनने की सम्भावना उत्पन्न हो सकती है। यहाँ लॉर्ड एक्टन (Lord Acton) के शब्दों को प्रस्तुत करना आवश्यक प्रतीत होता है। उनके अनुसार, 'शक्ति का झुकाव बिगड़ने की ओर होता है और निरंकुश सत्ता निरंकुश रूप में बिगड़ती है।'[1] अतः कार्यपालिका पर व्यवस्थापिका के किसी न किसी रूप में नियन्त्रण की व्यवस्था रखी जाती है। संसदात्मक शासन-व्यवस्था ((Parliamentary System) में यह नियन्त्रण स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इस प्रकार की व्यवस्था में कार्यपालिका अपने सम्बन्ध के विभाग के प्रशासन के लिए व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है। कार्यपालिका की व्यवस्थापिका में सदस्य प्रश्न तथा पूरक प्रश्न पूछ सकते हैं। और तो और कार्यपालिका अपने पद पर तब तक ही कार्य करती है जब तक कि उसे व्यवस्थापिका का आशीर्वाद प्राप्त होता है। दूसरी ओर अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था (Presidential System) शक्ति पृथक्करण (Separation of Powers) के सिद्धान्त पर आधारित होती है, जिसके अनुसार सरकार के तीनों अंग अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करते हैं। अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था में राष्ट्रपति में कार्यपालिका सम्बन्धी अधिकार निहित होते हैं और राष्ट्रपति अपने कार्यों के लिए व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होता, इसलिए यह कहा जा सकता है कि ऐसी प्रणाली में व्यवस्थापिका का प्रशासन पर कोई नियन्त्रण नहीं हो सकता। किन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। प्रशासकीय नीतियों को व्यावहारिक रूप देने के लिए धन की आवश्यकता होती है और धन व्यवस्थापिका की स्वीकृति के अभाव में प्राप्त नहीं हो सकता। अतः यह कहा जा सकता है कि व्यवस्थापिका अपनी आर्थिक सत्ता के द्वारा प्रशासन पर नियन्त्रण रखती है। संयुक्त राज्य अमरिका में अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था है। वहाँ पर व्यवस्थापिका (काँग्रेस) को केवल आर्थिक शक्ति ही नहीं, अपितु अन्य कई अधिकार प्राप्त है। उदाहरण के लिए, राष्ट्रपति के द्वारा की गई संघीय नियुक्तियों का अनुमोदन काँग्रेस के द्वितीय सदन सीनेट (Senate) के द्वारा दो-तिहाई मतों से किया जाना आवश्यक है। यही नहीं, वहाँ व्यवस्थापिका को नय

---

[1] "All power corrupts and absolute power corrupts absolutely."

प्रशासकीय विभागों की रचना करने का अधिकार प्राप्त है। विभागों की रचना करते समय यदि व्यवस्थापिका उचित समझे तो उसके *नियन्त्रण का अधिकार* अपने हाथ में रख सकती है। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्रत्येक देश में व्यवस्थापिका का लोक-प्रशासन पर किसी न किसी रूप में नियन्त्रण अवश्य रहता है।

क्या लोक प्रशासन या प्रशासकीय शाखा शासन का एक पृथक अंग है ?

कई विद्वान प्रशासकीय शाखा को सरकार का एक पृथक अंग नहीं मानते हैं परन्तु अधिकांश राजनीति विज्ञान के विद्वानों ने प्रशासकीय शाखा को शासन का एक पृथक अंग स्वीकार किया है। विचारक यह मानते हैं कि प्रशासकीय शाखा भले ही कार्यपालिका के अधीन कार्य करती हो, परन्तु वास्तव में वह उसका अंग नहीं है। कार्यपालिका तथा प्रशासकीय शाखा दोनों एक दूसरे से स्वतन्त्र अस्तित्व रखती हैं। कार्यपालिका तथा प्रशासकीय शाखा एक दूसरे से पृथक हैं, इस बात को स्वीकार करने वालों का मत है कि कार्यपालिका के सदस्यों के पद अस्थाई होते हैं। इस बात को और स्पष्ट इस प्रकार कहा जा सकता है कि नये चुनावों में कार्यपालिका के सदस्य पराजित हो जाय या चुनाव ही न लड़ें अथवा नीति में मत-भेद हो जाने पर त्याग-पत्र ही दे दें। इस प्रकार कार्यपालिका के सदस्य बदलते रहते हैं, परन्तु प्रशासकीय शाखा के कर्मचारीगण अपने पदों पर आसीन रहते हैं क्योंकि वे स्थायी होते हैं। कार्यपालिका में परिवर्तन का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे निष्पक्ष होते हैं और उनका किसी भी राजनैतिक दल के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं होता। उनकी प्रकृति व्यावसायिक (Professional) होती है। इसके अतिरिक्त वे अपने कार्य में दक्ष एवं निपुण होते हैं, इसलिए वे अपनी स्वतन्त्र बुद्धि का प्रयोग कर सकते हैं। *प्रशासकीय शाखा के स्वतन्त्र होने का दूसरा तर्क यह दिया जाता है कि कार्यपालिका का गठन* दलबन्दी के आधार पर होता है अर्थात् जिस राजनैतिक दल का व्यवस्थापिका के निम्न सदन में बहुमत होता है। उसी दल की कार्यपालिका बनाई जाती है। *इसके अतिरिक्त प्रशासकीय कर्मचारियों के चुनाव का आधार योग्यता* होता है। लोक सेवा आयोगों के द्वारा प्रतियोगिता परीक्षा का आयोजन किया जाता है और सफल प्रत्याशियों को सरकार नियुक्तियाँ प्रदान करती है। तीसरा तर्क यह दिया जाता है कि कार्यपालिका व्यवस्थापिका से नीतियाँ एवं कानून पारित करवाती है। कार्यपालिका निर्मित कानूनों को प्रशासकीय शाखा के द्वारा क्रियान्वित कराती है। *उन कानूनों का पालन करते समय प्रशासकीय अधिकारियों के सामने कई प्रकार की* कठिनाइयाँ आती हैं। उन कठिनाइयों का सामना वे अपने बुद्धि, बल और चतुराई से करते हैं। यही कारण है कि कार्यपालिका उनसे परामर्श लेकर कार्य करती है। वे सेवक होकर भी स्वामी बन जाते हैं। चौथा तर्क यह है कि सरकार के अनेक अंग होते हैं। उदाहरण के लिए व्यवस्थापिका का कार्य है—कानूनों का निर्माण करना,

नियन्त्रण का कार्य करने वाले प्रशासन को 'ओवरहैड एडमिनिस्ट्रेशन' (Overhead Administration) की संज्ञा दी जाती है। दूसरे शब्दों में, कार्य के स्वरूप का निर्धारण करना, उसे पूरा करने के लिए आवश्यक साधनों एवं उपायों की खोज करना, इसके सम्बन्ध में आवश्यक निर्देश देना, नीति निर्धारण करना और कार्य का संचालन करने वाले अधिकारियों के कार्यकलापों पर नजर एवं नियन्त्रण रखना ही उसका मुख्य लक्ष्य रहता है। किसी कार्य को करने का अर्थ होता है उस सम्बन्ध में दिये गये आदेशों का पालन करना। कार्यपालन और निदेशन तथा नियन्त्रण में मुख्य अन्तर यह होता है कि दोनों के कार्य तथा कार्य-क्षेत्र भिन्न प्रकार के होते हैं।

छोटे कारोबारों में जहाँ दुकान का प्रशासन उसके मालिक के द्वारा चलाया जाता है, वहाँ इस प्रकार का भेद स्पष्ट नहीं होता; क्योंकि एक ही व्यक्ति (मालिक) निर्णय करता है, योजना बनाता है एवं कार्य का सम्पादन करता है। बड़े उद्योग-धन्धों में विस्तृत संगठन की आवश्यकता होती है, क्योंकि उनको कई प्रकार के कार्य करने पड़ते हैं। अतएव हम इनके सम्पादन के कार्यों में तथा निरीक्षण, परीक्षण, निदेशन एवं नियन्त्रण के कार्यों में भेद देख सकते हैं। इन संस्थाओं में निदेशन, निरीक्षण एवं परीक्षण का कार्य बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स (Board of Directors) के द्वारा, नियन्त्रण का कार्य सामान्य प्रबन्धक (General Manager) के द्वारा तथा सम्पादन का कार्य अधीन कर्मचारियों के द्वारा चलाया जाता है। राज्य भी एक बड़ी व्यापारिक संस्था के समान है। राज्य में भी विभिन्न प्रकार के कार्य किये जाते हैं जिनका दायित्व शासन के विशिष्ट अंगों को सौंपा जाता है। आज के प्रजातान्त्रिक युग में एक ही व्यक्ति राज्य के समस्त कार्यों को पूरा नहीं कर सकता। अतः शासन की सुविधा के लिए निदेशन, निरीक्षण एवं परीक्षण का कार्य व्यवस्थापिका करती है, नियन्त्रण का कार्य कार्यपालिका करती है तथा सम्पादन का कार्य प्रशासकीय शाखा करती है।

व्यवस्थापिका की श्रेष्ठता
(Supremacy of the Legislature)

आज के विश्व में सर्वत्र ही व्यवस्थापिका का महत्त्व सर्वोपरि माना जाता है। विलोबी (Willoughby) का कथन है—"आज कम-से-कम संसदीय शासन पद्धति वाले देशों में तथा उन देशों में जहाँ अंग्रेजी ढंग की शासन पद्धति अपनाई गई है, व्यवस्थापिका या सही अर्थों में निचले सदन की सर्वोच्चता पर सन्देह नहीं। कुछ अन्य देशों में भी जैसे, स्विट्जरलैण्ड में व्यवस्थापिका की श्रेष्ठता असंदिग्ध है, जिसके द्वारा बनाये गये कानूनों में न्यायपालिका भी मीन-मेख नहीं निकाल सकती और न कार्यपालिका उन कानूनों का उल्लंघन ही कर सकती है।" इंग्लैण्ड जैसे एकात्मक (Unitary) राष्ट्र में व्यवस्थापिका समस्त शक्तियों का स्रोत होती है।

ब्रिटिश संसद की सर्वोच्चता के सम्बन्ध में डीलोम (De Lolme) का कथन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। उसके अनुसार स्त्री को मर्द और मर्द को स्त्री बनाने के कार्य के अतिरिक्त शायद ही कोई कार्य ऐसा हो जिसे ब्रिटिश संसद न कर सके। संसद का निम्न सदन, जिसमे जन-प्रतिनिधि निर्वाचित होकर आते हैं, जनता का सदन होता है। यही सदन मुख्यत देश की शासन नीति का स्रोत होता है। कार्यकारिणी विशेष रूप से इस सदन के प्रति उत्तरदायी होती है। इस सदन मे जिस दल का बहुमत होता है उसी दल का नेता प्रधानमंत्री बनाया जाता है तथा उसी के परामर्श से अन्य मन्त्रियो की नियुक्ति की जाती है। मन्त्रिमण्डल सामूहिक रूप में इसी सदन के प्रति उत्तरदायी होता है। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप मे मन्त्रिमण्डल जनता के प्रति उत्तरदायी होता है क्योंकि इस सदन मे जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि बैठते हैं। यही सदन देश के लिये शासन सम्बन्धी तथा अन्य प्रकार के कानून बनाता है। यही सदन देश की आन्तरिक तथा बाह्य नीति (Foreign Policy) निर्धारित करता है। शासन का यह अग चूँकि राज्य की जनता का प्रतिनिधित्व करता है और कानून का निर्माण कर लोकेच्छा को निश्चित रूप देता है, अत व्यवस्थापिका को शासन मे प्रथम स्थान प्राप्त है।

इसके विपरीत सयुक्त राज्य अमेरिका मे अध्यक्षात्मक शासन-व्यवस्था अपनाई गई है और वहाँ शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त पर शासन सचालित होता है अत वहाँ यह पता लगाना कठिन होता है कि व्यवस्थापिका और कार्यपालिका मे कौन श्रेष्ठ है। इस व्यवस्था मे सरकार के तीनो अग एक-दूसरे से स्वतन्त्र होते हैं। सयुक्त राज्य अमेरिका मे सरकार के इन तीनो अगो मे सतुलन बनाये रखने के लिए अवरोध व सन्तुलन (Checks and Balances) को स्थान दिया गया। वहाँ कार्यपालिका (राष्ट्रपति) व्यवस्थापिका के कार्यों मे भाग नही लेती और न ही व्यवस्थापिका उसे हटा सकती है। वह प्रशासन एव कार्यपालिका के क्षेत्र मे स्वतन्त्र नीति अपना सकता है। इन सारी सत्ताओ के बावजूद भी राष्ट्रपति को अपनी नीतियो को कार्यान्वित करने के लिए धन की आवश्यकता होती है और धन की स्वीकृति व्यवस्थापिका ही देती है। इस प्रकार प्रत्येक कार्य के लिए कार्यपालिका को व्यवस्थापिका का मुँह ताकना होता है। इतना ही नही, व्यवस्थापिका के पास धन एकत्रित करना, प्रशासकीय विभागो की सृष्टि करना, उन पर नियन्त्रण रखना आदि कार्य भी है। सयुक्त राज्य अमेरिका मे व्यवस्थापिका की श्रेष्ठता 1920 में बनी जो राष्ट्र सघ (League of Nations) के सदस्यता के प्रश्न पर सिद्ध हो गई। अमेरिका के तत्कालीन राष्ट्रपति, श्री विल्सन, जिनके अथक् परिश्रम से राष्ट्र सघ का निर्माण हुआ था, चाहते थे कि सयुक्त राज्य अमेरिका भी राष्ट्र सघ का सदस्य बने। परन्तु उनके इस आशय के प्रस्ताव को सीनेट ने रद्द कर दिया और सयुक्त राज्य अमेरिका राष्ट्र सघ का सदस्य नही बन सका। इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि अमेरिका मे अध्यक्षात्मक व्यवस्था को स्थान देने पर भी वहाँ व्यवस्थापिका नाम-

मात्र की संस्था नहीं है। अतः यह स्पष्ट है कि शासन का स्वरूप कोई भी हो, व्यवस्थापिका का महत्त्व कम नहीं किया जा सकता। इसका महत्त्व संसदीय पद्धति में और भी बढ़ जाता है। भारत में जहाँ संविधान को सर्वोच्चता प्राप्त है, फिर भी शासन के अंगों में *व्यवस्थापिका का स्थान महत्वपूर्ण है।*

प्रशासकीय सत्ता का स्रोत
(Sources of Administrative Authority)

व्यवस्थापिका अपने देश में सर्वोच्च विधि निर्माण करने वाली संस्था होती है। प्रशासकीय कार्यों का आधार वे नियम अथवा नीतियाँ होती हैं जिनका निर्माण व्यवस्थापिका के द्वारा होता है। अतः इसे प्रशासकीय सत्ता का स्रोत माना जाता है। प्रत्येक अधिकारी या प्रशासकीय कर्मचारी का यह कर्तव्य होता है कि वह कानूनों का पालन करे। अपने अधिकार-क्षेत्र में रहकर ही उसे कार्य करना होता है। सभी राज्यों में मुख्य कार्यपालिका को अध्यादेश (Ordinance) जारी करने के अधिकार प्राप्त होते हैं। परन्तु ये अध्यादेश एक निश्चित समय तक ही लागू रह सकते हैं। इस अवधि के समाप्त होने पर या तो वे समाप्त हो जाते हैं और यदि उनकी अवधि बढ़ाना आवश्यक होता है तो व्यवस्थापिका की अनुमति लेना आवश्यक होता है। इतना ही नहीं, साधारणतया संविधान में संशोधन करने का अधिकार व्यवस्थापिका को ही होता है। जिन देशों के संविधान लचीले (Flexible) होते हैं, वहाँ संविधान में संशोधन करने की प्रणाली ठीक उसी प्रकार की होती है जिस प्रकार कानून निर्माण की प्रणाली होती है। *संघीय शासन-व्यवस्था वाले राज्यों में* न्यायपालिका (Judiciary) के पास व्यवस्थापिका द्वारा पारित अधिनियमों को रद्द एवं गैर कानूनी घोषित करने का अधिकार प्राप्त होता है, *यदि वे संविधान की किसी* धारा या उसकी आत्मा के विरुद्ध हों। यद्यपि व्यवस्थापिका संविधान की किसी धारा *के विरुद्ध कानून तथा अधिनियम पारित नहीं कर सकती लेकिन उस संविधान में* संशोधन करने या परिवर्तन करने के अधिकार प्राप्त हैं। अन्त में कहा जा सकता है कि व्यवस्थापिका ही विभिन्न प्रकार के कानूनों, अधिनियमों, अध्यादेशों आदि को निर्धारित करती है। प्रशासकीय शाखा इन्हीं कानूनों, अधिनियमों, अध्यादेशों एवं संवैधानिक धाराओं के अनुसार कार्य करती है। अतः कहा जा सकता है कि प्रशासकीय सत्ता का मुख्य स्रोत व्यवस्थापिका ही है। **विलोबी** (Willoughby) ने इस सम्बन्ध में कहा है कि, "प्रशासकीय कार्य अर्थात् शासन के कार्यों का निर्देशन, निरीक्षण और नियन्त्रण का कार्य शासन के व्यवस्थापिका अंग में है। यह वह शाखा है जिसमें अन्तिम अधिकार निहित है।" अन्य विद्वानों की भाँति विलोबी भी व्यवस्थापिका को ही शासन का अन्तिम स्रोत मानता है।

व्यवस्थापिका का प्रशासन पर नियन्त्रण
(*Legislative Control over Administration*)

यह निर्विवाद रूप से मान्य है कि व्यवस्थापिका या विधानमण्डल का स्थान शासन के अंगों में श्रेष्ठ है। यह समस्त अंगों पर नियन्त्रण रखने के अधिकार में

विभूषित है। नियमों का निर्माण करना वैसे इसका प्रमुख कार्य है, परन्तु इसके साथ वह प्रशासन के प्रत्येक पहलू में अपना हस्तक्षेप रखती है। लोक-प्रशासन जिन नीतियों को क्रियान्वित करने के लिए प्रयत्नशील रहता है उनकी रचना यद्यपि कार्यपालिका के द्वारा की जाती है किन्तु फिर भी उन पर व्यवस्थापिका की स्वीकृति आवश्यक है। व्यवस्थापिका (संसद) द्वारा जब तक इन नीतियों को स्वीकृति प्रदान न की जाए तब तक वे लोक-सेवकों के कार्यों की प्रेरणा नहीं बन सकती। **डॉ० एल०डी० ह्वाइट** (L. D. White) का कथन सही है 'कि—सार्वजनिक नीति के प्रमुख उद्देश्य कानून में निर्धारित किये जाते हैं और इनको व्यवस्थापिका (कांग्रेस) द्वारा इच्छानुसार परिवर्तित एवं अस्वीकृत किया जा सकता है। प्रशासकीय अभिकरण अपने लक्ष्यों को स्वयं निर्धारित नहीं करते, वे आत्म-निर्भर या आत्म-निर्देशित नहीं हैं तथा वे कार्य करने की अपनी शक्ति को कानूनों एवं सहायक व्यवस्थापन में पाते हैं।'"[1] यह सत्य है कि प्रशासन पर कार्यपालिका का सीधा नियन्त्रण होता है, परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से व्यवस्थापिका ही प्रशासन पर नियन्त्रण रखती है। अध्ययन की दृष्टि से नियन्त्रण को दो मुख्य भागों में बाँटा जा सकता है—(1) सकारात्मक (Positive), तथा (2) नकारात्मक (Negative)। नीचे हम दोनों ही प्रकार के नियन्त्रण की व्याख्या विस्तार से करेंगे

1 सकारात्मक नियन्त्रण (Positive Control)

(1) नियोजन द्वारा—व्यवस्थापिका सभाएँ प्रशासन पर नियन्त्रण रखने के लिए संसदीय समितियों (Parliamentary Committees) का निर्माण करती हैं। ये समितियाँ कार्यपालिका के कार्यों की समस्त सूचनाएँ एकत्रित करती हैं। इसके अतिरिक्त व्यवस्थापिका ऐसे अधिकारियों की भी नियुक्ति करती है, जो कार्यपालिका के कार्यों की देखरेख करते हैं तथा उस पर नियन्त्रण रखते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में महालेखा परीक्षक (Auditor-General) ऐसा ही अधिकारी है। वह व्यवस्थापिका विभाग का एक सदस्य होता है, जो कार्यपालिका के धन सम्बन्धी कार्यों का निरीक्षण करता है और यह देखता है कि जनता के धन का सदुपयोग होता है या नहीं। संयुक्त राज्य अमेरिका और भारत के संविधानों में उप-राज्यों की व्यवस्थापिका सभाएँ कार्यपालिका सम्बन्धी सूचना प्राप्त करने का अधिकार

---

1 "The major objects of public policy are stated in Law, and may be modified or repealed at will by Congress. Administrative agencies do not set their own rules, are not self-directed or self-sustained, and find their authority for action in the organic acts and supplementary legislation"

रखती है। कुछ अन्य विभाग भी होते हैं, जो कार्यपालिका के कार्य-कलापों की देख-रेख करते हैं, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि प्रशासन कार्यपालिका के निर्देश, आदेश आदि की अवहेलना करे और अपना सम्बन्ध सीधा व्यवस्थापिका से जोड़ ले। प्रशासन कार्यपालिका के प्रति ही उत्तरदायी रहता है और उसी के आदेशों का पालन करता है। कार्यपालिका ही प्रशासन सम्बन्धी कार्यों के लिए उत्तरदायी होती है। प्रशासकीय शाखा का व्यवस्थापिका के साथ जो सम्बन्ध है, वह कार्यपालिका के माध्यम से ही है।

(ii) नीति निर्धारण द्वारा—प्रशासन पर कार्यपालिका नीति निर्धारित करके भी अपना नियन्त्रण रखती है। साधारणतया यह देखा जाता है कि समस्त देशों की कार्यपालिका ही राष्ट्र की नीति को निर्धारित करती है। परन्तु वास्तव में जब तक व्यवस्थापिका कार्यपालिका द्वारा बनाई गई नीति का अनुमोदन नहीं करती तब तक नीति निर्धारित नहीं मानी जाती। यह बात संसदीय या मन्त्रिमण्डलात्मक शासन व्यवस्था में स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। इस व्यवस्था में कार्यपालिका के सदस्य व्यवस्थापिका में से चुने जाते हैं तथा वे उसके प्रति उत्तरदायी होते हैं। वे तब तक अपने पद पर बने रहते हैं जब तक कि व्यवस्थापिका का उन्हें विश्वास प्राप्त रहता है। इस प्रकार नीति निर्माण का कार्य व्यवस्थापिका ही करती है। संयुक्त राज्य अमेरिका, जहाँ अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था है, जिसमें कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होती, न ही व्यवस्थापिका अविश्वास का प्रस्ताव पारित करके हटा सकती है। इस प्रकार की व्यवस्था में देश की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित होती है। संविधान के द्वारा राष्ट्रपति को नियुक्तियाँ करने, सन्धि करने, युद्ध की घोषणा करने, विदेश नीति को बनाने आदि कई अधिकार प्रदान किये हैं। परन्तु संविधान में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि राष्ट्रपति के ये उपर्युक्त कार्य तभी वैध माने जायेंगे जब कि अमेरिकी कांग्रेस (व्यवस्थापिका) के द्वितीय सदन सीनेट (Senate) उन्हें दो-तिहाई बहुमत से अनुमोदित करे। इस प्रकार अमेरिका में राष्ट्रपति को अपने अनेक कार्य के लिए सीनेट की स्वीकृति लेना आवश्यक है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि संकटकाल में राष्ट्रपति को असीमित अधिकार प्राप्त हो जाते हैं, पर संकटकाल की घोषणा भी तो व्यवस्थापिका के द्वारा ही होती है। कार्यपालिका अपनी नीति के लिए व्यवस्थापिका की ओर देखती है और उसके प्रति उत्तरदायी होती है।

(iii) नियुक्तियों द्वारा—व्यवस्थापिका देश में कानूनों के निर्माण एवं नीति निर्धारण के साथ-साथ उच्च विभागीय अध्यक्षों की नियुक्तियाँ भी करती है। उदाहरण के लिए, संयुक्त राज्य अमेरिका को लिया जा सकता है। संविधान में अमेरिका के राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया गया है कि वह समस्त संघीय अधिकारियों की नियुक्ति करेगा। परन्तु ये नियुक्तियाँ तब तक स्थायी तथा अन्तिम नहीं मानी जायेंगी जब तक कि सीनेट उन्हें मान्यता न दे दे।

(iv) प्रशासकीय कार्यों का अनुलेख—प्रशासकीय कार्यों पर नियन्त्रण रखने के लिए व्यवस्थापिका एक बोर्ड की स्थापना करती है इस बोर्ड के सदस्यो की योग्यता तथा कार्य-क्षेत्र एवं अधिकार-क्षेत्र का निश्चय भी व्यवस्थापिका ही करती है। प्रशासकीय क्षेत्रो के नियमो का निर्माण भी व्यवस्थापिका द्वारा ही होता है।

2. नकारात्मक नियन्त्रण (Negative Control)—

सकारात्मक नियन्त्रण के अतिरिक्त दूसरा जो नियन्त्रण का भाग है उसे नकारात्मक नियन्त्रण कहते हैं। इस नकारात्मक नियन्त्रण के अन्तर्गत वे कार्य एवं विधियाँ आती है, जिसके द्वारा व्यवस्थापिका कर्मचारियो मे परिवर्तन अथवा प्रशासकीय पुनर्गठन का कार्य करती है। निम्नलिखित कार्यों को हम नकारात्मक कार्यों के अन्तर्गत रखते है —

(i) निरीक्षण के द्वारा—जैसा कि ऊपर बताया गया है कि व्यवस्थापिका केवल नीति का निर्धारण या विधि निर्माण का कार्य ही नही करती अपितु यह भी देखती है कि उसके द्वारा निर्मित कानूनो का पूरी तरह पालन होता है या नही। कानूनो का उल्लघन करने वालो को दण्ड देने के सम्बन्ध मे जो व्यवस्था की जाती है वह व्यवस्थापिका के द्वारा ही होती है। इसके अतिरिक्त व्यवस्थापिका समितियो (Committees) के द्वारा भी विभागो के कार्यों का अध्ययन कर सकती है। समिति अपनी रिपोर्ट व्यवस्थापिका मे प्रस्तुत करती है और व्यवस्थापिका उचित कदम उठाती है। इस प्रकार व्यवस्थापिका प्रशासन पर नियन्त्रण रखने मे सफल हो जाती है।

(ii) पदच्युत के अधिकार के द्वारा—प्रशासन पर नियन्त्रण रखने के लिए व्यवस्थापिका कभी-कभी कर्मचारियो को पदच्युत भी कर सकती है। यह कार्य वह स्वय तो नही करती, पर कार्यपालिका के द्वारा सम्पादित कराती है। दोषी पाये गये व्यक्तियो को हटाने के लिए व्यवस्थापिका कार्यपालिका को सिफारिश कर सकती है। इस प्रकार प्रशासन पर नियन्त्रण बना रहता है।

(iii) महाभियोग—व्यवस्थापिका के पास मे राज्य के उच्चाधिकारियो को पदच्युत करने का अधिकार है। सर्वोच्च न्यायालयो के न्यायाधीशो, राष्ट्रपति तथा अन्य अधिकारियो के विरुद्ध महाभियोग (Impeachment) की कार्यवाही व्यवस्थापिका करती है। महाभियोग सिद्ध हो जाने पर वह उसको पद त्यागने के लिए विवश करती है। यह अधिकार व्यवस्थापिका का सविधान से प्राप्त होता है। महाभियोग एक ऐसा अस्त्र है जिसके द्वारा राष्ट्रपति तक निरकुश नही बन सकता।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यवस्थापिका प्रशासन पर किसी न किसी प्रकार से अपना नियन्त्रण रखती है।

व्यवस्थापिका निर्देशक मण्डल के रूप में
(Legislature as the Board of Directors)

कुछ विद्वानों का यह विचार है कि प्रशासन में व्यवस्थापिका का वही स्थान है जो व्यक्तिगत प्रशासन (Private Administration) में संचालक मण्डल का होता है। जिस प्रकार बड़े उद्योगों में सभी हिस्सेदार मिल कर संचालक मण्डल के सदस्यों का एक निश्चित अवधि के लिए निर्वाचन करते हैं, जो उस औद्योगिक संस्थान के संचालन की व्यवस्था करता है। यही संचालक मण्डल संस्थान में कार्यों को निर्धारित करने, निदेश देने तथा निरीक्षण करने का कार्य करता है। राज्य स्वयं एक बहुत बड़ी व्यापारिक संस्था के समान है जिसमें व्यवस्थापिका, जो जनता द्वारा निर्वाचित होती है, उस राज्य का सम्पूर्ण प्रबन्ध करती है। यह वे सभी कार्य—प्रशासन की नीति निर्धारण, योजना बनाना, संगठन के सिद्धान्तों को निश्चित करना, निदेश देने तथा निरीक्षण करने आदि को सम्पादित करती है जो कि गैर-सरकारी प्रशासन में संचालक मण्डल के द्वारा किये जाते हैं। अतः यह कहा जाता है कि व्यवस्थापिका सभा संचालक मण्डल के समान होती है। नीचे हम विद्यार्थियों की सुविधा के लिए व्यवस्थापिका के प्रशासन सम्बन्धी कार्यों का विवेचन कर रहे हैं।

व्यवस्थापिका के प्रशासन-सम्बन्धी कार्य (Administrative Functions of Legislature) ;—व्यवस्थापिका साधारणतया निम्न प्रशासकीय कार्यों को सम्पादित करती है ;—

(1) प्रशासकीय नीति का निर्धारण (To decide Administrative Policy) — व्यवस्थापिका का प्रथम कार्य प्रशासन के कार्यों को निश्चित करना है। सरकार को क्या करना चाहिए, इसका निश्चय व्यवस्थापिका ही करती है। कार्यपालिका व्यवस्थापिका की इच्छा को कार्यान्वित करने का प्रभावशाली अंग है। राज्य के नागरिकों की उन्नति तथा विकास के लिए कौन से कार्य आवश्यक हैं, इसका निश्चय भी व्यवस्थापिका द्वारा होता है। इन कार्यों के करने के लिए व्यवस्थापिका मोटे-तौर पर रूप-रेखा तैयार करती है और बाद में कार्यपालिका विस्तृत रूप में इसका वर्णन करती है। उदाहरण के लिए, राजस्थान की व्यवस्थापिका सभा यह निश्चय करती है कि उच्च शिक्षा की उपलब्धि के लिए राज्य में विश्व-विद्यालय (Universities) खोले जायेंगे। यहाँ तक तो व्यवस्थापिका का ही कार्य है कि किस स्थान पर विश्वविद्यालय खोला जायेगा। इसके आगे का कार्य उसका नहीं है। जैसे भवन की इमारत कैसी होगी, उसमें कमरे कितने होंगे, कितने सामान की आवश्यकता होगी तथा कितने प्रवक्ता (Lecturers) एवं विद्यार्थी होंगे। इसी बात को एक और उदाहरण में और स्पष्ट किया जा सकता है कि व्यवस्थापिका सभा को यह अधिकार प्राप्त है कि वह देश में यातायात के साधनों को विकसित करने के लिए यह प्रस्ताव पारित करे कि सरकार उन प्रदेशों में रेलवे लाईन खोलेगी, जहाँ लोगों

को यह सुविधा प्राप्त नहीं है। किन्तु व्यवस्थापिका सभा को अपने प्रस्ताव में यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि नई रेलवे लाइन कौन-कौन से स्थानों में से होकर गुजरेगी। इस प्रकार यह बात ध्यान देने योग्य है कि व्यवस्थापिका को अपने को कार्य की रूप-रेखा अथवा कार्य-विशेष तक ही सीमित रखना चाहिए। वास्तव में रूप-रेखा तैयार हो जाने पर कार्यपालिका ही इस बात का निर्णय सुन्दरता के साथ कर सकती है क्योंकि वह अच्छी तरह से इस बात को जानती है कि उन सुविधाओं या वस्तुओं की आवश्यकता कहाँ पर है और उनको पूरा करने के लिए कौन-कौन से साधन काम में लाये जा सकते हैं। इस प्रकार व्यवस्थापिका योजना की रूप-रेखा अथवा ढाँचा बना देती है और उस ढाँचे पर मांस चढ़ाना तथा उसे कार्य के योग्य बनाने का कार्य कार्यपालिका ही करती है।

यदि व्यवस्थापिका ही समस्त कार्यों को करना प्रारम्भ कर देगी तो उसमें दो महत्वपूर्ण दोष दृष्टिगत होंगे—प्रथम राजनीतिक और द्वितीय प्रशासकीय। राजनीतिक दोष इसलिए उत्पन्न हो जायगा कि व्यवस्थापिका के सदस्य किसी न-किसी क्षेत्र या जिले से चुन कर आते हैं और उनकी दिलचस्पी उस जिले से होती है, चाहे उनके राजनीतिक सिद्धान्त कुछ भी हों। फलत: यह स्पष्ट है कि यदि व्यवस्थापिका प्रशासकीय कार्यों को विस्तारपूर्वक निर्धारित करने लगेगी तो प्रशासन से राष्ट्रीय दृष्टिकोण का लोप हो जायगा और उसमें बुराइयाँ उत्पन्न हो जायेंगी, जिन्हें अमेरिका में पोर्क बैरल (Pork Barel) और लॉग रॉलिंग (Log Rolling) कहा जाता है। इसके अतिरिक्त यदि कार्यों की व्यापक व्याख्या भी व्यवस्थापिका के हाथों में छोड़ दी जाए तो कार्यपालिका के पास में साधारण तथा असाधारण समय में उसके पास किसी प्रकार के अधिकार नहीं रहेंगे। साथ ही कार्यपालिका किसी भी स्थिति में अपने विवेक का प्रयोग नहीं कर सकेगी। इसके अतिरिक्त व्यवस्थापिका के सदस्य प्रशासकीय विषयों में दक्ष नहीं होते और न ही विशेष ज्ञान रखते हैं। परिणामस्वरूप वे प्रशासकीय कार्यों को भली-भाँति नहीं कर सकते। वास्तव में योजना का ब्यौरा वही तैयार कर सकता है जिसे प्रशासकीय विषयों का ज्ञान हो। अत: प्रशासकीय शाखा के कर्मचारी, जिनमें कार्य सम्बन्धी विशेष योग्यता होती है, योजना को कार्यान्वित करते हैं।

(2) विभागों तथा अभिकरणों की व्यवस्था (Determination of Department and Agencies) :—व्यवस्थापिका का कार्य योजना बनाना ही नहीं अपितु उनको कार्यान्वित करने के लिए विभागों एवं अभिकरणों की स्थापना करना भी है। कुशल संगठन पर ही किसी कार्य की सफलता निर्भर करती है। यह सर्वमान्य बात है कि समस्त कार्य व्यवस्थापिका नहीं कर सकती। सम्पूर्ण देश में प्रशासन-प्रबन्ध के लिए अनेक प्रकार के विभागों तथा अभिकरणों की आवश्यकता होती है। कभी-कभी संविधान में कई विभागों का उल्लेख होता है, लेकिन उनके

सम्बन्ध में विस्तृत वर्णन उसमें नहीं होता। समय और आवश्यकतानुसार नये विभागों की आवश्यकता पड़ सकती है तब उनका निर्माण कार्यपालिका के द्वारा किया जाए अथवा व्यवस्थापिका के द्वारा? अतः संगठन किसी कार्य की सफलता की कुञ्जी है। फिफनर (Pfiffner) ने एक स्थान पर लिखा है कि, "संगठन एक साधन है, जिसके द्वारा एक व्यक्ति एवं वर्ग के रूप में इतनी अधिक योग्यता के साथ कार्य करता है, जितनी योग्यता के साथ वह अकेला नहीं कर सकता। इसके अन्तर्गत व्यक्ति का व्यक्ति से और वर्ग का वर्ग से सम्बन्ध रहता है। वे एक-दूसरे से इतना सम्बन्धित रहते हैं कि व्यवस्थित श्रम-विभाजन उत्पन्न होता है।"[1]

विभागों के आन्तरिक संगठन में कई प्रकार की इकाइयाँ होती हैं—कार्यालय, डिवीजन, खण्ड, शाखा कार्यालय, क्षेत्रीय कार्यालय, फील्ड स्टेशन आदि। इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या नीति निर्धारण के साथ-साथ संगठन के निर्धारण का अधिकार भी व्यवस्थापिका को दिया जाए? क्या व्यवस्थापिका ही इस बात का निर्णय करे कि कितने विभाग, अनुभाग, उपभाग तथा सम्भाग होंगे? अथवा यह कार्य कार्यपालिका को दे दिया जाए? क्या इस प्रकार के संगठन का वर्णन संविधान में किया जाय? विभागों के आन्तरिक संगठन के सम्बन्ध में विभिन्न देशों में पृथक्-पृथक् व्यवस्था पाई जाती है। फ्रान्स में विभागों के निर्माण एवं उनका आन्तरिक संगठन कार्यपालिका द्वारा होता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रशासकीय आकार का वर्णन संविधान में किया गया है। परन्तु आवश्यकता पड़ने पर नये विभागों का निर्माण वहाँ की कांग्रेस के द्वारा किया जाता है। अधिकांश देशों में विभागों का निर्माण संविधान के अनुसार या व्यवस्थापिका सभा के द्वारा किया जाता है तथा आन्तरिक संगठन को निश्चित करने का अधिकार भी व्यवस्थापिका सभा को ही प्राप्त होता है। यदि व्यवस्थापिका चाहे तो अपने इस अधिकार को कार्यपालिका को दे सकती है। संसदीय व्यवस्था में यह कार्य मन्त्रिमण्डल के द्वारा किया जाता है। इस सम्बन्ध में समस्त निर्णय कार्यपालिका के द्वारा ही होते हैं। भारत में यह कार्य राष्ट्रपति, मन्त्रिमण्डल तथा प्रधानमन्त्री द्वारा किया जाता है। साधारणतया विद्वानों का यह मत है कि विभागों के निर्माण का अधिकार व्यवस्थापिका के हाथ में होना चाहिए, परन्तु कार्यों के सम्पादन का कार्य कार्यपालिका के

---

1. "Organisation is the medium through which individuals work as a group as effective as each could work alone. It consists of the relationship of individuals to individuals and of groups to groups which are so related as to bring about and orderly division of labour."

पास होना चाहिए। जहाँ तक विभागीय पदाधिकारियों का प्रश्न है, व्यवस्थापिका केवल उच्च अधिकारियों की व्यवस्था के लिए निर्णय ले सकती है, लेकिन अन्य कर्मचारियों की व्यवस्था से सम्बन्धित कार्य जैसे-कर्मचारियों की संख्या निश्चित करना आदि विभागाध्यक्ष को दे दिया जाना चाहिए। अतः व्यवस्थापिका को अपने अधिकार विभाग के निर्माण तथा उससे सम्बन्धित नीति तक ही सीमित रखना चाहिए।

(3) **पदाधिकारियों के पदों का निर्धारण** (Determination of Personnel) —प्रशासन की सफलता केवल संगठन पर ही निर्भर नहीं करती, अपितु इस बात पर भी निर्भर करती है कि कर्मचारी कितने योग्य और कुशल हैं। यह स्पष्ट है कि लोक प्रशासन का कार्य कर्मचारियों के द्वारा ही चलाया जाता है। सरकार के कर्मचारियों को दो श्रेणी में विभक्त किया जा सकता है—(1) वे कर्मचारी जो आज्ञा तथा निर्देश (Ordering and Directing Personnel) देते हैं, तथा (2) वे कर्मचारी जो आज्ञाओं का पालन करते है, जिनको अधीनस्थ कर्मचारी (Subordinate) कहा जाता है। जहाँ तक प्रथम श्रेणी में आने वाले कर्मचारियों का प्रश्न है, यह निर्विवाद सत्य है कि व्यवस्थापिका को ही यह अधिकार होना चाहिए कि उनकी संख्या, उनके कार्य की प्रकृति, वेतन आदि का निर्धारण करे। व्यवस्थापिका उनके अधिकार तथा कर्तव्यों के सम्बन्ध में नियम बना सकती है। लेकिन दूसरे प्रकार के कर्मचारियों की सेवाओं के लिए व्यवस्थापिका को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। व्यवस्थापिका को इनसे सम्बन्धित सभी व्यवस्थाएँ विभागाध्यक्ष पर छोड़ देनी चाहिए। यदि व्यवस्थापिका अधीनस्थ कर्मचारियों की संख्या, उनके कार्य, उनका वेतन, उनके भत्ता आदि को निश्चित करने का कार्य करने लगेगी तो प्रशासन में कठोरता आ जायेगी। यह भी सम्भव है कि जिन योजनाओं को व्यवस्थापिका ने पारित किया है उनके क्रियान्वयन में भी सन्देह उत्पन्न हो जायेगा। व्यवस्थापिका यह कर सकती है कि किसी इकाई के उच्च पदाधिकारी की संख्या निर्धारित करने के पश्चात् यह निर्णय करे कि भविष्य में अन्य कर्मचारियों की आवश्यकता पड़ने पर समयानुसार वह स्वयं उनकी संख्या निश्चित करेगी। लेकिन यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा अवसर आ सकता है कि किसी प्रशासकीय इकाई को शीघ्र ही अधीन कर्मचारियों की आवश्यकता पड़ जाए। यदि इस आशय का प्रस्ताव व्यवस्थापिका में रखा जाए तो उसे पारित होने में काफी समय लग जावेगा और प्रशासन को इस देरी के परिणामस्वरूप हानि हो सकती है।

इसके विपरीत यह तर्क दिया जाता है कि यदि व्यवस्थापिका सभी श्रेणी के कर्मचारियों की संख्या, काम तथा वेतन को निश्चित करने का अधिकार अपने पास रखे तो ऐसा निश्चय करने के पूर्व उसे कार्यपालिका से परामर्श ले लेना चाहिए।

यदि पदों की रचना व्यवस्थापिका के निर्णय के आधार पर होगी तो वे पद स्थायी समझे जायेंगे और उन पदों पर कार्य करने वाले कर्मचारी अपनी सेवा को सुरक्षित समझ कर लगन के साथ कार्य करेंगे।

लेकिन यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि व्यवस्थापिका को निदेशन देने वाले अधिकारियों तक ही अपना नियन्त्रण रखना चाहिए। वैसे व्यवस्थापिका को अधीनस्थ कर्मचारियों पर भी नियन्त्रण रखने का अधिकार प्राप्त है और वह अपने इस अधिकार का प्रयोग प्रशासकीय विभागों के धन की व्यवस्था करके करती है। प्रत्येक विभाग के लिए बजट उसके द्वारा पारित किया जाता है और जितना धन जिस विभाग के लिए स्वीकृत किया गया है उसी में उसे अपनी व्यवस्था चलानी होती है, अतः व्यवस्थापिका सभी विभागों के लिए आवश्यक धन की व्यवस्था करके अप्रत्यक्ष रूप से अधीन कर्मचारियों की संख्या, वेतन आदि को भी नियन्त्रित कर देती है। इसके अतिरिक्त सभी प्रकार के कर्मचारियों की सेवाओं से सम्बन्ध रखने वाले नियमों का निर्माण भी इसी के द्वारा किया जाता है। इससे भी प्रशासन पर नियन्त्रण रखा जाता है।

(4) **कार्य करने के नियमों का निर्धारण** (Determination of the Rules of Procedure).—व्यवस्थापिका अपनी योजनाओं को क्रियान्वित करने के लिए नियमों का निर्माण भी करती है। इन्हीं नियमों के अन्तर्गत सभी कार्यों को सम्पादित करना होता है। यहाँ हमें इस बात को ध्यान में रखना होगा कि नियमों में दो प्रकार के भेद करना आवश्यक है। एक तो वे नियम होते हैं जिनका सम्बन्ध प्रशासकीय विभाग के बाहर के लोगों से होता है, और दूसरे वे नियम हैं जिनका सम्बन्ध केवल विभाग के आन्तरिक प्रशासन से है। पहले प्रकार के नियमों की रचना तो व्यवस्थापिका के द्वारा होनी चाहिए और उनको व्यवस्थापिका द्वारा पारित नियमों एवं अधिनियमों (Acts and Statutes) में ही लिखित होना चाहिए। इस प्रकार के नियमों में टैक्स वसूल करने के नियम, मताधिकार के नियम, व्यापार चिह्न (Trade Mark) के नियम आदि हैं। इस प्रकार के नियमों का सम्बन्ध जनता के सदस्यों के जान, माल तथा उनके मौलिक अधिकारों से है। इन नियमों का कानून-बद्ध होना आवश्यक है, क्योंकि ये जनता के सामाजिक अधिकार तथा उनके व्यक्तिगत अधिकारों पर प्रभाव डालते हैं। प्रशासकीय कर्मचारी इन नियमों के अनुसार कार्य करते हैं तथा वे इन नियमों का किसी प्रकार से उल्लंघन नहीं कर सकते। दूसरे वे नियम हैं जिनका सम्बन्ध केवल विभाग के आन्तरिक संगठन से है। इस प्रकार के नियमों को निर्माण करने की शक्ति पूर्णतया व्यवस्थापिका के हाथों में नहीं छोड़नी चाहिए। इन नियमों का निर्माण विवेक एवं दूरदर्शिता की दृष्टि से कार्यपालिका एवं विभागाध्यक्ष के हाथों सौंप देना चाहिए। विभागीय प्रशासन को

सचालित करने के लिए किन नियमो की आवश्यकता है, इसे वे लोग ही अच्छी प्रकार से जान सकते है जिनका इन विभागो के प्रशासन से सम्बन्ध है। यह जानकारी व्यवस्थापिका सभा के सदस्यो मे प्राप्त नही हो सकती। उनके हस्तक्षेप से प्रशासन दुर्बल एव क्षीण ही बनेगा। अत व्यवस्थापिका को विभागो के सम्बन्ध मे अपना नियन्त्रण प्रतिवेदन तथा निदेशों के द्वारा ही रखना चाहिए।

कुछ विद्वान प्रशासकीय नियमो का निर्माण व्यवस्थापिका सभा के द्वारा होना उचित नही समझते। उनका मत है कि ये नियम बनाने का अधिकार विभागाध्यक्षों को दे देना चाहिए। परन्तु इस तर्क का विरोध इस आधार पर किया जाता है कि यदि विभागाध्यक्षों को इस प्रकार के नियमो को बनाने की छूट दे दी जाए एव व्यवस्थापिका का हस्तक्षेप नही रहे, तो लाल फीताशाही (Red Tapism) का बोलबाला हो जायेगा। विलोबी (Willoughby) ने इसलिए कहा है कि, "व्यवस्थापिका को ठीक प्रकार से प्रशासकीय विभागो पर नियन्त्रण रखना चाहिए। यह नियन्त्रण हिसाब-किताब की ठीक पद्धति, रिपोर्ट अकेक्षण इत्यादि के द्वारा होना चाहिए, न कि पहले से ही कार्य-पद्धति को निश्चित करके। भारत म दोनो प्रकार के नियमो को व्यवस्थापिका ही बनाती है।

(5) *धन की व्यवस्था करना (To Arrange for Money)*—आधुनिक युग मे प्रत्येक राज्य की व्यवस्थापिका सभा को ही धन पर नियन्त्रण रखने का अधिकार प्राप्त है। व्यवस्थापिका सभा ही शासन के वार्षिक बजट (आय-व्यय का ब्यौरा) को पास करती है। इस आय-व्यय के ब्यौरे मे यह धन प्राप्त करने के साधनों जैसे-आयकर (Income Tax), बिक्री कर (Sales Tax), उत्पादक शुल्क (Excise Duty आदि को निश्चित करती हैं तथा व्यय के मदो को निर्धारित करती है। व्यवस्थापिका सभा यह निश्चित करती है कि विभिन्न योजनाओं तथा कार्यों पर कितना-कितना धन खर्च किया जायगा। ऊपर यह बताया जा चुका है कि विभिन्न प्रशासकीय विभाग व्यवस्थापिका सभा द्वारा निर्धारित आय तथा व्यय के अनुसार ही कार्य करते है।

धन, नियन्त्रण की कुञ्जी है। प्रशासन पर नियन्त्रण रखने के लिए आय-व्यय को वश मे रखने वाली सस्था ही सर्वशक्तिशाली होती है। यही कारण है कि आधुनिक काल मे व्यवस्थापिका सभा की प्रतिष्ठा मे वृद्धि हुई है। प्रशासन का कोई भी कार्य चाहे वह आन्तरिक शान्ति तथा सुव्यवस्था या बाहरी सुरक्षा से सम्बन्धित हो अथवा शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरजन, व्यापारिक उन्नति, औद्योगीकरण आदि से सम्बन्ध रखता हो, बिना व्यवस्थापिका सभा के सहयोग के पूरा नही हो सकता। जब तक व्यवस्थापिका सभा इन कार्यों के लिए धन की स्वीकृति नहीं दे देती, ये कार्य अपूर्ण

रहेंगे। संसद (Parliament) के दो सदन होते हैं—(1) निम्न सदन, तथा (2) उच्च सदन। निम्न सदन जनता का प्रतिनिधि होता है अर्थात् जनता से चुने हुए सदस्य इसके सदस्य होते हैं। अतः प्रजातन्त्र में निम्न सदन की सत्ता सर्वोपरि होती है। यही कारण है कि भारत में लोक सभा तथा ब्रिटेन में कॉमन सभा बड़ी शक्तिशाली संस्थाएँ हैं।

आधुनिक युग में व्यवस्थापिका का मुख्य कार्य यही है कि वह राष्ट्रीय वित्त पर नियन्त्रण रखे। धन का संचय, धन का वितरण आदि प्रत्येक देश में व्यवस्थापिका सभा ही करती है। इस सम्बन्ध में इसके निम्नलिखित कार्य हैं—

(क) करों को लगाना, उन्हें बदलना तथा समाप्त करना।

(ख) ऋण लेना अथवा उनके भुगतान के लिए प्रबन्ध करना।

(ग) संचित या आकस्मिक निधि को सुरक्षित करना या समय पड़ने पर धन निकालने की व्यवस्था करना।

(घ) संचित कोष (Consolidated Funds) का प्रबन्ध करना तथा उसमें से किसी व्यय की राशि को निकालने की अनुमति देना।

(ङ) आय व्यय के लेखे-जोखे को देखना।

व्यवस्थापिका का निम्न सदन ही धन सम्बन्धी विधेयकों का प्रारम्भिक तथा अन्तिम रूप से स्वीकार करता है। लोक सभा को कर लगाने, उसमें वृद्धि करने, उसमें कमी करने तथा उसे रद्द करने का अधिकार प्राप्त है। इसकी अनुमति के बिना एक पैसा भी कार्यपालिका खर्च नहीं कर सकती। व्यवस्थापिका यह भी देखती है कि स्वीकृत धनराशि का दुरुपयोग तो नहीं हो रहा है। इस हेतु महालेखा परीक्षक (Comptroller and Auditor General) की नियुक्ति होती है जो अपनी रिपोर्ट लेखा समिति को देकर सरकार के अनुचित व्यय को दिखाता है जिसकी आलोचना व्यवस्थापिका सभा में होती है।

इस प्रकार राष्ट्रीय वित्त पर नियन्त्रण रखकर व्यवस्थापिका शासन की वास्तविक स्वामिनी बन जाती है।

(6) निरीक्षण एवं नियन्त्रण (Supervision and Control):—व्यवस्थापिका एक निरीक्षक संस्था के समान निरीक्षण तथा नियन्त्रण का कार्य भी करती है। व्यवस्थापिका सभा ही प्रशासकीय नीतियों की जन्मदात्री है, प्रशासकीय कर्मचारी तो केवल उन नीतियों का उपयोग करते हैं। जो उन्हें व्यवस्थापिका के द्वारा प्राप्त हैं। अतः व्यवस्थापिका एवं लोक-कर्मचारी के बीच वही सम्बन्ध है जो एक स्वामी एवं उसके कार्यवाहक के बीच पाया जाता है। किसी भी कार्यवाहक को शक्तियाँ प्रदान

करना ही काफी नहीं है, इसके अतिरिक्त इस बात की जाँच करना भी आवश्यक है कि उन शक्तियों का प्रयोग ठीक प्रकार से हो रहा है या नहीं। व्यवस्थापिका भी प्रशासकीय अधिकारियों को बहुत से प्रशासकीय अधिकार सौंप देती हैं। लेकिन उन पर नियन्त्रण रखना एवं उनके कार्यों के निरीक्षण का समुचित प्रबन्ध करती है। व्यवस्थापिका सभा प्रशासकीय अधिकारियों के कार्यों के लिए जनता के प्रति उत्तरदायी रहती है। अतः प्रशासन पर वह नियन्त्रण रखती है। प्रशासन को ठीक चलाने के लिए *यह नितान्त आवश्यक है कि व्यवस्थापिका सभा उन साधनों की व्यवस्था* करे, जिनके द्वारा उसका प्रशासकीय शाखा पर नियन्त्रण कायम हो तथा उसके कार्यों का निरीक्षण भी किया जा सके।

प्रशासन पर व्यवस्थापिका कैसे नियन्त्रण रखती है ?

प्रशासन पर व्यवस्थापिका विभिन्न साधनों से नियन्त्रण रखती है, जिनमें मुख्य साधन निम्न हैं—

(i) **प्रश्न काल**—संसद के सदस्यों को मन्त्रियों को उनके विभाग से सम्बन्धित प्रश्न पूछने का अधिकार होता है। सदस्य मन्त्रियों को उनके विभाग के प्रशासन तथा कर्मचारियों के कार्यों के बारे में प्रश्न पूछ कर प्रशासन को सचेत बनाए रखता है।

(ii) **पूरक प्रश्न**—यदि कोई सदस्य अपने मूल प्रश्न के उत्तर से सन्तुष्ट नहीं होता है तो वह मन्त्री से पूरक प्रश्न पूछ सकता है। प्रश्नों के उत्तर देना मन्त्रियों का कर्तव्य होता है।

(iii) **स्थगन प्रस्ताव**—यह प्रशासन पर व्यवस्थापिका के नियन्त्रण का महत्त्वपूर्ण साधन है। जब संसद का अधिवेशन चल रहा होता है उस समय यदि राष्ट्र में कोई महत्त्वपूर्ण घटना घट जाए तो संसद सदस्य स्थगन प्रस्ताव (Adjournment Motion) रखते हैं जिसके द्वारा यह माँग की जाती है कि सदन की कार्यवाही को रोक कर उस घटना पर पहले विचार किया जाए। प्रस्ताव स्वीकृत होने पर जब प्रस्ताव सदन में विचार-विमर्श के लिए रखा जाता है तब संसद के सदस्यों को प्रशासकीय गतिविधि तथा शासकीय नीतियों पर विचार करने का अवसर मिल जाता है।

(iv) **अविश्वास प्रस्ताव**—अविश्वास प्रस्तावों को भी प्रशासन पर व्यवस्थापिका के नियन्त्रण का प्रभावकारी तरीका माना जाता है। अविश्वास प्रस्ताव विरोधी दलों द्वारा रखा जाता है। यदि प्रस्ताव स्वीकृत हो जाता है तो विरोधी दल सरकार की नीतियों की कटु आलोचना करते हैं। इस आलोचना में प्रशासकीय नीतियों तथा कर्मचारियों के कार्यों पर भी प्रकाश डाला जा सकता है। इस प्रकार इन प्रस्तावों से सरकार की साख (credit) कम होती है। अतः अप्रत्यक्ष सरकार प्रशासन पर पूर्ण नियन्त्रण रखती है।

(v) अभिलेख (Record) —प्रत्येक विभाग को अपने विभागीय कार्यों का रिकार्ड रखना होता है। आवश्यकता पड़ने पर व्यवस्थापिका सभा उन अभिलेखों को देख सकती है।

(vi) दैनिक हिसाब-किताब (Daily Account) —प्रशासकीय विभाग को अपनी दैनिक आमदनी तथा खर्च का समुचित हिसाब रखना होता है। इस हिसाब-किताब को कैश-बुक (Cash Book) में समुचित ढंग से लिखना होता है। हिसाब की जाँच करने के लिए व्यवस्थापिका अपने अभिकर्त्ता को भेजती है जैसे व्यवस्थापिका की कोई समिति। अतः प्रत्येक विभाग को हिसाब को अच्छी प्रकार से रखना होता है।

(vii) लेखा परीक्षण (Audit) .—विभागों द्वारा रखे गये हिसाबों की जाँच वर्ष में एक बार लेखा परीक्षक के द्वारा की जाती है। लेखा परीक्षक अनियमित कार्यों की ओर प्रशासकीय अधिकारियों का ध्यान आकृष्ट करता है। यदि विभाग ने कोई बड़ी अनियमितता की हो तो लेखा परीक्षण रिपोर्ट पर अधिकारियों के विरुद्ध उचित कार्यवाही की जा सकती है।

(viii) प्रतिवेदन (Reports) .—प्रशासकीय अधिकारियों को अपने विभाग के सम्बन्ध में साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक, त्रैमासिक, अर्द्ध वार्षिक तथा वार्षिक प्रतिवेदन सरकार को देने होते हैं। इन प्रतिवेदनों के आधार पर यह पता लगाया जाता है कि प्रशासकीय विभाग नियमों के आधार पर कार्य कर रहा है अथवा नहीं। इसके अतिरिक्त जब मन्त्रियों को उनके सम्बन्धित विभाग के बारे में व्यवस्थापिका में प्रश्न पूछे जाते हैं तब वे उन प्रश्नों का उत्तर इन प्रतिवेदनों के आधार पर देते हैं। मन्त्री अपने विभाग की सूचनाएँ समय-समय पर व्यवस्थापिका को देते रहते हैं।

(ix) अन्वेषण समिति (Investigating Committee) :—व्यवस्थापिका सभा को यह अधिकार होता है कि वह किसी ऐसे मामले जो कि जनहित से सम्बन्धित हो, की छान-बीन करने के लिए समिति का गठन करे। समिति के प्रतिवेदन व्यवस्थापिका में प्रस्तुत किये जाते हैं तथा दोषी व्यक्तियों को दण्ड दिया जा सकता है। व्यवस्थापिका समिति का गठन अपने सदस्यों में से अथवा बाहर के व्यक्तियों से कर सकती है।

(x) स्थायी समितियाँ (Standing Committees) :—व्यवस्थापिका की कुछ स्थायी समितियाँ होती हैं जो सदैव ही कार्यपालिका के विभिन्न कार्यों का निरीक्षण करती रहती हैं। आधुनिक युग में इन समितियों का महत्त्व और भी बढ़ गया है, क्योंकि व्यवस्थापिका के पास कार्य की अधिकता के परिणामस्वरूप कार्यपालिका के कार्य-क्षेत्र में वृद्धि हुई। अतः व्यवस्थापिका इन समितियों के माध्यम से प्रशासन पर नियन्त्रण रखती है।

उपर्युक्त साधनो द्वारा व्यवस्थापिका सभा का प्रशासकीय शाखा पर नियन्त्रण रहता है। प्रजातन्त्र मे व्यवस्थापिका का लोक-प्रशासन पर नियन्त्रण शुभ माना जाता है। जनता द्वारा निर्वाचित व्यवस्थापको का प्रशासन पर एक सीमा तक नियन्त्रण प्रशासकीय शाखा को जनपरक बनाने के लिए भी आवश्यक माना गया है। इस प्रकार का नियन्त्रण संसदात्मक शासन प्रणाली मे स्पष्टत देखा जा सकता है। इसमे व्यवस्थापिका के सदस्यो को प्रशासकीय विषयो पर प्रश्न पूछने का अधिकार होता है और कार्यपालिका (मन्त्रिमण्डल) उन प्रश्नो का उत्तर देने के लिए बाध्य है। कभी-कभी प्रश्नो के पूछने के परिणामस्वरूप प्रशासकीय विभागो अथवा पदाधिकारियो के कार्यों की जाँच के लिए आयोग (Commission) की स्थापना हो जाती है।

अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली मे भी व्यवस्थापिका लोक-प्रशासन पर अपना नियन्त्रण रखती है। उदाहरणार्थ, सयुक्त राज्य अमेरिका की काग्रेस को यह अधिकार है कि वह स्थायी समितियो के द्वारा प्रशासकीय अधिकारियो को बुला कर उनसे उनके विभागो से सम्बन्धित प्रश्न पूछ सकती है तथा इस प्रकार उनके कार्यों की जाँच कर सकती है। काग्रेस के सदस्यो को प्रशासकीय विभागो की आलोचना करने का भी अधिकार है और कभी-कभी इस आलोचना का वांछित परिणाम भी निकल आता है। अमेरिका के जनरल मैकआर्थर, जो जापान मे अमरिका की ओर से नियुक्त सैनिक शासक थे, का उदाहरण हमारे समक्ष है। मैकआर्थर की सैनिक योजनाओं तथा राजनीतिक भाषणो से असन्तुष्ट होने के कारण अमेरिकी काग्रेस ने इन्हे पदच्युत करने की माँग की और वहाँ के तत्कालीन राष्ट्रपति ट्रूमैन (President Truman) को यह माँग स्वीकार करनी पडी और मैकआर्थर को पदच्युत किया गया।

प्रशासकीय शाखा पर व्यवस्थापिका का नियन्त्रण रहना प्रजातन्त्र के हित मे है। शासन का प्रतिनिधि अंग होने के नाते उसका नियन्त्रण अप्रत्यक्ष रूप से जनता का ही नियन्त्रण है। लेकिन यह सम्भव हो सकता है कि जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि प्रशासकीय कला मे प्रवीण न हो, क्योकि ये प्रतिनिधि अपने शौक के लिए शासन की कार्यवाही मे भाग लेते हैं न कि एक प्रशासक की भाँति। अत. उनके निदशन मे कमी रह सकती है। एक अच्छा प्रशासक इन कमियो को अपनी योग्यता द्वारा पूरा कर सकता है और व्यवस्थापिका सभा के निदशो की उचित व्याख्या करके लोक-प्रशासन को सुचारु रूप से चलाता है।

व्यवस्थापिका सभा को प्रशासन पर नियन्त्रण रखने का अधिकार देना बिल्कुल उचित है। लेकिन यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यह नियन्त्रण सीमित हो अथवा असीमित। इस प्रश्न का सन्तोषजनक उत्तर प्रस्तुत करना कठिन कार्य है। इस सम्बन्ध मे दो दृष्टिकोण हैं—एक यह कि व्यवस्थापिका को निदेशक मण्डल

की हैसियत से कार्यपालिका पर पूर्ण रूप से नियन्त्रण रखना चाहिए। जैसा कि पीछे कहा गया है कि व्यवस्थापिका सभा प्रशासकीय सत्ता के स्रोत है। अत: वह यह निश्चित करती है कि सरकार क्या करेगी और क्या नहीं करेगी। इसके साथ वह यह भी निश्चित करे कि लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए किन-किन अभिकरणों की आवश्यकता होगी। इसके अतिरिक्त व्यवस्थापिका को यह भी देखना होता है कि ये अभिकरण अपने दायित्वों को ठीक प्रकार से निभा रहे हैं या नहीं। इस सम्बन्ध में दूसरा दृष्टिकोण यह है कि व्यवस्थापिका को अपने कार्य नीति-निर्धारित करने तक ही सीमित रखने चाहिए और प्रशासन के सम्बन्ध में कम-से-कम हस्तक्षेप करना चाहिए। यदि व्यवस्थापिका अपने उत्तरदायित्वों को पूरा करने के लिए प्रशासन में लगातार हस्तक्षेप करे तो प्रशासकीय संगठन में कठोरता आ जायेगी, जिससे उसमें कार्यकुशलता का भी अभाव हो जायगा और कार्यों का पूरा करना कठिन हो जायेगा। जिस उद्देश्य से प्रशासकीय शाखा का निर्माण किया गया है, वह उद्देश्य पूर्ण नहीं हो सकेगा। अत: दोनों दृष्टिकोणों के बीच समन्वय स्थापित किया जाना चाहिए। न तो व्यवस्थापिका सभा को प्रशासकीय क्रियाओं को करने के सम्बन्ध में विस्तृत ब्यौरे तैयार करने चाहिए और न ही प्रशासन को लम्बी छूट दी जानी चाहिए। वास्तविकता इसमें है कि व्यवस्थापिका सभा को केवल सामान्य नीति को ही निर्धारित करना चाहिए तथा उसके साथ ही यह नियम बना देने चाहिए कि प्रशासकीय अधिकारी अपने कार्यों का पूर्ण रिकार्ड रखेंगे और उसकी सूचना नियमित रूप से मुख्य कार्यपालिका के द्वारा उसके सम्मुख रखी जाया करेगी।

अत: व्यवस्थापिका सभा को प्रशासकीय शाखा पर नियन्त्रण के असीमित अधिकार न देकर केवल उतने ही अधिकार दिये जाने चाहिए जितने वह जन-हित की रक्षा कर सके तथा प्रशासन का कार्य सुचारु रूप से चलता रह सके।

भारत में प्रशासन पर संसदीय नियन्त्रण
(Parliamentary Control over Administration in India)

जैसा कि पहले कहा गया है कि लोक प्रशासन को उत्तरदायी बनाये रखने के लिए यह अति आवश्यक है कि उस पर व्यवस्थापिका के उचित नियन्त्रण की व्यवस्था की जाए। व्यवस्थापिका का नियन्त्रण लोक-प्रशासन को प्रजातन्त्रात्मक बनाये रखेगा। प्रजातान्त्रिक देशों में व्यवस्थापिका के कार्य इतने बढ़ गये हैं कि वह केवल प्रशासकीय नीतियाँ ही निर्धारित करती है और कार्यपालिका को यह अधिकार दे देती है कि वह इस सम्बन्ध में आगे कार्य करे। फिर भी वित्त के द्वारा प्रशासन को निदेशित तथा नियन्त्रित करने का कार्य व्यवस्थापिका के पास रहता है। इस सम्बन्ध में विलोबी (Willoughby) का कथन बहुत उचित लगता है कि, "लोक-प्रशासन का संचालन, पर्यवेक्षण तथा नियन्त्रण करना इसका सामान्य अधिकार है,

जिसका तात्पर्य यह है कि हाथ में लिये जाने वाले कार्य के स्वरूप के तथा ऐसे कार्य को सम्पन्न करने में प्रयोग किये जाने वाले साधनों के स्वरूप के सम्बन्ध में निर्णय करना, उसे सम्पादित करने के लिए आवश्यक निर्देश देना, और इसके बाद जिन लोगों को वह कार्य सौंप दिया जाता है उनके ऊपर ऐसे पर्यवेक्षण और नियन्त्रण रखना जिससे कार्य समुचित रूप से तथा कुशलता के साथ सम्पन्न हो सके।"[1]

अन्य व्यवस्थापिकाओं के समान, भारतीय संसद (Indian Parliament) भी तीन मुख्य कार्यों को सम्पन्न करती है, कानून बनाना, वित्त की व्यवस्था करना तथा प्रशासन का पर्यवेक्षण करना। भारत में संसद मन्त्रिमण्डल के माध्यम से प्रशासन पर नियन्त्रण रखती है। प्रत्येक मंत्री अपने विभाग के कार्यों के लिए संसद के प्रति उत्तरदायी होता है। भारत में संसद प्रशासन पर नियन्त्रण कुछ साधनों के माध्यम से करती है। ये साधन निम्न हैं—

(1) संसद के सदस्य मंत्रियों से उनके विभाग के कार्य संचालन के सम्बन्ध में प्रश्न पूछ सकते हैं।

(2) संसद सदस्य मंत्रियों से उनके विभाग के कार्य संचालन के सम्बन्ध में पूरक प्रश्न (Supplementary Questions) पूछ सकते हैं।

(3) संसद सदस्य किसी भी विभाग की कार्य-प्रणाली के सम्बन्ध में सम्बन्धित मंत्री से प्रश्न तथा पूरक प्रश्न पूछ सकते हैं।

(4) सार्वजनिक महत्त्व के मामलों पर स्थगन प्रस्ताव (Adjournment Motion) एक ऐसा अवसर है जिसमें संसद सदस्य किसी भी विभाग के संगठन, कार्य-प्रणाली तथा क्रिया-कलापों के बारे में विचार किया जा सकता है।

(5) आवश्यक सार्वजनिक महत्त्व के मामलों पर अल्पकालीन वाद-विवाद किया जा सकता है तथा मंत्रियों का ध्यान उस ओर आकृष्ट किया जा सकता है। वाद-विवाद के दौरान प्रशासनिक व्यवस्था पर भी विचार किया जाता है जिससे प्रशासन नियन्त्रित रहता है।

(6) मंत्रियों की नीतियों, उनके प्रशासन, विधि-निर्माण आदि पर असन्तुष्ट संसद सदस्य अविश्वास का प्रस्ताव (No Confidence Motion) प्रस्तुत कर सकते हैं। अविश्वास के प्रस्ताव पर विचार करते समय असन्तुष्ट सदस्य (अधिकांशतः विरोधी

---

1 "Reaching decisions regarding the character of work to be undertaken and the means to be employed in performing such work, giving the necessary direction for its performance, and subsequently exercising such supervision and control over the persons to whom the work is entrusted as will ensure that it is being properly and efficiently done."

हस्तान्तरण कुशल प्रशासन के लिए आवश्यक है। भारत में इसके महत्त्व को अभी तक पूर्ण रूप में समझा नहीं गया है। फिर भी नौकरशाही की अनियन्त्रित बुराइयों पर रोक लगाने के लिए संसदीय नियन्त्रण आवश्यक है।

परीक्षोपयोगी प्रश्न

1. लोक-प्रशासन पर संसदीय नियन्त्रण क्यों आवश्यक है ?
   Why Parliamentary Control over Public Administration is essential ?
2. क्या आधुनिक राज्य के प्रशासन में व्यवस्थापिका को संचालक मण्डल कह सकते हैं ? व्याख्या कीजिये।
   Can legislature be called as Board of Directors in the administration of a modern state ? Elucidate.
3. संसद प्रशासन पर किन-किन तरीकों से नियन्त्रण रखती है—व्याख्या कीजिए।
   Explain the ways and means through which Parliament Controls the administration.
4. भारत में प्रशासन पर संसदीय नियन्त्रण की व्याख्या कीजिए।
   Explain the Parliamentary Control over administration in India.

4

लोक-प्रशासन तथा कार्यपालिका

(PUBLIC-ADMINISTRATION AND EXECUTIVE)

सरकार का दूसरा महत्वपूर्ण अंग कार्यपालिका है। कार्यपालिका शब्द का प्रयोग उन सब अधिकारियों का उल्लेख करने के लिए किया जाता है, जिनका कार्य कानूनों को क्रियान्वित करना है। कार्यपालिका वह धुरी है जिसके चारों ओर राज्य का वास्तविक प्रशासन-यन्त्र घूमता है। व्यापक दृष्टि से कार्यपालिका के अन्तर्गत, प्रशासन में नियुक्त समस्त अधिकारी वर्ग समाविष्ट है। कुछ विद्वानों के अनुसार कार्यपालिका को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है, जैसे—(i) मुख्य कार्यपालिका या कार्यपालिका का प्रधान (Chief Executive), (ii) मंत्रिपरिषद् अथवा विभागीय अध्यक्षों की परिषद्, और (iii) प्रशासकीय शाखा। कुछ अन्य विद्वान कार्यपालिका को एक ऐसी सर्वोच्च सत्ता प्राप्त अंग अथवा परिषद् मानते हैं जिसका कार्य अधीनस्थ कर्मचारियों की नियुक्ति, उनके कार्यों का निरीक्षण तथा नियन्त्रण (Supervision and Control) करना होता है। किन्तु आज कार्यपालिका शब्द को उसके संकुचित अर्थ में प्रयोग करने की प्रथा है जो राज्य के मुख्य कार्यपालिका नेता और उसके परामर्शदाताओं तथा मन्त्रियों का ही केवल संकेत करता है। उदाहरण के लिए ग्रेट-ब्रिटेन के कार्यपालिका से हमारा आशय रानी अथवा राजा और उसके मन्त्रियों से है। भारत में, यह गणतन्त्र के प्रधान मन्त्री एवं उसके सब मंत्रियों से है। संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रपति तथा उसके सचिवों से कार्यपालिका का निर्माण होता है। कार्यपालिका का मुख्य कर्तव्य यह देखना है कि कानूनों को समुचित ढंग से लागू किया जाता है या नहीं। जो लोग कानूनों तथा नीतियों को लागू करते हैं, उन्हें प्रशासकीय कर्मचारी कहा जाता है।

प्रजातान्त्रिक युग में व्यवस्थापिका को कार्यपालिका की अपेक्षा बहुत अधिक महत्व दिया जाता है। इसका मुख्य कारण यह है कि शासन का वह अंग जो कानूनों का निर्माण करता है तथा जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है, उस अंग की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होता है जो उसके द्वारा बनाये गये नियमों या कानूनों को लागू करता है। परन्तु इसका अर्थ कदापि यह नहीं कि आज के प्रजातान्त्रिक युग में कार्यपालिका का कोई महत्व नहीं है। वास्तव में देखा जाए तो प्रशासन का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व कार्यपालिका का ही होता है। कार्यपालिका की योग्यता एवं कुशलता ही देश को उन्नति की ओर ले जाती है। देश का नेतृत्व वास्तव में कार्यपालिका के ही हाथों में रहता है। एक प्रकार से वास्तविक शक्ति तथा प्रभुता की अधिकारिणी

कार्यपालिका ही होती हैं। अब यह कहा जाता है कि "कार्यपालिका व्यवस्थापिका रूपी ताले की चाबी होती है।" आज कार्यपालिका के कार्यों में काफी वृद्धि हो गई है। उसे अपने से सम्बन्धित कार्यों के अतिरिक्त व्यवस्थापिका से सम्बद्ध कार्य भी निष्पादन करने पड़ते हैं। ससदात्मक शासन-व्यवस्था में कार्यपालिका न केवल राज्य की इच्छा को लागू करने का ही कार्य करती है, अपितु व्यवस्थापिका सभा को राज्य की लोकेच्छा निर्धारित करने में सहायता तथा सलाह देती है।

कार्यपालिका के भेद
(Kinds of Executives)

कार्यपालिका के अर्थ को समझ लेने के पश्चात् उसके विभिन्न भेदों की व्याख्या करना यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है। कार्यपालिका के मुख्य भेद निम्न हैं:—

4. यथार्थ तथा नाममात्र की कार्यपालिका (Nominal and Real Executive) जहाँ ससदात्मक शासन-व्यवस्था पाई जाती है वहाँ यथार्थ तथा नाममात्र की कार्यपालिका में स्पष्ट भेद किया जा सकता है। इस प्रकार की व्यवस्था वाले देशों में कानून के अनुसार समस्त कार्यपालिका शक्तियाँ औपचारिक या नाममात्र की कार्यपालिका में —चाहे वह राष्ट्रपति (President) हो या राजा (King) निहित की जाती है। किन्तु व्यवहार में इन शक्तियों का प्रयोग मन्त्रिमण्डल के द्वारा होता है। इस बात को अधिक स्पष्ट करने के लिए भारत का उदाहरण दिया जा सकता है, जहाँ ससदीय शासन-व्यवस्था अपनाई गई है। यहाँ कानून या सविधान के अनुसार कार्यपालिका शक्तियाँ (Executive Powers) राष्ट्रपति में केन्द्रित हैं किन्तु वास्तव में इन शक्तियों का प्रयोग मन्त्रिमण्डल के द्वारा होता है। अत. यह कहा जा सकता है कि भारत में राष्ट्रपति नाममात्र की या औपचारिक कार्यपालिका है जबकि यथार्थ कार्यपालिका मन्त्रिपरिषद है।

ससदीय शासन-व्यवस्था (Parliamentary Form of Govt.) में कार्यपालिका ससद में से निर्मित की जाती है तथा वह उसके प्रति उत्तरदायी होने के साथ-साथ ससद के विश्वास तक अपने पद पर बनी रहती है। इतने पर भी कार्यपालिका (मन्त्रिमण्डल) बहुमत दल का प्रतिनिधित्व तथा नेतृत्व करने के कारण उसके द्वारा प्रस्तुत सभी विधेयक (Bills) ससद में पारित हो जाते हैं। इगलैण्ड की शासन व्यवस्था ससदीय शासन व्यवस्था का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। वहाँ पर भी सैद्धान्तिक रूप से शासन की कार्यपालिका शक्ति राजा (King) में निहित है, लेकिन व्यावहारिक रूप से इन शक्तियों का प्रयोग मन्त्रिमण्डल के द्वारा किया जाता है। यद्यपि इगलैण्ड में ससदीय सर्वोच्चता (Parliamentory) Supremacy) है—जिसका अर्थ है, ससद ऐसा कोई कार्य नहीं करे जिसको वह नहीं कर सकती है। वह किसी भी कानून को बना सकती है, किसी भी कानून में परिवर्तन कर सकती है तथा किसी भी कानून को रद्द कर सकती है। उसके द्वारा किये गये किसी कार्य को रद्द या निरस्त करने का अधिकार किसी के पास नहीं है। डी' लोम (De Lome) ने

इंगलैण्ड की संसद की सर्वोच्चता के बारे में कहा है कि संसद स्त्री को पुरुष तथा पुरुष को स्त्री बनाने के अतिरिक्त सभी कार्य कर सकती है। लेकिन वस्तुतः संसद की सभी शक्तियों का उपभोग मन्त्रिमण्डल (Cabinet) करती है। उसी के दल का बहुमत होता है और इसी आधार पर वह सभी कार्यों को संसद से करवा लेती है। अतः संसदीय व्यवस्था में देश का अध्यक्ष नाममात्र का अध्यक्ष (Nominal Head) होता है, जबकि कार्यपालिका वास्तविक कार्यपालिका अध्यक्ष (Real Executive Head) होती है।

जहाँ अध्यक्षात्मक शासन पद्धति (Presidential form of Government) अपनाई गई है वहाँ स्थिति भिन्न है। वहाँ नाममात्र की कार्यपालिका के लिए कोई स्थान नहीं है। वहाँ राष्ट्रपति के पास सभी कार्यपालिका सम्बन्धी अधिकार होते हैं तथा वह किसी के परामर्श से कार्य करने के लिए बाध्य नहीं है। कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था में भी एक सलाहकार समिति की व्यवस्था की गई है। किन्तु इस समिति के सदस्यों को वह स्थान प्राप्त नहीं है जो संसदीय व्यवस्था वाले देशों में मन्त्रिमण्डल के सदस्यों का होता है। वे तो केवल राष्ट्रपति के व्यक्तिगत सलाहकार होते हैं और वे तभी तक कार्य कर सकते हैं जब तक उन्हें राष्ट्रपति का विश्वास प्राप्त रहे। सं० रा० अमेरिका अध्यक्षात्मक व्यवस्था का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। इस व्यवस्था में कार्यपालिका व्यवस्थापिका (Legislature) के प्रति उत्तरदायी नहीं होती, न ही व्यवस्थापिका कार्यपालिका (President) को अविश्वास के प्रस्ताव द्वारा हटा सकती है। उसका मन्त्रिमण्डल उसकी सलाहकार समिति से अधिक नहीं होता। अतः यह कहा जा सकता है कि संसदात्मक शासन में वास्तविक कार्यपालिका मन्त्रिमण्डल होता है तथा अध्यक्षात्मक शासन में राष्ट्रपति।

2 **एकल तथा बहुल कार्यपालिका** (Single and Plural Executive):— एकल कार्यपालिका से हमारा अर्थ यह होता है कि जहाँ कार्यपालिका शक्तियों का निवास एक व्यक्ति में होता है। इसका सुन्दर उदाहरण संयुक्त राज्य अमेरिका है। वहाँ राष्ट्रपति के हाथों में समस्त कार्यपालिका सम्बन्धी अधिकार केन्द्रित हैं। सभी मन्त्रियों या सलाहकारों का उसकी आज्ञानुसार ही शासन का कार्य करना होता है। इसके विपरीत स्विट्जरलैण्ड तथा रूस में बहुल कार्यपालिका को स्थान दिया गया है। स्विट्जरलैण्ड में संघीय कार्यपालिका सत्ता, सात व्यक्तियों की संघीय परिषद् में निवास करती है। उक्त संघीय परिषद् को संघीय संसद चार वर्षों के लिए निर्वाचित करती है। उक्त परिषद् का एक सदस्य प्रतिवर्ष उस परिषद् का चेयरमैन निर्वाचित होता है, जिसे संघ का राष्ट्रपति (President) कहा जाता है। राष्ट्रपति का पद संघीय परिषद् के सदस्यों को बारी-बारी से प्राप्त होता रहता है। स्विस राष्ट्रपति कार्यपालिका का प्रधान नहीं है, यद्यपि उसके पद का पर्याप्त महत्त्व है और वह संघीय परिषद् के अन्य सदस्यों से कुछ उच्चतर स्थिति का उपभोग अवश्य करता

है। वह प्रधान प्रशासक भी नहीं है। उसे अपने सहयोगियों की अपेक्षा अधिक अधिकार प्राप्त नहीं हैं, न वह कार्यपालिका सम्बन्धी निर्णयों के लिए अपने सहयोगियों की अपेक्षा अधिक उत्तरदायी ही है। संघीय परिषद् समस्त निर्णय एक इकाई के रूप में करती है। उसको संघीय परिषद् का प्रधान होने के नाते कोई विशेष अधिकार प्राप्त नहीं है। जो कुछ अधिकार शक्ति उसको प्राप्त है वह संघीय परिषद का सदस्य होने या एक शासन विभाग का अध्यक्ष होने के कारण है।

यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि स्वीट्जरलैण्ड की कार्यपालिका में संसदीय तथा अध्यक्षात्मक शासन प्रणालियों का मिश्रण पाया जाता है। संसदीय व्यवस्था का गुण है उत्तरदायित्व, तथा अध्यक्षात्मक व्यवस्था का गुण है स्थायित्व। ये दोनों ही गुण स्वीट्जरलैण्ड की कार्यपालिका में पाये जाते हैं। स्वीट्जरलैण्ड में संघीय परिषद् के सदस्य (कार्यपालिका) व्यवस्थापिका के सदस्य न होते हुए भी उसके प्रति उत्तरदायी होते हैं। वे व्यवस्थापिका की कार्यवाही में भाग लेते हैं तथा प्रश्नों का उत्तर देते हैं। दूसरी ओर उसकी अवधि निश्चित होती है। व्यवस्थापिका कार्यपालिका को नहीं हटा सकती। यहाँ तक कि जब व्यवस्थापिका कार्यपालिका की किसी नीति को अस्वीकृत कर देती है तो भी कार्यपालिका के सदस्यों के लिए अपना पद त्यागना आवश्यक नहीं है और न ही व्यवस्थापिका उसे ऐसा करने के लिए बाध्य करती है। वह केवल नीति में व्यवस्थापिका की इच्छानुसार परिवर्तन कर लेती है।

यहाँ हम विद्यार्थियों की अध्ययन की सुविधा के लिए बहुल कार्यपालिका (Plural or Collegial Executive) की विलक्षणताओं का वर्णन कर रहे हैं जो निम्न है—

(i) कार्यपालिका के सदस्य विधानमण्डल की कार्यवाही में भाग लेते हैं परन्तु उन्हें मतदान का अधिकार नहीं होता।

(ii) कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति पूर्ण रूप से उत्तरदायी है।

(iii) व्यवस्थापिका इसे अविश्वास प्रस्ताव के द्वारा हटा नहीं सकती।

(iv) स्विस कार्यपालिका में संसदीय व अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था के गुण तो पाये जाते हैं, परन्तु दोष दोनों के ही इसमें नहीं है।

(v) सभी सदस्य समान होते हैं और सभी मिलकर कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग करते हैं।

(vi) स्विस कार्यपालिका में संयुक्त उत्तरदायित्व (Joint Reponsibility) नहीं होती।

(vii) स्वीस कार्यपालिका बहुमत के आधार पर नहीं बनती। इसमें विभिन्न राजनैतिक दलों के योग्य व्यक्तियों को लिया जाता है। अत इसमें राजनैतिक सजातीयता (Political Homognity) नहीं होती।

(viii) कार्यपालिका का अध्यक्ष केवल एक वर्ष के लिए निर्वाचित होता है। सारे सदस्य बारी-बारी से अध्यक्ष बनते हैं।

इस प्रकार स्विस् कार्यपालिका अनुपम कार्यपालिका है। इसके सभी सातों सदस्य मिलकर कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग करते हैं, अतः इसे बहुल कार्यपालिका कहा जाता है।

स्विट्जरलैण्ड से ही मिलती-जुलती कार्यपालिका सोवियत रूस (U.S.S.R.) में पाई जाती है। स्विट्जरलैण्ड की भाँति रूस में कार्यपालिका शक्तियों का निवास एक बहुल संस्था प्रेसीडियम (Presidium) में होता है। इसमें 33 सदस्य होते हैं जिनका चुनाव चार वर्ष के लिए सर्वोच्च सोवियत के दोनों सदन अपनी सम्मिलित बैठक में करते हैं। प्रेसीडियम का अध्यक्ष सोवियत संघ का भी अध्यक्ष कहलाता है और इसके कारण ही उसे कुछ औपचारिक अधिकार प्राप्त होते हैं। प्रेसीडियम को कार्यपालिका सम्बन्धी बहुत से अधिकार प्राप्त हैं जैसे संघीय मन्त्रिमण्डल के अध्यक्ष की सिफारिश पर अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति करना, उन्हें पदच्युत करना, उपाधियाँ पदक तथा राज-चिन्ह देना, क्षमा प्रदान करना, सशस्त्र सेनाओं के उच्चतम पदाधिकारियों को नियुक्त तथा पदच्युत करना, अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों को स्वीकृति देना, आदि मुख्य हैं। स्टालिन तो प्रेसीडियम को सामूहिक राष्ट्रपति कहा करता था।

प्रेसीडियम के अतिरिक्त सोवियत रूस में एक और कार्यपालिका संस्था पाई जाती है, जिसे मन्त्रिपरिषद् कहते हैं। इसके सदस्यों का निर्वाचन चार वर्ष के लिए सर्वोच्च सोवियत अपनी संयुक्त बैठक में करती है। मन्त्रि परिषद् के सदस्य अपने कार्यों के लिए सर्वोच्च सोवियत के प्रति उत्तरदायी होते हैं। इस प्रकार सोवियत रूस में भी बहुल कार्यपालिका कार्य करती है।

3. संसदीय तथा अध्यक्षात्मक कार्यपालिका (Parliamentary and Presidential Executive) : संसदात्मक पद्धति सरकार की वह व्यवस्था है जिसमें देश की कार्यपालिका विधान मण्डल के सदस्यों में से निर्वाचित होती है तथा उसके प्रति उत्तरदायी होती है। इस व्यवस्था में कार्यपालिका एक दृष्टि से व्यवस्थापिका की एक समिति मात्र है जिसका कार्य व्यवस्थापिका की देख-रेख में शासन का संचालन करना है। कार्यपालिका की समस्त शक्तियाँ यथार्थ रूप में किसी एक में न रह कर एक समिति में रहती हैं जिसे मन्त्रि-मण्डल कहा जाता है। इसलिए इस व्यवस्था को मन्त्रिमण्डलात्मक शासन-व्यवस्था भी कहते हैं।

इस प्रणाली में राज्य का अध्यक्ष नाम-मात्र का शासक होता है। वैसे तो कार्यपालिका सम्बन्धी सभी अधिकार उसमें निहित होते हैं तथा देश के समस्त कार्य उसके नाम से किये जाते हैं; परन्तु वास्तविकता इस बात में है कि राज्य का अध्यक्ष कार्यपालिका शक्तियों का प्रयोग मन्त्रिमण्डल की सलाह से ही करता है। मन्त्रिमण्डल के समस्त सदस्य संयुक्त रूप से अपना कार्य करते हैं तथा व्यवस्थापिका के प्रति उनका संयुक्त उत्तरदायित्व होता है। इस कारण इसको उत्तरदायी शासन भी कहते हैं।

इसके विपरीत अध्यक्षात्मक शासन-व्यवस्था में कार्यपालिका व्यवस्थापिका से बिल्कुल अलग रहती है। अर्थात् कार्यपालिका व्यवस्थापिका की सदस्य नहीं होती और

न ही व्यवस्थापिका का उस पर नियन्त्रण होता है और न ही कार्यपालिका उसके प्रति उत्तरदायी होती है। अध्यक्षात्मक पद्धति मे सरकार के तीनो अंग शक्ति-पृथक्करण (Separation of Powers) तथा अनुरोध एवं सन्तुलन के सिद्धान्त (System of Checks and Balances) पर कार्य करते है।

इन दोनो प्रकार की शासन व्यवस्थाओ मे कुछ अन्तर पाये जाते हैं जो निम्न हैं—

(क) संसदीय शासन प्रणाली मे नाम मात्र की तथा वास्तविक—दोनो प्रकार की कार्यपालिकाएँ होती है, जबकि अध्यक्षात्मक कार्यपालिका मे ऐसा कोई विभाजन नही होता है।

(ख) संसदीय प्रणाली मे कार्यपालिका शक्तियो का निवास मन्त्रिमण्डल मे होता है, जबकि अध्यक्षात्मक व्यवस्था मे मन्त्रिमण्डल का कोई महत्त्व नही होता तथा कार्यपालिका शक्तियाँ राष्ट्रपति के पास होती है।

(ग) संसदीय व्यवस्था मे कार्यपालिका के सदस्य व्यवस्थापिका मे से चुने जाते है जब कि अध्यक्षात्मक व्यवस्था मे मन्त्रियों का चुनाव व्यवस्थापिका के बाहर से किया जाता है।

(घ) संसदीय व्यवस्था में कार्यपालिका सदस्य व्यवस्थापिका की कार्यवाही मे भाग लेते है परन्तु इसके विपरीत अध्यक्षात्मक व्यवस्था मे राष्ट्रपति तथा उसके सलाहकार (मंत्री) व्यवस्थापिका के अधिवेशन में भाग नही लेते।

(ङ) संसदीय व्यवस्था मे मन्त्रिमण्डल का सामूहिक उत्तरदायित्व होता है जबकि अध्यक्षात्मक व्यवस्था में ऐसी कोई बात नही होती।

(च) संसदीय व्यवस्था मे मंत्रिमण्डल के सदस्य व्यवस्थापिका में विधेयक प्रस्तुत करते हैं तथा उन्हे पास करवाते है। अध्यक्षात्मक व्यवस्था मे मन्त्रिमण्डल के सदस्य व्यवस्थापिका की कार्यवाहियो मे भाग नही लेते, अतः विधेयक प्रस्तुत करने तथा उसे पारित कराना उनका कार्य नही होता।

(छ) संसदीय व्यवस्था मे व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका में सहयोग का वातावरण रहता है, जबकि अध्यक्षात्मक व्यवस्था मे इन दोनो संस्थाओ के संगठन का आधार अविश्वास होता है। उनका आधार रोक तथा सन्तुलन पर आधारित होता है।

(ज) संसदात्मक पद्धति में व्यवस्थापिका को अपनी निश्चित अवधि के पूर्व भी भंग करने का अधिकार कार्यपालिका के पास है। अध्यक्षात्मक व्यवस्था में यह अधिकार कार्यपालिका के पास नही है।

(झ) संसदीय व्यवस्था में संसद (व्यवस्थापिका) कार्यपालिका के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पारित कर उसे अपने पद से हटा सकती है, जबकि अध्यक्षात्मक व्यवस्था मे इस प्रकार की व्यवस्था नही है।

(न) संसदात्मक व्यवस्था में शासन शक्ति एक व्यक्ति में निहित नहीं होती है, अतः कार्य में विलम्ब हो जाता है, इसके विपरीत अध्यक्षात्मक व्यवस्था में एक हाथ में शक्ति होने से कार्य में देरी नहीं होती।

उपर्युक्त दोनों प्रकार की व्यवस्था में कार्यपालिका के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि संसदीय कार्यपालिका अध्यक्षीय कार्यपालिका से कहीं अच्छी है। अध्यक्षात्मक पद्धति में कई कठिनाइयों का अनुभव होने लगा है। स० रा० अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति स्वर्गीय विल्सन (Wilson) का विचार था कि अध्यक्षात्मक पद्धति में संसदीय पद्धति के आधार पर कुछ संशोधन होना आवश्यक है। संसदात्मक प्रणाली अधिक लोकप्रिय होने के साथ-साथ सरल तथा श्रेष्ठतर है।

प्रश्न में यह बता देना आवश्यक है कि कार्यपालिका का संगठन चाहे जिस प्रणाली के आधार पर किया जाए, किन्तु कार्यपालिका की एकता के सिद्धान्त को स्वीकार किये बिना प्रशासन सुचारु रूप से नहीं चल सकता। अध्यक्षात्मक व्यवस्था में कार्यपालिका शक्तियाँ एक ही व्यक्ति में निहित होती हैं, अतः कार्यपालिका की एकता का प्रश्न नहीं उठता। किन्तु जहाँ संसदात्मक या बहुल कार्यपालिका कार्य करती है वहाँ कार्यपालिका की एकता के सिद्धान्त को अपनाना आवश्यक है।

कार्यपालिका की प्रशासकीय शक्तियों के स्रोत

(Sources of Administrative Powers of the Executive)

मुख्य कार्यपालिका ही प्रशासन का संचालन करती है। उसे प्रशासन पर नियन्त्रण करने का अधिकार विभिन्न स्रोतों द्वारा प्राप्त होता है। उसको सत्ता प्राप्त करने के मुख्य तीन स्रोत हैं —(1) संविधान, (2) व्यवस्थापिका, तथा (3) बजट। यहाँ हम तीनों स्रोतों का अध्ययन करेंगे।

1 संविधान (Constitution):—प्रत्येक राज्य का एक संविधान होता है। जो अधिकार कार्यपालिका को संविधान से प्राप्त होते हैं, उनका उल्लेख संविधान में होता है। संविधान में कार्यपालिका के प्रशासकीय अधिकारों का भी वर्णन होता है। मुख्य-मुख्य प्रशासकीय अधिकारियों की नियुक्ति तथा उनके कार्य-क्षेत्र आदि का भी उसमें उल्लेख होता है। लेकिन कार्यपालिका को पर्याप्त मात्रा में प्रशासकीय शक्तियाँ संविधान से प्राप्त नहीं होतीं। उसे यह शक्ति व्यवस्थापिका सभा द्वारा पारित कानूनों से प्राप्त होती है। संविधान में मोटे-मोटे सिद्धान्त एवं उनकी रूपरेखा ही होती है। संविधान में कार्यपालिका की शक्तियों का पूर्ण तथा पर्याप्त विवरण नहीं मिलता, जैसा कि 'विलोबी का मत है—"संविधान के अनुसार संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रपति को कोई भी प्रशासकीय शक्ति प्राप्त नहीं है। इस प्रकार शुद्ध संवैधानिक दृष्टिकोण से वह प्रशासन का अध्यक्ष नहीं है।" कहने का अर्थ यह है कि कार्यपालिका को संविधान से कुछ शक्तियाँ प्राप्त होती हैं तथा अन्य शक्तियाँ उसे दूसरे स्रोत द्वारा।

2 **व्यवस्थापिका (Legislature)** —जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि कार्यपालिका को अपनी समस्त शक्तियाँ संविधान के द्वारा प्राप्त नही होती हैं। उसे जो शक्तियाँ प्राप्त होती है उनका स्रोत व्यवस्थापिका सभा है। व्यवस्थापिका सभा के द्वारा ही योजना तथा नीतियाँ निर्धारित होती हैं। इन नीतियो को कार्यान्वित करने के लिए कार्यपालिका को प्रशासकीय शक्तियाँ प्रदान की जाती हैं। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि प्रशासकीय शाखा पर नियन्त्रण रखने के लिए अधिकार कार्यपालिका को दिये जाते हैं वे भी उसे व्यवस्थापिका से ही प्राप्त होते है।

3 **बजट पद्धति (Budgeting)** —प्रशासन पर नियन्त्रण रखने के लिए जो एक नई शक्ति व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका को प्राप्त होती है, वह बजट पद्धति मे होती है। राज्य का कार्य धन के अभाव मे नही चल सकता। प्रत्येक लोक-शासक का यह कर्तव्य है कि वह आर्थिक शासन की व्यवस्था करे। आर्थिक शासन की सुव्यवस्था के लिए ही आधुनिक राज्यो मे बजट पद्धति को अपनाया गया है। बजट कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका दोनो के सहयोग से तैयार किया जाता है। कार्यपालिका प्रत्येक विभाग के आय-व्यय का लेखा माँगती है। सब विभागो के आय-व्यय के ब्यौरे को सकलित कर कार्यपालिका वार्षिक बजट व्यवस्थापिका म प्रस्तुत करती है तथा उसे पास करने का अनुरोध करती है। व्यवस्थापिका सभा बजट को पास करने का कार्य करती है, परन्तु इसमे भी महत्त्वपूर्ण कार्य कार्यपालिका करती है। ये महत्त्वपूर्ण कार्य हैं—करो को वसूल करना, प्राप्त धनराशि का उचित मदो मे व्यय करना आदि। इस प्रकार राजकोष पर अधिकार रखकर कार्यपालिका प्रशासन को अनुशासित करती है।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि कार्यपालिका को प्राशासनिक अधिकार सविधान, व्यवस्थापिका तथा बजट पद्धति से मिलते हैं।

कार्यपालिका में प्रशासकीय सत्ता होने से लाभ

आधुनिक प्रजातान्त्रिक युग मे व्यवस्थापिकाओ के कार्य बढते ही जा रहे है। उन्हे कानूनो को पारित करने से ही फुरसत नही मिलती। अत. प्रशासकीय शाखा पर नियन्त्रण तथा निर्देशन का कार्य इस सस्था को नही दिया जा सकता। यदि यह कार्य न्यायपालिका को दिया जाए, तो न्याय और प्रशासन दोनो में त्रुटियाँ उत्पन्न होने की तीव्र सम्भावना बनी रहेगी। अन्त में यह उचित समझा गया है कि प्रशासन को निर्देश तथा नियन्त्रण करने का कार्य कार्यपालिका को दिया जाना चाहिये। जो लोग इस बात को मानते हैं कि कार्यपालिका के पास प्रशासकीय अधिकार होने चाहिए, वे उसके निम्न लाभ बताते हैं—

(क) कार्यपालिका में प्रशासकीय सत्ता के होने का प्रथम लाभ यह है कि लोक-कर्मचारियो एव जनता के प्रतिनिधियो के बीच सम्बन्ध स्थापित करने का एक साधन प्राप्त हो जाता है। इससे यह लाभ होता है कि जन-कल्याण के कार्यों में

विलम्ब नहीं हो पाता। जनता अपने प्रतिनिधियों से लोक-प्रशासन के सम्बन्ध में सब प्रकार की सूचना पाती रहती है। प्रशासकीय अधिकारियों की त्रुटियों को भी जनता अपने प्रतिनिधियों को बताती रहती है, जिससे उनके कार्यों की आलोचना व्यवस्थापिका में होती रहती है। आलोचना के भय के कारण कर्मचारीगण जन-विरोधी कार्यों से स्वयं को दूर रखते हैं।

(ख) प्रशासकीय सत्ता कार्यपालिका को देने का दूसरा लाभ यह होता है कि प्रशासकीय कर्मचारी स्वेच्छाचारी नहीं बन सकते। इस व्यवस्था के द्वारा कार्यपालिका को लोक-कर्मचारियों के कार्यों की देख-रेख करने का तथा उन पर नियन्त्रण रखने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार प्रशासकीय कर्मचारियों में यह भय बना रहता है कि अनुचित या अवैधानिक कार्य करने पर उन्हें दण्ड दिया जा सकता है। प्रशासन की पवित्रता के लिए इस प्रकार का भय होना आवश्यक है।

(ग) कार्यपालिका के पास प्रशासकीय अधिकारों के होने का तीसरा लाभ यह है कि आज प्रशासन के अन्तर्गत अनेक विभाग होते हैं। कार्यपालिका इन सभी विभागों की देख-भाल रखती है। वर्तमान समय में विशेषीकरण तथा विकेन्द्रीकरण की बड़ी माँग बढ़ती जा रही है। प्रत्येक विभाग एक-दूसरे से पृथक् तथा स्वतन्त्र रहना चाहता है। इस तनावपूर्ण स्थिति में एक सुदृढ़ कार्यपालिका इन विभागों में एकता स्थापित करने का काम कर सकती है।

(घ) कार्यपालिका, व्यवस्थापिका एवं प्रशासकीय शाखाएँ सामंजस्य तथा सहयोग की स्थापना करती हैं। कार्यपालिका, व्यवस्थापिका तथा प्रशासकीय कर्मचारियों के बीच ऐसी कड़ी है जो शासन की श्रृंखला को मजबूत बनाती है। कार्यपालिका प्रशासकीय कर्मचारियों को व्यवस्थापिका द्वारा निर्धारित कार्यों को लागू करने के आदेश देती है। इसमें व्यवस्थापिका तथा प्रशासकीय कर्मचारियों में सहयोग उत्पन्न होता है। इस सहयोग उत्पन्न करने में कार्यपालिका की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। अतः कार्यपालिका में प्रशासकीय सत्ता सौंपने से शासन में एकता स्थापित होती है।

(ङ) कार्यपालिका में प्रशासकीय सत्ता होने का एक और लाभ यह है कि विभिन्न प्रशासकीय विभागों का एकीकरण सम्भव हो सकता है। कार्यपालिका विभिन्न प्रशासकीय विभागों में सहयोग स्थापित रखती है और उनमें संघर्ष उत्पन्न नहीं होने देती। यदि किसी कारण-वश संघर्ष हो भी जाए तो उसको दूर या समाप्त भी कार्यपालिका ही करती है। अतः कार्यपालिका ही शासन का एक ऐसा अंग है जो लोक-प्रशासन में एकीकरण कर सकता है।

(च) कार्यपालिका को प्रशासकीय शक्तियाँ देने का अन्तिम लाभ यह है कि आज वार्षिक बजट द्वारा प्रत्येक शासन में आर्थिक निपुणता प्राप्त करने का प्रयास चल रहा है। कार्यपालिका प्रत्येक विभाग का आय-व्यय उसी विभाग के कर्मचारी से

बनवाती है। इन सब आय-व्यय के ब्यौरे को सम्मिलित कर कार्यपालिका अपना वार्षिक बजट व्यवस्थापिका के सम्मुख प्रस्तुत करती है। जनता को इससे पता चलता है कि उसने कर के रूप में जो धन दिया गया है, उसका उचित प्रयोग हुआ है या नहीं।

उपर्युक्त विवरण का यह अर्थ नहीं है कि कार्यपालिका को प्रशासकीय क्षेत्र में अनियन्त्रित शक्तियाँ प्रदान कर देनी चाहिए। कुछ विद्वानों की दृढ़ धारणा है कि यदि कार्यपालिका को अधिक शक्तियाँ दी जाती हैं तो प्रशासन में अव्यवस्था उत्पन्न हो जायेगी तथा निरंकुशता पैदा हो जायेगी। ऐसी अवस्था में राज्य के शासन का रूप अपने जनतान्त्रिक लक्षण का त्याग कर अधिनायकवाद (Dictatorship) की ओर अग्रसित हो सकता है। इसके अतिरिक्त कार्यपालिका जैसे-जैसे निरंकुश होती जाती है, वैसे वैसे प्रशासन में शिथिलता आती जाती है। डॉ० डाट का कथन है कि प्रशासकीय शक्तियाँ वास्तव में कार्यपालिका के हाथ में न होकर एक बोर्ड के हाथ में होनी चाहिए, जिसका एक सदस्य सरकार हो। परन्तु उस विचार का स्वागत नहीं किया गया है। फिर भी अनुभव यह बताता है कि कार्यपालिका अनियन्त्रित हो तो स्वेच्छाचारी बन सकती है। हिटलर तथा मुसोलनी इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रशासकीय सत्ता कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका दोनों में निहित होनी चाहिए।

कार्यपालिका के सम्बन्ध में नया दृष्टिकोण
(New Attitude for Executive)

आधुनिक काल में कार्यपालिका के कार्यों के सम्बन्ध में एक नए दृष्टिकोण का प्रारम्भ हुआ है जिसके अनुसार विद्वानों का मत है कि एक शक्तिशाली कार्यपालिका प्रशासन की अनेक त्रुटियों को दूर करने में सफल हो सकती है। इस दृष्टिकोण के कारण ही आज प्रत्येक देश कार्यपालिका के हाथों को मजबूत करने में लगा हुआ है। कुछ देशों में इस मनोवृत्ति के अनुरूप कार्यपालिका को अधिक अधिकार दिये गये हैं। कार्यपालिका की बढ़ती हुई शक्ति ने लोकतन्त्र (Democracy) के लिए एक समस्या का रूप धारण कर लिया है। इंग्लैण्ड में मन्त्रिमण्डल की सत्ता में वृद्धि होने से संसदीय सर्वोच्चता (Parliamentary Sovereignty) को धक्का लगा है। अब कभी-कभी लोग इंग्लैण्ड में मन्त्रिमण्डल के लिए तानाशाह (Dictator) की संज्ञा देने से भी नहीं चूकते। संसदीय व्यवस्था में ही कार्यपालिका को अधिक शक्ति प्रदान करने का विचार नहीं पनपा अपितु अध्यक्षात्मक व्यवस्था में भी यह बात देखने को मिल रही है। संयुक्त राज्य अमरिका में भी राष्ट्रपति, जो मुख्य कार्यपालिका है, उसे विस्तृत अधिकार सौंपने का विचार जोर पकड़ता जा रहा है। वहाँ लोगों का विचार है कि राष्ट्रपति को लोक-प्रशासन का सामान्य प्रबन्धक (General Manager)

बना दिया जाय। इस मनोवृत्ति का विकास न केवल राष्ट्रीय स्तर पर ही देखने को मिलता है वरन् स्थानीय स्तरों (Local Levels) पर भी इसकी छाप स्पष्ट दिखाई दे रही है।

भारत में भी नये संविधान में कार्यपालिका को यथेष्ट शक्ति प्रदान की गई है। यही कारण है कि महत्त्वपूर्ण पदों की नियुक्ति का अधिकार मुख्य कार्यपालिका को दिया गया है। भारत में राष्ट्रपति संकटकालीन स्थिति में तानाशाह की तरह कार्य कर सकता है। प्रान्तों या राज्यों में भी कार्यपालिका की ऐसी ही स्थिति है। वे अपना शासन संकटकाल में मनमाने तरीके से चला सकने में समर्थ हैं। विलोबी के अनुसार, "यह देखकर प्रसन्नता होती है कि दोनों ही सरकारें—राष्ट्रीय तथा प्रान्तीय, एक सामान्य प्रबन्धक के रूप में कार्य करें, इस बात का एक विशेष आन्दोलन चल पड़ा है तथा इसके परिणाम भी निकल रहे हैं। कार्यपालिका को कर्तव्य तथा उत्तरदायित्व सौंपे जा रहे हैं, जिसमें वह अधिकार पाकर उन उत्तरदायित्वों को निभा सके।"

इस मनोवृत्ति के विकास के कारण कुछ लोगों को यह भय है कि इसमें प्रजातान्त्रिक विचारों का हनन होगा। उनका विचार है कि प्रजातन्त्र के हित के लिए यह आवश्यक है कि प्रशासकीय सत्ता कार्यपालिका अथवा मुख्य कार्यपालिका को न दी जाकर व्यवस्थापिका को दी जाए। परन्तु यह विचार अधिक उपयुक्त नहीं जान पड़ता। इसके विपरीत यदि कार्यपालिका को प्रशासकीय सत्ता सौंप दी जाय और उस पर व्यवस्थापिका का नियन्त्रण (Legislative Control) रखा जाय तो लोक-इच्छा तथा प्रजातन्त्र दोनों की रक्षा सम्भव है। प्रशासन की बढ़ती हुई कठिनाइयों तथा जटिलता को देखते हुए भी यह उचित है कि कार्यपालिका को प्रशासकीय सत्ता प्रदान की जाए। विलोबी तथा व्हाइट (T. W. F. Willoughby and L. D. White) दोनों का यह विचार है कि मुख्य कार्यपालिका को वे सभी शक्तियाँ प्रदान कर दी जाएं जो किसी भी व्यापारिक संगठन (Business Organisation) के सामान्य प्रबन्धक (General Manager) को प्राप्त होती हैं।

सामान्य प्रबन्धकीय पद्धति की विशेषताएँ
(Characteristics of General Administrative System)

इससे पहले कि हम कार्यपालिका का प्रशासन में एक सामान्य प्रबन्धक के रूप में अध्ययन करें, यहाँ यह आवश्यक प्रतीत होता है कि हम सामान्य प्रबन्धकीय पद्धति का साधारण ज्ञान प्राप्त कर लें। इस प्रकार की पद्धति की मुख्य विशेषताएँ निम्न हैं—

(1) संसदीय पद्धति में कार्यपालिका के अन्तर्गत अनेक विभाग पाये जाते हैं। इन विभागों का संगठन कार्यपालिका की सुविधा के लिए किया जाता है। इस प्रबन्ध में प्रशासकीय सत्ता की रेखा कार्यपालिका से व्यवस्थापिका की ओर जाती है।

(2) सामान्य प्रबन्धकीय पद्धति में कार्यपालिका की सत्ता सर्वोच्च होती है। समस्त कर्मचारी मुख्य कार्यपालिका के प्रत्यक्ष अधीन होते हैं। लोक-कर्मचारियों की नियुक्ति, पदोन्नति, पदच्युति तथा परिवर्तन का दायित्व उसी में निहित है। जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि निम्न कर्मचारियों की नियुक्ति, पदोन्नति तथा पदच्युति का अधिकार विभागाध्यक्ष को दे दिया जाता है। मुख्य कार्यपालिका के पास विभागाध्यक्षों की नियुक्ति, पदोन्नति तथा पदच्युति के अधिकार होते हैं।

(3) कार्यपालिका का सीधा सम्बन्ध व्यवस्थापिका के साथ होता है। वह कार्यपालिका पर नियन्त्रण भी रखती है। परन्तु व्यवस्थापिका का प्रशासकीय विभागों के साथ सीधा सम्बन्ध नहीं होता। कार्यपालिका ही प्रशासकीय विभागों के सम्बन्ध की रिपोर्ट व्यवस्थापिका में प्रस्तुत करती है और वह ही उसके प्रति उत्तरदायी होती है। विभागाध्यक्ष व्यवस्थापिका के साथ कोई सीधा सम्बन्ध नहीं रख सकते हैं और न ही व्यवस्थापिका उनको कोई सीधा आदेश दे सकती है। जो कुछ व्यवस्थापिका करना चाहती है वह कार्यपालिका के द्वारा ही करना होता है।

सामान्य प्रबन्धक के रूप में मुख्य कार्यपालिका के प्रशासकीय कर्तव्य
(Administrative Duties of Chief Executive as General Manager)

लूथर गुलिक ने सामान्य प्रबन्धक के रूप में मुख्य कार्यपालिका के प्रशासकीय कर्तव्य की व्याख्या अपने सूत्र 'पोस्डकॉर्ब' (POSDCORB) में की है। 'पोस्डकॉर्ब' शब्द की रचना कुछ अंग्रेजी शब्दों के पहले अक्षरों से मिलकर हुई है। इस सूत्र की विस्तार से विवेचना हम पहले ही कर चुके हैं। यहाँ इतना ही बताना आवश्यक होगा कि इस सूत्र के अनुसार मुख्य कार्यपालिका का कार्य योजना बनाना, संगठन करना, कर्मचारियों की नियुक्ति करना, निदेशन देना, समन्वय करना, विज्ञप्ति देना तथा बजट तैयार करना है।

लूथर गुलिक (Luther Gulhick) के अतिरिक्त एल० डी० ह्वाइट (L. D. White) ने भी मुख्य कार्यपालिका के कार्यों पर प्रकाश डाला है। उसके अनुसार सामान्य प्रबन्धक के रूप में मुख्य कार्यपालिका के निम्न कर्तव्य हैं—

1. प्रशासकीय नीति का निर्धारण (Formulation of Administrative Policy):—साधारणतया प्रशासकीय नीतियाँ व्यवस्थापिका सभा द्वारा निर्धारित की जाती हैं। परन्तु वास्तविकता इस बात में है कि व्यवस्थापिका न तो सम्पूर्ण नीतियाँ बनाने में सफल हो सकती है न ही यह वाछनीय तथा आवश्यक है। व्यवस्थापिका तो केवल सामान्य रूप रेखा बनाती है, परन्तु अन्य बातें तय करना कार्यपालिका का कार्य है। प्रशासकीय अधिकारियों को कई प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इन कठिनाइयों को लेकर वे कार्यपालिका के पास जाते हैं तथा कार्यपालिका व्यवस्थापिका द्वारा निश्चित मर्यादा में उनका समाधान खोजती है। डॉ०एम०पी०शर्मा

(M. P. Sharma) का विचार यहाँ बताना उचित होगा। उनके अनुसार, "स्वभाव से ही कार्यपालिका को लोक-प्रशासन के कार्यों में काफी भाग लेना पड़ता है। वास्तव में, कार्यपालिका ही नीति निर्धारण का कार्य करती है, क्योंकि व्यवस्थापिका प्रशासकीय क्षेत्र के सम्पूर्ण कार्यों को पूर्ण नहीं करती, अधिक कार्य कार्यपालिका की इच्छा पर ही छोड़ दिये जाते हैं। इस क्षेत्र में वह अपनी नीति का निर्माण स्वयं करती है।"

2. आवश्यक आदेश तथा निर्देश देना (To issue Direction and Command):—मुख्य कार्यपालिका सामान्य प्रबन्धक के समान प्रशासकीय विभागों को आवश्यक विषयों पर आदेश व निर्देश देती है। मुख्य कार्यपालिका का यह कर्तव्य है कि वह यह देखे कि कानून समुचित तरीके से लागू किये जा रहे हैं या नहीं और सरकार का प्रत्येक अभिकरण (Agency) तथा विभाग (Department) ठीक प्रकार से कार्य कर रहा है या नहीं। निर्देश तथा आदेश देकर कार्यपालिका प्रशासन का नेतृत्व करती है। वैसे विभागीय आदेश विभागाध्यक्ष के द्वारा दिये जाते हैं, परन्तु विशेष व मूल बातों पर विभागाध्यक्ष को कार्यपालिका से सीधे आदेश व निर्देश प्राप्त होते हैं। इन आदेशों तथा निर्देशों के द्वारा ही कार्यपालिका प्रशासन पर नियन्त्रण रखती है। अपने आदेशों का पालन कराना प्रत्येक सफल कार्यपालिका का कार्य है।

3 समन्वय करना (To Co-ordinate):— मुख्य कार्यपालिका का सामान्य प्रबन्धक के रूप में यह कर्तव्य है कि विभिन्न विभागों में परस्पर समन्वय तथा सहयोग बना रहे। लोक-प्रशासन में जहाँ बहुत सारे विभाग होते हैं, वहाँ कार्य क्षेत्र को लेकर विभिन्न विभागों में गतिरोध उत्पन्न हो सकता है। इस गतिरोध को दूर करना तथा एक-दूसरे से सम्बन्ध करना कार्यपालिका का ही कार्य माना गया है। वास्तव में प्रशासन की सफलता इसी बात में निहित है कि विभिन्न विभागों में समन्वय बना रहे तथा एक दूसरे के कार्य क्षेत्र में टकराव न हो। यह तभी सम्भव हो सकता है जबकि कार्यपालिका योग्य, कुशल एवं प्रभावशाली हो। इसके अतिरिक्त विभिन्न विभागों में समन्वय स्थापित करने के लिए कार्यपालिका अन्तर्विभागीय समितियाँ (Inter Departmental Committees) का निर्माण कर सकती है तथा सम्पर्क अधिकारी (Liaison Officer) की नियुक्ति कर सकती है। विभिन्न विभागों में समुचित समन्वय के लिए वह अनेक अन्तर्विभागीय कड़ियों की स्थापना करती है।

4. संगठन के विस्तृत रूप का निश्चय करना (To Determine the Details of the Organization)—व्यवस्थापिका अपने कानून तथा नीतियों को लागू करने के लिए विभिन्न प्रकार के संगठनों जैसे विभागों (Departments), ब्यूरो (Bureaus), निगमों (Corporations), आयोगों (Commissions), कार्यालयों (Offices) आदि की रचना करती पड़ती है। व्यवस्थापिका इनके बाह्य

है। वास्तव में लोक-प्रशासन कार्यपालिका का एक अंग है और उसे उस पर निरीक्षण तथा नियन्त्रण करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त है।

7 वित्तीय प्रशासन की व्यवस्था करना (Management of Finance)—कार्यपालिका का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है—आय-व्यय का ब्योरा (बजट) तैयार करना। प्रशासन को चलाने के लिए धन की आवश्यकता होती है। कार्यपालिका धन की प्राप्ति के साधन तथा उसके विभिन्न विभागों में वितरण का कार्य भी करती है। आय-व्यय का ब्योरा तैयार कर यह उसे व्यवस्थापिका के सम्मुख पास करने हेतु प्रस्तुत करती है। विभागों पर खर्च को नियन्त्रित करने का कार्य भी कार्यपालिका के द्वारा ही सम्पादित किया जाता है। असाधारण स्थिति या संकट काल में कार्यपालिका की वित्तीय शक्तियों में वृद्धि हो जाती है। यह सत्य है कि आर्थिक प्रशासन पर व्यवस्थापिका का अन्तिम रूप से नियन्त्रण होता है, परन्तु यह भी सत्य है कि कार्यपालिका को इस सम्बन्ध में कम अधिकार प्राप्त नहीं हैं।

8 अध्यादेश जारी करना (To issue Ordinances)—साधारणतया सभी राज्यों में मुख्य कार्यपालिका को अध्यादेश जारी करने का अधिकार प्राप्त होता है। जब व्यवस्थापिका का सत्र नहीं चलता है और ऐसी आवश्यकता उत्पन्न हो जाए जिसमें किसी विशेष प्रकार के कानून की आवश्यकता हो, तो मुख्य कार्यपालिका अध्यादेश जारी कर सकती है। भारत में राष्ट्रपति, जो कि मुख्य कार्यपालिका है, उसे इस प्रकार के अधिकार प्राप्त हैं। यदि संकटकालीन स्थिति (Emergency) में राष्ट्रपति चाहे तो अध्यादेश जारी कर सम्पूर्ण देश या उसके किसी भाग का शासन अपने हाथ में लेने की घोषणा कर सकता है।

9 जन-सम्पर्क स्थापित करना (Management of Public Relations):—यह सर्वविदित है कि लोक-प्रशासन का सम्बन्ध जन-साधारण के साथ जुड़ा हुआ है। अतः मुख्य कार्यपालिका के लिए यह आवश्यक है कि वह प्रशासकीय कार्यों तथा उसके उद्देश्य से जनता को सूचित रखे। मुख्य कार्यपालिका इस कार्य को जन-सम्पर्क विभाग की स्थापना करके करता है। इसके अतिरिक्त मुख्य कार्यपालिका अध्यादेश जारी कर सकती है। भारत में राष्ट्रपति जो कि मुख्य कार्यपालिका है समाचार-पत्रों (News-papers) तथा आकाशवाणी केन्द्रों (Radio-Stations) आदि माध्यमों के द्वारा जनता को सरकार के कार्यों तथा नीतियों के सम्बन्ध में सूचित करता है। ऐसा करना कार्यपालिका के लिए इसलिए आवश्यक है कि प्रशासन के प्रति लोगों में गलत धारणा पैदा न हो जाए।

10 नियोजन (Planning)—मुख्य कार्यपालिका का उत्तरदायित्व नियोजन करना भी है। नियोजन प्रत्येक कार्य से पूर्व की स्थिति है। कार्य का करने से पूर्व हम उसके विषय में सोचते हैं, कार्यान्वित करने के सम्बन्ध में रूप-रेखा तैयार करते हैं, यही नियोजन है। प्रशासन का सम्बन्ध 'क्या' और 'कैसे' (What and How) दोनों से है। 'कैसे' में नियोजन सम्मिलित है। कार्यपालिका अपने प्रत्येक कार्य करने

से पूर्व नियोजन करता है। कार्यपालिका की सफलता नियोजन पर भी निर्भर करती है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है कि मुख्य कार्यपालिका का स्थान वैसा ही है जैसा कि एक बड़े व्यवसाय में सामान्य प्रबन्धक का होता है। परन्तु यह जान लेना आवश्यक है कि सामान्य प्रबन्धक के पास उतने अधिकार नहीं होते, जितने कि किसी देश की कार्यपालिका के पास होते हैं। सामान्य प्रबन्धक पर बोर्ड ऑफ डाइरेक्टर्स (Board of Directors) का बड़ा नियन्त्रण होता है। इसके विपरीत व्यवस्थापिका का कार्यपालिका पर इतना बड़ा नियन्त्रण नहीं होता। इसके अतिरिक्त सामान्य प्रबन्धक बोर्ड ऑफ डाइरेक्टर्स का नौकर होता है और उसे जब चाहे तब हटाया जा सकता है। परन्तु व्यवस्थापिका कार्यपालिका को इतनी आसानी से नहीं हटा सकती है। अधिकतर देशों में कार्यपालिका तानाशाह बन जाती है और सरकार के दूसरे अंग उसके सेवक बनकर रहते हैं।

यहाँ यह बता देना भी उचित है कि कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति नाममात्र के लिए उत्तरदायी है। जब तक कार्यपालिका या मन्त्रिमण्डल बहुमत दल का प्रतिनिधित्व करता है और जब तक उसका दल बहुमत में रहता है, वह व्यवस्थापिका की कोई चिन्ता नहीं करता। वह वास्तव में व्यवस्थापिका को नियन्त्रण में रखती है। इस सम्बन्ध में भारतवर्ष की कार्यपालिका का उदाहरण दिया जा सकता है, जो अपने बहुमत के आधार पर जन-हित के विरुद्ध भी कार्य कर सकती है। इतने पर भी मुख्य कार्यपालिका के बहुत से कार्य ऐसे हैं जो सामान्य प्रबन्धक के कार्यों से मिलते हैं। अत. इसी आधार पर विद्वान लोग मुख्य कार्यपालिका को सामान्य प्रबन्धक ही मानते हैं।

भारत में कार्यपालिका के कार्यालय का संगठन

(Organization of the Office of the Executive in India)

भारत ने संसदीय शासन-व्यवस्था को अपनाया है। भारत में कार्यपालिका या मन्त्रिमण्डल के कार्य-सम्पादन के लिए समितियों तथा सचिवालय की व्यवस्था की गई है। इंग्लैण्ड में भी इसी प्रकार की व्यवस्था है। मुख्य समितियाँ एवं सचिवालय का विवरण निम्न प्रकार है—

(1) **समितियाँ** —मन्त्रिमण्डल की सहायता हेतु भारत में अनेक समितियों का सङ्गठन किया गया है, जिनमें मुख्य निम्नलिखित हैं—

(क) प्रतिरक्षा समिति (Defence Committee)—देश में शांति, सुव्यवस्था तथा सुरक्षा से सम्बन्धित समस्त मामलों की व्यवस्था के लिए प्रतिरक्षा समिति का सङ्गठन किया गया है।

(ख) संयुक्त नियोजन समिति (Joint Planning Committee)—देश में अनेक जन-कल्याण योजनाओं का निर्माण करना तथा मन्त्रिमण्डल को इस सम्बन्ध में परामर्श देने का कार्य इस समिति का है।

(ग) आर्थिक समिति (Economic Committee)—अर्थ सम्बन्धी मामलों में मन्त्रिमण्डल को परामर्श यह समिति देती है। इसके साथ ही यह समिति आर्थिक समस्याओं का अध्ययन करने तथा उनके निराकरण के उपाय सोचने का कार्य करती है।

(घ) विदेशी मामलों की समिति (Foreign Affairs Committee)—विदेशों से सम्बन्ध स्थापित करने तथा विदेशी मामलों को निपटाने के कार्य इस समिति को दिये गये हैं।

(ङ) मन्त्रिमण्डल की उप-समिति (Cabinet Sub-Committee)—यह समिति मन्त्रिमण्डल की एक शाखा के रूप में कार्य करती है। महत्त्वपूर्ण विषयों पर इन निराकरण के उपायों को सोचती है।

(2) सचिवालय तथा उसका संगठन (Secretariat and its Organization) — मन्त्रिमण्डल को सहायता तथा परामर्श देने के लिए एक सचिवालय भी होता है। इस सचिवालय का कार्य समस्त कार्यवाहियों के ब्यौरे तैयार करना तथा उन्हें सुरक्षित रखना है। सचिवालय का संगठन निम्न प्रकार से किया जाता है—

(क) प्रधान सचिवालय (Main Secretariat)—इसका अध्यक्ष एक सचिव होता है। उसकी सहायता के लिए संयुक्त सचिव, एक उप-सचिव, चार सहायक सचिव एवं एक अनुभाग अधिकारी होते हैं। प्रधान सचिवालय के कार्यों को निम्न शाखाओं में विभक्त किया गया है—

(अ) मन्त्रिपरिषद् शाखा (Cabinet Branch)

(आ) समन्वय शाखा (Co-ordination Branch)

(इ) प्रशासन शाखा (Administrative Branch)

(ई) सामान्य शाखा (General Branch)

(ख) संगठन तथा प्रणाली सभाग (Organization and Method Division)—भारत में इसका निर्माण सन् 1954 में किया गया था। इस सभाग का कार्य है, समस्त सम्बन्धित विभागों, कार्यालयों तथा मन्त्रालयों में पाई जाने वाली त्रुटियों को सुधारना। जिन कार्यों में विलम्ब हो जाता है, उनमें विलम्ब के कारणों को खोजना तथा कार्यकुशलता में बाधक तत्त्वों को हटाना इसी सभाग का कार्य है। एक निदेशक तथा एक उप-निदेशक इस विभाग के कार्य को चलाने के लिए नियुक्त किये जाते हैं।

(ग) सैनिक शाखा (Military Wing)—यह शाखा सुरक्षा समिति से सम्बन्धित है। इस शाखा का उन सब विभागों के साथ सम्बन्ध है जो आन्तरिक तथा बाह्य सुरक्षा का कार्य करते हैं।

(घ) आर्थिक शाखा (Economic Wing)—सचिवालय का यह अंग मन्त्रिमण्डल को आर्थिक समस्याओं से सम्बन्ध रखता है। उत्पादन तथा वितरण आदि की समस्याएँ भी इसी शाखा से सम्बन्धित रहती हैं।

इंग्लैण्ड में मन्त्रि-परिषद् सचिवालय
(Cabinet Secretariat in England)

इंग्लैण्ड में मन्त्रिमण्डल की सहायता के लिए मन्त्रिपरिषद् समितियाँ (Cabinet Committees) तथा मन्त्रिपरिषद् सचिवालय (Cabinet Secretariat) हैं। मन्त्रिपरिषद् समितियाँ दो प्रकार की होती हैं—(1) स्थायी समितियाँ (Standing or Permanent Committees) तथा तदर्थ समितियाँ (Ad-Hoc Committees)। ये समितियाँ मन्त्रि-परिषद के सम्मुख एक अर्द्ध-निर्मित नीति प्रस्तुत करती हैं। ये विभागीय कठिनाइयों तथा मतभेदों को दूर कर सकती हैं। प्रतिरक्षा (Defence), आर्थिक मामला (Economic Affairs) तथा विधान (Legislation) के लिए वहाँ पर महत्त्वपूर्ण मन्त्रिपरिषद समितियाँ हैं।

इन समितियों तथा मन्त्रिपरिषद के कार्यों की सहायता के लिए मन्त्रिपरिषद् सचिवालय (Cabinet Secretariat) की स्थापना की गई है। यह सचिवालय मन्त्रि-परिषद् की बैठकों के लिए कार्य-सूची (Agenda) आदि तैयार करने का कार्य करता है। यह मन्त्रिपरिषद के निर्णय आदि के रिकार्ड (Record) को सुरक्षित रखता है। आवश्यकता पड़ने पर कोई मंत्री सचिवालय से रिकॉर्ड को मंगा सकता है।

सं० रा० अमेरिका में राष्ट्रपति की स्टाफ सहायता
(Staff Assistance to the President in U S A)

सं० रा० अमेरिका में राष्ट्रपति मुख्य कार्यपालिका है। उसको विभिन्न प्रकार के कार्यों को करना होता है। उसकी सहायता के लिए प्रशासनिक स्टाफ होता है जिनमें मुख्य हैं— व्हाइट हाउस कार्यालय (White House Office), ब्यूरो ऑफ बजट (Bureau of Budget), आर्थिक सलाहकार परिषद् (Council of Economic Advisers), राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद् (National Security Council), केन्द्रीय गुप्तचर अभिकरण (Central Intelligency Agency), राष्ट्रीय वैमानिक एवं अन्तरिक्ष परिषद् (National Aeronautics and Space Council) तथा सिविल एवं प्रतिरक्षा सामग्री कार्यालय (Office of the civil and Defence Mobilisation)। इन अभिकरणों के नाम से ही उनके सम्बन्धित कार्यों का ज्ञान हो जाता है। ये अभिकरण राष्ट्रपति को उसके कार्य में सहायता प्रदान करते हैं।

सफल प्रशासक के गुण
(Qualities of a Successful Executive)

लोक-प्रशासन के विद्वान प्राय यह प्रश्न करते हैं कि सफल कार्यपालिका में कौन-कौन से गुण होने चाहिए। इस सम्बन्ध में कोई गुणों की सूची नहीं बनाई जा सकती। भिन्न-भिन्न विद्वानों ने सफल कार्यपालिका के भिन्न-भिन्न गुण बताये हैं। अत: सर्वसम्मत गुणों को निश्चित नहीं किया जा सकता। फिर भी कुछ ऐसे गुण हैं जो अनिवार्य रूप से मुख्य कार्यपालिका में होने चाहिए, जिनके अभाव में उसका सफल होना कठिन और सन्देहप्रद हो सकता है। वे गुण अग्रलिखित हैं—

(1) सबल व्यक्तित्व (Strength of Personality)—कार्यपालिका के लिए यह आवश्यक है कि उसका व्यक्तित्व सबल, प्रभावशील व सन्तुलित होना चाहिए। दूरदर्शिता, कार्यकुशलता, प्रयोजनों की दृढ़ता, कार्य में रुचि आदि सबल व्यक्तित्व के लक्षण हैं। सन्तुलित व्यक्तित्व में कार्य करने की इच्छा, झूठ, कपट, चालबाजी का प्रयोग न करना, कार्य में उत्साह का प्रदर्शन, चिड़चिड़ापन का न होना, समस्याओं से सामना करने की क्षमता आदि सम्मिलित हैं। मुख्य कार्यपालिका इन्हीं गुणों से सबल बनती है और अपने सहयोगियों में विश्वास जाग्रत करती है। इसके विपरीत इन गुणों के अभाव में कार्यपालिका को कितनी ही कानूनी और औपचारिक शक्तियाँ क्यों न प्रदान कर दी जाएँ, वह कभी भी सबल नहीं बन सकती।

(2) नेतृत्व (Leadership)– सफल कार्यपालिका में दूसरा महत्वपूर्ण गुण उसका नेतृत्व है। नेतृत्व केवल वाक्पटुता तथा सुन्दर एवं प्रभावकारी तरीके से अपने विचारों को व्यक्त करने की कला नहीं है, यद्यपि ये दोनों उसके महत्वपूर्ण लक्षण हैं। नेतृत्व में इनसे भी बढ़ कर कई बातों का समावेश है। नेतृत्व की परिभाषा करना सरल नहीं है। नेतृत्व लोगों को प्रभावित करने की क्रिया है (Leadership is the activity of influencing people)। नेतृत्व मानवीय सम्बन्धों में मधुरता उत्पन्न करने की क्षमता को कहते हैं। नेतृत्व प्रशासन तथा जनता के बीच भावात्मक एकता उत्पन्न करने की रहस्यमय कला है। साधारण शब्दों में, नेतृत्व दूसरे से कार्य कराने की कला है। इससे लोगों को सामूहिक लक्ष्य प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। मुख्य कार्यपालिका अपने उद्देश्यों की पूर्ति जनसहयोग के बिना नहीं कर सकता। सफल नेतृत्व ही उसका सहयोग प्राप्त कर सकता है।

(3) प्रशासनिक योग्यता (Administrative Ability)—मुख्य कार्यपालिका में प्रशासन को सफल करने की योग्यता होनी चाहिए। निर्णय लेने की क्षमता, प्रशासकीय समस्याओं को सुलझाने की शक्ति, कर्मचारियों का सहयोग प्राप्त करने की क्षमता आदि प्रशासनिक योग्यता कहलाती है। कुछ विद्वान प्रशासनिक योग्यता को नैसर्गिक (Natural) मानते हैं जबकि दूसरे लोगों का विश्वास है कि यह क्षमता अनुभव तथा प्रशिक्षण (Training) से प्राप्त की जा सकती है। जो कुछ भी हो, यह स्वीकार करना होगा कि प्रशासन में सफलता प्राप्त करने के लिए सामान्य तौर पर उन्हीं गुणों की आवश्यकता होती है, जो जीवन के दूसरे क्षेत्रों में आवश्यक होते हैं।

वैसे तो सफल प्रशासक के सम्बन्ध में कोई सर्वमान्य गुणों की सूची नहीं बनाई जा सकती फिर भी कुछ विद्वानों ने महत्वपूर्ण गुणों का वर्णन किया है।

फिफनर महोदय ने निम्न गुण बताये हैं।

(i) हँसमुख व्यक्तित्व
(ii) लोगों के साथ कार्य करने की कुशलता
(iii) शीघ्र सही निर्णय करने की क्षमता
(iv) समस्याओं को समझने की क्षमता, आदि।

भारत के प्रथम भारतीय गवर्नर जनरल तथा कुशल प्रशासक एवं राजनीतिज्ञ श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने सफल प्रशासक के निम्न गुण बताये हैं—

(i) चरित्रवान।

(ii) सही निर्णय करने की क्षमता तथा आत्म-विश्वास।

(iii) अधीन कर्मचारियों में अपने प्रति विश्वास उत्पन्न करने की क्षमता।

(iv) सोच-समझ कर निर्णय करना तथा उससे पीछे न हटना।

(v) सन्तुलित स्वभाव तथा मस्तिष्क।

(vi) अपने अधीन कर्मचारियों में जनता के प्रति सेवा-भाव उत्पन्न करना।

उक्त गुण प्रशासक या कार्यपालिका की सफलता के लिए आवश्यक हैं। इन गुणों से वह अपने अधीनस्थों को अपने साथ रख सकता है। किसी भी परिस्थिति का सामना कर सकेगा और प्रशासन को गति प्रदान कर सकेगा।

परीक्षोपयोगी प्रश्न

1. मुख्य कार्यपालिका के प्रमुख कार्यों का वर्णन कीजिए तथा बताइए कि उसकी प्रशासकीय शक्ति के स्रोत कौन-कौन से हैं ?

   Discuss the principal activities of Chief Executive and describe the main sources of his administrative powers.

2 मुख्य कार्यपालिका की प्रशासकीय शक्तियों के गुणों का वर्णन कीजिये।

   What are the merits of the administrative powers of the Chief Executive ?

3 एक सफल कार्यपालिका के गुणों का वर्णन कीजिए।

   Describe the qualities needed for a successful Executive

4 स० रा० अमेरिका, इंग्लैंड तथा भारत में मुख्य कार्यपालिका के कार्यालय के संगठन का वर्णन कीजिए।

   Describe the organisation of the office of the Chief Executive in U.S.A., England and India

5 "कार्यपालिका का मुख्य कार्य प्रशासन को नेतृत्व प्रदान करना है।" इस कथन की समीक्षा कीजिए।

   "The most important function of the Executive is to give leadership to administration." Discuss.

6 सामान्य प्रबन्धक के रूप में मुख्य कार्यपालिका के कर्तव्यों का वर्णन कीजिये।

   Describe the duties of the Chief Executive as General Manager

5

लोक-प्रशासन तथा न्यायपालिका

(PUBLIC ADMINISITRATION AND THE JUDICIARY)

शासन का जो तीसरा महत्त्वपूर्ण अंग है उसे न्यायपालिका कहा जाता है। न्यायपालिका का प्रमुख कार्य नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करना है। लॉर्ड ब्राइस (Lord Bryce) ने एक स्थान पर लिखा है कि, "किसी शासन की श्रेष्ठता का पता लगाने के लिए उसकी न्याय-व्यवस्था की निपुणता से बढ़कर और कोई अच्छी कसौटी नहीं है क्योंकि किसी और चीज से नागरिक की सुरक्षा और हितों पर इतना प्रभाव नहीं पड़ता, जितना उसके इस ज्ञान से कि वह एक निश्चित, शीघ्र और निष्पक्ष न्यायशासन पर निर्भर रह सकता है।" शासन को चलाने के लिए जिस प्रकार कार्य-पालिका आवश्यक है, उसी प्रकार शासन की धांधली एवं अत्याचारों की रोकथाम के लिए स्वतन्त्र न्यायपालिका आवश्यक है। एक विद्वान लेखक ने लिखा है—"देश की व्यवस्थापिका एवं न्यायपालिका की व्यवस्था चाहे कितनी ही सुन्दर क्यों न हो परन्तु यदि न्याय करने में पक्षपात किया जाता है या विलम्ब होता है तो जनता का जीवन दुःखपूर्ण हो जायेगा।" इसी प्रकार न्यायपालिका का प्रशासन में महत्त्व बताते हुए प्रसिद्ध विद्वान् रौले (Rowle) ने लिखा है—"प्रत्येक सुव्यवस्थित सरकार में जनता और व्यक्तियों के अधिकारों के लिए न्यायपालिका का होना आवश्यक है, जो कि अधिकारों को निर्धारित करती है, अपराधियों को दण्ड प्रदान करती है, न्यायिक प्रशासन करती है एवं निर्दोष व्यक्ति की हानि अथवा बलात् अपहरण से रक्षा करती है।" (In every well organised government—with reference to the security both of public rights and private rights—it is indispensable that there should be a judicial department to ascertain and decide rights, to punish crimes, to administer Justice and to protect the innocent from injury and usurpation.)

न्यायपालिका का जो रूप आजकल पाया जाता है, वह शताब्दियों से क्रमिक विकास का फल है। स्वतन्त्र विचारों के साथ साथ न्याय-व्यवस्था में भी लगातार परिवर्तन होते रहे। प्राचीनकाल में शक्ति-विभाजन का सिद्धान्त (Separation of Powers) नहीं अपनाया जाता था। प्राचीन राज-पद्धति में कार्यपालिका और न्याय सम्बन्धी कार्य सम्मिलित होते थे। प्रारम्भिक राजा न्याय का स्रोत था (Fountain of Justice)।

वास्तव में राजा में ही, व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका निहित थी। उसका प्रत्येक शब्द कानून होता था। किन्तु धीरे धीरे यह अनुभव किया जाने लगा कि यदि न्याय सम्बन्धी एवं कार्यपालिका सम्बन्धी कार्य एक व्यक्ति में निहित होते हैं तो न्याय प्राप्त नहीं किया जा सकता। इतिहास इस बात के उदाहरणों से भरा हुआ है कि विधि की व्याख्या और प्रशासन की शक्ति का केन्द्रीयकरण एक ही हाथ में होने से सदैव अत्याचार हुआ है। प्रत्येक नागरिक को कानून की अस्थिर व्याख्या के भय के विरुद्ध अधिकतम रक्षा की आवश्यकता होती है। इसलिए एक पृथक् न्याय-सम्बन्धी अंग के बिना आधुनिक राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती।

आधुनिक राज्यों में न्यायपालिका का स्वरूप प्राचीन न्याय-व्यवस्था से बिल्कुल भिन्न है। जन-जागरण से व्यक्तियों में स्वतन्त्रता, समानता तथा अधिकार भावना का उदय होना प्रारम्भ हुआ। जनता में जहाँ प्रजातन्त्र की स्थापना की भावना का उदय हुआ है, वहाँ न्याय की व्यवस्था में भी परिवर्तन करने पर जोर दिया गया। कार्यपालिका का न्याय के कार्यों में हस्तक्षेप अप्रजातान्त्रिक समझा जाने लगा। न्याय को सरकार का प्रमुख अंग माना जाने लगा। न्यायपालिका को स्वतन्त्र तथा पृथक् करने की मांग बढ़ी। सं० रा० अमेरिका ने इसमें पहलकदमी की। वहाँ शक्तियों के पृथक्करण को शासन में स्थान दिया गया है।

आधुनिक युग में व्यवस्थापिका तथा न्यायपालिका को पृथक् किया गया है। न्याय का कार्य अब राजनीतिज्ञों से हटा कर विधि-विशेषज्ञों को दिया गया है। न्याय के समक्ष धनी-निर्धन, छोटा-बड़ा तथा ऊँच-नीच का भाव नहीं रहता। नागरिकों में समानता का भाव रखा जाता है और निष्पक्ष न्याय पर जोर दिया जाता है। निरंकुशता का अन्त कर 'कानून का शासन' (Rule of Law) बनाने का प्रयत्न किया जाता है। अब शासक की इच्छा पर न्याय-व्यवस्था नहीं चलती। अपराध के कारणों की जाँच की जाती है। निरपराध व्यक्तियों को दण्ड नहीं दिया जाता है।

संघात्मक शासन व्यवस्था (Federal System) में न्यायपालिका का विशिष्ट महत्त्व होता है। इस व्यवस्था में संघ (Union) तथा इकाइयों (Units) में सत्ता का संवैधानिक बँटवारा होता है। संघ तथा इकाइयाँ अपने-अपने अधिकार-क्षेत्र में कार्य करती हैं। एक दूसरे के हस्तक्षेप तथा सत्ता के अतिक्रमण को रोकने के लिए संघात्मक शासन प्रणाली में स्वतन्त्र न्यायपालिका का निर्माण संविधान द्वारा किया जाता है। यह न्यायपालिका संघात्मक व्यवस्था में नागरिकों के अधिकार तथा स्वयं संविधान की रक्षा करती है। वह व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानूनों की व्याख्या करती है, उन्हें लागू करने में सहायता करती है तथा कानूनों को तोड़ने वाले को दण्ड देने की व्यवस्था करती है। संघात्मक व्यवस्था में इससे भी बढ़कर न्यायपालिका

को कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका के कार्यों की औचित्यता को देखने का अधिकार भी होता है। यदि कार्यपालिका या व्यवस्थापिका कोई ऐसा कार्य अथवा कानून बनाये जो संविधान की किसी धारा या उसकी भावना के विरुद्ध हो, तो न्यायपालिका को यह अधिकार भी प्राप्त है कि वह उसके गैर-कानूनी या अवैध घोषित कर दे। इसलिए संघात्मक व्यवस्था में न्यायपालिका संविधान की रक्षक कहलाती है। संयुक्त राज्य अमेरिका तथा भारत में इसी प्रकार की स्वतन्त्र न्यायपालिका की स्थापना की गई है।

एकात्मक शासन-प्रणाली तथा संसदीय व्यवस्था में न्यायपालिका को यह गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं होता जो उसे संघात्मक शासन व्यवस्था में होता है। क्योंकि इस प्रकार की शासन प्रणाली में राज्य की प्रभुसत्ता (Sovereignty) जनता का प्रतिनिधित्व करने वाले अंग अर्थात् व्यवस्थापिका में निहित होने के कारण कार्यपालिका तथा न्यायपालिका की स्थिति एक अधीन विभाग की तरह की है। फिर भी एक निश्चित सीमा तक न्यायपालिका अपने कार्यों को स्वतन्त्रतापूर्वक सम्पादित करती है।

इस प्रकार आधुनिक राज्यों में न्यायपालिका का महत्त्व तथा उपयोगिता बराबर बढ़ती जा रही है। आधुनिक युग में जन-इच्छा से सरकारें बनती हैं, जो जनहित के कार्य सम्पादित करती है। इस कार्य के लिए जनता अपने प्रतिनिधियों को चुनकर व्यवस्थापिका में भेजती है। व्यवस्थापिका विधि तथा नीति निर्माण का कार्य करती है। कार्यपालिका उनको लागू करने का कार्य करती है। परन्तु यदि कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका में कभी किसी कानून के अर्थ तथा उसे व्यवहार में लाने के सम्बन्ध पर मतभेद हो जाता है तो इस भेद को दूर कौन करे? इसके अतिरिक्त किसी व्यक्ति विशेष ने कानून का पालन नहीं किया है तो उसे कितना और किस प्रकार का दण्ड दिया जाना चाहिए। इन सब की व्याख्या तथा व्यवस्था करना न्यायपालिका का कार्य है।

न्यायपालिका के कार्य
(Functions of the Judiciary)

आधुनिक राज्यों में न्यायपालिका के महत्त्व और स्थान के अध्ययन के पश्चात् एक लोक-प्रशासन के विद्यार्थी के लिए आवश्यक है कि वह उसके कार्यों के बारे में ज्ञान प्राप्त करे। यहाँ हम न्यायपालिका के मुख्य कार्यों का वर्णन कर रहे हैं :—

(1) अभिभावक (Guardian) के रूप में:—जब परिवार के विभिन्न सदस्यों में जब कोई झगड़ा उत्पन्न होता है, तो परिवार का वरिष्ठ सदस्य उसका निर्णय करता है। प्रत्येक परिवार में कोई-न-कोई अभिभावक अवश्य होता है, जो परिवार के विवादों को निपटाता है। राज्य भी एक बड़े परिवार की भाँति है, जिसमें कई

व्यक्ति तथा परिवार रहते है। न्यायपालिका राज्य मे रहने वाले लोगो के आपसी विवादो को तय करने का कार्य करती है। इस प्रकार वह राज्यरूपी परिवार की अभिभाविका के रूप मे कार्य करती है। व्यक्तियो के आपसी विवादो के अतिरिक्त राज्य और व्यक्ति के बीच होने वाले झगडो का निपटारा भी न्यायपालिका के द्वारा ही किया जाता है।

(2) **कानून की व्याख्या** (Interpretation of Law).—न्यायपालिका का एक महत्वपूर्ण कार्य यह है कि वह राज्य के कानूनो की व्याख्या करे। किसी न्यायाधीश के लिए इस बात का कोई महत्त्व नही है कि उसकी राय मे कानून अच्छा है या बुरा, या न्यायपूर्ण है अथवा अन्यायपूर्ण। उसे तो कानून जैसा है उसी रूप मे स्वीकार करना है, और उसे लागू करना है। इसलिए न्यायाधीश मुख्यत कानून का व्याख्याता है। व्यवस्थापिका कानून बनाती है। उसके सदस्य विधि-विशेषज्ञ नही होते। अत जो कानून निर्माण होता है उसमे कमी रह जाना स्वाभाविक है। अत कानून की परिभाषा करने का कार्य कानून के विशेषज्ञो को सौंपा जाता है। यह कानून विशेषज्ञ ही मिलकर न्यायपालिका का निर्माण करते है। न्यायपालिका कानून की व्याख्या तथा स्पष्टीकरण करती है। यह स्पष्टीकरण प्रशासन के कार्य मे बडा सहयोग देता है। जनता को न्याय के मामलो मे सन्तुष्ट करने का कार्य न्यायाधीशो का होता है। व्यवस्थापिका के पारित कानूनो की व्याख्या कर उनके औचित्य तथा अनौचित्य को वह सिद्ध करती है।

(3) **संविधान की सरक्षक** (Guardian of the Constitution).—सघीय सविधान मे न्यायपालिका सविधान की सरक्षक मानी जाती है। सविधान की रक्षा का कार्य न्यायपालिका को सौंपा गया है। सघ राज्यो मे केन्द्रीय और उप-राज्यो की सरकारो के बीच क्षेत्राधिकार सम्बन्धी विवादो का निर्णय करने का अधिकार न्यायपालिका को दिया गया है। व्यवस्थापिका के द्वारा बनाये गये कानून यदि सविधान की धारा के विरुद्ध है तो उन्हे अवैध घोषित करने का अधिकार इस सस्था को है। इस प्रकार न्यायपालिका सविधान की रक्षा करती है।

(4) **परामर्शदात्री** (Advisory) **के रूप में**—न्यायपालिका कार्यपालिका को कानून सम्बन्धी मामलो मे परामर्श देती है। भारत मे राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय से कानूनी परामर्श लेता है। वह किसी भी सार्वजनिक महत्व के प्रश्न को न्यायपालिका के पास भेजकर परामर्श लेता है। इसके विपरीत स० रा० अमेरिका मे न्यायपालिका राष्ट्रपति को परामर्श नहीं देती। वहाँ इस प्रकार की परम्परा नही है। इङ्गलैण्ड की सरकार भी प्रिवी कौन्सिल से कानून सम्बन्धी सलाह लेती रहती है। इस परामर्श को मानना या न मानना राष्ट्रपति या कार्यपालिका की इच्छा पर होता है। अतः न्यायपालिका एक परामर्शदाता की हैसियत मे राष्ट्रपति या कार्यपालिका को परामर्श देती है।

(5) स्वतन्त्रता एवं मूल अधिकारों की रक्षा (Protection of Liberty and Freedom) —प्रजातन्त्र में नागरिकों को अनेक प्रकार की स्वतन्त्रताएँ दी जाती है। इनकी रक्षा करना किसी देश की न्यायपालिका का कर्तव्य होता है। यदि कार्यपालिका नागरिकों की स्वतन्त्रता एवं मूल अधिकारों का अपहरण करती है तो वह व्यक्ति न्यायपालिका की शरण ले सकता है, जो उसकी स्वतन्त्रता एवं अधिकारों की रक्षा करती है। संकट काल को छोड़कर कार्यपालिका नागरिकों के अधिकारों से उन्हें वंचित नहीं कर सकती है।

न्यायपालिका के उपर्युक्त कार्यों से स्पष्ट हो जाता है कि यह कानूनों की व्याख्या करती है, नागरिकों के अधिकार तथा स्वतन्त्रता की रक्षा करती है। यह कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करती। यह तो यह देखती है कि प्रशासकीय अधिकारियों द्वारा किये गये कार्य उचित है अथवा नहीं। कानूनों का पालन किस सीमा तक हुआ है। न्यायपालिका स्वयं हस्तक्षेप नहीं करती। न्यायालय उस समय हस्तक्षेप करते हैं जब किसी नागरिक द्वारा प्रतिवाद प्रस्तुत किया जाता है कि किसी शासन तथा अधिकारी द्वारा उसके अधिकारों की अवहेलना की गई है। निम्न परिस्थितियों में न्यायालय हस्तक्षेप करने का अधिकार रखता है—

(i) विवेक का अनुचित प्रयोग (Abuse of discretion),

(ii) विधि या कानून की त्रुटि (Error of Law)

(iii) अधिकार क्षेत्र का अभाव (Lack of Jurisdiction),

(iv) प्रक्रिया सम्बन्धी त्रुटि (Error of procedure),

(v) तथ्य प्राप्ति में त्रुटि (Error in finding the Fact)

उपर्युक्त बातों में पीड़ित व्यक्ति या पक्ष (Party) न्यायालय में जा सकता है और अपनी सुरक्षा की माँग कर सकता है। अधिकारी द्वारा अपनी सीमाओं का उल्लंघन करने, गलत तथ्य पर निर्णय करने तथा अनुचित विवेक का प्रयोग करने पर भी कोई नागरिक न्यायपालिका की शरण ले सकता है और कार्यों तथा कानूनों की औचित्यता की जाँच करवा सकता है।

क्या कोई नागरिक सरकार पर मुकदमा चला सकता है ?
(Can a Citizen sue the Government ?)

लोक-प्रशासन में यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि सरकार की किसी कार्यवाही के परिणामस्वरूप यदि किसी नागरिक या नागरिकों को क्षति हुई हो तो क्या कोई नागरिक सरकार या सरकार के अधिकारी के विरुद्ध मुकदमा दायर कर सकते हैं। उसकी प्रकृति तथा क्षेत्र क्या होना चाहिए। इस सम्बन्ध में प्रत्येक देश में भिन्न भिन्न परिसमय या प्रथा है। जहाँ तक इंग्लैण्ड का प्रश्न है वहाँ सम्राट को कानून से ऊपर रखा गया है। उस पर किसी न्यायालय में मुकदमा नहीं चलाया जा सकता, न ही उसे किसी मामले में गवाही देने के लिए बुलाया जा सकता है। इसके पीछे धारणा

यह है कि इंग्लैण्ड में संसदीय व्यवस्था है जहाँ देश की प्रशासकीय शक्तियों का उपभोग व्यवहार में राजा न करके मन्त्रिमण्डल करता है। अतः प्रत्येक कार्य के लिए मन्त्रिमण्डल ही उत्तरदायी रहता है।

स० रा० अमेरिका में जहाँ अध्यक्षात्मक शासन-व्यवस्था है, वहाँ पर भी देश के अध्यक्ष अर्थात् मुख्यपालिका (जो राष्ट्रपति होता है) को कानून से ऊपर रखा गया है। वहाँ पर भी राष्ट्रपति को गिरफ्तार नहीं किया जा सकता। किसी न्यायालय में उस पर मुकदमा नहीं चलाया जा सकता। उस पर केवल महाभियोग (Impeachment) का मुकदमा चलाया जा सकता है, परन्तु यह कार्यवाही किसी न्यायपालिका में न होकर व्यवस्थापिका जिसे कांग्रेस कहा जाता है, में की जाती है। राष्ट्रपति के पद से हट जाने पर उस पर क्षतिपूर्ति (Compensation) तथा अपराधों के लिए, जिनको कि उसने अपनी पदावधि में किया हो, मुकदमा चलाया जा सकता है। स० रा० अमेरिका में राज्यों के राज्यपालों (Governors) को भी यह उन्मुक्तियाँ (Privileges) प्राप्त हैं।

भारत में भी राष्ट्रपति तथा राज्यों के राज्यपालों को गिरफ्तारी, दण्ड कार्यवाही तथा कारावास आदि से उन्मुक्त रखने की व्यवस्था संविधान में की गई है। हाल ही में किये गये सांविधानिक संशोधन के द्वारा राष्ट्रपति (President), उप-राष्ट्रपति (Vice-President), प्रधानमन्त्री (Prime Minister) तथा लोकसभा अध्यक्ष (Speaker) पर उनके कार्यकाल में दीवानी (Civil) तथा फौजदारी (Criminal) मुकदमा नहीं चलाया जा सकेगा। लेकिन पद से हटने पर उन पर दीवानी मुकदमा चलाया जा सकेगा, यद्यपि फौजदारी मुकदमा नहीं चलाया जा सकेगा। भारत में मन्त्रियों को यह उन्मुक्त विशेषाधिकार प्राप्त नहीं है। राज्य के अध्यक्ष द्वारा सम्पन्न कार्यों के लिए उनके ऊपर कोई कानूनी दायित्व नहीं है। अब यह विचार पुराना पड़ गया है कि सरकार एक सर्वोच्च सत्ता है और उस पर प्रशासकीय त्रुटियों के लिये कोई मुकदमा नहीं चलाया जा सकता है।

इंग्लैण्ड, स० रा० अमेरिका तथा भारत में न्यायिक अधिकारियों को उनकी क्षमता में किये गये कार्यों से उसको कानूनी उत्तरदायित्व से उन्मुक्त रखा गया है। चाहे उनके कार्य कितने ही त्रुटिपूर्ण तथा घृणास्पद क्यों न हों, उन पर मुकदमा नहीं चलाया जा सकता। न्यायाधीश को अपने अधिकार क्षेत्र का उल्लंघन करने पर भी दण्डित नहीं किया जा सकता।

भारत, अमेरिका तथा इंग्लैण्ड में प्रशासकीय अधिकारियों को कोई विशेषाधिकार नहीं प्रदान किये गये हैं। अपने पद की शक्तियों का दुरुपयोग करने पर उनके विरुद्ध प्रशासनिक तथा कानूनी कार्यवाही की जा सकती है। कोई भी अधिकारी यह बहाना नहीं कर सकता कि उसने अमुक कार्य उच्च अधिकारी के कहने पर किया है। फौजदारी मामलों में भी उनको कोई उन्मुक्ति प्रदान नहीं की गई है। कर्मचारियों के अधिकार-क्षेत्र का अतिक्रमण तथा सत्ता के दुरुपयोग करने पर उन पर मुकदमा

चलाया जा सकता है। मुकदमा दायर करने के पूर्व सरकार की स्वीकृति आवश्यक है। ऐसे कर्मचारियों पर मुकदमा नहीं चलाया जा सकेगा, जो अपने उत्तरदायित्वों को पूरा कानून की सीमाओं में करते हुए किसी को हानि हो जाती है।

लोक-प्रशासन तथा न्यायपालिका

(Public Administration and The Judiciary)

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि सरकार के तीन मुख्य अंग होते हैं—व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका। जब सरकार के ये तीनों अंग अलग-अलग अपने क्षेत्र में स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करते रहेंगे तो राज्य में निरंकुशता नहीं पनप सकती। आज सरकार के तीनों अंगों में न्यायपालिका का महत्त्व बहुत बढ़ गया है। कार्यपालिका तथा न्यायपालिका के मध्य गहरा सम्बन्ध है। न्यायपालिका का निर्माण यद्यपि कार्यपालिका के द्वारा होता है, पर वह कार्यपालिका पर ही नहीं, व्यवस्थापिका पर भी अपना नियन्त्रण रखती है। न्यायपालिका प्रशासन को निरंकुश व अत्याचारी होने से रोकती है। न्यायपालिका शासन का वह अंग है जो व्यवस्थापिका द्वारा बनाये गये कानूनों का स्पष्टीकरण तथा व्याख्या करती है। राज्य के व्यवस्थित जीवन के लिए न्यायपालिका के अस्तित्व की अत्यन्त गहन आवश्यकता है।

न्यायपालिका प्रशासन पर अपना नियन्त्रण रखती है। प्रशासन एक ओर न्यायपालिका की सहायता करता है तथा दूसरी ओर न्यायपालिका स्वयं प्रशासकीय कार्यों पर कानून के आधार पर नियन्त्रण रखती है। उदाहरण के लिए, जब कोई नागरिक अपराध करता है और उसे न्यायपालिका के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है, तो न्यायपालिका निष्पक्ष रूप से कानून के पक्ष में अपना निर्णय देती है। न्यायपालिका के आदेशों का पालन प्रशासन के द्वारा कराया जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रशासन न्यायपालिका को उसके कार्यों में मदद देता है तथा उसके आदेशों का पालन करवाता है। न्यायपालिका तथा प्रशासन में सहयोग होने के साथ-साथ न्यायपालिका प्रशासन पर नियन्त्रण रखती है। न्यायपालिका शासन का एक स्वतन्त्र अंग होता है तथा सरकारी कर्मचारी और साधारण नागरिक उसकी दृष्टि में समान हैं। यदि कोई व्यक्ति सरकारी अधिकारी होने के नाते अपने अधिकार का दुरुपयोग करता है तथा गैर-कानूनी कार्य करता है तो उस पर मुकदमा चलाया जा सकता है। न्यायपालिका कानून के आधार पर अपना निष्पक्ष निर्णय देती है, चाहे वह किसी के विरुद्ध क्यों न हो। इस प्रकार न्यायपालिका प्रशासन को निरंकुश होने से रोकती है।

न्यायपालिका का निर्णय प्रत्येक व्यक्ति, संस्था तथा संगठन को मानना अनिवार्य होता है। इसका अर्थ कदापि यह नहीं लिया जाना चाहिए कि न्यायपालिका निरंकुश होती है अथवा मनमाने प्रकार से निर्णय करने के लिए स्वतन्त्र है।

न्यायपालिकाओं के निर्णय पर कानूनों का नियन्त्रण होता है अर्थात् न्यायाधीश कानूनों के विरुद्ध कोई कार्य नहीं कर सकते हैं। जो कुछ भी कानून हैं उसी के आधार पर न्यायाधीशों को अपने निर्णय करने होते हैं। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि अधिकांश देशों में न्यायाधीशों की नियुक्ति कार्यपालिका (मुख्य कार्यपालिका) द्वारा की जाती है। कुछ विद्वान इस पद्धति के विरुद्ध हैं। उनका मत है कि यदि न्यायाधीश कार्यपालिका द्वारा नियुक्त होते हैं, तो वे निष्पक्ष निर्णय नहीं कर सकते। सरकार के अनुचित कार्यों को अनुचित कहने का साहस उनमें नहीं हो सकता। अतः उन्हें जनता द्वारा चुना जाना चाहिए अथवा व्यवस्थापिका द्वारा उनकी नियुक्ति की जानी चाहिए। इस पद्धति के द्वारा नियुक्त न्यायाधीशों के कार्यों में कार्यपालिका हस्तक्षेप नहीं कर सकेगी। कुछ विद्वान यह सुझाव देते हैं कि न्यायाधीशों को उनके पद से हटाने का अधिकार कार्यपालिका के पास नहीं होना चाहिए। यह अधिकार व्यवस्थापिका के पास होना चाहिए। संसदीय शासन व्यवस्था में इस सुझाव को मान लिया गया है। भारत में यद्यपि न्यायाधीशों की नियुक्ति कार्यपालिका के द्वारा होती है, परन्तु उन्हें हटाने का अधिकार व्यवस्थापिका को है।

कई विद्वानों ने न्यायपालिका को कार्यपालिका की एक शाखा माना है। इस विचार को मानने वालों में मुख्य ड्यूक्रोक (Ducrocu), प्रेडियर-फोडेर (Predier Fodere), ड्यूगी (Duguit) हैं। इनके अनुसार, "न्यायिक एक पृथक् सत्ता नहीं है, बल्कि कार्यपालिकीय शक्ति के अधीन है, जिसकी देख-रेख में उसे रखना चाहिए। यह केवल कार्यकारी शक्ति की कार्यवाहक होती है, जो कार्यपालिकीय सत्ता के अधीन है।"—ड्यूगी। यह सिद्धान्त पहले फ्रान्स में अपनाया गया था, परन्तु अब शासन में इसका कोई अस्तित्व नहीं है। स० रा० अमेरिका की क्रान्ति के पश्चात् न्यायपालिका की स्वतन्त्रता का सिद्धान्त लगभग सभी देशों में माना जाने लगा है। भारत में भी न्यायपालिका, कार्यपालिका या प्रशासकीय शाखा से स्वतन्त्र है।

आज सामान्यतया विधि के शासन (Rule of law) को महत्ता दी जाती है। डायसी (Dicey) का कथन है कि, "विधि के शासन में न तो किसी को दण्ड दिया जा सकता है और न किसी को शारीरिक कष्ट अथवा आर्थिक हानि पहुँचाई जा सकती है, जब तक कि उसका किसी विधि विरुद्ध आचरण देश के सामान्य न्यायालय में सिद्ध न हो जाये।" विधि के शासन का अर्थ दूसरे शब्दों में यों किया जा सकता है कि—कानून के समक्ष सब बराबर है अर्थात् विधि से ऊपर देश में कोई भी व्यक्ति नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति चाहे कितना ही बड़ा या महान् क्यों न हो, देश की सामान्य विधि को मानने के लिए बाध्य है। इस प्रकार की व्यवस्था इग्लैंड में है। भारत में भी कानून या विधि के शासन को स्थान दिया गया है।

सामान्य न्यायालयों के अतिरिक्त एक और प्रकार के न्यायालय होते हैं जिन्हें प्रशासकीय न्यायालय (Administrative Courts) कहते हैं। इस प्रकार की व्यवस्था फ्रान्स तथा स्विटजरलैंड में पाई जाती है। आज यूरोप के बहुत से देशों में इस पद्धति को अपनाया गया है।

प्रशासकीय विधि द्वारा सरकारी कार्यों का नियमन किया जाता है। इसमें राज्य कर्मचारी एवं नागरिकों के बीच हुए झगड़ों का निर्णय किया जाता है। इसके अतिरिक्त प्रशासकीय कर्मचारियों के पारस्परिक झगड़ों का निर्णय भी इन्हीं न्यायालयों में होता है। जहाँ भी इस प्रकार की व्यवस्था है, प्रशासन से सम्बन्धित झगड़े साधारण न्यायालय द्वारा निर्णीत नहीं होते, बल्कि प्रशासकीय न्यायालय द्वारा निर्णीत होते हैं। प्रशासकीय कार्यों को कार्यान्वित करने में प्रशासकीय कर्मचारियों पर प्रशासकीय कानून लागू होता है, न कि सामान्य कानून। इन कानूनों का निर्माण प्रशासन के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए होता है। जो लोग प्रशासकीय कानून तथा न्यायालयों के पक्ष में हैं, वे यह तर्क देते हैं कि साधारण न्यायालयों के न्यायाधीश प्रशासकीय कार्यों, उनकी प्रकृति तथा उनसे सम्बन्धित प्रश्नों को समझने में असमर्थ होते हैं, अतः प्रशासन से सम्बन्धित झगड़ों का निपटारा वह उचित ढंग से नहीं कर सकते। इंग्लैंड तथा सं० रा० अमेरिका में इस प्रकार के कई उदाहरण मिल जायेंगे जहाँ न्यायाधीशों में प्रशासन सम्बन्धी योग्यता नहीं होने से, जो प्रशासन व नागरिकों में संघर्ष उत्पन्न होते हैं, उनका निर्णय वे व्यक्तिगत विधान के अनुसार करेंगे, और इस प्रकार प्रशासन तथा लोक-नीति में कोई साम्य नहीं रह जायेगा।

कुछ लेखक प्रशासकीय न्यायालयों (Administrative Courts) अथवा प्रशासकीय विधान की कटु आलोचना करते हैं। उनके अनुसार प्रशासकीय विधान या कानून (Administrative Law) को कार्यान्वित करने पर व्यक्ति की स्वतन्त्रता एवं सुरक्षा का हनन होता है। दूसरी बात यह है कि प्रशासकीय न्यायालय समय के अनुकूल नहीं है। प्रजातान्त्रिक राज्यों में उनका कोई महत्त्व नहीं है। प्रो० लास्की ने कहा है, "डायसी ने विधि शासन की कल्पना जिसमें विशेषकर प्रशासकीय न्याय के लिए फ्रान्स में न्यायालयों की सृष्टि की गई थी, समय के प्रवाह से व्यर्थ सिद्ध हुई है। डायसी के न्यायालयों की विविधता का कारण यह है कि वह व्यक्ति और राज्य को एक-दूसरे का विरोधी मानता है। उसके लिए उसने विधि शासन में सन्तुलन रखने के लिए निष्पक्ष न्यायालयों की सृष्टि आवश्यक समझी।

यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि प्रजातन्त्रात्मक राज्यों के लिए प्रशासकीय न्यायालय उत्तम है या विधि का शासन। प्रशासकीय न्यायालयों पर यह आरोप लगाया जाता है कि वे गुप्त स्थानों पर निर्णय देते हैं। इसमें राज्य को अधिक महत्त्व दिया जाता है। कुछ विद्वान इन्हें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को नष्ट करने वाला

तथा लाल फीताशाही को शक्ति प्रदान करने वाला बताते हैं। ये प्रशासकीय न्यायालय प्रजातन्त्र के अनुरूप सिद्ध नहीं होते। नागरिकों को राज्य में पूर्ण स्वतन्त्रता विधि के शासन में ही मिलती है। अतः विधि शासन ही श्रेष्ठतम है।

न्यायिक उपचार के साधन
(Means of Judicial Remedies)

(1) बन्दी प्रत्यक्षीकरण आदेश *(The Writ of Habeas Corpus)* :

बन्दी प्रत्यक्षीकरण का शाब्दिक अर्थ है 'शरीर रूप से उपस्थित करना'। यह न्यायालय के द्वारा दिया जाने वाला वह आदेश है जो किसी ऐसे व्यक्ति को दिया जाता है जिसने किसी दूसरे व्यक्ति को गैर-कानूनी रूप से नजरबन्द कर रखा है। नजरबन्द किये गये व्यक्ति की वैधानिकता की जाँच करने के लिए न्यायालय इस प्रकार के आदेश का प्रयोग कर सकता है और यह आदेश दे सकता है कि बन्दी व्यक्ति को न्यायालय के सामने प्रस्तुत किया जाए और यह जाँच की जा सके कि उसकी नजरबन्दी उचित है या अनुचित। *न्यायालय इस प्रकार का कदम तभी उठाता है जब बन्दी व्यक्ति या* उसका प्रतिनिधि इस प्रकार की याचना न्यायालय को करे। यहाँ 'Writ' शब्द के अर्थ को भी समझ लेना आवश्यक है। 'Writ' लैटिन भाषा का शब्द है, जिसका आशय होता है 'व्यावहारिक प्रकृति का एक औपचारिक पत्र (Formal Letter)। इस प्रकार 'Writ' एक औपचारिक लेख है जिसका लक्ष्य प्रत्यक्षीकरण के लिए किसी व्यक्ति अथवा सम्पत्ति के अधिकार-क्षेत्र का निर्णय करने के लिए विधि न्यायालय के सम्मुख प्रस्तुत करना। व्यक्ति स्वतन्त्रता की गारन्टी का यह सबसे महत्त्वपूर्ण साधन है।

(2) परमादेश (The Writ of Mandamus)

न्यायपालिका के द्वारा यह आदेश बहुत ही सीमित तथा विशेष परिस्थितियों में प्रसारित किया जाता है। इसे प्रयोग करना अथवा न करना न्यायपालिका के विवेक पर निर्भर करता है। यह आदेश उन व्यक्तियों (अधिकारियों) तथा निकायों *को दिया जाता है जो अपने प्रशासकीय उत्तरदायित्वों का पालन नियमानुसार नहीं* करते। इस आदेश के द्वारा उन प्रशासकीय अधिकारियों तथा निकायों को उन नियमों का पालन करने के लिए कहा जाता है, जिनका पालन उन्होंने अपने कर्त्तव्यों को पूरा करते समय नहीं किया था। परमादेश प्रार्थी का अधिकार नहीं है। यदि अधिकृत न्यायालय के पास परमादेश का विकल्प होता है तो उसी का प्रयोग किया जाता है। यह परमादेश निगम (Corporation), मण्डल (Boards), तथा व्यक्ति को दिया जाता है। यह विधि के अनुकूल कार्य करने का आदेश है। परमादेश निम्न स्थितियों में नहीं दिया जा सकता—

(1) विधायकों (Legislators) को विधायनी कर्तव्यों को पूरा करने के लिए परमादेश प्रसारण द्वारा बाध्य नहीं किया जा सकता।

(ii) मुख्य कार्यपालिका के विरुद्ध परमादेश के प्रयोग को काम में नहीं लाया जा सकता।

(iii) परमादेश का प्रयोग उस स्थिति में भी नहीं किया जाता जिसमें कर्मचारी को अवैध अथवा असम्भव कार्य करने के लिए कहा जाए।

(3) निषेध-आज्ञा (Injunction)

न्यायालय का यह वह आदेश है जिसके द्वारा किसी काम को करने से रोकना अथवा उसे करने के लिए बाध्य करना। जैसे कोई व्यक्ति नौकरी से हटाया जा रहा हो अथवा सरकार द्वारा किसी की सम्पत्ति (Property) छीनी जा रही हो तो उस कार्य को तब तक रोकने का यह आदेश है जब तक कि न्यायालय उस पर अपना निर्णय न दे दे। प्रभावित व्यक्ति न्यायपालिका से निषेधाज्ञा प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार की आज्ञा देने का अधिकार उच्च तथा सर्वोच्च न्यायालय को प्राप्त है। भारत में इसका प्रयोग व्यापक मात्रा में होता है। व्यक्ति अपने अधिकारों की रक्षा के लिए इस प्रकार की निषेधाज्ञा प्राप्त करते हैं।

(4) उत्प्रेषण आदेश (The Writ of Certiorari)

इसका शाब्दिक अर्थ है 'प्रमाणित करना' (To certify) यह उच्च न्यायालय द्वारा निम्न न्यायालय को जारी किया गया आदेश है, जिसमें वह निम्न न्यायालय को यह आदेश देता है कि वह किसी विशिष्ट मुकदमे से सम्बन्धित सभी कागजात उच्च न्यायालय को प्रस्तुत करे। इस युक्ति का प्रयोग कभी-कभी निम्न कार्यपालिका के कर्मचारियों तथा न्यायाधिकरणों (Tribunals) की कार्य-विधि की समीक्षा करने के लिए भी किया जाता है। साधारणतया यह आदेश तब दिया जाता है जब निम्न न्यायालय के द्वारा किसी वाद (झगड़े) के सम्बन्ध में निर्णय दे दिया जाता है और उसमें तथ्य अथवा कानून की त्रुटि रह जाती है। यदि न्यायालय चाहे तो प्रार्थी की इस माँग को नामंजूर भी कर सकता है। उत्प्रेषण आदेश का महत्त्व प्रशासकीय अधिकारियों के अर्द्ध-न्यायिक कार्यों (Quasi-Judicial Functions) के सम्बन्ध में भारी है। इस आदेश को जारी करने से पहले निम्न बातों का होना आवश्यक है—

(i) प्रशासकीय न्यायाधिकरण द्वारा किया गया कार्य उसकी शक्तियों की सीमा से बाहर है।

(ii) शिकायत करने वाले पक्ष को किसी उच्चतर प्रशासकीय न्यायाधिकरण अथवा न्यायालय में अपील करने का अधिकार न हो।

(iii) इसका कोई अन्य सामान्य उपचार (Ordinary Remedy) न हो।

उत्प्रेषण आदेश का प्रयोग उस समय तक नहीं किया जा सकता, जब तक कि सरकार या सरकारी कर्मचारियों के कार्य अर्द्ध-न्यायिक नहीं हैं।

(5) अधिकार पृच्छा आदेश (The Writ of Quo-Warranto):

पृच्छा आदेश का शाब्दिक अर्थ है 'किस अधिकार के द्वारा'। यह आदेश किसी सार्वजनिक पद (Public Office) को अवैध मान्यता को अथवा किसी व्यक्ति

द्वारा किसी सार्वजनिक पद के जबरदस्ती अधिकार को रोकना है। इस आदेश के द्वारा किसी व्यक्ति के पद के ऊपर दावे के कानूनी औचित्य की जांच की जा सकती है। अमेरिका मे इस अधिकार का प्रयोग अटॉर्नी-जनरल के द्वारा राज्य के नाम मे किया जाता है। इग्लैंड मे इस आदेश की मांग के लिए क्राउन (Crown) की ओर से प्रार्थना अटॉर्नी-जनरल के द्वारा ही की जाती है। इसमे यह सिद्ध करने का उत्तरदायित्व, के अमुक पद पर आसीन अथवा पदच्युत अधिकारी का अधिकार है अथवा नही, प्रार्थी पर ही होता है।

भारत मे सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court) तथा उच्च न्यायालयो (High Courts) को सविधान के द्वारा यह अधिकार प्राप्त है कि वे नागरिको के मूल अधिकारो (Fundamental Rights) की रक्षा के लिए ऐसे आदेश, निर्देश तथा लेख, जिनके अन्तर्गत बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, उत्प्रेषण तथा पृच्छा आदि सम्मिलित हैं, देने का अधिकार है। स्वतन्त्रता से पूर्व हमारे न्यायालयों के पास इस प्रकार के कोई अधिकार नही थे। केवल सीमित रूप मे बन्दी प्रत्यक्षीकरण तथा परमादेश जारी करने का अधिकार था। परन्तु भारत की स्वतन्त्रता के बाद नागरिको के अधिकारो की रक्षा का भार न्यायपालिकाओ को सौंपा गया है। अपने उत्तरदायित्व को पूरा करने के लिए वे उपर्युक्त साधनों का प्रयोग कर सकती है।

परीक्षोपयोगी प्रश्न

1 प्रशासन पर न्यायपालिका के नियन्त्रण के महत्त्व की व्याख्या कीजिए।
Describe the importance of Judicial control over public administration

2 न्यायिक उपचार के साधनो का वर्णन कीजिये।
Discuss the means of Judicial remeldies.

3 क्या नागरिक द्वारा सरकार पर मुकदमा दायर किया जा सकता है ? भारत, इग्लैंड तथा अमेरिका का उदाहरण देते हुए व्याख्या कीजिए।
Can Government be sued by citizen ? Elucidate with reference to India, England and U S A.

4 आधुनिक राज्यों मे न्यायपालिका के महत्त्व को दर्शाते हुए उनके कार्यों का वर्णन कीजिये।
Describe the importance of the Judiccary in the modern state and discuss its function.

6

प्रशासकीय संगठन और उसके मौलिक सिद्धान्त

(ADMINISTRATIVE ORGANISATION AND ITS BASIC PRINCIPLES)

लोक-प्रशासन में संगठन का अत्यधिक महत्त्व है। प्रशासकीय सफलता एवं असफलता प्रशासकीय संगठन पर ही आधारित है। बड़े पैमाने पर जब कोई कार्य किया जाता है, चाहे वह सरकारी कार्य हो अथवा निजी, सबसे पहले संगठन की व्यवस्था की जाती है। कोई भी संस्था चाहे वह धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक हो, सफलतापूर्वक कार्य नहीं कर सकती जब तक कि उसका संगठन अच्छा न हो। किसी भी कार्य को करने के लिए पहले उस कार्य के लिए एक योजना बनाई जाती है, और योजनानुसार कार्य करने के लिए संगठन की आवश्यकता होती है। किसी भी संस्था (सरकारी या गैर-सरकारी) में, चाहे उसके कर्मचारी कितने भी कार्य-कुशल क्यों न हों, उस संस्था का कार्य तब तक सुचारु रूप से नहीं चल सकता जब तक कि उसकी समस्त व्यवस्था सुसंगठित न हो। यह पहले ही बताया जा चुका है कि लोक-प्रशासन वह साधन है जिसके द्वारा उन लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है जो राज्य की सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति के द्वारा निर्धारित किये जाते हैं। ये लक्ष्य लोक-प्रशासन के द्वारा तब तक प्राप्त नहीं किये जा सकते, जब तक कि उसका प्रशासकीय संगठन ठीक प्रकार का न हो।

आधुनिक युग में लोक-प्रशासन का कार्य-क्षेत्र अधिक विस्तृत एवं व्यापक हो गया है। मानव जीवन के प्रत्येक पहलू से लोक-प्रशासन का सम्बन्ध है। लोक-प्रशासन राज्य की सुरक्षा के साथ ही साथ स्वास्थ्य, शिक्षा, मनोरंजन, बेकारी को दूर करना, अकाल से रक्षा आदि का प्रबन्ध भी करता है। वैज्ञानिक आविष्कारों ने लोक-प्रशासन के उत्तरदायित्वों में और अधिक वृद्धि की है और इस कारण यातायात, डाक सेवा, टेलीफोन, तार आदि का प्रबन्ध भी करना पड़ता है। इन उत्तरदायित्वों को पूरा करने के लिए कुशल लोक-कर्मचारियों से भी बढ़कर जिस बात की आवश्यकता होती है, वह है संगठन। सब कर्मचारियों को किस प्रकार से एक सूत्र में बाँध कर रखा जाय, उनसे कार्य किस प्रकार लिया जाए, कार्य के उत्तरदायित्व

को निभाने के लिए कितने अधिकार दिये जाएँ आदि अच्छे सगठन की महत्त्वपूर्ण बातें हैं। प्रो० एल०डी० ह्वाइट के शब्दो मे, "खराब सगठन वह है, जिसमे विभागों का समुचित विभाजन न हुआ हो, जिसमे एक ही कार्य को एक से अधिक व्यक्ति करते हो, जहाँ स्पष्ट उत्तरदायित्व का अभाव हो, जहाँ कार्य का उचित-ताल-मेल न हो, जहाँ नियन्त्रण ढीला हो, जहाँ शक्तियो को हस्तान्तरित करने की क्रिया प्रभावपूर्ण न हो तथा जहाँ सन्तुलन का अभाव हो।"

अतः सक्षेप मे हम कह सकते हैं कि सगठन का अर्थ कर्मचारी वर्ग के कार्यों तथा उत्तरदायित्वो की ऐसी व्यवस्था से है जिससे कि उन सामान्य और निश्चित उद्देश्यो को प्राप्त किया जा सके, जिनके लिए वे परस्पर कार्य करने के लिए एकत्रित हुए थे। किसी भी उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए योजना-बद्ध रूप से कार्य किया जाना है। कार्यों और साधना की इस पूर्व योजना को ही सगठन कहा जाता है।

संगठन शब्द का अर्थ और परिभाषा

(Meaning and Definition of Organisation)

'सगठन' शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थो मे किया जाता है, जैसे—

(i) व्यवस्थित ढाँचे का निर्माण तथा तदनुकूल कार्य करना।

(ii) योजना के अनुसार कार्य करना।

(iii) कार्य के रूप अथवा आकार का पूर्व निश्चय करना।

(iv) किसी वस्तु के प्रत्येक भाग को विशिष्ट महत्त्व देना।

(v) विभिन्न व्यक्तियो के मध्य कार्यों का विभाजन करना।

स्पष्टता व सुनिश्चितता की दृष्टि से कुछ विद्वान 'सगठन' शब्द का अर्थ 'प्रशासकीय ढाँचे का प्रारूप तैयार करने का कार्य' से लेते हैं। उरविक (Urwick) का मत है कि सगठन का अर्थ ढाँचे का 'रूपाकन (designing) मात्र होना चाहिए। जिस प्रकार कार (Car) का रूपाकन, उसका निर्माण तथा स्वयं कार ये तीन भिन्न अवस्थाएँ है। उनका मानना है कि जिस प्रकार रूपाकन का अर्थ निर्माण नही है, ठीक इसी प्रकार सगठन को प्रशासकीय ढाँचे का निर्माण, अथवा स्वय प्रशासकीय ढाँचा मानना गलत होगा। उनके अनुसार, "किसी ध्येय की पूर्ति के लिए आवश्यक कार्यों के बारे मे निश्चित करने, तथा उन कार्यों को इस प्रकार के समूहो मे विभाजित करने को सगठन कहा जा सकता है, जो व्यक्तियो को सौंपे जा सके।"

साधारणतया किसी कार्य को योजनाबद्ध रूप मे करना ही सगठन है। सगठन शब्द को अग्रेजी मे 'Organisation' कहते हैं। 'कॉन्साइज ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी' (*Concise Oxford Dictionary*) *मे सगठन शब्द का अर्थ के सम्बन्ध मे लिखा है,* "किसी वस्तु का आकार निश्चित करना तथा उसको कार्य करने की स्थिति मे लाना" (*To frame and put into working order*) या "किसी वस्तु का व्यवस्थित ढाँचा बनाना" (To give orderly structure to) ही सगठन है। इस

दृष्टि से संगठन का अर्थ होता है कि किसी भी वस्तु को काम में लाने के लिए उसके भागों को एकत्रित करके उसमें सामंजस्य स्थापित करना। जिस प्रकार किसी मशीन के विभिन्न कलपुर्जों का संगठन किया जाता है, तभी वह मशीन कुशलतापूर्वक कार्य कर सकती है, इसी प्रकार लोक-प्रशासन में भी व्यवस्थित ढाँचा बनाना होता है। इसमें लोक कर्मचारियों तथा पदाधिकारियों के कार्यों आदि का निर्धारण व्यवस्थित ढंग से किया जाता है। विभिन्न विद्वानों द्वारा संगठन शब्द की दी गई कुछ परिभाषाएँ निम्न हैं—

लूथर गुलिक (Luther Gullick) ने संगठन शब्द की परिभाषा करते हुए लिखा है कि "संगठन सत्ता का वह औपचारिक ढाँचा है, जिसके द्वारा किसी निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए विभागीय कार्यों को क्रमबद्ध किया जाता है और उनका समन्वय किया जाता है।" ("Organisation is the formal structure of authority through which work sub-divisions are arranged, defined and co-ordinated for defined objectives.")

फिफनर (Pfiffner) ने संगठन के अर्थ पर प्रकाश डालते हुए लिखा है, "संगठन में व्यक्तियों का व्यक्तियों से तथा समूहों का समूहों से सम्बन्ध शामिल होते हैं, जो कि ऐसे सम्बन्धित होते हैं जिससे व्यवस्थित श्रम-विभाजन लाया जाता है।" ("Organisation consists of the relationship of individuals to individuals and of groups to groups, which are so related as to bring about an orderly division of labour.")

प्रो० व्हाइट (White) के मतानुसार, "किसी निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कार्यों एवं उत्तरदायित्वों का विभाजन तथा कर्मचारियों की व्यवस्था को संगठन कहते हैं।" ("Organisation is the arrangement for facilitating the accomplishment of some agreed purpose through a location of functions and responsibilities.")

उरविक (Urwick) के अनुसार, "उन क्रियाओं का निर्धारण करना, जो कि किसी भी कार्य अथवा योजना के लिए आवश्यक हों और उनको ऐसे वर्गों में क्रमबद्ध करना, जो कि विभिन्न व्यक्तियों को सौंपे जा सकें।" ("Organisation is the determining of what activities are necessary to any purpose and arranging them in groups which may be assigned to individuals.")

प्रो० मूने (Mooney) के अनुसार, "व्यक्तियों का प्रत्येक समुदाय जिसका लक्ष्य सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति करना है, संगठन कहलाता है।" ("Organisation is the form of every human association for the attainment of a common purpose.")

प्रो० ग्लैडन (Gladden) के शब्दों में, "संगठन का सम्बन्ध किसी उद्यम में लगे व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों के उस प्रकार अथवा स्वरूप से है जिसका निर्माण इस प्रकार किया जाना चाहिए जिससे वे उद्यम के कार्यों को पूरा कर सकें।"

विलियम शूल्ज (J W Schulze) के द्वारा दी गई संगठन की परिभाषा उल्लेखनीय है। उसके अनुसार, "एक संगठन उन आवश्यक मानवों का साधन, सामग्री, स्थान और अन्य आवश्यक वस्तुओं को व्यवस्थित तथा प्रभावशाली ढंग से जुटाने से है, ताकि वांछित उद्देश्यों की प्राप्ति हो सके।" ("An Organisation is a Combination of the necessary human beings, materials, tools, equipment, working space and appurtenerce brought together is systematic and effective co-ordination to accomplish desired objectives ")

प्रो० जॉन एम० गॉस के अनुसार, 'संगठन कर्मचारियों की वह व्यवस्था है जिसमें प्रत्येक विभिन्न प्रकार के कार्य एवं उत्तरदायित्व समर्पित करते हुए निश्चित योजना को सुचारु रूप से पूर्ण किया जाता है।' ("Organisation is the arrangement of personnel for facilitating the accomplishment of some agreed purpose through allocation of functions and responsibility ")

मिलवर्ड (Milward) के अनुसार, "संगठन परस्पर में सम्बन्धित पदों के ढाँचे का एक तरीका है जो कि हस्तान्तरित सत्ता की श्रेणी से सम्बन्धित रहते हैं।" ("Organisation structure is a pattern of inter-related posts connected by line of delegated authority ")

संगठन का उदय :

संगठन का उदय किसी ध्येय अथवा उद्देश्य की प्राप्ति के लिए होता है। कुछ व्यक्ति ऐसा अनुभव करते हैं कि किसी विशिष्ट कार्य की सिद्धि के लिए एक नये संगठन का निर्माण करना चाहिए। जैसे भारत के विभाजन के कारण उत्पन्न हुई शरणार्थी समस्या का हल करने के लिए केन्द्र तथा राज्यों में पुनर्वास मंत्रालय की स्थापना की गई। इसी प्रकार ब्रिटिश शासन काल में भारतीयों के हितों की रक्षा उनकी माँगों की तरफ ब्रिटिश सरकार का ध्यान आकृष्ट करने के लिए एक संगठन की आवश्यकता महसूस की गई और A O Hume ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की नींव रखी। प्रत्येक नई आवश्यकता की पूर्ति के लिये नये संगठन की स्थापना नहीं की जाती। पहले यह देखा जाता है कि क्या नये कार्यों को किसी विभाग या संगठन को सौंपा जा सकता है। नये संगठन की स्थापना तब की जाती है जबकि नया उद्देश्य या कार्य इतना बड़ा तथा महत्वपूर्ण है कि किसी विभाग के द्वारा उसके उत्तरदायित्वों के भार को वहन नहीं किया जा सकता, अथवा कार्य

का प्रकार भिन्न है, तो नये नये संगठन की रचना की जाती है। लेकिन नये संगठन का उदय तथा पुराने संगठन के लोप की प्रक्रिया चालू रहती है। कई बार किसी अस्थायी, परन्तु महत्त्वपूर्ण कार्य अथवा उद्देश्य की पूर्ति के लिये संगठन बनाये जाते हैं, परन्तु जैसे ही उद्देश्य या कार्य पूरा हो जाता है, संगठन भी समाप्त कर दिया जाता है जैसे पुनर्वास विभाग, जो शरणार्थी समस्या के हल होने के साथ समाप्त कर दिया गया।

संगठन के विषय में विभिन्न धारणाएँ
(Various Approaches about Organisation)—

संगठन के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न दृष्टिकोणों का प्रतिपादन किया है। ये दृष्टिकोण निम्न हैं —

(1) संगठन सम्बन्धी यान्त्रिक धारणा

कई विद्वान ऐसे हैं जो संगठन को यन्त्र के रूप में मानते हैं। इन विद्वानों में प्रो० उरविक (Urwick) का नाम मुख्य रूप से उल्लेखनीय है। उरविक के मतानुसार संगठन का स्वरूप यान्त्रिक है। इसी कारण उनके दृष्टिकोण को यान्त्रिक अथवा इन्जिनियरिंग दृष्टिकोण (Mechanistic or the Engineering approach) भी कहा जाता है। उरविक का कहना है कि संगठन एक मोटर-कार के समान है। जिस प्रकार मोटर-कार को बनाने में विभिन्न प्रकार की प्रक्रियाओं का प्रयोग होता है तथा उसके विभिन्न प्रकार के नमूने तैयार किये जाते हैं, उसी प्रकार संगठन के बनाने में विभिन्न प्रकार के नियम तथा प्रक्रिया काम में लाई जाती है। लोक-प्रशासन में भी विभिन्न व्यक्तियों को विभिन्न कार्य सौंपे जाते हैं तथा उनके कार्यों को नियम द्वारा मर्यादित कर दिया जाता है। यान्त्रिक दृष्टिकोण को अमेरिका में व्यापक समर्थन प्राप्त है। यह दृष्टिकोण इस बात में विश्वास करता है कि प्रशासन एवं उसके संगठन में उसकी रूप-रेखा अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें पहले संगठन की रूप-रेखा तैयार कर उसके अनुरूप कर्मचारियों को प्राप्त किया जाता है। इस दृष्टिकोण में मनुष्य का संगठन में वही स्थान है जो मशीन में उसके विभिन्न पुर्जों का। मशीन की योजना तैयार हो जाने पर पुर्जों को उसके अनुसार समायोजित अथवा फिट किया जा सकता है।

प्रो० उरविक के इस विचार की बहु आलोचना की गई। आलोचना का मुख्य आधार यह है कि इसमें मानवीय तत्त्व के महत्त्व की उपेक्षा की गई है। जब मानवीय सामग्री ही उपलब्ध नहीं होगी तो संगठन कैसे कार्य कर सकता है। किसी भी संगठन का सफल कार्य-संचालन मनुष्यों पर ही निर्भर करता है, केवल संगठन के नमूने पर नहीं। मनुष्य को मशीन के पुर्जे के समान समझना नितान्त गलत कल्पना है। व्यक्ति एक जीवित प्राणी है जबकि मशीन का पुर्जा एक निर्जीव पदार्थ है। मनुष्यों से हम पुर्जे के समान काम नहीं ले सकते। मशीन के पुर्जों को उसमें फिट किया जाता है, उसको खरीदा जा सकता है, घिस जाने पर उसे फिर जा सकता है, उसे

पिघलाया जा सकता है उसे तोड़ा जा सकता है, उसे फेंका जा सकता है तथा उसके स्थान पर नया पुर्जा लगाया जा सकता है। परन्तु प्रशासन में एक प्रशासक अपने कर्मचारियों को, जो प्रशासकीय मशीन के पुर्जे कहे जाते हैं, इस प्रकार नहीं टाल सकता। उनसे काम लेने के लिए स्वभाव इच्छाओं, भावनाओं आदि का ध्यान रखना पड़ता है। जो प्रशासक इन तत्वों का ध्यान नहीं रखता, वह प्रशासन में कभी सफल नहीं हो सकता। अतः संगठन में लगे व्यक्तियों के साथ मशीन के पुर्जे का सा व्यवहार नहीं किया जा सकता। संगठन का यह मानव-विहीन दृष्टिकोण इस तथ्य की उपेक्षा करता है कि मनुष्य, जो संगठन की इकाइयाँ होता है ऐसे पूर्व निर्धारित उद्देश्य तथा स्तर के अनुरूप कार्य करते हैं जिनमें कि उसकी भावनात्मक इच्छाएँ (Subjective desires) तथा आकांक्षाएँ संगठन के उद्देश्य की प्राप्ति में हस्तक्षेप न करें। हेनरी फॉयल ने संगठन में मानवीय तत्व के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए लिखा है, "यदि हम मानवीय तत्त्व को हटा दें तो संगठन को बनाना बहुत ही सरल हो जायेगा और यदि वर्तमान व्यवहार की जानकारी हो और आवश्यक पूँजी हो तो कोई भी इसे कर सकता है। परन्तु केवल उन लोगों को वर्गों में बाँट कर और उन्हें काम दे कर ही हम प्रभावशाली संगठन नहीं बना पावेंगे। हमें इसकी भी जानकारी होनी चाहिए कि प्रत्येक परिस्थिति या मामले की आवश्यकता के अनुसार संगठन को कैसे ठीक बनाया जा सकता है और प्रत्येक आवश्यक व्यक्ति को, ठीक उस स्थान पर कैसे रखा जा सकता है, जहाँ वह सर्वाधिक उपयुक्त सिद्ध हो सके ... ...।"

(2) संगठन के सम्बन्ध में मानवीय दृष्टिकोण

संगठन के सम्बन्ध में दूसरा दृष्टिकोण है कि 'संगठन का निर्माण मानवीय सामग्री के अनुसार किया जाए अथवा मानवीय सामग्री का प्रायोजन इस प्रकार किया जाए कि वह संगठन के अनुरूप हो सके। इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उठता है कि 'क्या संगठन का ढाँचा मानवीय योग्यताओं को ध्यान में रखते हुए बनाना चाहिए अथवा मानव योग्यताओं का बिना ध्यान किये हुए ही संगठन का निर्माण करना चाहिए' इस प्रश्न पर विद्वान एकमत नहीं हैं। कुछ विद्वान इस बात का समर्थन करते हैं कि संगठन के आदर्श ढाँचे का निर्माण करके फिर उसमें व्यक्तियों को उनकी योग्यताओं के अनुरूप समायोजित किया जाए। दूसरी ओर कुछ विद्वानों की यह धारणा है कि हमें संगठनात्मक ढाँचे का समायोजन व्यक्तियों की योग्यताओं के अनुरूप करना चाहिए। उरविक इस विचार के समर्थक हैं कि आदर्श सिद्धान्तों के आधार पर संगठनात्मक ढाँचे का निर्माण कर लिया जाना चाहिए पहले 'आकृति' अथवा संगठन रचनापूर्ण किया जाए और फिर प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यता के अनुरूप संगठनात्मक ढाँचे में उपयुक्त स्थान पर बैठा दिया जाए। किन्तु उरविक अपने मत में उदार हैं। उनके अनुसार, आवश्यकता उत्पन्न होने पर संगठन में भी व्यक्ति की आवश्यकताओं का ध्यान रखते हुए परिवर्तन करने के लिए तैयार रहना चाहिए। किन्तु यदि पहले उसमें व्यक्तियों का चुनाव कर लिया हो तो बाद में

संगठनात्मक ढाँचे का निर्माण करते समय, वह उन सभी व्यक्तियों को कहीं-न-कहीं समायोजित करने का प्रयत्न करेगा और ऐसा करने से जिस संगठन का निर्माण होगा, उसकी उपमा एक जोड लगे हुए पाजामे से दी जाती है। उर्विक ऐसे संगठन को "निर्दयी, अपव्ययी तथा अकुशल" (Cruel, wasteful and inefficient) कहा है। वास्तविकता यह है कि संगठन की रूपरेखा तैयार करते समय मानवीय तत्व का भी हमें ध्यान रखना चाहिए।

(3) औपचारिक बनाम अनौपचारिक संगठन सम्बन्धी दृष्टिकोण.

औपचारिक संगठन (Formal Organisation) वह संगठन है जिसमें पहले से ही निश्चित सिद्धान्तों एवं उपलब्ध मानव तत्त्व के आधार पर योजना तैयार कर ली जाती है तथा अधिकारियों, प्रशासकों तथा अधीनस्थ कर्मचारियों के सम्बन्धों का विवरण लिखित आचार-संहिताओं, चार्टों तथा रेखाचित्रों में कर दिया जाता है, जिनमें परिवर्तन सुगमता से नहीं होते। इसके विपरीत अनौपचारिक संगठन (Informal Organisation) प्रशासन का वह दृष्टिकोण है, जो संगठन में सम्बन्धित है, पदाधिकारियों के वास्तविक आचरण पर अवलम्बित है। कभी-कभी दो अधिकारियों (एक उच्च तथा दूसरा निम्न) के बीच औपचारिक दृष्टि से भले ही निम्न और उच्च का भेद हो, परन्तु यदि निम्न अधिकारी का व्यक्तित्व बहुत प्रभावशाली हो या उच्च सत्ताधारी व्यक्तियों के साथ घनिष्ठ और मित्रवत् सम्बन्ध हों तो उच्च और निम्न का औपचारिक भेद समाप्त हो जाता है। इसके विपरीत अनौपचारिक स्थिति के कारण संगठन के औपचारिक ढाँचे का गड़बड़ा (Complex) अव्यवस्थित हो जाता है। इस प्रकार अनौपचारिक संगठन का दृष्टिकोण संगठन पर व्यक्तियों के प्रभाव को उजागर करता है। कभी-कभी असाधारण रूप से उपयोगी समझे जाने वाले व्यक्ति को स्थान देने के लिए संगठन में हेर-फेर (संशोधन या व्यापक) किया जाता है। ऐसे व्यक्तियों के लिए या तो नये पदों का सृजन किया जाता है या फिर नये विभागों का।

प्रशासकीय संगठन के मौलिक सिद्धान्त
(Basic Principles of Administrative Organisation) :

प्रशासकीय संगठन के शाब्दिक अर्थ, उसकी परिभाषा तथा उससे सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टिकोणों के अध्ययन के पश्चात् इसके मौलिक सिद्धान्तों का अध्ययन करना आवश्यक है। प्रशासकीय संगठन के मौलिक सिद्धान्त क्या हों—जिन पर संगठन का आन्तरिक ढाँचा अवलम्बित होता है। इस सम्बन्ध में विद्वानों में गहरा मतभेद है। विभिन्न संगठनों के विभिन्न मौलिक सिद्धान्त हैं। अतः उनमें एकता का पाया जाना प्रायः असम्भव है। यह स्पष्ट बात है कि लोक-प्रशासन के सिद्धान्त कोई भौतिक विज्ञान के नियम नहीं है जो हर समय और हर स्थान पर सच्चे सिद्ध हों। भिन्न-भिन्न देशों में प्रशासकीय संगठन के भिन्न-भिन्न सिद्धान्त पाये जाते हैं, जिन पर उन देशों के भूगोल, इतिहास तथा शासन के स्वरूप का प्रभाव पड़ता है।

किन्तु कुछ सिद्धान्त ऐसे भी हैं जो सभी प्रजातान्त्रिक देशों में पाये जाते है। यहाँ हम कुछ प्रमुख सिद्धान्तों का वर्णन करेंगे जिन पर विद्वान लोग एकमत हैं और उनमें इनके सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं है—

(1) पद-सोपान या पद-श्रेणी का सिद्धान्त
(Principle of Hierarchy or Scalar System)

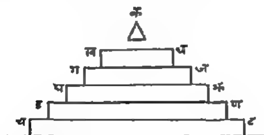
पद-सोपान अंग्रेजी शब्द 'Hierarchy' का हिन्दी रूपान्तर है। यह शब्द 'धर्म-पुरोहितों के संगठन' के अर्थ में बोला जाता है। उनके इस संगठन में पद तथा श्रेणी ही आधार होती है। एक संगठन के नीचे से ऊपर तक पदों की सीढ़ियाँ बनी रहती है। इस पद-श्रेणी जीने को ही पद-सोपान कहा जाता है। अंग्रेजी भाषा में इसे 'स्केलर प्रोसेस' (Scalar Process) भी कहा जाता है जिसका हिन्दी रूपान्तर क्रमिक पद्धति है। प्रशासन में पद-सोपान का तात्पर्य यह है कि प्रशासकीय इकाइयाँ श्रेणी-बद्ध रहती है। उच्च अधिकारी को नियमानुसार आज्ञा व आदेश प्रदान करने का अधिकार रहता है और निम्न अधिकारी को उनका पालन करना होता है। एक उच्च अधिकारी अपने अधीनस्थ अधिकारी को आज्ञा देता है और फिर वह अधिकारी अपने नीचे वाले को। यह क्रम चलता रहता है। नीचे से ऊपर तक सभी पदों पर कार्य करने वाले अधिकारियों एवं अधीनस्थों का पारस्परिक सम्बन्ध विभाग की आचार-संहिता (Code of Conduct) में दिया होता है। समस्त कर्मचारियों की शृंखला मजबूत तथा दृढ़ होती है। संगठन की सफलता इस शृंखला की दृढ़ता पर ही आधारित होती है। किसी उच्च स्थान पर पहुँचने के लिए जैसे सीढ़ी या जीने की प्रत्येक सीढ़ी को पार करना होता है और यदि छलांग लगा कर एक साथ दो-तीन सीढ़ियाँ उतरने का प्रयत्न करें तो उसमें क्रम तो बिगड़ना ही है साथ ही गिरने का भी भय रहता है। उसी प्रकार सर्वोच्च अधिकारी की स्वीकृति लेने के लिए प्रार्थना-पत्र को नीचे से ऊपर तक विभिन्न पदाधिकारियों के द्वारा पहुँचना पड़ता है और फिर सर्वोच्च अधिकारी का आदेश इसी तरह सीढ़ी-दर-सीढ़ी (Step by Step) उतरता हुआ निम्नतम पदाधिकारी के पास पहुँचता है। प्रत्येक सीढ़ी जब तक मजबूत नहीं होगी, तब तक जीना दृढ़ नहीं होगा। इसी प्रकार जब तक संगठन में यह क्रिया लागू नहीं होगी, संगठन मजबूत नहीं होगा।

पद-सोपान का अर्थ बताते हुए अर्ल लेथम (Earl Latham) ने लिखा है, "हाइरारकी उच्च और निम्न लोगों का उतरता हुआ मापदण्ड है जिसमें प्रधान सबसे ऊपर होता है जहाँ से वह अपने निम्न पदाधिकारियों के हृदय को देखता है तथा अनेक कार्यों को अपने निर्देशन के अनुसार बदलता रहता है।" संगठन में इसका अर्थ है-कर्तव्यों को श्रेणीबद्ध करना (Grdaing of duties), किन्तु विभिन्न कार्यों के अनुसार नहीं ... ...अपितु सत्ता तथा उसके अनुरूप उत्तरदायित्व की मात्रा के अनुसार। प्रशासन में इसकी आवश्यकता इसलिए है कि पद-सोपान में सत्ता तथा उत्तरदायित्व के अनेक स्तर होते हैं। पद-सोपान में प्रत्येक कर्मचारी का यह कर्तव्य

होता है कि वह अपने उच्च अधिकारी द्वारा दिये गये आज्ञाओं तथा निर्देशों का पालन करे। इस प्रकार पद-सोपान आदेशों का एक प्रवाह बन जाता है।

प्रशासकीय संगठन में सबसे ऊपर कार्यपालिका होती है। उसके अधीन विभिन्न प्रशासकीय विभागों के अध्यक्ष कार्य करते हैं। इन अध्यक्षों के अधीन अनेक अधिकारी कार्य करते हैं और उनके अधीन विभिन्न कर्मचारी कार्य करते हैं। सबसे नीचे का कर्मचारी उचित माध्यम द्वारा (Through proper Channel) ऊपर वाले अधिकारियों की आज्ञा का क्रियान्वित करते हैं। पद-सोपान की तुलना एक पिरामिड या स्तर-स्तूप (Pyramid) से की जाती है। इसमें शिखर पर प्रमुख प्रशासनिक अधिकारी होता है तथा सत्ता क्रमिक रूप से आगे की ओर बढ़ती है। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत प्रत्येक कार्यवाही विभिन्न स्तरों से होकर प्रमुख अथवा सर्वोच्च अधिकारी तक पहुँचती है। पद-सोपान की आत्मा 'आदेश की एकता' (Unity of Command) है। इस के शिखर पर एक बिन्दु (Point) अर्थात् मुख्य निष्पादक होता है जहाँ पर सत्ता के सूत्र तथा उत्तरदायित्व केन्द्रित होते हैं।

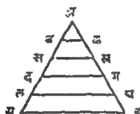
पद-सोपान के सिद्धान्त को निम्न रेखा-चित्र की सहायता से और अधिक स्पष्टता से समझा जा सकता है—



चित्र के अनुसार क के अधीन ख कार्य करता है और ख के अधीन ग। ग ख तथा क के अधीन है। यदि क के द्वारा ग को कोई आज्ञा दी जाती है तो वह आज्ञा ख के माध्यम से आनी चाहिए और यदि ग को कोई बात क को कहनी है तो उसे वह ख के माध्यम से कहनी होगी। इसी प्रकार घ, ग के अधीन है परन्तु वह ख तथा क के भी अधीन है। इस प्रकार एक शृंखला या जंजीर के सदृश, इस व्यवस्था में सत्ता का सूत्र क्रमिक रूप से ऊपर तथा नीचे की ओर जाता है। च किसी कार्य के लिए सीधे क के पास नहीं पहुँच सकता। उसे ङ, घ, ग तथा ख के माध्यम से क तक पहुँचना होगा। इसी प्रकार यदि क को च को कोई आदेश देना है तो उसे ख, ग, घ तथा ङ के माध्यम से देगा। प्रत्येक आज्ञा अथवा पत्र-व्यवहार उचित मार्ग द्वारा किया जाना चाहिए, अर्थात् तत्काल उच्च अधिकारी द्वारा शिखर अधिकारी तक क्रम से जाना चाहिए। एक लिपिक (Clerk) उच्च लिपिक के अधीन है, यह उच्च लिपिक प्रधान लिपिक (Head Clerk) के अधीन है, यह प्रधान लिपिक एक

कार्यालय अधीक्षक (Office Superintendent) के अधीन है तथा कार्यालय अधीक्षक अनुभाग अधिकारी (Section Officer) के अधीन है, आदि-आदि । यदि निम्न लिपिक को कोई बात अनुभाग अधिकारी को कहनी है तो वह उच्च लिपिक के माध्यम से प्रधान लिपिक तथा उसके माध्यम से कार्यालय अधीक्षक तथा उसके द्वारा अनुभाग अधिकारी तक जाना होगा । इसी प्रकार यदि अनुभाग अधिकारी निम्न लिपिक को कोई आदेश देना चाहता है तो वह आदेश कार्यालय अधीक्षक के मार्फत प्रधान लिपिक तक पहुँचेगा और तब उस माध्यम से प्रधान लिपिक तथा उसके द्वारा उच्च लिपिक तथा उसके माध्यम से लिपिक तक ।

पद-सोपान या क्रमिक पद्धति के सिद्धान्त को हम त्रिकोण द्वारा भी स्पष्ट कर सकते हैं—



उपर्युक्त चित्र में अन्तर्गत य को यदि अ को आदेश देना है तो उसे ब, स, द, ल आदि माध्यमों में से गुजरना होगा । इसी तरह यदि य को अ से कुछ कहना है तो ल, द, स, ब के माध्यम से ही कह सकता है ।

पद-सोपान के सिद्धान्त की विशेषताएँ :

(1) नेतृत्व (Leadership).—पद-सोपान में उच्च कर्मचारी और नीचे के सभी कर्मचारियों में नेतृत्व की श्रेणी बँटी हुई होती है । कुछ विद्वान् इसे 'सत्ता' के नाम से भी पुकारते हैं । इसका अर्थ यह है कि संगठन की समस्त शक्ति अलग-अलग सीढ़ियों में बँटी होती है । शक्ति या सत्ता का मूल स्रोत संगठन का मुख्य या उच्च अधिकारी होता है । यह उच्चाधिकारी समस्त कर्मचारियों के कार्यों का समन्वय करता है । इस सिद्धान्त का आधार सत्ता या नेतृत्व है । नेतृत्व का प्रश्न प्रशासनिक संगठन व्यवस्था में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । सफल नेतृत्व पर ही प्रशासकीय सफलता निर्भर होती है । नेतृत्व एक ऐसा प्रभाव है जो एक संगठन के समस्त सदस्यों को स्वतः ही संयुक्त व सहयोगिक रूप से निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रयास करने की प्रेरणा देता है । नेतृत्व की सफलता के लिए प्रशासकीय नेता में कुछ विशेष गुण होने चाहिए जैसे, जागरूकता, जन-हित का ध्यान, राजनीतिक विवेक, लक्ष्यों एवं उद्देश्यों का पूर्ण ज्ञान, निर्णय लेने की क्षमता तथा उनके क्रियान्वयन में सक्षम होना

चाहिए। इनके अतिरिक्त ईमानदारी, निष्ठा, सेवा-भाव, उत्साह, स्वास्थ्य आदि गुण होने अनिवार्य हैं। (नेतृत्व की विस्तार से व्याख्या आगे की जायेगी)।

(ii) सत्ता का प्रत्यायोजन (Delegation of Authority):—पद-सोपान के सिद्धान्त का सार सत्ता के प्रत्यायोजन में निहित है। यह हस्तान्तरण प्रशासन को चलाने के लिए आवश्यक है। किसी भी कार्य को सम्पन्न करने में सभी कर्मचारियों की शक्ति को एक निश्चित उद्देश्य की ओर ले जाना पड़ता है। विभागाध्यक्ष अकेला विभाग के समस्त कार्यों को सम्पादित नहीं कर सकता। अतः वह अपनी सत्ता या शक्ति को विभिन्न कर्मचारियों में उनके उत्तरदायित्वों के अनुरूप हस्तान्तरित कर देता है। इसी हस्तान्तरण के द्वारा कर्मचारी अपने उत्तरदायित्वों को ठीक प्रकार से निभाने की चेष्टा करते हैं। इस सिद्धान्त का विस्तार से विवेचन आगे के पृष्ठों में किया जा रहा है।

(iii) कार्यात्मक परिभाषा (Functional Definition) —

कार्यात्मक परिभाषा का तात्पर्य है कार्यों की स्पष्ट व्याख्या करना। इसमें सर्वोच्च अधिकारी अधीनस्थ कर्मचारियों को कुछ विशिष्ट अधिकार सौंप देता है, साथ ही कर्तव्य भी। इसमें अधिकारों व कार्यों की सीमा निश्चित कर दी जाती है। इससे कर्मचारियों को अपने-अपने कार्य क्षेत्रों के विषय में भ्रम उत्पन्न नहीं होता। साथ ही वे अपने उत्तरदायित्वों को निपुणता से निभा सकेंगे।

पद सोपान सिद्धान्त के गुण (Merit of Hierarchical System):—

(i) यह संगठन सूत्र का कार्य करता है (It works as a thread of Coordination)—इस सिद्धान्त के महत्त्व को बताते हुए मूने (Mooney) ने लिखा है कि यह एक विश्व-व्यापी सिद्धान्त है। इसका अर्थ यह है कि एक संगठन में जो विभिन्न इकाइयाँ होती हैं, उनमें सम्बन्ध कायम करने वाली कड़ी का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त में समन्वीकरण तथा पृथक्करण दोनों का समन्वय पाया जाता है। डॉ० एम०पी० शर्मा (M.P Sharma) के अनुसार, "यह वह धागा है जिसके द्वारा विभिन्न भागों को एक साथ सिले दिया जाता है।" ("It is a thread by which separate parts are sewen together.") पद-सोपान के द्वारा श्रम-विभाजन तथा एकीकरण दोनों ही पैदा किये जा सकते हैं। यह समस्त संगठनों की सामान्य आवश्यकता है। प्रशासन में इसकी वही उपयोगिता है जो सीमेन्ट अथवा चूने के भवन-निर्माण में है। पद-सोपान की विधि प्रशासनिक इकाइयों में समन्वय सूत्र का कार्य करती है।

(ii) इससे प्रशासन में कार्य-कुशलता उत्पन्न होती है (It cultivate efficiency in administration):—पद-सोपान सत्ता तथा उत्तरदायित्व के प्रत्यायोजन अथवा सौंपने के सिद्धान्त पर आधारित है। अतः इस सिद्धान्त में निर्णय करने वाले अनेक केन्द्रों की स्थापना कर दी जाती है। किसी एक व्यक्ति या केन्द्र पर कार्य का

अधिक जमघट अथवा केन्द्रीयकरण नहीं होता। इसमें विभाग का अध्यक्ष स्वयं ही प्रत्येक निर्णय करने की अनिवार्यता से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार प्रत्याधिकरण के द्वारा संगठन में निपुणता आती है और प्रत्येक कर्मचारी अपने उत्तरदायित्व को समझने लग जाता है।

(iii) उत्तरदायित्व का स्पष्टीकरण (Responsibilities are laid distinct).—इस पद्धति में उत्तरदायित्व की सापेक्षता पाई जाती है, जो प्रशासकीय कार्य-कुशलता के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रणाली में बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि कौन किसके अधीन है। उत्तरदायित्व की स्थापना करने में इसी कारण कभी कोई भ्रांति रहने की सम्भावना नहीं रहती।

(iv) आदेश की एकता (*Unity of command*).—*क्रमिक व्यवस्था में* आदेश की एकता का सिद्धान्त पूर्ण रूप से लागू होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार एक व्यक्ति केवल एक ही व्यक्ति के अधीन रह कर कार्य करता है। इसमें एक व्यक्ति का केवल एक ही तत्काल उच्च अधिकारी होगा, उसी के अधीन रह कर वह व्यक्ति अथवा और जो लोग उस अधीनस्थ विभाग में कार्य करते हैं, अपने उत्तरदायित्व को निभायेंगे। उसी की आज्ञाओं का पालन होगा।

(v) उचित मार्ग द्वारा प्रत्यावेदन (Through Proper Channel) —पद-सोपान के सिद्धान्त में प्रत्येक पदाधिकारी के नीचे पदों की सीढ़ी होती है। प्रत्येक कर्मचारी अपने से निकट के उच्च अधिकारी से आदेश तथा निर्देश लेता है तथा अपनी असुविधा के निवारणार्थ निवेदन करता है। यदि कर्मचारी को उच्च अधिकारी के पास पहुँचना है तो अपने से ऊपर के अधिकारी के माध्यम से इसी प्रकार के उच्चाधिकारी को कर्मचारी को कोई आदेश अथवा निर्देश देना है तो वह आदेश भी मध्य में आने वाले अधिकारियों के माध्यम से उसके पास पहुँचेगा। इसका सबसे बड़ा लाभ यह है कि विभाग के प्रत्येक कर्मचारी को पता रहता है कि उसमें क्या कार्य होने वाला है।

(vi) पत्र-व्यवहार की सुगमता (Easiness in Correspondence)—*पद-सोपान के सिद्धान्त में निर्देश तथा आदेश जो ऊपर से चलते हैं वह सुगमतापूर्वक नीचे* के स्तर तक पहुँच जाते हैं। विभाग के प्रत्येक कर्मचारी को उसका पूरा ज्ञान हो जाता है, यदि नीचे के स्तर का व्यक्ति कोई प्रार्थना या सुझाव उच्च अधिकारी को देना चाहता है, तो 'उचित मार्ग द्वारा' उसे दे सकता है।

पद-सोपान के दोष
(Demerits of Hierarchy)

पद-सोपान का सिद्धान्त दोषमुक्त नहीं है। इसमें कई दोष पाये जाते हैं। अनेक आलोचकों ने इसके अग्रलिखित दोष बताये हैं—

(I) लाल-फीताशाही (Red Tapism) —पद-सोपान के सिद्धान्त में एक बड़ा दोष यह है कि इसके अन्तर्गत लाल-फीताशाही पनपती है। इसमें प्रत्येक कार्य को निश्चित क्रम का अनुगमन करना पड़ता है। एक आदेश को सर्वोच्च अधिकारी से निम्नतर अधिकारी तक पहुँचने में महीनों तथा वर्षों लग जाते हैं। इसी प्रकार से किसी प्रार्थना-पत्र को नीचे के स्तर से ऊपर के स्तर तक पहुँचने में लम्बा समय लगता है। कभी-कभी तो इतनी देरी हो जाती है कि कार्य की उपयोगिता ही समाप्त हो जाती है। इस देरी का कारण लाल-फीताशाही होता है। इसमें प्रत्येक स्तर का अधिकारी पत्रों को अपने पास अनावश्यक रूप से रोक लेता है। इस देरी के कारण संगठन में दुर्बलता पैदा हो जाती है।

(II) पद-सोपान के सिद्धान्त का उल्लंघन (Disobedience of the Principle of Hierarchy):— इस सिद्धान्त में श्रेणीबद्ध सिद्धान्त का उल्लंघन होता है। किसी मध्यस्थ अधिकारी को छोड़कर कार्य करवा लिया जाता है। इसमें अनियमितता तथा असन्तोष उत्पन्न होता है। जिस अधिकारी के पास आदेश नहीं आता, वह इस बारे में यह सोचता है कि मेरे अधिकारों को ठुकराया गया है।

(III) कार्य बिगड़ने की सम्भावना (Possibility of Spoiling the Work)—इस सिद्धान्त का तीसरा दोष यह है कि जब प.ग में सीधा सम्पर्क स्थापित करे तो ब को उस विशेष कार्य के सम्बन्ध में अवगत कराया जाना आवश्यक है। कई बार अवगत कराने में अनियमितता हुई तो फिर आगे के कार्य बिगड़ने की सम्भावना रहती है। कारण कि ब असन्तुष्ट हो जाता है। आगे वह अपने अधिकारों के लिए सावधान रहेगा और कोई इस तरह नहीं होने देगा।

इस सिद्धान्त के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इसमें गुण अधिक हैं और दोष कम। इन दोषों को आसानी से दूर भी किया जा सकता है। विलम्ब को दूर करने के लिए फॉयल महोदय ने एक मार्ग बतलाया है, जिस पर चल कर व्यावहारिक कठिनाई को दूर किया जा सकता है। उनके अनुसार, "सत्ता के दो सदों के बीच एक पुल बना देना होगा ताकि निम्नस्थ अधिकारी अपने आमने-सामने के इसी प्रकार के विभागीय अधिकारियों से सीधा सम्पर्क स्थापित कर सकें।" फॉयल द्वारा बताये गये मार्ग को अपनाने में कुछ कठिनाइयाँ उत्पन्न हो सकती हैं। उनको दूर करने के लिए उरविक महोदय का सुझाव महत्त्वपूर्ण है। उनके अनुसार, "प्रत्येक संगठन में औपचारिक प्रमुख शृंखला ठीक उसी प्रकार होनी चाहिए, जिस प्रकार प्रत्येक घर में जल की निकासी के लिए नाली की व्यवस्था होती है, परन्तु औपचारिक शृंखला को पत्र व्यवहार के एक मात्र साधन के रूप में अन्य रूप में प्रयोग करना उसी प्रकार अनावश्यक है, जिस प्रकार व्यक्ति के लिए मकान की नालियों में समय

बिताना। "प्रो० एल० डी० ह्वाइट (L.D. White) का कथन है, "हाइरारकी में संगठन के प्रत्येक पद को, जिसे स्पष्ट अथवा पृथक पदवी दी जाती है, उपयुक्त स्थान प्राप्त होता है, जिसमें पदाधिकारी अपने अधीन कर्मचारियों को आज्ञा प्रदान करने की सत्ता रखता है, तथा अपने से ऊपर के अधिकारियों की आज्ञाओं को ग्रहण करना उसका उत्तरदायित्व होता है।"

(2) आदेश की एकता का सिद्धान्त
(Principle of Unity of Command)

संगठन की सुदृढ़ता के लिए प्रत्येक कर्मचारी को यह ज्ञात होना आवश्यक है कि वह किस अधिकारी से आदेश लेगा। इसका अर्थ यह नहीं कि वह अपने एकदम ऊपर वाले अधिकारी (Immediate Officer) के अतिरिक्त अन्य उच्च अधिकारियों की बात नहीं माने। आदेश की एकता का अर्थ है कि अधीनस्थ कर्मचारी अपने निकट के उच्च अधिकारी की आज्ञाओं का पालन समान रूप से करे। अन्य उच्चतर अधिकारियों की आज्ञा का पालन करने के लिए उसे बाध्य न किया जाय। इसी बात को फॉयल महोदय (Foyal) ने इस प्रकार कहा है, "किसी कर्मचारी को केवल एक वरिष्ठ अधिकारी के द्वारा आदेश दिया जाना चाहिए।" फिफनर तथा प्रिस्थस ने आदेश की एकता का महत्त्व बताते हुए लिखा है, "नियन्त्रण की एकता की अवधारणा का अर्थ यह है कि किसी संगठन के प्रत्येक सदस्य को एक और केवल एक नेता को जवाब देना चाहिए।' फॉयल महोदय इस सिद्धान्त के प्रबल समर्थक हैं। उनके अनुसार "यदि इस नियम का उल्लंघन होता है तो सत्ता कमजोर हो जाती है, अनुशासन खतरे में पड़ जाता है, व्यवस्था भंग हो जाती है और स्थायित्व संकट में पड़ जाता है" जैसे ही एक ही व्यक्ति या विभाग के ऊपर दो अधिकारी सत्ता का उपभोग करते हैं, गड़बड़ी पैदा होने लगती है, और यदि ऐसी ही स्थिति चलती रही तो अव्यवस्था बढ़ जाती है और उसके दुष्परिणाम दृष्टिगत होते हैं। या तो दोहरे नियन्त्रण के परिणामस्वरूप दो में से एक अधिकारी का लोप या अन्त हो जाता है और संगठन फिर से स्वस्थ हो जाता है, और या फिर संगठन विनाश की ओर जाने लगता है। कभी भी कोई संगठन दोहरे नियन्त्रण के अनुकूल नहीं बैठ सकता।" यदि एक कर्मचारी के ऊपर दो समान अधिकारी हैं, तो दोनों की एक साथ आज्ञाएँ मानना उनके लिए कठिन हो जायेगा। यदि दोनों अधिकारियों के आपस में मनमुटाव हुए तो अधीनस्थ कर्मचारी की हालत खराब हो जायेगी, क्योंकि वह दोनों को एक साथ प्रसन्न नहीं रख सकेगा। इसका परिणाम प्रशासन के कार्य में भी बाधायें उत्पन्न कर देगा। इस कठिनाई को दूर करने के लिए ही आदेश की एकता का सिद्धान्त अपनाया गया है जिसमें कि एक कर्मचारी अपने निकट के अधिकारी की आज्ञाओं का पालन करे।

व्यावहारिक दृष्टि से यदि आदेश की एकता के सिद्धान्त का वर्णन किया जाए तो हम देखते हैं कि एक कर्मचारी को केवल एक से अधिक अधिकारियों की आज्ञा का पालन करना होता है। उदाहरण के लिए, अस्पताल (Hospital) के कर्मचारी को प्रधान डाक्टर की आज्ञा का पालन तो करना ही होता है, साथ में सार्वजनिक विभाग के संचालक के आदेशों का भी पालन करना पड़ता है। साधारणतया तकनीकी कर्मचारी वर्ग (Technical Personnel) दोहरे नियन्त्रण के अन्तर्गत रहता है। इस सम्बन्ध में जॉन डी. मिलेट (John D. Millett) के विचार महत्त्वपूर्ण हैं। उनके अनुसार, "आज्ञा की एकता की अवधारणा के साथ-साथ यह भी मान लिया जाना चाहिए कि कुछ कार्यों में दोहरे नियन्त्रण—तकनीकी और प्रशासकीय की आवश्यकता होती है। यह दो प्रकार का नियन्त्रण करने वाले दो व्यक्ति अलग-अलग हो सकते हैं। एक प्रकार का नियन्त्रण केवल यह देखेगा कि सम्बन्धित व्यक्ति में कार्य में व्यावसायिक क्षमता है या नहीं और दूसरा मुख्य तौर से इसमें दिलचस्पी रखेगा कि जन-धन के जो साधन उपलब्ध हैं, उनका कुशलतापूर्वक उपयोग किया जा रहा है या नहीं।" (The concept of unity of command therefore needs to be reconciled with a recognition that supervision of activity may be duel-technical and also administrative. The two types of supervision may be exercised by different individuals. The one type may be concerned with professional competence in the performance of a job, while other is chiefly interested in the efficient utilisation of the resources man and materials available for the job."

दोहरे आदेश या नियन्त्रण के मुख्य समर्थक एफ.डब्लू. टेलर (F. W. Taylor) थे। दूसरी ओर हर्बर्ट ए. साइमन ने आदेश की एकता के सिद्धान्त पर बल दिया है। उनका कहना है, "दो अधिकारी आदेशों में परस्पर संघर्ष की स्थिति में केवल एक ही निर्धारित व्यक्ति होना चाहिए, जिसकी आज्ञा अधीनस्थ कर्मचारी मानें। इस प्रकार आदेश की एकता का अर्थ है, कि एक कर्मचारी को एक ही उच्च अधिकारी की आज्ञाओं का पालन करना चाहिए। यदि उस पर कई अधिकारियों के अधीन किया जायेगा तो कर्मचारी के सामने यह प्रश्न उपस्थित हो जायेगा कि वह किसकी आज्ञा माने और किसकी न माने। अतः इस सिद्धान्त से प्रशासन में कार्यकुशलता व निपुणता में वृद्धि होगी।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि आदेश की एकता का विभागीय संगठन में बड़ा महत्त्व है। जिस प्रकार एक व्यक्ति दो घोड़ों पर एक साथ नहीं बैठ सकता है और यदि प्रयत्न करेगा तो गिर पड़ेगा, उसी प्रकार दो अधिकारियों की आज्ञा पालन करने वाले व्यक्ति की दशा खराब हो जायेगी।

नियन्त्रण के क्षेत्र का सिद्धान्त
(The Principle of Span of Control)

किसी भी प्रकार का संगठन, चाहे वह सरकारी हो या गैर सरकारी, उसको चलाने के लिए कर्मचारियों की आवश्यकता होती है। संगठन की सफलता नियन्त्रण पर आधारित रहती है। यदि किसी संगठन में नियन्त्रण नहीं होगा तो जिस उद्देश्य के लिए संगठन की रचना की गई है, उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। लेकिन यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि एक अधिकारी कितने कर्मचारियों पर नियन्त्रण रखने में सफल हो सकता है, इसी अनुपात में उसके अधीन कार्य करने वाले कर्मचारियों की संख्या निर्धारित की जाती है। इन कर्मचारियों से अधिकारी नियमों का पालन कराने में तभी सफल हो सकता है, जब उन पर उसका पूर्ण नियन्त्रण हो। नियन्त्रण ही कर्मचारियों को एक शृंखला में पिरोये रखता है।

नियन्त्रण के विस्तार की सीमा इसलिए बाँधी जाती है कि मानवीय कार्य-क्षेत्र सीमित होता है। कार्य-क्षेत्र कितना हो इसपर विद्वान लोग एकमत नहीं है। कई विद्वान यह मानते है कि एक अधिकारी 7 से 12 कर्मचारियों की क्रियाओं पर नियन्त्रण रख सकता है। वी०ए० ग्रेकुनास (V. A Graicunas) नामक लेखक ने नियन्त्रण की सीमा पर अपने लेख 'संगठन के सम्बन्ध' (Relationship in Organisation) में एक 'गणितीय सूत्र' का प्रतिपादन किया। उनका कथन है कि कोई भी अधिकारी 5 या 6 अधीनस्थ कर्मचारियों से ज्यादा के कार्य का प्रत्यक्ष रूप से निरीक्षण नहीं कर सकता। कारण कि निरीक्षण केवल व्यक्तियों का ही नहीं किया जाता, वरन् उन कर्मचारियों के प्रशासन सम्बन्धी सम्बन्धों के विघटन तथा संगठन का भी किया जाता है और प्रत्येक नये अधीनस्थ कर्मचारी के बढ़ने पर उन दोनों में से पहली चीज अंकगणितीय श्रेणी (Arithmetical Progression) के हिसाब से बढ़ती है, पर दूसरी चीज गुणोत्तर श्रेणी (Geometrical Progression) के हिसाब से बढ़ती है। यदि एक उच्च अधिकारी अपने 5 तत्काल अधीनस्थ कर्मचारियों में एक कर्मचारी और बढ़ाता है तो उसके सत्ता के हस्तान्तरण के अवसर में तो 20 प्रतिशत की वृद्धि होगी, किन्तु उन सम्बन्धों की संख्या में जिनका कि उसे ध्यान रखना है, शत-प्रतिशत वृद्धि होती है।

इस सम्बन्ध में हेनरी फॉयल (Henry Foyal) का मत है, "एक बड़े व्यवसाय के उच्चतर प्रबन्धकों को अपने अधीनस्थ कर्मचारियों की संख्या 5 या 6 से अधिक नहीं रखना चाहिए।"

डॉ० एम० पी० शर्मा(M P Sharma) के अनुसार, "नियन्त्रण का विस्तार सिवाय इसके कुछ नहीं कि कार्य के प्रति निरीक्षण अधीनस्थों पर नियन्त्रण का ध्यान लागू करना है।"

उर्विक (Urwick) के अनुसार "उच्च अधिकारियों के लिए अधीनस्थ कर्मचारियों की आदर्श संख्या 4 है और उन लोगों के लिए जो कि निम्न स्तर पर हैं, 8 या 12 है।"

लार्ड हाल्डेन एवं वालेस (Lord Halden and Wallace) का मत है कि, "एक मुख्य अधिकारी 10 से 12 अधीनस्थ कर्मचारियों की बिना किसी परेशानी के देखरेख कर सकता है।"

उपर्युक्त मतों के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नियन्त्रण के लिए कोई निश्चित सीमा-रेखा या आदर्श संख्या नहीं है। संख्या के आधार पर नियन्त्रण सीमा नहीं खींची जा सकती। इस सम्बन्ध में लूथर गुलिक (Luther Gullick) ने कहा है कि नियन्त्रण की सीमा निश्चित करने में निम्न सामान्य तत्त्व कार्य में आते हैं—

(a) समय (Time)—यदि संगठन पुराना है और स्थायी है तो उसमें नियन्त्रण का क्षेत्र निश्चित रूप से विस्तृत होगा। इसके विपरीत नवीन संगठन या अस्थायी संगठन में नियन्त्रण का क्षेत्र छोटा होगा। समय की अवधि भी कार्य-क्षेत्र को निश्चित करने में सहायता देती है।

(b) कार्य (Functions):—समान कार्य करने वाले कर्मचारियों पर एक अधिकारी बड़ी संख्या पर नियन्त्रण रख सकता है। उदाहरण के लिए एक डॉक्टर अनेकों डाक्टरों का नियन्त्रण कर सकता है। किन्तु इसके विपरीत एक डॉक्टर को पुलिस या शिक्षा सम्बन्धी निरीक्षण सौंपा जाय, तो अधिक कर्मचारियों के कार्य का निरीक्षण नहीं कर सकता।

(c) स्थान (Space):—इसके अनुसार यदि अधिकारी के अधीनस्थ कर्मचारी के कार्यालय भौगोलिक दृष्टि से काफी दूर-दूर तक फैले हों तो नियन्त्रण का क्षेत्र स्वतः ही छोटा हो जायगा। दूसरी ओर यदि कार्य एक ही स्थान पर फैला हुआ है, तो उस अधिकारी की नियन्त्रण की सीमा अपेक्षाकृत अधिक होगी।

(d) व्यक्तित्व (Personality)—संगठन में नियन्त्रण के क्षेत्र को निर्धारित करने में अधिकारी का व्यक्तित्व बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। वह अपने व्यक्तित्व के आधार पर एक साथ कई कर्मचारियों पर नियन्त्रण रख सकता है। व्यक्तित्व में अनेक बातें सम्मिलित हैं जैसे, निर्णय की योग्यता, अधीनस्थों से कार्य लेने की क्षमता, तत्परता, गतिशीलता, अनुभव आदि महत्त्वपूर्ण हैं।

अन्त में कहा जा सकता है कि प्रशासन को कुशल बनाने के लिए नियन्त्रण के क्षेत्र का ज्ञान होना आवश्यक है। कितना ही कुशल और योग्य व्यक्ति क्यों न हो, उसकी कुशलता तथा योग्यता की एक सीमा होती है। जितना ऊँचा पद हो उतना ही नियन्त्रण का क्षेत्र कम होना चाहिए जिससे कि गंभीर उत्तरदायित्व को निभाया जा सके। कार्य में शिथिलता न आने देने के लिए आवश्यक है कि नियन्त्रण की सीमा आदर्श होनी चाहिए।

(3) केन्द्रीयकरण बनाम विकेन्द्रीकरण का सिद्धान्त
(Principle of Centralization V/s Decentralization)

जिस प्रकार किसी देश के शासन को चलाने के लिए एक समस्या उत्पन्न होती है और वह यह है कि उसका शासन एकात्मक आधार पर चलाया जाए अथवा संघात्मक आधार पर। एकात्मक शासन-व्यवस्था में सरकार की समस्त शक्तियाँ केन्द्र में निहित होती हैं। इसके ठीक विपरीत संघात्मक शासन व्यवस्था में सरकार के *कार्यों का विभाजन केन्द्र तथा राज्यों में कर दिया जाता है।* ठीक इसी प्रकार की समस्या लोक-प्रशासन में भी उत्पन्न होती है। आज सरकार के सामने यह उलझन है कि वह विभागीय प्रशासन को केन्द्रीयकृत रखें या विकेन्द्रीकृत। एक ओर तो नियोजित अर्थ व्यवस्था (Planned Economy), एक मजबूत एवं प्रभावशाली प्रतिरक्षा (Defence) की आवश्यकता तथा राष्ट्रीय एकीकरण की आवश्यकता *केन्द्रीयकरण की ओर खींचती है; दूसरी ओर, यह वायदा कि प्रजातन्त्र को जड़ तक पहुँचायेंगे और सभागीय स्वायत्तता की बढ़ती हुई माँग विकेन्द्रीकरण की ओर खींच* रही है। योजना आयोग (Planning Commission) केन्द्रीयकरण की ओर जाने का प्रतीक है, जब कि पंचायत राज (Panchayat Raj) विकेन्द्रीकरण की ओर जाने की प्रवृत्ति का।

वस्तुतः केन्द्रीयकरण तथा विकेन्द्रीयकरण का सिद्धान्त सत्ता के उपयोग से सम्बन्धित है। *अर्थात् सत्ता किस सीमा तक केन्द्रित होनी चाहिए तथा किस सीमा तक विकेन्द्रित?* विभिन्न विद्वानों ने इसके सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत दिये हैं। संक्षेप में केन्द्रीयकरण तथा विकेन्द्रीकरण के अर्थ को इस प्रकार समझा जा सकता है कि यदि प्रत्येक निर्णय केन्द्रीय कार्यालय के द्वारा किया जाता है तो उसे 'केन्द्रीयकरण' कहा जाता है। इसके विपरीत, यदि सत्ता क्षेत्रीय अधिकारियों को सौंप दी जाती है तथा उनको पूरी स्वयत्तता दे दी जाती है कि वे केन्द्रीय कार्यालय की बिना अनुमति प्राप्त किये ही निर्णय कर लें तो उसे 'विकेन्द्रीयकरण' कहा जायेगा। **डॉ० एम० पी० शर्मा** (M P. Sharma) ने इसका अर्थ बताते हुए लिखा है कि, "विस्तृत रूप से यदि कहा जाए तो एक संगठन केन्द्रीयकृत तब कहलायेगा जब निर्णय की अधिक से अधिक शक्ति शिखरस्थ अधिकारी या उच्च स्तर पर स्थित हो और नीचे के स्तर के लोग अपनी अधिकांश समस्यायें उच्च अधिकारी या उसके निकट अधीनस्थ अधिकारी के पास निर्णय को भेजें। एक विकेन्द्रीकृत संगठन वह है जो इसके विपरीत, छोटे स्तर के अधिकारियों को अधिकांश समस्या को हल करने की स्वतन्त्रता दे और अधिक महत्त्वपूर्ण मामले को ही केवल उच्च स्तर पर निर्णय के लिए भेजें। इस प्रकार केन्द्रीकरण या विकेन्द्रीयकरण का भाव निर्णय की शक्ति का विभाजन है। प्रो० एल० डी० ह्वाइट (L D White) के अनुसार जहाँ प्रशासकीय शक्तियाँ स्थानीय निर्वाचित सस्थाओं के द्वारा निर्वाचित हो, हम उस प्रशासन को विकेन्द्रित कहेंगे, परन्तु जहाँ शक्तियाँ एक केन्द्र में निहित करके उन्हें

सम्पादित करने का उत्तरदायित्व मातहत अधिकारियों को सौंप दिया जाए तो उस प्रशासन को केन्द्रित कहा जायेगा।'

केन्द्रीय तथा विकेन्द्रीकरण के बीच भेद की कोई रेखा नहीं खींची जा सकती। किसी भी प्रशासन को पूर्णतः 'केन्द्रित' या 'विकेन्द्रित' नहीं कहा जा सकता। यह भेद मुख्यतः मात्रा है। यदि कोई संगठन पूर्णतया केन्द्रित होगा तो प्रत्येक मामले में निर्णय करने की शक्ति प्रमुख प्रशासकीय अधिकारी के हाथों में केन्द्रित हो जायेगी, जिसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि उसके पास कार्यों का ढेर लग जायेगा और किसी भी स्थिति में उसे पूरा नहीं कर सकेगा। दूसरी ओर पूर्ण केन्द्रीकरण का अर्थ होगा—अराजकता प्रत्येक इकाई अपने क्षेत्र में पूर्ण रूप से स्वतन्त्र व स्वच्छन्द होकर निर्णय करेगी।

केन्द्रीयकरण तथा विकेन्द्रीकरण के लिए उत्तरदायी तत्त्व

(Factors responsible for Centralization and Decentralization)

जेम्स डब्लू० फेसलर (James W. Fesler) ने केन्द्रीयकरण तथा विकेन्द्रीकरण को प्रभावित करने वाले निम्न तत्वों का वर्णन किया है—

(i) उत्तरदायित्व का तत्त्व (Factor of responsibility)—प्रत्येक विभाग का एक प्रशासकीय अध्यक्ष होता है जो अपने विभाग के कार्यों के लिए उत्तरदायी होता है। यह स्वाभाविक है कि अत्यधिक महत्वपूर्ण मामलों पर निर्णय करने के अधिकार को अपने ही पास रखना पसन्द करता है। वे इस प्रकार का अधिकार क्षेत्रीय कार्यालयों को नहीं देते हैं, क्योंकि ये कार्यालय विभिन्न क्षेत्रों पर बिखरे होते हैं और उनको नियन्त्रण में रखने की भी कठिनाई होती है। इस प्रकार यह सिद्धान्त विकेन्द्रीकरण पर रोक लगाता है।

(ii) प्रशासकीय तत्त्व (Administrative Factors)—केन्द्रीयकरण और विकेन्द्रीकरण को प्रभावित करने वाले विभिन्न तत्त्व हैं। इनमें पहला महत्त्वपूर्ण तत्त्व है किसी अभिकरण की अवधि। यदि कोई अभिकरण पुराना है तो उसमें विकेन्द्रीकरण की सम्भावना रहती है, क्योंकि उसमें कार्य करने का तरीका तथा परम्परायें स्थापित हो जाती हैं। जबकि किसी नये अभिकरण में छोटी-छोटी बातों के लिए उच्च अधिकारियों का निर्णय प्राप्त करना आवश्यक होता है। दूसरा प्रशासकीय तत्त्व है, नीतियों का स्थायित्व। जिस अभिकरण में नीतियाँ स्थायित्व प्राप्त कर चुकी हों वहाँ विकेन्द्रीकरण सुलभ हो सकता है। तीसरा तत्त्व है, कर्मचारी वर्ग। यदि कार्मिक वर्ग योग्य और कार्यक्षमता वाले हैं तो विकेन्द्रीकरण सुगम हो जाता है, अन्यथा केन्द्रीयकरण। इसके अतिरिक्त प्रशासकीय तत्त्व है, मितव्ययिता (Economy) तथा कार्यों को शीघ्र करने की दृष्टि से केन्द्रीयकरण उपयुक्त होता है। इनके अतिरिक्त भी अनेक प्रशासकीय तत्त्व हैं जो केन्द्रीयकरण तथा विकेन्द्रीयकरण को प्रभावित करते हैं, यहाँ केवल उदाहरणस्वरूप कुछ प्रशासकीय तत्वों का उल्लेख किया गया है।

(iii) कार्यात्मक तत्त्व (Functional Factors)—जिन विभागों को विभिन्न प्रकार के कार्यों को सम्पादित करना होता है अथवा जिनकी प्रकृति तकनीकी होती है, उस विभाग के संगठन में विकेन्द्रीकरण किया जा सकता है। परन्तु जहाँ विभाग के कार्य एक ही प्रकार के हैं वहाँ केन्द्रीयकरण प्रोत्साहित होगा।

(iv) बाह्य तत्त्व (External Factors)—केन्द्रीयकरण तथा विकेन्द्रीकरण बाह्य तत्त्व से भी प्रभावित होता है। ऐसे अभिकरण जिनके कार्यों को जनता के समर्थन या स्थानीय समर्थन की आवश्यकता होती है, जैसे विकास योजना आदि तो संगठन में विकेन्द्रीकरण आवश्यक हो जाता है। इसके बिना लोक-निष्ठ प्रशासन असम्भव है। विकेन्द्रीयकरण प्रभावशाली राजनीतिक दलों के कारण भी आवश्यक हो जाता है।

केन्द्रीयकरण तथा विकेन्द्रीयकरण को प्रभावित करने वाले तत्त्वों से परिचित होने के बाद अब हम इस सिद्धान्त के गुण-दोषों का वर्णन करेंगे।

केन्द्रीयकरण का सिद्धान्त
(Principle of Centralization)

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि केन्द्रीयकरण की व्यवस्था वह व्यवस्था है जिसमें प्रत्येक शासकीय इकाई केन्द्रीय सत्ता की इच्छानुसार कार्य करती है और उनकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती और वे अपने प्रत्येक कार्य के लिए केन्द्रीय सत्ता पर निर्भर रहते हैं।

केन्द्रीयकरण की मुख्य विशेषताएँ (Characteristics of Centralization) संक्षेप में केन्द्रीयकरण की विशेषताएँ निम्न हैं—

(i) इस व्यवस्था में प्रत्येक प्रशासनीय इकाई केन्द्रीय प्रशासनीय इकाई से सत्ता प्राप्त करती है और उसी के प्रति उत्तरदायी रहती है।

(ii) इस व्यवस्था में स्थानीय इकाइयों कर्मचारी केन्द्रीय संगठन के पुर्जे मात्र होते हैं। उनकी इच्छा का प्रशासन में कोई महत्त्व नहीं रहता।

(iii) केन्द्रीय संगठन ही स्थानीय कर्मचारियों के पदोन्नति का प्रश्न हल करते हैं। प्रशासन के साधनों आदि को जुटाने का कार्य भी केन्द्रीय संगठन ही करता है।

(iv) कोई भी कार्य जो केन्द्रीय संगठन की अनुमति के बिना किया जाता है, वह अवैधानिक होगा।

केन्द्रीयकरण के गुण (Merits of Centralization) :

(i) केन्द्रीयकरण का सबसे बड़ा गुण यह है कि इसमें प्रशासन में एकरूपता रहती है। एक ही प्रकार की नीति निर्धारित की जाती है तथा क्रियान्वयन में भी एकरूपता रहती है।

(ii) इस पद्धति में शासन की समस्त इकाइयों पर उचित रूप से नियन्त्रण रखा जा सकता है, जिसके परिणामस्वरूप समस्त इकाइयाँ सक्रिय रूप से कार्य करती रहती हैं।

(iii) केन्द्रीयकरण की व्यवस्था में प्रशासन में नियमितता बनी रहती है। इसका कारण यह होता है कि इस व्यवस्था में एक ही आदेश का पालन छोटे तथा बड़े अधिकारी समान रूप से करते हैं। सभी कर्मचारियों में कार्य बँटा होता है और उनको नियमानुसार कार्य करने की आज्ञा होती है।

(iv) इस प्रकार की व्यवस्था में भ्रष्टाचार की कम सम्भावना रहती है क्योंकि नियन्त्रण कठोर होता है।

केन्द्रीयकरण के दोष (*Demerits of Centralization*)

(i) इस व्यवस्था का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें निर्णय बड़ी देरी से होते हैं जिसके कारण लाल-फीता-शाही (Red Tapism) को प्रोत्साहन मिलता है। केन्द्रीय संगठन के पास अनेक प्रकार के कार्य होते हैं और प्रत्येक प्रकार के कार्य को सर्वोच्च अधिकारी के सामने से गुजरने की आवश्यकता होती है, जिसके फलस्वरूप कार्यों में बड़ी देरी होती है।

(ii) इस प्रकार की व्यवस्था में धन भी अधिक खर्च होता है। इसका कारण यह है कि प्रशासकीय अधिकारियों को केन्द्रीय संगठन से सीधा सम्पर्क स्थापित करने के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर प्रत्यक्ष रूप से मिलना होता है। दूसरे शब्दों में क्षेत्रीय अधिकारी छोटे-छोटे कार्यों के लिए भी उच्च अधिकारी से मिलते रहते हैं जिससे खर्चा अधिक होता है।

(iii) इस पद्धति में शिखर के अधिकारी को स्थानीय दशाओं और परिस्थिति का ज्ञान तनिक भी नहीं होता। यहाँ पर तो केवल एकरूपता पर जोर दिया जाता है, जिसका परिणाम यह होता है कि स्थानीय प्रश्नों को पूर्णरूपेण ध्यान में रख कर निर्णय नहीं लिया जाता जिससे शासित वर्ग में असन्तोष फैलता है। डॉ० एम० पी० शर्मा ने इस सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त करते हुए कहा है कि, "केन्द्रीय शक्तियाँ जनता से दूर बैठी हुई, स्थानीय दशाओं एवं वास्तविकताओं से पूर्ण परिचित नहीं होती हैं। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि केन्द्रीयकृत प्रशासन को क्षेत्रीय विभिन्नताओं के अनुसार नहीं ढाला जा सकता। अनेक स्थानीय समस्याएँ दुर्लक्ष्य तथा उपेक्षित हो जाती हैं।"

(iv) केन्द्रीयकरण जनता व स्थानीय लोगों को प्रशासन में भाग लेने के लिए किसी भी तरह प्रोत्साहित नहीं करता।

(v) केन्द्रीयकृत शासन बड़ा कठोर होता है। प्रशासकीय कर्मचारी आदेशों का अक्षरशः पालन करने के लिए बाध्य होते हैं। उन्हें अपनी बुद्धि व विवेक को उसमें प्रयोग करने की अनुमति नहीं होती।

(vi) इस प्रकार की व्यवस्था में सरकार को जनता का पूर्ण सहयोग नहीं मिलता। इसका कारण यह होता है कि केन्द्रीय इकाई सारे कार्यों की रूप रेखा तैयार करती है। क्षेत्रीय अधिकारी तो केवल केन्द्रीय संगठन के अनुसार कार्य करते हैं।

विकेन्द्रीकरण का सिद्धान्त
(Principle of Decentralization)

केन्द्रीयकरण के सिद्धान्त का एकदम विपरीत विकेन्द्रीकरण का सिद्धान्त है। इसके अन्तर्गत स्थानीय कर्मचारियों में विभिन्न स्थानीय परिस्थितियों के अनुरूप राष्ट्रीय नीतियों को अपनाने के लिए स्वयं प्रयत्न तथा यत्न करने की क्षमता पाई जाती है। क्षेत्रीय संस्थाओं को अपनी क्षमता व कार्यकुशलता बढ़ाने का पूरा-पूरा अवसर रहता है। उन्हें हर बात के लिए शीर्ष के अधिकारी या केन्द्रीय संगठन की ओर नहीं देखना होता है। इस प्रकार के प्रशासन में केन्द्रीय संगठन केवल नेतृत्व प्रदान करती है। वास्तविक कार्य स्थानीय संस्थाओं द्वारा किया जाता है।

विकेन्द्रीकरण की मुख्य विशेषताएँ (Characteristics of Decentralization):—

विकेन्द्रीकरण की मुख्य विशेषताएँ निम्न हैं—

(i) इसमें सत्ता का विकेन्द्रीकरण इस प्रकार किया जाता है कि अधीनस्थ कर्मचारियों को अपने विवेक के अनुसार कार्य करने के लिए अधिकाधिक क्षेत्र व अवसर मिलें। शीर्ष के अधिकारी के पास अपेक्षाकृत कम से कम मामले निर्णय के लिए भेजे जाते हैं।

(ii) इसमें संगठन के अंगों को अधिक से अधिक सत्ता या शक्ति दी जाती है तथा केन्द्रीय संगठन के पास में नियन्त्रण के कुछ आवश्यक अधिकार ही रखे जाते हैं।

(iii) निर्वाचित अंगों के पास अधिक से अधिक शक्ति तथा प्रशासन में जनता का अधिक से अधिक सहयोग।

(iv) मुख्य कार्यालय और जनता के निकटस्थ स्थानीय इकाइयों या अभिकरणों की स्वतन्त्रता।

(v) क्षेत्रीय अभिकरणों की कार्य सम्बन्धी स्वतन्त्रता।

विकेन्द्रीकरण के गुण (Merits of Decentralization) —

(i) यह व्यवस्था जनता को शासन में भाग लेने का पूरा-पूरा अवसर प्रदान करती है। प्रजातान्त्रिक व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए सत्ता का विकेन्द्रीकरण आवश्यक है। इससे लोक-प्रिय नियन्त्रण की स्थापना होती है।

(ii) विकेन्द्रीकरण पद्धति में विभिन्न स्तरों पर विभिन्न प्रयोग किये जा सकते हैं। स्थानीय अधिकारी स्थानीय समस्याओं को हल करने के लिए अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से नये प्रयोग करते हैं। उन्हें अपनी बुद्धि की तीव्रता तथा विवेक को दिखाने का पूरा अवसर मिलता है।

(iii) विकेन्द्रीकृत शासन में कार्य में शीघ्रता रहती है अर्थात् कार्य शीघ्रता से होते हैं क्योंकि स्थानीय अधिकारी शीर्ष के अधिकारी के आदेशों की प्रतीक्षा नहीं करते। वे आवश्यकतानुसार तुरन्त निर्णय कर लेते हैं। इस प्रकार प्रकरण विलम्ब नहीं होता।

(iv) इस व्यवस्था द्वारा आकस्मिक कठिनाइयों का सामना किया जा सकता है, क्योंकि अधिकारियों को परिस्थिति के अनुसार निर्णय करने के अधिकार प्रदान कर दिये जाते हैं।

(v) विकेन्द्रीकरण में विभाग या क्षेत्र के अधिकारियों का सीधा सम्पर्क अपने क्षेत्र के व्यक्तियों के साथ होता है। क्षेत्रीय अधिकारी भी क्षेत्र में ही रहता है जिससे उसे क्षेत्रीय समस्याओं का पूरा ज्ञान होता है। पूरी तरह समस्याओं से परिचित होने के कारण उन समस्याओं का हल भी आसानी से निकाला जा सकता है।

(vi) विकेन्द्रीय प्रशासन में कर्मचारियों को स्वतन्त्र रूप से कार्य करने का अवसर मिलता है जिससे उनमें उत्साह, लगन व आत्मविश्वास उत्पन्न होता है।

(vii) सत्ता का बँटवारा होने के कारण विकेन्द्रीकरण प्रशासन में नियमों की कठोरता नहीं होती। इसमें साथ-ही-साथ क्षेत्रीय अधिकारियों के कार्यों में कदम-कदम पर हस्तक्षेप नहीं होता।

(viii) इसमें लाल फीताशाही तथा कार्यों में विलम्ब के अवसर कम होते हैं, क्योंकि प्रत्येक मामले में मुख्य कार्यालय से आज्ञा नहीं लेनी पड़ती।

विकेन्द्रीकरण के दोष (Demerits of Decentralization) —

विकेन्द्रीकरण पद्धति के निम्न दोष हैं—

(i) विकेन्द्रीकरण पद्धति का सबसे बड़ा दोष यह बताया जाता है कि इसमें विभागीय नीतियों में समरूपता नहीं पाई जाती। प्रत्येक क्षेत्रीय इकाई अपनी आवश्यकता के अनुरूप कार्यों व नीतियों का निर्धारण करती है। इससे प्रशासकीय संगठन कमजोर हो जाता है।

(ii) कुछ आलोचकों का कहना है कि विकेन्द्रीकृत शासन में भ्रष्टाचार पनपता है। उनका कहना है कि स्थानीय शासनाधिकारियों पर कड़े नियन्त्रण के अभाव में वे मनमानी करते हैं जिससे भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन मिलता है।

(iii) इस प्रकार की व्यवस्था में स्थानीय दलबन्दी प्रशासन पर हावी होने की आशंका बनी रहती है। स्थानीय दलबन्दी से लोगों में व्यापक दृष्टिकोण नहीं रहता। स्वार्थपरता तथा संकीर्णता का तो प्रत्येक क्षेत्र शिकार रहता है।

(iv) आलोचकों का यह भी कहना है कि विकेन्द्रीकरण व्यवस्था में स्थानीय अधिकारी स्थानीय समस्याओं को सुलझाने में इतने व्यस्त रहते हैं कि उन्हें राष्ट्र के हित की समस्याओं की ओर ध्यान देने की फुरसत ही नहीं रहती। राष्ट्रीय दृष्टिकोण के अभाव में राष्ट्रीय हितों को हानि पहुँचती है।

(v) इसमें केन्द्रीय संगठन का नियन्त्रण स्थानीय क्षेत्रों में नहीं होता। अतः केन्द्रीय संगठन स्थानीय मामलों के प्रति उदासीन रहता है।

केन्द्रीकरण तथा विकेन्द्रीकरण दोनों में ही गुण तथा दोषों का समावेश है। यह निर्णय करना बहुत कठिन है कि किसी संगठन को केन्द्रीकरण के सिद्धान्त

पर स्थापित किया जाए अथवा विकेन्द्रीकरण पर। दोनों में से किसी को भी अच्छे संगठन का पूर्ण सिद्धान्त नहीं माना जा सकता। अतः कई विद्वानों का विचार है कि परिस्थितियों तथा आवश्यकता की माँग के अनुसार यह निर्णय किया जाना चाहिए कि किस विभाग या संगठन का आधार केन्द्रीयकरण हो और किस का आधार विकेन्द्रीयकरण।

(4) नियन्त्रण के क्षेत्र का सिद्धान्त
(Span of Control)

किसी भी प्रकार का संगठन चाहे वह सरकारी हो या गैर-सरकारी, उसको चलाने के लिए कर्मचारियों की आवश्यकता होती है। संगठन की सफलता नियन्त्रण पर निर्भर करती है। यदि किसी संगठन में नियन्त्रण नहीं होगा तो जिस उद्देश्य के लिए उस संगठन की रचना की गई है, उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। लेकिन यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि एक अधिकारी कितने कर्मचारियों पर नियन्त्रण रखने में सफल हो सकता है, इसी अनुपात में उसके अधीन कार्य करने वाले कर्मचारियों की संख्या निर्धारित की जाती है। इन कर्मचारियों से अधिकारी नियमों का पालन कराने में तभी सफल हो सकता है, जब उन पर उसका पूर्ण नियन्त्रण हो। नियन्त्रण ही कर्मचारियों को एक शृंखला में पिरोये रखता है। किसी संगठन में कितने उत्तरोत्तर पद अथवा स्तर होने चाहिए, यह इस बात पर निर्भर करता है कि उस संगठन में निम्नतर स्तर पर कितने व्यक्ति कार्य करते हैं तथा प्रत्येक उच्चाधिकारी कितने कर्मचारियों के कार्यों का सुगमता तथा कुशलतापूर्वक नियन्त्रण कर सकता है। निम्न उदाहरण से इस बात को और स्पष्ट किया जा सकता है माना कि राजस्थान के पुलिस विभाग में 20,000 कुल सिपाही कार्यरत हैं और प्रत्येक अधिकारी 5 व्यक्तियों के कार्य का निरीक्षण कर सकता है। ऐसी स्थिति में विभाग का संगठन निम्न प्रकार का होगा—

1	महानिरीक्षक पुलिस
6	उप-महानिरीक्षक पुलिस
32	पुलिस अधीक्षक
160	पुलिस उप-अधीक्षक
800	पुलिस निरीक्षक
4,000	पुलिस उप-निरीक्षक
20,000	पुलिस के सिपाही

(20,000 सिपाहियों को 5 से विभाजित करने पर अगले स्तर पर 4,000 पुलिस उप-निरीक्षकों की आवश्यकता होगी। इनको पुनः 5 से विभाजित करने पर 800 पुलिस निरीक्षक की आवश्यकता होगी। इन निरीक्षकों को निरीक्षण में रखने के लिए 160 उप-अधीक्षकों की आवश्यकता होगी। इनमें 5 का भाग देने पर 32 अधीक्षकों की जरूरत होगी। उन पर नियन्त्रण रखने के लिए 6 उप-महानिरीक्षकों तथा उन पर नियन्त्रण के लिए 1 महानिरीक्षक, पुलिस की आवश्यकता होगी।)

यदि सिपाहियों की संख्या बढ़ाकर 30,000 कर दी जाए और नियन्त्रण की सीमा 5 ही रहे तो संगठन में एक स्तर की और वृद्धि हो जायगी—

1	पुलिस महानिरीक्षक
2	पुलिस उप-महानिरीक्षक
10	पुलिस सहा-सहायक निरीक्षक
48	पुलिस अधीक्षक
240	उप-अधीक्षक
1,200	पुलिस निरीक्षक
6,000	उप-निरीक्षक
30,000	पुलिस के सिपाही

सिपाहियों की संख्या में वृद्धि होने से एक नये पद का सृजन करना पड़ा है जो सहायक-महा-निरीक्षक का है। यदि निरीक्षण की सीमा 5 से बढ़ कर 6 हो जाती तो हमें संगठन में एक नये स्तर की आवश्यकता नहीं रहती।

नियन्त्रण के विस्तार की सीमा इसलिए बांधी जाती है कि मानवीय कार्य-क्षेत्र सीमित होता है। नियन्त्रण ध्यान क्षेत्र (Span of Attention) की सीमा पर निर्भर करता है। नियन्त्रण करने की सीमा प्रत्येक व्यक्ति की भिन्न होती है। अतः नियन्त्रण की सीमा के सम्बन्ध में निश्चित माप-दण्ड स्थापित नहीं किया जा सकता। लोक-प्रशासन के विभिन्न विद्वानों में इस प्रश्न पर मतैक्य नहीं है। कई विद्वान् यह मानते हैं कि एक अधिकारी 7 से 10 कर्मचारियों की क्रियाओं पर नियन्त्रण रख सकता है। वी०ए० ग्रैकुनास् (V. A Graicunas) नामक विद्वान् ने नियन्त्रण की सीमा पर अपने लेख 'संगठन में सम्बन्ध' (Relationship in Organisation) में एक 'गणितीय सूत्र' (Mathematical Formula) का प्रतिपादन किया है। उसका कथन है कि कोई भी अधिकारी 5 या 6 अधीनस्थ कर्मचारियों से अधिक के कार्य

का प्रत्यक्ष रूप से निरीक्षण नहीं कर सकता। कारण निरीक्षण केवल व्यक्तियों का ही नहीं किया जाता है वरन् उन कर्मचारियों के शासन सम्बन्धी सम्बन्धों के विघटन तथा संगठन का भी किया जाता है और प्रत्येक नये अधीनस्थ कर्मचारी के बढ़ने पर इन दोनों में से पहली चीज तो अंकगणितीय श्रेणी (Arithmetical Progression) के हिसाब से बढ़ती है, पर दूसरी चीज गुणोत्तर श्रेणी (Geometrical Progression) के हिसाब से बढ़ती है। यदि एक उच्च अधिकारी यदि 5 तत्काल अधीनस्थ कर्मचारियों में एक छठा कर्मचारी और बढ़ा देता है, तो उससे उसकी सत्ता के प्रत्यायोजन के अवसर में तो केवल 20% की वृद्धि हुई है पर उन सब सम्बन्धों की संख्या में जिनकी उन्हें निगरानी रखनी है, शत प्रतिशत वृद्धि होती है।

नियन्त्रण क्षेत्र की समस्या के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने अपने मत प्रकट किये हैं, जिनमें से मुख्य निम्न हैं —

इस सम्बन्ध में हेनरी फेयल (Henry Fayol) का मत है, "एक बड़े व्यवसाय में उच्चतर प्रबन्धकों को अपने अधीनस्थ कर्मचारियों की संख्या 5 या 6 से अधिक नहीं रखनी चाहिए।

डॉ० एम०पी० शर्मा (M.P. Sharma) के अनुसार—"नियन्त्रण का विस्तार सिवाय इसके कुछ नहीं कि कार्य के प्रति निरीक्षण तथा अधीनस्थों पर नियन्त्रण का ध्यान लागू करना है।

प्रो० उरविक (Prof. Urwick) के अनुसार—"उच्च अधिकारियों के नियन्त्रण की आदर्श संख्या 5 से 6 है और निम्न स्तर पर अधीनस्थ कर्मचारियों के नियन्त्रण की संख्या 8 से 12 है।

लॉर्ड हाल्डेन तथा ग्राहम वालास का विचार है कि— "एक मुख्य अधिकारी 10 से 12 तक अधीनस्थ कर्मचारियों के बिना किसी परेशानी से देखरेख कर सकता है।"

सर इयान हेमिल्टन ने अपने सैनिक अनुभव के आधार पर कहा है कि— "एक अधिकारी 3 या 4 अधीनस्थ कर्मचारियों के कार्यों का निरीक्षण कर सकता है।"

उपर्युक्त मतों के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नियन्त्रण के लिए कोई निश्चित सीमा-रेखा या आदर्श संख्या नहीं है। संख्या के आधार पर नियन्त्रण सीमा नहीं खींची जा सकती। इस सम्बन्ध में लूथर गुलिक (Luther Gullick) ने कहा है कि नियन्त्रण की सीमा निर्धारित करने में निम्न सामान्य तत्व काम में आते हैं.—

(1) समय (Time).—यदि संगठन पुराना है और स्थायी है, तो उसमें नियन्त्रण की सीमा अपेक्षाकृत अधिक होगी, क्योंकि पुराने संगठन में परम्पराएँ पड़ जाती हैं तथा कार्य भी व्यवस्थित हो जाता है। इसके विपरीत, नये संगठन में अधिकारियों के सामने उनके अधीनस्थ कर्मचारी प्रतिदिन नई समस्याएँ उनके पास

ले जाते हैं। इसके अतिरिक्त परम्पराओं का अभाव होता है। अतः निरीक्षण की सीमा सकुचित होगी।

(ii) कार्य (Function)—एक ही प्रकार के कार्य करने वाले कर्मचारियों पर एक अधिकारी बड़ी संख्या में नियन्त्रण रख सकता है। उदाहरण के लिए एक डॉक्टर अनेक डॉक्टरों के कार्यों का निरीक्षण कर सकता है, क्योंकि उनके कार्यों में समरूपता है। परन्तु यदि एक डाक्टर को शिक्षा अथवा पुलिस के कार्यों का निरीक्षण सौंपा जाए तो नियन्त्रण की सीमा कम होगी। क्योंकि कार्यों की विभिन्नता के कारण उन्हें समझने व अपने को उस कार्य के अनुरूप ढालने में समय लगता है, अतः नियन्त्रण की सीमा कम होगी।

(iii) स्थान (Space)—इसमें यदि एक अधिकारी के अधीनस्थ कर्मचारियों के कार्यालय भौगोलिक दृष्टि से काफी दूर-दूर फैले हों तो नियन्त्रण का क्षेत्र स्वतः ही छोटा हो जायेगा। दूसरी ओर कार्य एक ही स्थान पर होता है, तो एक अधिकारी अनेक कर्मचारियों का नियन्त्रण कर सकता है।

(iv) व्यक्तित्व (Personality)—संगठन में नियन्त्रण के क्षेत्र को निर्धारित करने में अधिकारी का व्यक्तित्व बहुत ही महत्व रखता है। व्यक्तित्व में अधिकारी की योग्यता, दूसरों से काम लेने की क्षमता, निर्णय करने की शक्ति, गतिशीलता, दूसरों को समझने की शक्ति, निष्ठा, ईमानदारी आदि अनेक गुणों का समावेश होता है। वह प्रबल व्यक्तित्व के आधार पर एक साथ कई व्यक्तियों पर नियन्त्रण रख सकता है।

अन्त में कहा जा सकता है कि प्रशासन को कुशल बनाने के लिए नियन्त्रण के क्षेत्र का होना आवश्यक है। कितना ही कुशल और योग्य व्यक्ति क्यों न हो, उसकी कुशलता तथा योग्यता की एक सीमा होती है। जितना ऊँचा पद हो उतना ही नियन्त्रण का क्षेत्र कम कर देना चाहिए जिससे कि गम्भीर उत्तरदायित्व को निभाया जा सके। कार्य में शिथिलता न आने देने के लिए आवश्यक है कि नियन्त्रण की सीमा आदर्श होनी चाहिए।

(5) विशेषीकरण या विशिष्टीकरण का सिद्धान्त
(Principle of Specialization)

आज के जन-कल्याणकारी राज्य में सरकार का कार्य-क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया है और विभिन्न क्षेत्रों में उसे जनता के सुख, कल्याण और सुविधा के लिए कार्य करना पड़ता है। यह सर्वमान्य है कि सरकार का मुख्य कार्य बाहरी आक्रमण से देश की रक्षा करना तथा देश में शान्ति तथा व्यवस्था बनाए रखना है। लेकिन, इसके अतिरिक्त सरकार को बहुत से कार्य करने होते हैं जैसे स्वास्थ्य, शिक्षा, सफाई, आर्थिक समृद्धि और जनता की नैतिक और भौतिक सुख-समृद्धि एवं प्रगति आदि। इन सभी लक्ष्यों एवं उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सरकार को अनेक विभागों

(Departments), अभिकरणों (Agencies) और कार्यालयों (Offices) की स्थापना करनी पड़ती है। इन्हें बहुधा 'विभाग' की संज्ञा दी जाती है। यह केवल प्रशासन की दृष्टि से ही सुविधाजनक नहीं, अपितु सम्बन्धित क्षेत्र या विषय में विशेष जानकारी और ज्ञान प्राप्त करने की दृष्टि से भी बहुत आवश्यक है। यदि प्रत्येक विभाग को कुशलता के साथ अपना उत्तरदायित्व पूरा करना है तो यह आवश्यक है कि विभाग को अपने क्षेत्र के बारे में विशिष्ट जानकारी हो और विशिष्ट अधिकारियों को ही कार्य सौंपा जाए। यही कारण है कि आजकल प्रशासन, चाहे वह सरकारी हो या गैर-सरकारी, के क्षेत्र में विशिष्ट जानकारी रखने वाले विभागों का निरन्तर विकास हो रहा है। फलतः आज हम लोक-प्रशासन को मन्त्रालयों, मण्डलों, आयोगों आदि में बँटा हुआ पाते हैं और इनमें से प्रत्येक एक ही प्रकार का विशिष्ट कार्य सम्पादित करता है।

प्रशासकीय विभागों में विशिष्टीकरण या विशेषीकरण के साथ-साथ एक और विशेष महत्वपूर्ण बात का पाया जाना आवश्यक है, जिसे संयोग की व्यवस्था कहते हैं। इसका अर्थ यह होता है कि जहाँ विशिष्टता के आधार पर विभागों को उप-विभागों (Sub-departments) आदि में बाँटा जाता है। वहाँ विभिन्न उप-विभागों में कार्य करने वाले प्रशासकीय कर्मचारियों का एक-दूसरे से संयोग एक बड़ी इकाई की सदस्यता के रूप में पाया जाना आवश्यक है। जहाँ प्रशासकीय विभागों एवं उनके उप-विभागों में इस प्रकार का सम्बन्ध नहीं पाया जाता वहाँ विशिष्टीकरण का कोई लाभ नहीं होता। इस प्रकार प्रशासन में विशेषीकरण तथा संयोग दोनों का होना आवश्यक माना गया है। प्रो० एल०डी० व्हाइट (L. D. White) ने प्रशासन में संयोग के महत्व की विवेचना करते हुए लिखा है—"विशेषीकरण या विशिष्टीकरण कार्य को विभाजित एवं उप-विभाजित करने के लिए तथा उन कर्मचारियों को एक-दूसरे से अलग करने के लिए निरन्तर कार्य करता है जिसका संयोग बड़ी इकाइयों में उन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए होता है जिनके लिए उनका अस्तित्व कायम है।"

(6) सत्ता के प्रत्यायोजन का सिद्धान्त
(Principle of Delegation of Authority)

किसी भी संगठन में प्रशासन को सुचारु रूप से चलाने के लिए कर्मचारियों की आवश्यकता होती है। कोई भी अकेला व्यक्ति संगठन में सभी कार्यों को सम्पादित नहीं कर सकता, अतः अपने अधीनस्थ कर्मचारियों में उच्च अधिकारी कार्यों का बँटवारा करता है। लेकिन कर्मचारियों को जिन कार्यों को सौंपा गया है उनसे सम्बद्ध उत्तरदायित्वों को पूरा करने के लिए उन्हें कुछ शक्तियाँ भी देनी पड़ती हैं। इस प्रकार की शक्ति का वितरण ही प्रशासन में हस्तान्तरण या प्रत्यायोजन (Delegation) कहलाता है। इस प्रक्रिया के द्वारा एक उच्चाधिकारी अपने अधीनस्थ

कर्मचारियों को सविवेक (Discretion) के अनुसार निर्णय लेने तथा कार्यों को सम्पादित करने के अधिकार को हस्तान्तरित कर देता है। अतः सत्ता के प्रत्यायोजन का अर्थ है, व्यक्ति का अपने कार्यों को सम्पादित करने में, तथा अपने उत्तरदायित्वों को निभाने में, अपनी बुद्धि के अनुसार निर्णय लेने की छूट देने से है। संगठन की पद-सोपान-शृंखला में उच्च अधिकारी का अपने निम्न अधिकारी को अपनी सत्ता का प्रत्यायोजन करना आवश्यक हो जाता है। प्रशासन के दैनिक क्रिया-कलापों में अनेक ऐसे सामयिक प्रश्न उत्पन्न होते हैं, जिनका निर्णय शीघ्र करने की आवश्यकता होती है। अतः अधीनस्थ कर्मचारी अपनी हस्तान्तरित सत्ता का प्रयोग कर उन प्रश्नों पर निर्णय लेते हैं। यहाँ इस बात का विशेष रूप से उल्लेख करना आवश्यक होगा कि जब उच्च अधिकारी अपने अधीनस्थ कर्मचारियों को सत्ता का हस्तान्तरण करते हैं लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि उच्च अधिकारी ने सत्ता को हमेशा के लिए त्याग दिया है। मौलिक रूप से हस्तान्तरण के बाद भी अन्तिम रूप से सत्ता उच्च अधिकारी के पास ही रहती है क्योंकि जिन अधिकारियों को सत्ता दी जाती है उन पर नियन्त्रण, पर्यवेक्षण तथा निगरानी का अधिकार उसी का है। उच्च अधिकारी को यह देखना होता है कि जिस अधिकार को अधीनस्थ कर्मचारियों को दिया गया है उसका उपयोग ठीक प्रकार से करें। उसे हस्तक्षेप करने, शक्ति को वापिस लेने, उसमें परिवर्तन करने का पूरा अधिकार होता है। प्रत्यायोजन का उद्देश्य संगठन को सुचारु रूप से चलाना है और इसके लिए उसके प्रत्येक स्तर पर सत्ता का हस्तान्तरण किया जाता है। लेकिन प्रत्यायोजन के बाद भी कानूनी रूप से सत्ता उच्च अधिकारी के पास ही मानी जाती है, लेकिन उसके व्यावहारिक प्रयोग का अधिकार सहायक या अधीनस्थों को दे दिया जाता है।

कुछ विद्वानों ने सत्ता के प्रत्यायोजन की परिभाषा देने का प्रयत्न किया है। मुख्य परिभाषाएँ निम्न हैं —

मिलेट (Millet) के अनुसार—"प्रत्यायोजन का सार दूसरों को निर्णयात्मक शक्ति प्रदान करने तथा उनके कर्तव्यों की सीमा में निर्धारित समस्याओं से उनके निर्णयों में प्रयोग करने से है।" ("The essence of delegation is to confer discretion upon others, to use their judgment in meeting specific problems within the frame-work of their duties.")

मूने (Mooney) के अनुसार प्रत्यायोजन का अर्थ है—"उच्च अधिकारी द्वारा निर्धारित शक्तियों को समर्पित करना।" ("Delegation means Conferring of specified authority by a higher authority".)

डॉ० महेश्वरी (Dr. Maheshwari) के अनुसार—"प्रत्यायोजन शक्तियों को विभाजित तथा वितरण करने की एक विधि है।" ("Delegation is a way for dividing and distributing authority.")

प्रत्यायोजन की आवश्यकता (Need for Delegation)

किसी सगठन मे प्रत्यायोजन की आवश्यकता निम्न कारणो मे आवश्यक हो जाती है—

(i) कोई भी सगठन का अध्यक्ष, चाहे कितना भी योग्य क्यो न हो, अकेला सभी कार्यों को नही कर सकता न ही वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति का प्रयोग कर सकता है, जो उसे कानून द्वारा प्राप्त हुई है अत प्रत्यायोजन आवश्यक हो जाता है।

(ii) प्रत्यायोजन के परिणामस्वरूप छोटे-छोटे प्रश्नो का निपटारा अधीनस्थ सहयोगी या कर्मचारी कर देते हैं। उच्च अधिकारी के पास केवल महत्त्वपूर्ण प्रश्न ही आते हैं।

(iii) इस व्यवस्था मे सगठन के उच्च अधिकारियो को समय मिल जाता है क्योंकि कुछ कार्य नीचे के स्तर पर कर लिया जाता है, अत उच्च अधिकारी अपने उस समय का उपयोग महत्त्वपूर्ण प्रश्नो को सुलझाने मे लगा सकता है।

(iv) हस्तान्तरण के अभाव मे अधीनस्थ अधिकारी अपना कार्य नहीं कर सकते, क्योंकि किसी कार्य को करने मे कार्य के अनुरूप सत्ता भी उसके पास होनी चाहिए।

(v) प्रत्यायोजन कर्मचारियो मे सहयोग तथा आत्म-विश्वास पैदा करने के लिए आवश्यक है।

प्रत्यायोजन के लाभ (Merits of Delegation)

(i) सत्ता के प्रत्यायोजन से विभाग का अध्यक्ष कार्य का विभाजन करके अपने अधीनस्थो को सत्ता और दायित्व सौप सकता है जिससे वह नियन्त्रण और निरीक्षण अच्छी प्रकार से कर सकता है।

(ii) इसमें सगठन मे कार्यकुशलता बढती है क्योकि कार्यों का विभाजन होने से अध्यक्ष के पास सभी प्रकार के कार्य एकत्रित नहीं होते। छोटे कार्य सहायक अधिकारी नीचे के स्तर पर ही निपटा देते हैं और महत्त्वपूर्ण कार्य अध्यक्ष के पास पहुँचते हैं। इस प्रकार श्रम-विभाजन से सगठन की कार्यकुशलता मे वृद्धि होती है।

(iii) सत्ता के प्रत्यायोजन से व्यर्थ और छोटी छोटी समस्याएँ सगठन के अध्यक्ष के पास नहीं पहुँचती। इसके स्थान पर वह सगठन की महत्त्वपूर्ण समस्या को सुलझाने मे समय लगा सकता है।

(iv) इस व्यवस्था मे सहयोग और उत्तरदायित्व की भावना बढती है। उच्च और निम्न अधिकारियो मे सत्ता के प्रत्यायोजन से आपसी विचार विमर्श की सम्भावना रहती है, जिससे सहयोग बढता है। उत्तरदायित्व की भावना इसलिए बढती है कि इसमे कर्मचारियों को अपने कार्यों के दायित्वो को पूरा करने के लिए सत्ता प्रदान की जाती है जिससे उनके उत्तरदायित्व मे वृद्धि होती है।

(x) सत्ता के प्रत्यायोजन से अधीनस्थों को सत्ता प्राप्त होती है। इस सत्ता की प्राप्ति के परिणामस्वरूप उनमें आत्म-विश्वास की भावना का विकास होता है।

(xi) इस व्यवस्था से प्रशासकीय संगठन के सभी सदस्यों में (चाहे वे अधीनस्थ हों या सहायक) साझेदारी (Partnership) की भावना पैदा होती है। क्योंकि हस्तान्तरण से कुछ सत्ता उनको मिलती है जिससे व अपने को सत्ता के उपयोग में साझेदार समझते हैं।

(xii) इस व्यवस्था में कार्य शीघ्रता तथा सुविधा से किये जाते हैं। कार्य के बँटवारे के परिणामस्वरूप कार्य करने में सुविधा तथा शीघ्रता आती है।

सत्ता के प्रत्यायोजन की बाधाएँ (Hinderances in Delegation) :

यह निर्विवाद सत्य है कि सत्ता के प्रत्यायोजन से संगठन में कार्य-कुशलता की वृद्धि होती है किन्तु कई उच्चाधिकारी अपनी सत्ता का हस्तान्तरण करना नहीं चाहते। उनका यह भ्रम रहता है कि ऐसा करने पर अधीनस्थ कर्मचारी के समक्ष उनकी सत्ता कमजोर पड़ जायेगी। अतः वे अपनी सत्ता का हस्तान्तरण करने में सकोच करते हैं अनिच्छा (Unwillingness) प्रकट करते हैं। यह भी देखने में आया है कि उच्च अधिकारी अपने को योग्यतम समझते हैं और अपने अधीनस्थ और सहायक अधिकारियों को अयोग्य समझते हैं जिसके परिणामस्वरूप वे सत्ता का हस्तान्तरण नहीं करना चाहते हैं। उनका कहना है कि ऐसा करने से संगठन कमजोर पड़ जायेगा। वे यह समझते हैं कि यदि सत्ता का प्रत्यायोजन किया गया तो संगठन अस्त-व्यस्त हो जायेगा। परन्तु वस्तुतः न तो उच्च अधिकारी योग्यतम होते हैं और न ही अधीनस्थ कर्मचारी अयोग्य। यह विचार केवल उनकी भावना पर आधारित है, न कि वास्तविकता पर। यह विचार प्रत्यायोजन के मार्ग की बड़ी कठिनाई है। इतने पर भी अधिकांश व्यक्ति हस्तान्तरण की आवश्यकता तथा उपयोगिता को स्वीकार करते हैं। इससे प्रशासन में कुशलता बढ़ती है न कि अकुशलता।

हस्तान्तरण के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर किया जा सकता है। इस सन्दर्भ में यह कहा जाता है कि प्रत्यायोजन लिखित होना चाहिए। प्रत्यायोजन ऐसी शक्ति का किया जाए जिससे निरीक्षण व नियन्त्रण रखना सम्भव हो सके। इसके अतिरिक्त हस्तान्तरण नियोजित होना चाहिए। योग्य, कुशल और ईमानदार अधीनस्थों में ही सत्ता का प्रत्यायोजन किया जाए। सत्ता पद के आधार पर दी जानी चाहिए न कि व्यक्ति के आधार पर। जहाँ तक हो सके निम्न स्तर पर सत्ता का प्रत्यायोजन एक सा होना चाहिए।

सत्ता के प्रत्यायोजन की सीमाएँ (Limits of Delegation) :

सत्ता के प्रत्यायोजन करने बाद उसके नियन्त्रण व देख-रेख की आवश्यकता होती है, क्योंकि उचित नियन्त्रण के अभाव में सत्ता के प्रत्यायोजन का उद्देश्य ही धूमिल पड़ जायेगा। यहाँ यह बात बता देनी आवश्यक होगी कि कोई भी उच्च

जब सत्ता का प्रत्यायोजन लिखित रूप में किया जाता है तो उसे औपचारिक प्रत्यायोजन कहा जाता है, परन्तु जब प्रत्यायोजन मौखिक होता है या परम्पराओं के आधार पर होता है तो उसे अनौपचारिक प्रत्यायोजन कहा जाता है। इंग्लैंड में सत्ता के प्रत्यायोजन का आधार अनौपचारिक है अर्थात् अभिसमय (Conventions) है। यदि सत्ता पूर्ण रूप से प्रत्यायोजित कर दी जाती है तो उसे पूर्ण प्रत्यायोजन कहा जाता है और यदि शक्तियाँ आंशिक रूप से प्रत्यायोजित की जाती हैं तो उसे आंशिक प्रत्यायोजन कहा जाता है। तीसरे प्रकार के प्रत्यायोजन में, यदि प्रत्यायोजन कुछ शर्तों के साथ किया जाता है जैसे निरीक्षण तथा नियन्त्रण के अधिकार को उच्च अधिकारी अपने पास सुरक्षित रखता है, तो उसे शर्त युक्त प्रत्यायोजन कहते हैं। इसके विपरीत यदि प्रत्यायोजन में कोई शर्त नहीं होती है तो उच्चाधिकारी अधीनस्थों के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करता है, इस प्रकार के प्रत्यायोजन को बिना शर्त का प्रत्यायोजन कहते हैं। पाँचवें प्रकार का प्रत्यायोजन वह है जो सीधा, बिना किसी तीसरे की मध्यस्थता की सत्ता दी जाती है तो उसे प्रत्यक्ष प्रत्यायोजन कहा जाता है। इसके विपरीत यदि सत्ता का प्रत्यायोजन किसी मध्यस्थ के माध्यम से किया जाता है तो उसे अप्रत्यक्ष प्रत्यायोजन कहा जाता है।

(7) एकीकृत व्यवस्था बनाम स्वतन्त्र व्यवस्था
(Integrated System V's Disintegrated or Independent System)

प्रशासकीय संगठन एकीकृत व्यवस्था के आधार पर किया जाए या स्वतन्त्र व्यवस्था के आधार पर—एक प्रमुख प्रश्न है। साधारणतया कोई भी संगठन न तो पूर्णतः एकीकृत होता है और न ही पूर्णतः स्वतन्त्र। यहाँ हम दोनों प्रकार की व्यवस्था का विस्तार से वर्णन कर रहे हैं।

एकीकृत व्यवस्था का अर्थ (Meaning of Integrated System) :

जब प्रशासन की विभिन्न इकाइयों को परस्पर सम्बन्धित कर दिया जाय अथवा उनको एक सूत्र में बाँध दिया जाए तो उसे एकीकृत व्यवस्था कहते हैं। इस व्यवस्था की धारणा सावयव (Organic) शरीर से मिलती-जुलती है। जिस प्रकार शरीर की रचना में उसके अंग परस्पर एक-दूसरे से सम्बन्धित व जुड़े हुए हैं। उसी प्रकार एकीकृत व्यवस्था में विभिन्न प्रशासकीय इकाइयाँ परस्पर सम्बन्धित होती हैं। हालांकि प्रशासन को सुचारु रूप से चलाने के लिए उसको पृथक्-पृथक् विभागों में बाँट दिया जाता है तथा प्रत्येक विभाग एक पृथक् अध्यक्ष के अधीन होता है तथापि; विभिन्न विभागों तथा उनकी सेवाओं में परस्पर गहरा सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया जाता है, ताकि संघर्ष उत्पन्न न हो। भारत में भी प्रशासनिक व्यवस्था मुख्यतः एकीकृत पाई जाती है। केन्द्रीय स्तर पर प्रशासकीय ढाँचे (Administrative

Structure) को विभिन्न मन्त्रालयों अथवा विभागों में विभक्त कर दिया गया है जो मन्त्रिपरिषद् के अधीन है और मन्त्रिमण्डल प्रधानमन्त्री के नेतृत्व में राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी है। फिर भी कुछ ऐसे विभाग हैं जो अपने कार्य संचालन के लिए मन्त्रिमण्डल के नियन्त्रण से मुक्त हैं तथापि वे सं० रा० अमेरिका की स्वतन्त्र नियामकीय आयोग (Independent Regulatory Commission) की भाँति पूर्ण रूप से स्वतन्त्र नहीं है। इस प्रकार के विभाग हैं—संघीय लोक सेवा आयोग (Union Public Service Commission), महालेखा परीक्षक (Auditor General) आदि। इन विभागों पर भी मन्त्रिमण्डल का नियन्त्रण किसी न किसी रूप में रहता है। इनके सदस्यों की नियुक्ति सरकार करती है। उनकी कार्य-प्रणाली भी सरकार ही निश्चित करती है। सार रूप में एकीकृत व्यवस्था के अन्तर्गत समान सेवाएँ करने वाले अभिकरणों (Agencies) का वर्गीकरण किया जाता है तथा विभिन्न विभागों का परस्पर सम्बन्ध स्थापित किया जाता है

एकीकृत व्यवस्था की विशेषताएँ

एकीकृत व्यवस्था की मुख्य विशेषताएँ निम्न हैं।

(i) इसमें विभाग परस्पर सम्बन्धित होते हैं तथा एक-दूसरे को सहायता देने का प्रयत्न करते हैं।

(ii) अलग-अलग विभागीय अध्यक्षों की देखरेख में कार्य करने पर भी सभी विभाग सामूहिक रूप से मुख्य कार्यपालिका के प्रति उत्तरदायी होते हैं।

(iii) सभी विभाग सामूहिक रूप से कुछ समान उद्देश्यों की प्राप्ति करने का प्रयत्न करते हैं।

एकीकृत व्यवस्था के गुण (Merits of Integration) :

(i) यह व्यवस्था विभिन्न अभिकरणों के पारस्परिक सहयोग को सम्भव बनाती है। यह सहयोग ठीक उसी प्रकार का है जिस प्रकार से शरीर के विभिन्न अंगों में पारस्परिक सहयोग होता है। सम्पूर्ण शरीर का हित उसके विभिन्न अंगों के पारस्परिक सहयोग पर निर्भर है। ठीक इसी प्रकार प्रशासन में भी विभिन्न इकाइयाँ उसके उद्देश्य को प्राप्त करने में सहयोग करती हैं।

(ii) इस व्यवस्था में अधिकार क्षेत्र की व्याख्या स्पष्ट होने से विभागों के बीच विवाद तथा संघर्ष उत्पन्न नहीं होते।

(iii) बजट बनाने में बड़ी सुगमता रहती है, क्योंकि विभिन्न विभाग अलग होते हुए भी मुख्य कार्यपालिका के अधीन होते हैं। वे अपने सम्बन्धित आँकड़े मुख्य कार्यपालिका को प्रेषित कर देते हैं जिनके आधार पर बजट बनाना आसान हो जाता है।

(iv) संगठन का कार्य विभिन्न इकाइयों द्वारा किया जाता है और जिनका प्रशासन में महत्त्व होता है। एकीकृत व्यवस्था संगठन की इन विभिन्न इकाइयों में

समन्वय स्थापित करता है, जिससे प्रशासन अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में सफलता प्राप्त करता है।

(५) इस प्रकार की व्यवस्था में नियन्त्रण बड़ा सरल होता है। इसमें प्रत्येक विभाग एक विभागाध्यक्ष के नियन्त्रण में कार्य करता है। उसके अधिकारों तथा उत्तरदायित्वों की स्पष्ट व्याख्या कर दी जाती है। ये अधिकारी अपने अधीनस्थों पर नियन्त्रण रखते हैं, जबकि वे स्वयं अपने कार्यों के लिए मुख्य कार्यपालिका के प्रति उत्तरदायी होते हैं। इस प्रकार मुख्य कार्यपालिका सरलता से सम्पूर्ण प्रशासन पर नियन्त्रण रखने में समर्थ हो जाती है।

एकीकृत व्यवस्था के दोष (Demerits of Integration) :

एकीकृत व्यवस्था में गुणों के साथ-साथ कुछ दोष भी पाये जाते हैं। मुख्य दोष निम्नलिखित हैं—

(i) इस व्यवस्था में प्रशासकीय सत्ता मुख्य कार्यपालिका में केन्द्रित होने से उसके निरंकुश होने की सम्भावना बनी रहती है।

(ii) इसमें विभागीय कर्मचारियों में परस्पर सहयोग और मेल-मिलाप होने से कभी-कभी उनमें संघर्ष भी उत्पन्न हो जाते हैं।

(iii) इस व्यवस्था में प्रत्येक कार्य करने के कुछ निश्चित नियम व तरीके होते हैं जिससे कार्यों को करने में अनावश्यक देरी होती है।

(iv) इस व्यवस्था में एक व्यक्ति को एक ही प्रकार का कार्य करते रहना होता है। उसे अन्य कार्यों का ज्ञान नहीं हो पाता, जिससे उसका दृष्टिकोण बड़ा संकुचित हो जाता है।

स्वतन्त्र व्यवस्था (Independent System) :

स्वतन्त्र व्यवस्था का अर्थ प्रशासकीय संगठन की ऐसी योजना से है, जिसमें सत्ता (Authority) विभिन्न तथा स्वतन्त्र प्रकृति के आयोगों व कार्यालयों में निहित की जाती है। ये विभाग परस्पर सम्बन्धित नहीं होते हैं। इसी कारण इस व्यवस्था को 'स्वतन्त्र' (Independent) या 'असंगठित' (Disintegrated) या असम्बद्ध व्यवस्था कहा जाता है। विभागीय संगठन में स्वतन्त्र विभागों की स्थापना के इस सिद्धान्त का विकास सं० रा० अमेरिका में हुआ। अमेरिका की जनता स्वेच्छाचारी शासन से भय खाती है तथा उसने शक्तियों के पृथक्करण (Separation of Power) तथा अवरोध व सन्तुलन (Checks and Balance) को स्वीकार किया है, इसी कारण यह व्यवस्था वहाँ विकसित हुई। हालाँकि व्यावहारिक अनुभव यह बताता है कि यह व्यवस्था क्षमता और संगठन की दृष्टि से उपयुक्त नहीं है, इसलिए वर्तमान में वहाँ पर एकीकृत व्यवस्था पर जोर दिया जा रहा है। यह व्यवस्था एकीकृत व्यवस्था के दोषों को दूर करने का प्रयत्न करती है। अतः जो एकीकृत व्यवस्था के दोष हैं वे स्वतन्त्र व्यवस्था के गुण हैं, और जो एकीकृत व्यवस्था

के गुण हैं वे स्वतन्त्र व्यवस्था के दोष हैं, अतः स्वतन्त्र व्यवस्था के गुण-दोषों का वर्णन करना अनुपयुक्त ही होगा।

स्वतन्त्र व्यवस्था की विशेषताएं

इस व्यवस्था के उदय का कारण मुख्यतः विभागीय पद्धति में उत्पन्न होने वाली विभागाध्यक्ष की तानाशाही को रोकना है। साथ ही एकीकृत व्यवस्था के दोषों को दूर करने का प्रयत्न करती है। इस व्यवस्था की निम्न विशेषताएं हैं—

(i) कई विद्वानों का यह मत है कि स्वतन्त्र विभागों की स्थापना करने से कर्मचारियों में साहस, परिश्रम तथा स्वतन्त्रता के भाव उदय होते हैं जिससे कार्य-कुशलता बढ़ती है।

(ii) सचिवों की प्रवृत्ति स्वतन्त्र होने से उन्हें जनकल्याण के कार्य करने के अवसर अधिक मात्रा में सुलभ होंगे।

(iii) इसमें कार्य शीघ्रता से होते हैं क्योंकि प्रत्येक विभाग का निश्चित उद्देश्य होता है जिसे पूरा करने में कर्मचारी परिश्रम, लगन तथा उत्साह से कार्य करेगा।

दोनों ही व्यवस्थाओं के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि कोई भी प्रशासकीय संगठन पूर्ण रूप से एकीकृत या स्वतन्त्र नहीं होता। लेकिन फिर भी आज एकीकृत व्यवस्था के आधार पर प्रशासन संचालित किया जाने लगा है। सं० रा० अमेरिका में भी यही बात देखने को मिल रही है, हालांकि वहां पर स्वतन्त्र व्यवस्था का विकास हुआ है। भारत में भी केन्द्रीय स्तर पर एकीकृत व्यवस्था ही देखने को मिलती है। आज की आवश्यकता एकीकृत प्रशासन है।

(8) समन्वय
(Co-ordination)

समन्वय प्रशासन की आत्मा है। यह संगठन का सार है। समन्वय के बिना संगठन अपने वांछित उद्देश्यों की प्राप्ति नहीं कर सकता है। संगठन के विभिन्न कार्य विभिन्न व्यक्तियों एवं इकाइयों के द्वारा सम्पादित किये जाते हैं। यह कार्य-विभाजन सुविधा की दृष्टि तथा कार्यकुशलता में वृद्धि के लिए किया जाता है। परन्तु प्रशासन के सामान्य उद्देश्य की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न विभाग परस्पर सहयोगपूर्वक कार्य करें। उनमें 'समूह भाव' (Team Spirit) तथा सहयोग का होना अनिवार्य है। प्रत्येक विभाग को दूसरे विभाग के कार्यों में अनावश्यक हस्तक्षेप से दूर रहना चाहिए तथा कार्यों के दोहरेपन (Duplication) को रोकने के प्रयत्न करने चाहिए जिससे समय के अपव्यय को रोका जा सके। विभिन्न विभागों में कार्य करने वाले कर्मचारियों को यह समझना चाहिए कि वे एक ही इकाई के अंग हैं तथा उन्हें एक ही सामूहिक उद्देश्य की पूर्ति करनी है जिसे जन-कल्याण (Public Welfare) कहते हैं। विभिन्न विभागों और व्यक्तियों में सहयोग स्थापित करने का नाम ही समन्वय है। इस दृष्टि से बिखरे भागों को मिलाना ही समन्वय

है। प्रशासन में इसका अर्थ है विभिन्न विभागों, उप-विभागों, उपकरण तथा अन्य उपकरणों के कार्यों में समन्वय उत्पन्न करना जिससे वे पृथक रहते हुए भी एक संगठन के रूप में कार्य कर सकें। संगठन में समन्वय के अत्यन्त महत्त्व के कारण ही मूने (Mooney) ने इसे संगठन का प्रथम सिद्धान्त माना है। इसके अन्दर अन्य सब सिद्धान्त समाये हुए हैं। वे सब इसके अन्तर्गत हैं और यह उनके द्वारा कार्य करता है। संगठन की सफलता तथा विफलता समन्वय पर ही आधारित रहती है। संगठन में कार्य-कुशलता का राज भी समन्वय ही माना जाता है। कुशल प्रशासक वही कहलाता है जो अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के कार्यों में समन्वय स्थापित कर सके।

समन्वय को परिभाषित करने का प्रयत्न किया गया है। डॉ० एल०डी० ह्वाइट (L D White) के अनुसार, "समन्वय एक भाग के कार्यों का दूसरे भाग के कार्यों से ताल-मेल बैठाने की क्रिया को कहते हैं तथा उनकी गतिविधियों में इस प्रकार ताल-मेल बिठाया जाता है कि, जिससे वे पूर्ण की उत्पत्ति में अपना अधिकतम सहयोग दे सकें। ("Co-ordination is the adjustment of the functions of the parts to each other and of the movement and operation of parts in time so that each can make its maximum contribution to the product of the whole") नीग्रो (Nigro) के अनुसार, "समन्वय से तात्पर्य यह है कि संगठन में विभिन्न विभाग प्रभावकारी रूप से कार्य करते हैं तथा उनका कार्य किसी बाधा, आपसी टक्कर, कार्य के दोहरेपन तथा अव्यवस्था के बिना सम्पन्न होता है।' (Co-ordination means that the various parts of an organisation function togeather effectively, and that the work flows through it without friction, overlapping or duplication." मूने (Mooney) ने समन्वय की परिभाषा करते हुए कहा है कि—"किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उपयुक्त होने वाले प्रयत्नों से कार्य की एकता तथा उसको नियमित रूप से संगठित करने को समन्वय कहते हैं।" ("Co-ordination is orderly arrangement of group effort to provide unity in the pursuit of a common purpose") संक्षेप में, समन्वय का अर्थ विभिन्न विभागों के पारस्परिक संघर्षों को दूर करके संगठन कार्यों में समन्वय तथा एकता लाना है।

समन्वय की आवश्यकता (Need for Co-ordination) :

(i) समन्वय की आवश्यकता इसलिए उत्पन्न होती है कि बड़े संगठनों में कार्य करने वाले व्यक्तियों में एक स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि उन्हें स्वतन्त्र छोड़ दिया जाए परन्तु इसका परिणाम यह भी होता है कि वे विभिन्न दिशाओं में भटक जाते हैं जिससे टकराव पैदा हो जाता है।

(ii) कोई विभाग इतना स्वार्थी न बन जाए, जिससे वह अन्य विभागों की

सुविधाओं तथा आवश्यकताओं के प्रति उदासीन हो जाए या उनकी तरफ ध्यान ही न दे।

(iii) संगठन की प्रत्येक इकाई में दूसरे इकाई का कार्य दोहराया न जाए अन्यथा संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो सकती है, अतः समन्वय आवश्यक होता है।

(iv) कई बार यह भी देखने में आता है संगठन की कुछ इकाइयों के अध्यक्ष इतने गतिशील व सक्रिय होते हैं कि दूसरों की अपेक्षा अधिक शक्ति और महत्त्व प्राप्त करना चाहते हैं और दूसरी इकाइयों के कार्य क्षेत्र पर अपने कार्य क्षेत्र में वृद्धि कर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहते हैं। समन्वय से यह आशंका कम हो जाती है।

अन्त में, कहा जा सकता है कि समन्वय संगठन में संघर्ष निवारण की विधि है। यह विभिन्नता में एकता की खोज का प्रयास है।

समन्वय स्थापना की विधियाँ या समन्वय कैसे उत्पन्न किया जाए

(Methods of Achieving Co-ordination or How to Co-ordinate)

समन्वय की स्थापना एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। विभिन्न तरीकों से समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया जाता है, जिनमें मुख्य निम्न हैं —

(i) संगठन के अध्यक्ष के द्वारा आज्ञाओं, निर्देशों तथा आदेशों के द्वारा समन्वय स्थापित किया जाता है। अध्यक्ष आदेशों के माध्यम से बिखरे भागों को मिला सकता है।

(ii) समितियों (Committees) के द्वारा भी समन्वय स्थापित किया जाता है। वैसे तो समितियाँ विभिन्न प्रकार की होती हैं। लेकिन समन्वय के लिए केवल ऐसी ही प्रकार की समितियाँ महत्त्वपूर्ण हैं जिनको निर्णय लेने का अधिकार हो अथवा अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करने का। ये समितियाँ अन्तर्विभागीय समन्वय का श्रेष्ठ साधन मानी जाती हैं। मन्त्रिमण्डलीय समिति, मन्त्रिमण्डल सचिवालय समितियाँ, क्षेत्रीय तथा विभागीय समितियाँ आदि। यहाँ यह बता देना उपयुक्त होगा कि इन समितियों के सदस्यों की संख्या अधिक नहीं होनी चाहिए तथा सदस्यों को अपनी निष्पक्ष राय देने का अधिकार होना चाहिए। सदस्यों को केवल अधिकारी के कार्यों का अनुमोदन करने का रुख ही नहीं रखना चाहिए, अपितु उन्हें उचित योगदान देना चाहिए।

(iii) समितियों के अतिरिक्त अन्तर्विभागीय बैठकें (Inter Departmental Meetings), सम्मेलन (Conference) तथा समन्वय हेतु नियुक्त विशिष्ट सहायकों द्वारा भी समन्वय किया जा सकता है। भारत में केन्द्र तथा राज्य स्तर पर ऐसे कई सम्मेलन आयोजित किये जाते हैं, जैसे राज्यपालों तथा मुख्य मन्त्रियों के सम्मेलन, राष्ट्रीय विकास परिषद् तथा क्षेत्रीय परिषदों (National Development Council and Zonal Councils) के सम्मेलन प्रति वर्ष आयोजित किये जाते हैं, जिनका उद्देश्य समन्वय स्थापित करना ही होता है। कभी-कभी विभागीय अध्यक्षों का भी सम्मेलन इसी उद्देश्य से बुलाया जाता है।

(iv) योजना, समन्वय का एक प्रभावशाली तरीका है। नियोजन (Planning) में जन, धन तथा सामग्री आदि सम्मिलित होते हैं। वास्तव में नियोजन राष्ट्रीय स्तर पर समन्वय का महत्त्वपूर्ण कदम है।

(v) नियोजन की भाँति वित्त मन्त्रालय (Finance Ministry) भी समन्वय का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। सभी विभागों का वित्त मन्त्रालय से सम्बन्ध रहता है। प्रत्येक विभाग अपने आय-व्यय का ब्यौरा अर्थात् बजट वित्त मन्त्रालय को प्रस्तुत करता है। इन ब्यौरों के आधार पर वित्तमन्त्रालय बजट तैयार करता है, साथ ही व्यय के साधनों पर भी यह निगरानी रखता है। इस प्रकार विभागों की गतिविधियों में समन्वय स्थापित कर सकता है।

(vi) समन्वय के विभिन्न साधनों में आत्म-समन्वय भी एक महत्त्वपूर्ण तरीका है। प्रत्येक अधिकारी को अपने कार्यों को इस प्रकार सम्पादित करना चाहिए जिससे दूसरे के कार्यों में बाधा उत्पन्न न हो। इसके विपरीत उसके कार्यों से दूसरे विभागों में समन्वय उत्पन्न होना चाहिए। आत्म समन्वय समन्वय का एक प्रभावकारी साधन है।

(9) उत्तरदायित्व के अनुरूप सत्ता या अधिकार का सिद्धान्त

(Responsibility Proportion to Authority)

संगठन की सफलता का आधार उत्तरदायित्व के अनुरूप ही अधिकार या सत्ता का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त को उत्तरदायित्व के अनुपात में अधिकार या सत्ता का सिद्धान्त भी कहते हैं। साधारण शब्दों में इसका अर्थ यह होता है कि जब किसी व्यक्ति या प्रशासकीय कर्मचारी को कोई कार्य करने का उत्तरदायित्व दिया जाता है तो उस व्यक्ति को कुछ अधिकार दिये जाने चाहिए जिससे कि वह अपने उत्तरदायित्व को पूरा कर सके। वैसे तो यह सत्य है कि प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अपने उत्तरदायित्व का पालन उसके व्यक्तित्व पर निर्भर करता है, परन्तु किसी भी व्यक्ति को किसी विशिष्ट कार्य के लिए तब तक कैसे उत्तरदायी ठहराया जा सकता है, जब तक कि उसे उतनी सत्ता या उत्तरदायित्व के अनुपात में सत्ता ही प्राप्त नहीं है जितनी कि उस कार्य के सम्पादन के लिए आवश्यक है।

लोक-प्रशासन में प्रशासकीय संगठन में कार्यों को सुचारु रूप से चलाने के लिए यह आवश्यक है कि संगठन के प्रत्येक स्तर पर पदाधिकारियों को अपने उत्तरदायित्वों को निभाने के लिए उसके समान अधिकार दिये जाएँ। जितनी अधिक सत्ता तथा सुविधाएँ प्राप्त होंगी, वह उतने ही उत्तरदायित्व का निर्वाह कर सकेगा। अधिकार या सत्ता के अभाव में उत्तरदायित्व की भावना का उत्पन्न होना असम्भव-सी बात है। अतः यह सर्वमान्य सत्य है कि प्रशासन के कार्यों को सुचारु रूप से चलाने के लिए उत्तरदायित्व के अनुपात में सत्ता या अधिकार दिया जाना चाहिए।

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि प्रशासकीय संगठन के विभिन्न सिद्धान्त हैं जिनके आधार पर संगठन का निर्माण किया जाता है। कोई भी सिद्धान्त

प्रशासकीय संगठन के लिए पर्याप्त नहीं है। संगठन में एक से अधिक सिद्धान्तों का सहारा लिया जाता है। अतः इन्हें प्रशासकीय संगठन की आन्तरिक समस्याएँ भी कहा जाता है। प्रशासकीय संगठन की प्रकृति तथा उसके कार्यों एवं उद्देश्यों पर बहुत कुछ निर्भर करता है। सम्भवतः इसी के आधार पर सिद्धान्तों का चयन किया जाता है, जिन पर संगठन का निर्माण किया जाता है।

परीक्षोपयोगी प्रश्न

1. संगठन की परिभाषा दीजिये। उसके सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टिकोणों का वर्णन कीजिए।
   Define Organisation and describe the various approaches

2. संगठन में पद-सोपान अथवा क्रमिक प्रक्रिया के सिद्धान्त से आप क्या समझते हैं? इस सिद्धान्त के गुण-दोषों की विवेचना कीजिए।
   What do you understand by Scalar or Hierarchial principle in organisation, ? Discuss its merits and demerits

3. प्रशासकीय संगठन में एकीकृत व्यवस्था तथा स्वतन्त्र व्यवस्था के गुण-दोषों का वर्णन कीजिये।
   Discuss the relative advantages and disadvantages of the Integrated and Independent System of administrative organisation

4. समन्वय का अर्थ तथा उसकी आवश्यकता को बताते हुए उसे प्राप्त करने के साधनों का वर्णन कीजिए।
   Define Co-ordination and discuss its necessity and describe the means for securing it

5. केन्द्रीयकरण तथा विकेन्द्रीयकरण के अर्थ को बताते हुए उसके गुण-दोषों का वर्णन कीजिये।
   Define Centralization and Decentralization Discuss its merits and demerits

6. टिप्पणियाँ लिखिए—
   (a) आज्ञा की एकता, (b) नियन्त्रण का क्षेत्र, (c) प्रत्यायोजन
   Write short notes on—
   (a) Unity of Command, (b) Span of Control, (c) Delegation.

7

सूत्र तथा स्टाफ अभिकरण

(LINE AND STAFF AGENCIES)

आधुनिक काल में कार्यपालिका का उत्तरदायित्व बहुत बढ़ गया है । उसे अनेक प्रकार के कार्य सम्पन्न करने पड़ते हैं। इन कार्यों को मुख्य रूप से दो भागों में बाँटा जा सकता है । प्रथम राजनीतिक तथा द्वितीय प्रशासनिक । राजनीतिक कार्य में अपनी नीतियों तथा कार्यक्रमों के लिए वैधानिक समर्थन प्राप्त करना तथा उसे बनाये रखना, और साथ ही राष्ट्र को नेतृत्व प्रदान करना इत्यादि कार्य आते हैं । ये महत्वपूर्ण कार्य हैं और इनमें किसी भी प्रकार की अवहेलना करने का तात्पर्य है अवधि से पहले ही अपने पद को खो देने का संकट बुलाना । उसके प्रशासनिक कार्यों को लूथर गुलिक (Luther Gullick) ने एक ही शब्द 'पोस्डकोर्ब' (POSDCORB) में संग्रहीत कर दिया है । कार्यपालिका को योजना बनाना, संगठन करना, कर्मचारी वर्ग की व्यवस्था करना, आदेश देना, समन्वय करना, रिपोर्ट प्रस्तुत करना तथा आय-व्यय का ब्यौरा तैयार करना आदि कार्य करने होते हैं । ये कार्य इतने अधिक हैं कि इनका निष्पादन एक व्यक्ति के द्वारा सम्भव नहीं। वास्तव में वर्तमान प्रशासन इतना जटिल हो गया है कि अब उसका सञ्चालन विशेषज्ञों द्वारा होता है और यदि मुख्य-कार्यपालिका स्वयं भी विशेषज्ञ हो, तो भी उससे यह आशा नहीं की जा सकती कि वह प्रत्येक समस्या के सम्बन्ध में विशेष योग्यता रखता है । उसका कार्य एक सामान्य प्रबन्धक (General Manager) का है । प्रशासन के अतिरिक्त उसे अनेक राजनीतिक कार्य भी करने होते हैं । अतः उसके पास समय का अभाव रहता है । समय का अभाव न भी हो तब भी प्रशासन में मितव्ययिता तथा कार्य-कुशलता उत्पन्न करने के लिए भी यह आवश्यक है कि उत्तम व्यवस्था द्वारा तथा प्रशासन सम्बन्धी विभिन्न अभिकरणों की सृष्टि करके उसे संगठित रूप प्रदान करें और मुख्य प्रशासक को केवल यह देखरेख रखनी चाहिए कि प्रशासन ठीक तरह से चल रहा है या नहीं । मूने (Mooney) का कथन है कि, "प्रशासक को सदा ही बहुत सी बातों के बारे में तथा बहुत से तथ्यों पर विचार करना होता है और समस्याओं को हल करने के लिए विभिन्न प्रकार के ज्ञान की आवश्यकता होती है, अतः किसी एक व्यक्ति के लिए यह सम्भव नहीं होता कि वह बिना किसी सहायता के इस सम्पूर्ण कार्य को पूरा कर सके ।" ("Always there are two many things to think about too many factors to consider

too diversified a knowledge required for solution for the unaimed capacity for one leader to encompass.") इन कार्यों को करने के लिए कार्यपालिका की सहायतार्थ विभिन्न प्रकार के विभाग अथवा इकाइयों का निर्माण किया जाता है। ये विभाग अथवा इकाइयां अपने कार्यों के आधार पर सम्बोधित की जाती है। जैसे रक्षा के कार्य हेतु रक्षा विभाग, वैदेशिक कार्य हेतु वैदेशिक विभाग आदि। सरकार के मुख्य प्रशासनिक विभागों को लोक प्रशासन में सूत्र अभिकरण का नाम दिया जाता है। इनका मुख्य सम्बन्ध सरकार के प्राथमिक कार्यों से होता है। इन विभागों के मुख्य अधिकारी अपने विभाग की नीति निर्धारित करते है तथा उसे लागू करने की व्यवस्था करते है।

प्रशासन में सूत्र अभिकरण के कार्य भी इतने विविध प्रकार के होते है कि वे उन्हें स्वयं पूरा नही कर सकते। कार्य की जटिलता के कारण उसे अनेक प्रकार के कर्मचारियों की आवश्यकता होती है। इस कारण प्रशासन में कुछ स्टाफ अभिकरणों की स्थापना की जाती है जिनका मुख्य कार्य सूत्र अभिकरणों की सहायता करना होता है। मुख्य कार्यपालिका तथा विभागाध्यक्षों को अपने कार्य को ठीक प्रकार से चलाने तथा समय-समय पर परामर्श के हेतु प्रशासकीय कर्मचारियों का समूह रखना होता है। इन प्रशासकीय कर्मचारियों को लोक-प्रशासन में स्टाफ अभिकरण कहते हैं। स्टाफ का कार्य ही सहायता या सहारा देना है, जैसा कि डॉ० एम०पी० शर्मा (Dr M P Sharma) का मत है कि, "स्टाफ का साहित्यिक अर्थ छड़ी (लाठी) होता है, जो तुम्हे सहारा देने का कार्य दे सकती है, किन्तु तुम्हारी दिशाओं को निर्धारित नही कर सकती।" फॉयल महोदय (Foyal) ने स्टाफ के महत्व को बताते हुए कहा है कि—"बड़े उद्योगों के प्रधानों की मे चाहे कितनी योग्यता क्यों न हो या कार्यक्षमता क्यों न हो, वे अपने समस्त कर्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों को स्वयं पूरा नही कर सकते। अतः वे व्यक्तियों के एक ऐसे वर्ग का सहारा लेते हैं, जिनके पास ऐसी शक्ति, योग्यता तथा समय होता है, जिसका कि प्रधान में अभाव हो सकता है। व्यक्तियों के इस वर्ग से प्रबन्धकीय स्टाफ का निर्माण होता है। यह एक प्रकार की सहायता है तथा प्रबन्धक के व्यक्तित्व का एक प्रकार से विस्तार है, जिससे कि अपने कर्तव्यों को पूरा करने में उसे सहायता मिल सके। केवल बड़े व्यवसायों में ही स्टाफ एक पृथक् संस्था के रूप में दिखाई देता है और व्यवसाय के महत्व के साथ उसका भी महत्व बढ़ता जाता है।"

स्टाफ उन कर्मचारियों का समूह है जो मुख्य कार्यपालिका को उसके कर्तव्यों को पूरा करने में सहायता तथा सलाह देता है जिसके आधार पर वह यह निर्णय करता है कि क्या कार्य होना चाहिए, और किस प्रकार किया जाना चाहिए। इस प्रकार स्टाफ कार्यपालिका द्वारा निर्णय के लिए सामग्री तैयार करता है पर स्वयं निर्णय नही करता। मूने (Mooney) का विचार इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण है।

उसके अनुसार स्टाफ व्यक्ति के व्यक्तित्व का फैलाव है। इसका अर्थ है अधिक आँखें, अधिक कान, अधिक हाथों का, उसकी सहायता तथा योजनाओं को पूरा करने के लिए प्रयोग। (The staff is the expansion of the personality of the individual. It means more eyes, more ears and more hands, to aid him in forming and carrying out his plans.)

लोक-प्रशासन में जो सूत्र तथा स्टाफ शब्दों का प्रयोग किया जाता है, वे वस्तुतः सैनिक शब्दावली से लिये गये हैं। सर्व-प्रथम इस शब्द का प्रयोग एशिया की सेना में हुआ तथा बाद में सन् 1903 में अमरीकन 'सेना सचिव' 'इलिहूरूट' ने सैनिक प्रशासन में स्टाफ शब्द का प्रयोग किया। यह प्रयोग सैनिक पदाधिकारियों तथा उनके सहायक संगठनों के लिए किया गया था। वास्तव में कार्य को सम्पन्न करने का अधिकार व भार सूत्र (Line) का होता है तथा उस कार्य में सहायता तथा परामर्श देने का भार 'स्टाफ' का है। किसी भी सैनिक संगठन में एक सेनापति होता है और उसके नीचे बहुत से सैनिक अधिकारी कार्य करते हैं—जैसे जनरल, कर्नल, मेजर, कप्तान आदि। इन अधिकारियों को लाइन या सूत्र अधिकारियों की संज्ञा दी जाती है। ये अधिकारी युद्ध का वास्तविक कार्य सम्पन्न करते हैं। इनका मुख्य उद्देश्य युद्ध में विजय प्राप्त करना होता है। अतः ये अधिकारी सेना को युद्ध के मैदान में आदेश देते हैं तथा उनका संचालन करते हैं। यह कार्य तब तक नहीं हो सकता जब तक कि लड़ने वाले सैनिकों की आवश्यकता की सभी वस्तुएँ, जैसे—भोजन, औषधियाँ, अस्त्र-शस्त्र, गोला-बारूद उपलब्ध हो सकें। इस कार्य को करने के लिए प्रत्येक सैनिक संगठन के साथ एक सहायक अभिकरण होता है। इसी अभिकरण को स्टाफ का नाम दिया जाता है। वास्तव में स्टाफ इकाइयाँ युद्ध में लड़ती नहीं हैं, बल्कि लड़ने वाले सैनिकों की सहायता करती हैं। इनकी सहायता के अभाव में कोई भी सैनिक युद्ध में नहीं लड़ सकता। ये इकाइयाँ उस मुख्य उद्देश्य की प्राप्ति में सहायक होती हैं जिनके लिए कि सेना का निर्माण किया जाता है।

सेना में सूत्र तथा स्टाफ के अर्थ को समझ लेने के पश्चात असैनिक संगठन में भी इन दोनों शब्दों के भेद को समझ लेना आवश्यक है। असैनिक संगठन में भी हम देखते हैं कि यहाँ दो प्रकार के अधिकारी होते हैं। पहले प्रकार के अधिकारी वे होते हैं जो आदेश देते हैं एवं अपनी सत्ता का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार के अधिकारियों को सूत्र अधिकारियों की संज्ञा दी जाती है। दूसरे प्रकार के वे अधिकारी होते हैं जो कार्यपालिका को उसके कार्य में सहायता पहुँचाते हैं। इसे स्टाफ अभिकरण कहा जाता है। स्टाफ अभिकरण का कार्य कार्यपालिका को सहायता तथा परामर्श देना होता है, जबकि सूत्र अभिकरण का कार्य सत्ता का उपयोग तथा प्रयोग करना है। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि असैनिक संगठन

में इस प्रकार का भेद स्पष्ट दिखाई नहीं देता। कई संगठन ऐसे होते हैं जिनमें सूत्र तथा स्टाफ दोनों ही अभिकरणों का कार्य एक साथ किया जाता है। भारतीय प्रशासन में पॉल० एच० एपलबी को दोनों प्रकार के अभिकरणों के भेद ढूँढने में बहुत कठिनाई का सामना करना पड़ा। उनके शब्दों में—

"यहाँ लाइन या सूत्र एवं स्टाफ में भेद करने वाली न तो कोई शब्दावली ही पाई जाती है और न कोई ढांचा ही। यह एक ऐसी शब्दावली है जिसकी उत्पत्ति सौ या उससे अधिक वर्ष पहले जर्मनी में हुई थी और तब से परिमार्जित करके उसको स्थापित प्रजातन्त्रों में प्रयोग में लाया गया है। " इन शब्दों को यहाँ (भारत में) उन ढांचों पर लागू नहीं किया जा सकता जिनमें उनका कोई अर्थ नहीं है। उनका प्रयोग केवल उन बातों का वर्णन करने के लिए किया जा सकता है जो विद्यमान नहीं है। प्रतिरक्षा, वैदेशिक सम्बन्ध तथा केन्द्रीय कर के संग्रह को छोड़कर समूचा संगठन एक विशाल स्टाफ संगठन है। इन तथा कुछ अन्य अपवादों को छोड़कर नई दिल्ली में कोई लाइन कार्य नहीं पाया जाता। दूसरे शब्दों में इन अपवादों को छोड़कर केन्द्रीय सरकार में वास्तविक तथा पूर्ण प्रशासन पाया ही नहीं जाता।'

इस प्रकार लाइन तथा स्टाफ को एक-दूसरे से पृथक् करना बहुत कठिन है। एक ही संस्था (Agency) कभी लाइन का कार्य करती है और कभी स्टाफ का। उदाहरण के लिए, भारतीय प्रशासन में शिक्षा विभाग को लिया जा सकता है। शिक्षा आयोग सरकार को शिक्षा सम्बन्धी योजनाओं की रूप-रेखा बना कर सलाह देता है, स्टाफ का निदेश भी देता है। इसके अतिरिक्त शिक्षा सम्बन्धी योजनाओं को कार्यान्वित भी करता है। छोटे स्तर पर तो लाइन तथा स्टाफ इतने एक-दूसरे से मिले-जुले होते हैं कि उनको पृथक् करना कठिन होता है। छोटे संगठनों में भी यह समस्या लगातार जटिल बनी रहती है। उदाहरण के लिए, प्रायः हम देखते हैं कि एक छोटे स्कूल का अध्यापक पढ़ाने का कार्य भी करता है और कभी-कभी उससे लिपिक (Clerk) का कार्य भी लिया जाता है या उसे करना होता है। पहले रूप में वह लाइन की श्रेणी में आता है और दूसरे रूप में स्टाफ। इन शब्दों के भेद की समस्या को देखते हुए साइरल ओडोनल (Cyril Odonell) ने सत्य ही कहा है कि प्रबन्ध-व्यवस्था के अन्य किसी क्षेत्र में शब्दों को लेकर इतना विवाद उत्पन्न नहीं हुआ जितना कि लाइन तथा स्टाफ शब्दों को लेकर हुआ है। वैसे संस्थाओं का विभाजन सूत्र अथवा मूल तथा सहायक विभागों में किया जाता है। परन्तु न तो कोई विभाग पूर्णतः मूल होता है और न सहायक।

सूत्र तथा स्टाफ में अंतर

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि सूत्र तथा स्टाफ में आसानी से भेद नहीं किया जा सकता। फिर भी अध्ययन की दृष्टि से इन दोनों के बीच भेद को स्पष्ट करने के लिए एक रेखा खींचते हैं, जो इस प्रकार है—

(क) स्टाफ तथा सूत्र में अन्तर इस बात को लेकर किया जाता है कि सूत्र इकाइयाँ कार्य-निष्पादन करने वाली होती हैं, जबकि स्टाफ इकाइयाँ परामर्श देने का कार्य करती हैं। डेविस्की का मत इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण है। उसके अनुसार —"स्टाफ 'सूत्र विभाग' के लिए योजना बनाता है, उसको परामर्श देता है तथा उसकी सहायता करता है, परन्तु वह आदेश नहीं दे सकता। एक स्टाफ अभिकरण का उद्देश्य प्रबन्ध अथवा गृह सम्बन्धी सेवायें सम्पन्न करना है, जिससे कि लक्ष्य का फल प्राप्त हो सके।"

(ख) सूत्र अभिकरण कार्य करता है तथा स्टाफ उसके उस कार्य को आसान बनाता है।

(ग) सूत्र अभिकरण को यह अधिकार होता है कि वह स्टाफ द्वारा दिये गये परामर्श को माने अथवा न माने। स्टाफ परामर्श देने के अपने कर्तव्य का पालन करता है। उसे सूत्र अभिकरण को आदेश देने का कोई अधिकार नहीं है।

(घ) "कार्य-निष्पादन के लिए बनाया जाने वाला संगठन 'सूत्र' कहलाता है और विचार-विमर्श के लिए बनाया जाने वाला संगठन 'स्टाफ' कहलाता है।"

(ङ) "स्टाफ तथा सूत्र समवर्गीय है, जो कि सूत्र से स्टाफ तक एक पद-सोपान के सम्बन्ध के आधार पर नहीं, बल्कि मुख्य निष्पादक के अन्तर्गत सत्ता तथा उत्तरदायित्व की एक क्षैतिज रेखा पर कार्य करते हैं।"

(च) मूने व रीलेय ने स्टाफ तथा सूत्र अभिकरणों के भेद बतलाते हुए लिखा है कि—'स्टाफ को पूर्णतया एक औपचारिक संगठन माना जाता है, जिसका प्रमाण परामर्श देने के एक मात्र कार्य तथा आदेश देने के क्रमिक अधिकार से भेद करना होता है।"

अतः सूत्र तथा स्टाफ के बीच के इस भेद को, कि इनमें से एक का कार्य—कार्य-सम्पादन करना है तथा दूसरे का कार्य परामर्श देना है—अधिक बढ़ा-चढ़ा कर नहीं कहना चाहिए। जैसा कि बताया जा चुका है कि व्यावहारिक प्रशासन में इन दोनों का भेद स्पष्ट दृष्टिगोचर नहीं होता। इसमें तो कोई सन्देह नहीं है कि प्रत्येक संगठन में सूत्र तथा स्टाफ का कार्य होता है। परन्तु कोई भी व्यक्ति संगठन में सदा ऐसी पृथक्-पृथक् इकाइयाँ या अधिकारी नहीं पा सकता जो कि इन दो प्रकार के कार्यों में लगे हों। यहाँ एल्विन ब्राउन का कथन व्यक्त करना उचित प्रतीत होता है। उनका कहना है कि—"इस विषय में अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि अधिकांश संगठनों में दो क्रम पाये जाते हैं – एक तो सूत्र—जो कि कार्य का निष्पादन करता है, और दूसरा स्टाफ—जो कि योजनायें बनाता है तथा अन्य अनेक आवश्यक सेवायें प्रदान करता है।"

इस प्रकार सूत्र तथा स्टाफ में भेद करना बहुत कठिन है। वास्तव में, सूत्र संगठन की सफलता का आधार स्टाफ होता है; परन्तु स्टाफ का अस्तित्व सूत्र

पर आधारित होता है। कुछ विद्वान स्टाफ को केवल परामर्श देने वाला संगठन मानते हैं। जो विद्वान इस बात को मानते हैं उनका कहना है कि प्रशासकीय व्यवस्था में इन परामर्श देने वाली इकाइयों का बड़ा महत्त्व है, जो कुछ भी हो यह स्पष्ट है कि स्टाफ तथा सूत्र एक-दूसरे पर आधारित है। इस सम्बन्ध में फिफनर महोदय का मत है कि—

"स्टाफ कार्य की परामर्शदात्री प्रकृति पर अत्यधिक जोर देने के कारण ही 'स्टाफ' शब्द के उपयोग के बारे में बहुत अधिक भ्रम उत्पन्न हो गया है। एक सामान्य सी गलत विचारधारा बन गई है कि स्टाफ कर्मचारी, पृथक्, शिक्षा प्राप्त विद्वान् तथा रिटायर होने वाले व्यक्ति होते हैं जो कि प्रशासन के कार्य क्षेत्र से दूर रहते हुए डेस्कों पर बैठते हैं और वहाँ वे योजनाएँ बनाते हैं, जो कि विचार के लिए मुख्य निष्पादक के पास भेज दी जाती हैं। नियम यह है कि मुख्य निष्पादक इन प्रतिवेदनों तथा योजनाओं का अच्छी प्रकार अध्ययन करता है, उन पर अपना स्वतन्त्र निर्णय करता है और उसके बाद आदेश की शृंखला में नीचे तक आज्ञायें जारी करता है।" इस प्रकार स्टाफ केवल परामर्श देने वाला ही नहीं है, इसका *स्थान तो सम्पादित किये जाने वाले कार्य के मध्य में होता है।*

इस गलत विचारधारा को दूर करने के लिए यह सुझाव दिया जाता है कि "स्टाफ सेवाएँ, स्टाफ अभिकरण तथा स्टाफ कर्मचारी विभिन्न प्रकार के होते हैं।" स्टाफ कर्मचारियों को तीन मुख्य भागों में बाँटा जा सकता है (1) सामान्य स्टाफ, (2) सहायक स्टाफ, तथा (3) तकनीकी स्टाफ। इन तीनों ही वर्गों के अन्तर्गत सम्पन्न की जाने वाली क्रियाओं के बीच के भेद को समझ लेने से यह स्पष्ट हो जायेगा कि स्टाफ सेवाएँ अध्ययन करने, योजनाएँ बनाने तथा परामर्श देने के कार्य से बहुत दूर हैं, वे तो प्रशासन के कार्य को सुविधाजनक बनाती हैं। यहाँ हम तीनों प्रकार की स्टाफ सेवाओं पर विस्तार से वर्णन करेंगे।

(1) सामान्य स्टाफ
(General Staff)

सामान्य स्टाफ के अन्तर्गत वे कर्मचारीगण आते हैं, जिनका कार्य सामान्य रूप से कार्यपालिका को उसके कार्यों तथा उसके उत्तरदायित्व के निभाने में सहायता करना होता है। ये कर्मचारी परामर्श देते हैं, तथ्यों का संग्रह करते हैं और आवश्यक मामले मुख्य निष्पादक के पास निर्णय के लिए प्रस्तुत करते हैं। कार्यपालिका के कार्य में सुगमता लाने का कार्य, यह सामान्य स्टाफ करता है। अनेक प्रशासकीय समस्याओं का हल खोज कर वह कार्यपालिका के समय को बचाता है। सामान्य स्टाफ के पास आदेश देने वाली कोई प्रत्यक्ष सत्ता नहीं होती। प्रत्येक देश में कार्यपालिका को सहायता देने के लिए किसी-न-किसी रूप में सामान्य स्टाफ होता है। भारत में मुख्य कार्यपालिका के पास उसको परामर्श तथा कार्य में सहायता

के लिए सामान्य स्टाफ है। निम्न चार अभिकरण सामान्य स्टाफ की कोटि में आते हैं :—

(क) मन्त्रि-परिषद् सचिवालय (Cabinet Secretariat)

(ख) वित्त मन्त्रालय (Ministry o Finance)

(ग) योजना आयोग (Planning Commission)

(घ) गृह मन्त्रालय (Ministry of Home Affairs)

भारतीय स्थिति के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि यहाँ 'सामान्य स्टाफ' अभिकरण उस दिशा में इतने विकसित नहीं है जैसे कि विश्व में अन्य मुख्य कार्यपालिकाओं के सामान्य स्टाफ अभिकरण है। ब्रिटेन में सामान्य स्टाफ का कार्य मन्त्रि-परिषद् सचिवालय तथा ब्रिटिश राजकोष करते है। संयुक्त राज्य अमेरिका में मुख्य कार्यपालिका (राष्ट्रपति) की सहायता करने के लिए ह्वाइट हाउस कार्यालय तथा बजट विभाग है जो कि सामान्य स्टाफ का कार्य करते हैं।

सामान्य स्टाफ के कर्मचारियों में अपने उत्तरदायित्वों को निभाने के लिए कुछ विशेष गुण होना आवश्यक हैं। कुछ महत्त्वपूर्ण गुण निम्न हैं—

(क) सामान्य स्टाफ कर्मचारियों को प्रत्येक कार्य के बारे में यथेष्ट जानकारी होनी चाहिए।

(ख) सामान्य कर्मचारी का यह आवश्यक गुण माना गया है कि वह तथ्यों का संग्रह तथा संक्षेपण करे और उन्हें कार्यपालिका अधिकारी के पास प्रस्तुत करे।

(ग) सामान्य स्टाफ कर्मचारियों को चूँकि अन्य सूत्र अधिकारियों के साथ सहयोग से कार्य करना होता है, अत: उनमें सहयोग करने की तथा मामलों पर योग्यता के साथ बातचीत चलाने एवं विचार करने की क्षमता होनी चाहिए।

(घ) सामान्य स्टाफ कर्मचारी ऐसे होने चाहिए जो समस्याओं को समझने तथा सुलझाने की सामर्थ्य रखते हों। इस प्रकार के ज्ञान के अभाव में वे कार्यपालिका को परामर्श देने के कर्तव्य में असफल हो जायेंगे। अतः सामान्य स्टाफ के कर्मचारी विशिष्ट ज्ञान वाले होने चाहिए।

(ङ) अधिक महत्त्वपूर्ण गुण सामान्य कर्मचारियों का यह माना गया है कि उनमें अहंकार की भावना नहीं होनी चाहिए। जो कुछ भी परामर्श उन्हें देना है उसे नम्रता के साथ दें। परामर्श मानना या न मानना विभागाध्यक्ष का कार्य है। जिद्दी या झगड़ालू प्रकृति के व्यक्ति सामान्य स्टाफ कर्मचारियों के लिए अनुपयुक्त होते हैं। प्रशासन की सफलता का आधार ही सामान्य स्टाफ की नम्रता, विनयशीलता तथा हँसमुख स्वभाव होता है।

(च) सामान्य स्टाफ के कर्मचारियों में प्रसिद्धि पाने या प्रकाश में आने की महत्त्वाकांक्षा नहीं होनी चाहिए। उनमें तो अपने प्रधान के पीछे रहकर ही कार्य का गुण होना चाहिए।

है कि वे अपने-आपको कार्यकारी सत्ताओं के रूप में कायम रख सकें। भारत में इस प्रकार के सहायक अभिकरणों की स्थापना की गई है, जिनमें मुख्य निम्न हैं—

(क) लोक सेवा आयोग (Public Service Commission)

(ख) केन्द्रीय लेखा तथा लेखा-जोखा विभाग (Central Accounts and Audit Department)

(ग) केन्द्रीय लेखन सामग्री व मुद्रण विभाग (Central Stationery and Printing Department)

(घ) केन्द्रीय क्रय अभिकरण (Central Purchase Agency)

सहायक स्टाफ या अभिकरण के कारण अन्य विभाग अपने इस कार्य-भार से मुक्त हो जाते हैं तथा इस प्रक्रिया के कारण नियुक्ति, खरीद तथा व्यय में पक्षपात तथा भ्रष्टाचार होने की भी कम सम्भावना रहती है। इसके अतिरिक्त सहायक अभिकरण अपने-अपने कार्य में विशेषज्ञता प्राप्त कर लेते हैं तथा विभिन्न विभागों की इन आवश्यकताओं की पूर्ति अधिक कुशलता से करते हैं। इसका सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि सहायक क्रियाओं पर होने वाले व्यय में भी इस व्यवस्था से भारी बचत होती है।

स्टाफ तथा सहायक अभिकरण में अन्तर (Difference between Staff and Auxiliary Staff)

कभी-कभी "स्टाफ" तथा "सहायक क्रियाओं" के बीच भेद किया जाता है। यह कहा जाता है कि स्टाफ एक परामर्शदात्री क्रिया मानी जाती है, जबकि सहायक अभिकरण, बजट, कर्मचारी वर्ग तथा नियोजन आदि से सम्बन्धित सेवाओं को करने वाले होते हैं। स्टाफ, संगठन के नीति-सम्बन्धी मामलों से सम्बद्ध रहता है और उसे नीति को पुनः निर्धारण करने का सुझाव देने का अधिकार होता है। इसके विपरीत सहायक अभिकरणों का सम्बन्ध किसी भी वर्तमान संगठन को केवल कायम रखने से होता है। सहायक अभिकरण कर्मचारियों की भर्ती करते हैं तथा आवश्यक सामान क्रय करने का कार्य करते हैं जबकि स्टाफ का कार्य केवल परामर्श देना होता है। स्टाफ तथा सहायक अभिकरण दोनों प्रकार की इकाइयाँ सूत्रविभागों का कार्य करने में सहायता पहुँचाते हैं, जिससे कार्य सुविधापूर्वक सम्पन्न हो सके।

लोक-प्रशासन के कुछ विद्वान स्टाफ तथा सहायक अभिकरण के उपर्युक्त अन्तर को वास्तविक नहीं मानते। उनका विचार है कि ये दोनों ही केन्द्रित तथा ऐसी इकाइयाँ हैं जिनका सम्बन्ध मुख्य-कार्यपालिका से है। केवल नियन्त्रण के आधार पर हमें दोनों में पृथक्ता स्थापित नहीं करनी चाहिए। साधारणतया दोनों में अन्तर इसलिए मानते हैं कि सहायक अभिकरण का सम्बन्ध विभाग के उन व्यक्तियों की सहायता करने से है जो वास्तविक कार्य में संलग्न रहते हैं तथा स्टाफ का सम्बन्ध विभागीय संगठन, नई समस्याओं, निरीक्षण तथा प्रशासकीय सामंजस्य के सम्बन्ध में

निर्णय करने से है। व्यवहार में इन दोनों का अन्तर स्पष्ट नहीं है। इस बात को एक उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। जैसे मुख्य-कार्यपालिका स्टोर्स, सामान खरीदने नियुक्त करने सम्बन्धी कार्यों की अधिकता के कारण किसी नये संगठन या इकाई की स्थापना करके उसे अपने इन कार्यों को समर्पित कर सकता है। यह अभिकरण स्टाफ अभिकरण कहलायेगा क्योंकि उसका काम इन बातों के सम्बन्ध में मुख्य-कार्यपालिका को सलाह देना होता है और कोई विभाग यदि अपने कर्मचारियों की नियुक्ति तथा पदच्युत करने का कार्य लोक-सेवा आयोग को दे देता है तो उस विभाग के सम्बन्ध में यह सहायक अभिकरण बन जाता है। अतः इन दोनों का अन्तर इस बात पर निर्भर रहना चाहिए कि किस स्रोत के द्वारा इस अभिकरण का निर्माण हुआ है। यदि मुख्य-कार्यपालिका के द्वारा उसका निर्माण होता है तो वह स्टाफ होगा और यदि उसका निर्माण विभाग के द्वारा हुआ है तो सहायक स्टाफ होगा।

सहायक स्टाफ या अभिकरण की आवश्यकता (Need for Auxiliary Agency) :

विभागीय मस्थागत क्रियाओं को करने के लिए एक पृथक् अभिकरण की स्थापना की जाती है जिसके दो मुख्य कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि आज लोक-प्रशासन का कार्य इतना बढ़ गया है कि विभागाध्यक्षों को अपने आवश्यक कार्यों के सम्पन्न करने में ही समय नहीं मिलता। द्वितीय कारण यह है कि आज का युग विशेषीकरण का युग है। पहले प्रत्येक विभाग स्वयं अपने हिसाब रखता था, अपने लिए आवश्यक वस्तुओं को क्रय करने की स्वयं व्यवस्था करता था, स्वयं कर्मचारियों की भर्ती करता था। किन्तु आज इन सब कार्यों को विभागीय प्रशासन से अलग कर दिया गया है और उसका सम्पादन अलग अभिकरण को दे दिया गया है। भारत में मुख्य सहायक अभिकरण निम्न हैं—

(क) लोक सेवा आयोग।

(ख) केन्द्रीय क्रय अभिकरण।

(ग) केन्द्रीय लेखा एवं लेखा परीक्षा विभाग।

(घ) केन्द्रीय लेखन सामग्री एवं मुद्रण विभाग।

तीसरा कारण यह है कि सहायक अभिकरणों के द्वारा समय की बचत के साथ-साथ प्रशासन में मितव्ययिता उत्पन्न होती है। प्रत्येक विभाग एक ही कार्य को नहीं दोहराता। एक ही अभिकरण सभी विभागों के लिए समान कार्यों को पूरा कर देता है जिससे समय की बचत होती है। जैसे लेखन सामग्री एवं मुद्रण विभाग (Printing and Stationery Department) सभी विभागों के लिए लेखन सामग्री तथा मुद्रण की व्यवस्था करता है। इसके अतिरिक्त अधिक संख्या (Quantity) में सामान खरीदने पर कम कीमत में सामान मिल जाता है। चौथा कारण, निरीक्षण की सुगमता रहती है। प्रत्येक सहायक अभिकरण एक ही प्रकार का कार्य करता है जिससे निरीक्षण सरल हो जाता है।

सहायक अभिकरण के लाभ (Advantages of Auxiliary Agencies:—

इस प्रकार के अभिकरणों के निम्न लाभ हैं :—

(क) इस प्रकार की व्यवस्था से कार्यों का विशेषीकरण सम्भव होता है। इसमें कार्यों का सम्पादन उन्ही व्यक्तियों के द्वारा होता है, जिन्होंने उस कार्य विशेष में विशेष योग्यता पाई होती है।

(ख) सहायक अभिकरणों की स्थापना से पदाधिकारियों को अपने मुख्य कर्तव्य को पूरा करने के लिए अधिक समय मिल जाता है।

(ग) इससे प्रशासन के खर्च में कमी हो जाती है। क्योंकि सभी विभागों के लिए आवश्यक वस्तुओं के क्रय का उत्तरदायित्व एक ही अभिकरण के पास होने से सामान कम दामों में खरीद किया जा सकता है।

(घ) सहायक क्रियाओं की देख-रेख समुचित प्रकार से हो जाती है तथा क्रियाओं का सम्पादन सबसे अधिक विकसित रीतियों के द्वारा हो जाता है।

सहायक अभिकरणों के अवगुण (Disadvantages of Auxiliary Agencies) —

जहाँ सहायक अभिकरणों में गुण पाये जाते हैं, वहाँ वे दोषों से मुक्त नहीं है। उनमें निम्न दोष पाये जाते हैं—

(1) सहायक अभिकरण श्रेणी अभिकरण से भिन्न होते हैं, अतः उनमें द्वेष तथा वैमनस्यता उत्पन्न हो सकती है। सहायक अभिकरण अनावश्यक रूप से लाइन अभिकरणों के कार्य-क्षेत्र में हस्तक्षेप करते हैं।

(2) सहायक अभिकरण में यह मनोभावना पाई जाती है कि उनके कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण हैं और लाइन अभिकरण उनकी कृपा पर आश्रित हैं। यह भावना प्रशासन को दुर्बल बना देती है।

(3) कभी-कभी सहायक अभिकरण के असहयोग (Non-cooperation) तथा अपने कर्तव्यों के प्रति उदासीनता के कारण लाइन अभिकरण को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है और जिसका प्रशासन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए, लोक सेवा आयोग कर्मचारी के चयन में इतनी देर लगा देते हैं जिसमें कार्यों के सम्पादन में कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। ऐसे ही लेखन सामग्री व मुद्रण विभाग को लिया जा सकता है जो कई विभागों की आवश्यक सामग्री देने में इतनी देरी कर देते है कि विभाग के सचालन में कठिनाई उत्पन्न हो जाती है।

(4) सहायक अभिकरण कभी-कभी विभागों को दुर्बल बनाने का कार्य भी करता है जिससे विभाग की प्रशासनिक क्षमता कम हो जाती है।

सहायक अभिकरणों में गुण व दोष होने के उपरान्त भी यह कहा जा सकता है कि इनको प्रशासन की सफलता के लिए बनाये रखना जरूरी है। डॉ० ह्वाइट तथा प्रो० विलोबी ने इनकी प्रशंसा की है। वे ही विभागों को बनाये रखती है। ये वे रक्त की धमनियाँ हैं, जो श्रेणी रूपी शरीर को रक्त प्रदान करके उसे कार्य योग्य

बनाये रखती हैं। इतने महत्त्व के बावजूद यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि सहायक अभिकरण अपनी सीमाओं में रहें तथा लाइन व स्टाफ अभिकरणों के कार्यों में अनुचित हस्तक्षेप न करें। सहायक अभिकरण का कार्य सुविधा प्रदान करना होता है, न कि नियन्त्रण करना।

सहायक अभिकरणों का संगठन—

सहायक अभिकरणों के संगठन के सम्बन्ध में विलोबी महोदय ने उनको निम्नलिखित सभागों में विभाजित किया है—

(क) मुख्य लिपिक का कार्यालय।
(ख) नस्ती एवं डाक सभाग।
(ग) कर्मचारी सभाग।
(घ) पूर्ति सभाग।
(ङ) लेखा सभाग।
(च) मुद्रण एवं प्रकाशन सभाग।
(छ) वस्तु अधिष्ठाता का कार्यालय।

विलोबी महोदय ने आगे यह भी कहा है कि प्रत्येक विभाग में एक ऐसा सभाग भी होना चाहिए जो प्रत्येक इकाई के कार्य की देख-रेख तथा उनके कार्यों का समन्वय कर सके। विलोबी के अनुसार इस प्रकार की व्यवस्था के निम्न लाभ हैं—

(क) उत्तरदायित्व एक ही स्थान पर केन्द्रित होगा।

(ख) इस प्रशाखा का अध्यक्ष यदि एक उच्चाधिकारी की श्रेणी का व्यक्ति हो तो कार्य में एकरूपता तथा प्रमाणीकरण आ जायेगा।

(ग) बजट के अनुमानों को तैयार करने में सुविधा मिलेगी।

(3) तकनीकी स्टाफ
(Technical Staff)

मुख्य कार्यपालिका को प्रशासन में अनेक विशिष्ट कार्य करने होते हैं। इन विशिष्ट कार्यों को करने के लिए कुछ मुख्य तकनीकी स्टाफ अधिकारियों की आवश्यकता होती है। इनकी विशेषज्ञता की प्रकृति के कारण लोक-प्रशासन में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। इस प्रकार के स्टाफ में अभियन्ता, चिकित्सक, वित्तीय एवं व्यापारिक विशेषज्ञ, आदि आते हैं। तकनीकी विशेषज्ञ मुख्य कार्यपालिका की सहायता करते हैं और उनका परामर्श उस क्षेत्र में बड़ा मूल्यवान सिद्ध होता है जिसके कि वे विशेषज्ञ होते हैं। *वर्तमान युग में, जबकि विज्ञान की उन्नति तीव्र* गति से हो रही है, वहाँ तकनीकी स्टाफ की महत्ता भी बढ़ती जाती है। अतः वर्तमान में मुख्य कार्यपालिका के पास तकनीकी स्टाफ का होना अत्यन्त आवश्यक है। सामान्य स्टाफ के समान इनका कार्य समन्वय करना नहीं होता है, वरन्

वह विशेष तकनीकी विषय का अध्ययन करते है तथा उसमें अपनी राय देते है। सामान्य स्टाफ इनके कार्यों में केवल समन्वय ही कर सकता है, विशेष हस्तक्षेप नहीं।

निष्कर्ष के तौर पर यह कहा जा सकता है कि प्रशासन में मुख्य रूप से दो प्रकार की इकाइयाँ होती हैं एक को सूत्र इकाई कहा जाता है तथा दूसरे को स्टाफ इकाई। सूत्र इकाई के द्वारा विभागों का कार्य सम्पादित किया जाता है तथा स्टाफ इकाई के द्वारा परामर्शदात्री कार्य किया जाता है। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या स्टाफ इकाइयाँ केवल परामर्श देने का ही कार्य करती है, आदेश नहीं देती। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए हरबर्ट ए० साइमन ने कहा है —"सत्ता से तात्पर्य है आज्ञा पालन करने की योग्यता ...। यह तो स्पष्ट है कि ऊपर की इकाइयाँ (स्टाफ) सत्ता का प्रयोग करती है, वे नियन्त्रण करती हैं तथा आदेश देती हैं। पर जब केन्द्रीय कार्मिक इकाई किसी कार्मिक कार्यवाही का अनुमोदन करने से इन्कार कर देती है... तब सूत्र इकाई के सम्मुख इसके अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं रह जाता कि वह उन आदेशों को माने।'

भारत में योजना आयोग को परामर्शदात्री माना जाता है। यह एक स्टाफ अभिकरण है, परन्तु इसका महत्त्व बढ़ता जा रहा है। वास्तव में केवल यह एक परामर्शदात्री ही नहीं अपितु इसकी गणना एक अतिरिक्त सत्ता के रूप में की जा सकती है, जो कि यद्यपि भारत सरकार की सामान्य मशीनरी का एक अंग नहीं है, परन्तु यह प्रत्येक योजना का निर्धारण करती है और उसके निर्णय सभी के द्वारा कार्यान्वित किये जाते हैं। इस सम्बन्ध में लोकसभा की अनुमान समिति ने यह सुझाव दिया था कि समस्त कार्यों का पुनरावलोकन किया जाना चाहिए।

मूने (Mooney) का कथन इस सम्बन्ध में बहुत महत्त्वपूर्ण है। उसके अनुसार—"स्टाफ अभिकरण के अन्तर्गत दो सिद्धान्त निहित हैं —प्रथम समन्वय तथा दूसरा विश्लेषण। समन्वय के अभाव में स्टाफ की सेवाएँ केवल परामर्श मात्र रह जायेंगी तथा विश्लेषण के अन्तर्गत हम इस स्टाफ अभिकरण से आशा करते है कि वे अपनी जानकारी और सहायता ऊपर से नीचे प्रत्येक स्तर तक पहुँचा देंगे।" स्टाफ का महत्त्व प्रशासन में कितना अधिक है, यह इस बात से प्रकट हो जाता है कि स्टाफ के अभाव में प्रशासन की गाड़ी चल नहीं सकती। प्रशासन तथा कार्यपालिका के मध्य सम्बन्ध को बनाये रखने के लिए स्टाफ का रहना आवश्यक है। यहाँ यह कहना अनुचित नहीं होगा कि स्टाफ भी एक सत्ताधारी अभिकरण है। उसके पास में आदेश देने की शक्ति होती है। व्यवहार-कुशल तथा योग्य स्टाफ अधिकारी सूत्र अधिकारी को अपने वश में कर मनमानी कर सकता है।

प्रशासन में स्टाफ अभिकरणों का महत्त्व
(Importance of Staff Agencies in Administration)

आधुनिक युग में प्रशासन जटिल होता जा रहा है। इसमें सदा सोचने-विचारने तथा हल करने के लिए अनेक विषय होते हैं। राज्य के कार्य में वृद्धि के

साथ ही साथ लोक-प्रशासन के क्षेत्र में भी वृद्धि हुई है। लोक कल्याणकारी राज्य (Welfare State) की परिकल्पना के साथ ही लोक-प्रशासन का उत्तरदायित्व भी बढ़ गया है। मुख्य कार्यपालिका अपने इन विविध उत्तरदायित्वों को अकेला पूरा नहीं कर सकता। समय की कमी और कार्यों की अधिकता के कारण उसे अपने स्टाफ की सहायता लेनी ही होती है। किन्तु उत्तरदायित्व मुख्य कार्यपालिका का ही रहता है। कुछ विद्वानों का विचार है कि परामर्श के लिए पूर्ण रूप से अधीनस्थ कर्मचारियों पर ही निर्भर नहीं रहा जा सकता, क्योंकि बहुधा ये कर्मचारी अपने सीमित दृष्टिकोण से बाध्य होते हैं जिससे अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। मुख्य कार्यपालिका अपने उत्तरदायित्व उन्हें सौंप कर निश्चिन्त नहीं रह सकता। इसके उपरान्त भी स्टाफ का महत्त्व सर्वाधिक है। कोई भी प्रशासक अथवा मुख्य कार्यपालिका ज्ञान की सभी शाखाओं में पारंगत नहीं होगा, अतः उसे स्टाफ का सहारा लेना ही होता है। लेकिन स्टाफ को अपनी सीमा में रहना चाहिए। उसका महत्त्व उसके परामर्श-कार्य तक ही है।

स्टाफ अभिकरण के कार्य
(Functions of the Staff)

स्टाफ अभिकरण का अर्थ समझ लेने के पश्चात् उसके कार्यों का सिंहावलोकन करना उचित होगा। मूनी के अनुसार स्टाफ अभिकरण के तीन निम्न कार्य हैं—

(क) सूचना सम्बन्धी (Informative Functions) : स्टाफ अभिकरण का मुख्य कार्य अपने विभागाध्यक्ष के लिए उन सभी सूचनाओं तथा तथ्यों को एकत्रित करना है जो उसे अपने विभागीय कार्य करने हेतु आवश्यक हैं। इन्हीं सूचनाओं पर कार्यपालिकाध्यक्ष (विभागाध्यक्ष) के निर्णय आधारित होते हैं। अतः स्टाफ अभिकरण का यह कर्तव्य है कि वह आवश्यक तथ्यों का संग्रह करे तथा संकलन करे एवं उक्त कार्यपालिका अधिकारी के सम्मुख प्रस्तुत करे।

(ख) पर्यवेक्षण सम्बन्धी (Supervisory Functions) : स्टाफ अभिकरण का दूसरा मुख्य कार्य यह है कि वह यह देखे कि कार्यपालिका के निश्चय या निर्णय अधीनस्थ कर्मचारियों तक पहुँचते हैं या नहीं तथा ये निर्णय लागू होते हैं या नहीं। यदि इन निर्णयों को क्रियान्वित करने में कोई बाधा आती है, तो उसे दूर करने के उपाय, सुझाव भी स्टाफ का कार्य है। यदि किसी निर्णय को लागू करने में किसी प्रकार की गलत धारणा उत्पन्न हो जाए, तो उसे दूर करने का कार्य भी स्टाफ का ही है।

(ग) परामर्श सम्बन्धी (Advisory Functions) : स्टाफ अभिकरण का तीसरा मुख्य कार्य कार्यपालिका को परामर्श देना है। यह आवश्यक नहीं है जो परामर्श स्टाफ के द्वारा कार्यपालिका को दिया गया है उसे वह माने ही। फिर भी

स्टाफ अधिकारी को अपने परामर्श से कार्यपालिका को सूचित कर देना चाहिए। परामर्श पर ही उसके अधिकतर निर्णय निर्भर करते है।

पिफनर महोदय ने स्टाफ के कार्यों की निम्न सूची दी है—

(क) मुख्य कार्यपालिका तथा सूत्र अधिकारियों को परामर्श देना।

(ख) योजनाएं बनाना।

(ग) किसी भी मामले के सम्बन्ध मे खोज तथा अन्वेषण करना।

(घ) योजनाओं तथा मानवीय सम्पर्कों के द्वारा प्रशासन मे समन्वय करना।

(ङ) अन्य सगठनो एवं व्यक्तियों के साथ सम्पर्क स्थापित करना और यह जानना कि वे क्या कर रहे है।

(च) सूत्र इकाइयो के अधिकार को बिना आघात पहुँचाये उनकी सहायता करना।

(छ) कभी कभी विभागाध्यक्ष में प्राप्त शक्तियों को उनकी सीमाओं के अन्तर्गत क्रियान्वित करना।

एल. डी. ह्वाइट महोदय (L D White) ने स्टाफ अभिकरण के निम्न-लिखित कार्य बताये हैं—

(क) यह देखना कि मुख्य निष्पादक को पर्याप्त एवं सही सूचनाएँ मिल रही हैं या नहीं।

(ख) यह देखना कि निर्णय के लिए मामले मुख्य निष्पादक की मेज पर शीघ्र ही पहुँच जाएं तथा बिना विलम्ब के उन पर निर्णय हो जाएँ।

(ग) समस्याओं का अनुमान पहले से ही लगा लेना और भावी योजनाओं के कार्यक्रम में मुख्य निष्पादक की पूरी सहायता करना।

(घ) ऐसे मामलों को मुख्य निष्पादक के पास मे जाने से रोकना जिन पर निर्णय किसी अन्य अधिकारी के पास हो सकता है।

(ङ) नीति एवं कार्यकारी निर्देशों के सम्बन्ध मे यह देखना और साधनों की खोज करना कि अधीनस्थ अधिकारी इनके अनुरूप कार्य करें।

मूनी, पिफनर तथा ह्वाइट महोदयों के विचारों का अध्ययन करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि स्टाफ अभिकरण का कार्य कार्यपालिका को परामर्श देना है। उनकी सुविधा के लिए योजना बनाना तथा उसे लागू करने के साधनों को बताना भी स्टाफ का ही कार्य है। इसके अतिरिक्त प्रशासन की कार्य-क्षमता बढाने के उपायों तथा कम समय में कार्य हो इस प्रकार के सुझाव देना भी स्टाफ अभिकरण का कार्य है। अन्त में यह कहा जा सकता है कि कार्यपालिका को अपने उद्देश्यों की पूर्ति मे सहायता देना उनका महत्त्वपूर्ण कार्य है।

संगठन के साथ स्टाफ इकाइयों का सम्बन्ध
(Relation of Staff Agencies with Organization)

किसी संगठन में स्टाफ इकाइयाँ उसके समानान्तर अथवा उससे स्वतन्त्र होकर नहीं चलतीं अपितु उसके निकट रहती है, ठीक उसी प्रकार जैसे स्टेशन पर

मुख्य लाइन के साथ सहायक लाइन रहती है। स्टाफ इकाइयाँ संगठन के अनिवार्य अंग के रूप में आवश्यकतानुसार सूत्र पदक्रम के विभिन्न स्तरों पर जुड़ी रहती हैं। यह आवश्यक नहीं है कि कार्यपालिका के प्रत्येक स्तर पर स्टाफ अभिकरण होना चाहिए। स्टाफ इकाइयाँ सूत्र अभिकरण को परामर्श देती है और उस पर आश्रित होती है। जिस सूत्र अधिकारी को स्टाफ परामर्श देता है उसे मानने के लिए वह अधिकारी बाध्य नहीं है। यह भी आवश्यक नहीं कि वह प्रत्येक प्रश्न पर स्टाफ की सलाह ले। इस सम्बन्ध में तीन प्रकार की कार्यपालिका का वर्णन किया जा सकता है जैसे—

(1) इसमें ऐसी मुख्य कार्यपालिका आती है जो पूर्ण रूप में अपने स्टाफ पर आश्रित हो जाती है और उनका प्रभाव मुख्य कार्यपालिका पर इतना हो जाता है कि वह उनकी कठपुतली बन जाता है। जैसा स्टाफ कहता है वैसा ही वह करता है। उदाहरण के लिए जापान के सम्राट् शोगुना के हाथों में व ग शिवाजी के उत्तराधिकारी पेशवाओं के हाथों में कठपुतली बन गए थ।

(2) दूसरे में वह कार्यपालिका आती है जो अपने बुद्धि और विवेक से कार्य करती है। वे अपने स्टाफ पर बिल्कुल निर्भर नहीं रहते, न ही स्टाफ के परामर्श का उन पर प्रभाव होता है। उदाहरण के लिए फ्रांस के नेपोलियन भारत में अलाउद्दीन खिलजी आदि जैसे महान शासक जो स्वयं अपने प्रतिभा को पहचानते हैं जिन पर स्टाफ के परामर्श का कोई असर नहीं होता।

(3) तीसरे प्रकार की मुख्य कार्यपालिका वह होती है जो मध्यम मार्ग अपनाती है। इस श्रेणी की कार्यपालिका ही स्टाफ का समुचित उपयोग कर पाती है। स्वतन्त्र तथा आवश्यक स्टाफ का उदाहरण हमें जेसुइट व्यवस्था में मिलता है। इसमें अध्यक्ष के परामर्श के लिए एक परिषद् होती थी जिसका निर्वाचन सामान्य सदस्य करते थे। अध्यक्ष को उनकी परामर्श को मानना आवश्यक था। अध्यक्ष परिषद् के सदस्यों को हटा नहीं सकता था। हिन्दू राजनीति में भी ब्राह्मण और पुरोहितों का एक ऐसा वर्ग होता था, जो धर्मशास्त्र के विद्वान माने जाते थे उनसे राजा को परामर्श करना पड़ता था (विशेषकर गम्भीर मामलों में)।

वर्तमान युग में स्टाफ स्वतन्त्र एवं अनिवार्य नहीं होता। वह मुख्य कार्यपालिका पर आश्रित रहता है और उसे परामर्श देने का कार्य करता है। ऐसी स्थिति में यदि वह मुख्य कार्यपालिका की हाँ में हाँ मिलाते हैं तो उन्हें चापलूस, चमचे या ऐसे ही नामों से पुकारा जाता है और यदि वे उसके विरोध की बात कहें तो उन्हें अनुशासनहीन, मक्कार आदि की संज्ञा दी जाती है। वास्तव में स्टाफ में इतना तो साहस होना ही चाहिए कि वह निर्भीकतापूर्वक मुख्य कार्यपालिका को परामर्श दे सके।

इन परिस्थितियों में स्टाफ के लिए बहुत चातुर्य और बुद्धिमानी की आवश्यकता होती है। स्टाफ अधिकारी के मन में स्वयं शक्ति के प्रदर्शन की इच्छा नहीं

होनी चाहिए। उन्हें अप्रिय सुझावों को बड़ी चतुराई के साथ प्रस्तुत करने की कला में पारंगत होना चाहिए। उनमें इतना साहस और सजग अन्तःकरण होना चाहिए कि सार्वजनिक हित की दृष्टि से जो भी आवश्यक समझें, उसे मुख्य-कार्यपालिका के सम्मुख रख दें, चाहे परिणाम कुछ भी हों।

क्या स्टाफ को वास्तव में सत्ता-विहीन कहा जा सकता है?

(Can Really Staff be Called Without Authority)

साधारणतया यह स्वीकार किया जाता है कि स्टाफ का कार्य परामर्श देना तथा सेवा करना है। उनके पास में कोई सत्ता नहीं होती। उनके पास निरीक्षण, निर्देशन और नियन्त्रण के अधिकार नहीं होते। लेकिन यह धारणा उचित नहीं है। स्टाफ वैसच्य में रह कर कार्य करता है फिर भी उसे निर्देश तथा नियन्त्रण कुछ सीमा तक करने का अधिकार है। वह आदेश भी देता है। इस सन्दर्भ में लोक सेवा आयोग का उदाहरण दिया जा सकता है। जैसे राज्य प्रशासन के विभाग कुछ अधिकारियों के पदोन्नति की सिफारिश करें, परन्तु राज्य का लोक-सेवा आयोग उनको अस्वीकार कर सकता है। इसी प्रकार नियोजन आयोग के सदस्य कार्यपालिका को केवल सलाह ही नहीं अपितु राज्य के नियोजन पर पूर्ण नियन्त्रण रखते हैं तथा सामान्य नीतियों के सम्बन्ध में लाइन अभिकरणों को आदेश भी प्रसारित करते हैं। यह भी देखने में आया है कि उच्चतर लाइन अधिकारी को कभी-कभी निम्नतर स्टाफ अधिकारियों की बातों को मानना पड़ता है। ऐसा क्यों होता है? स्टाफ अधिकारियों के पास आदेश-निर्देश देने की कोई कानूनी या संवैधानिक शक्ति नहीं है, फिर भी उनकी बात को लाइन अधिकारियों द्वारा क्यों माना जाता है। इसके कई कारण हैं जिनमें प्रमुख निम्न हैं—

(1) लाइन अभिकरण के अधिकारी इस बात को जानते हैं कि विभाग के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए स्टाफ अभिकरण का सहयोग आवश्यक है। यद्यपि लाइन अभिकरण के अधिकारियों को स्टाफ के आदेशों के विरुद्ध सरकार के सामने अपील करने का अधिकार है। ऐसा करने के लिए उन्हें Through proper Channel जाना होता है, जिसमें काफी देरी हो सकती है। इसके साथ ही साथ मुख्य कार्यपालिका लाइन तथा स्टाफ दोनों का अध्यक्ष होता है। अतः वह दोनों में से किसी को भी अप्रसन्न नहीं करना चाहता और अधिकांश मामलों में लाइन अभिकरण के अधिकारियों को स्टाफ द्वारा भेजे गये आदेशों तथा निर्देशों का पालन करना पड़ता है। इस दृष्टि से यह धारणा मिथ्या है कि स्टाफ के पास आदेश तथा निर्देश के अधिकार नहीं हैं। लेकिन कुछ विद्वानों का यह विचार है कि स्टाफ द्वारा दी जाने वाली सलाह इतनी मूल्यवान तथा आनयुक्त होती है कि सूत्र अधिकारी के लिए उसका पालन करना अनिवार्य हो जाता है। लेकिन यह मानना कि स्टाफ द्वारा दिये जाने वाले आदेश सदा ही इतने उचित होते हैं कि सूत्र अधिकारी स्वेच्छा से उनका पालन करते हैं। यदि ऐसा होता तो दोनों में कभी संघर्ष की स्थिति पैदा नहीं होती।

(2) दूसरी बात यह है कि सूत्र अधिकारी इस बात को जानते हैं कि स्टाफ अधिकारी मुख्य कार्यपालिका के इतने निकट होते हैं कि उनका आदेश मुख्य कार्यपालिका का आदेश ही माना जाता है। साथ सूत्र अधिकारी इस गलत धारणा के भी शिकार है कि स्टाफ अधिकारी मुख्य कार्यपालिका के अत्यधिक निकट होने से उसके दिमाग को भलि-भाँति जानता है। स्टाफ वास्तव में अध्यक्ष के आदेशों के प्रसार का माध्यम मात्र है, इससे अधिक कुछ नहीं। यह सम्भव है कि किसी संगठन के अध्यक्ष के परामर्शदाता किसी समय उसके अधिक निकटवर्ती हो और उसके मस्तिष्क से परिचित हो। ऐसी स्थिति में उसके द्वारा दिये गये आदेश वास्तव में उसके आदेश माने जा सकते हैं। लेकिन वर्तमान में प्रशासकीय संगठन का आकार इतना बड़ा हो गया है कि आज सूत्र और स्टाफ इकाइयाँ दोनों ही उससे दूर पड़ गई है। मुख्य कार्यपालिका के साथ उनका निकट का सम्बन्ध समाप्त प्राय हो गया है। उदाहरण के लिए अमेरिका में ब्यूरो ऑफ बजट एक स्टाफ इकाई है जिसमें 500 से अधिक व्यक्ति कार्य करते हैं जो विभिन्न खण्डों और उप-खण्डों में बटा हुआ है। ऐसी स्थिति में यह मानना गलत होगा कि यह इकाई सूत्र इकाइयों की अपेक्षा वहाँ के राष्ट्रपति के मस्तिष्क को निकट से जानती हैं। व्यक्तिगत परामर्शदाता तो भले ही राष्ट्रपति के दिमाग को जानते हो परन्तु बड़ी प्रशासकीय इकाइयों के लिए यह सम्भव नहीं है कि वे उससे व्यक्तिगत रूप से परिचित हो सके।

उपर्युक्त दोनों ही बातें भ्रम पर आधारित हैं। यह कहना कि स्टाफ परामर्शदात्री है और उनका सूत्र अधिकारियों पर कोई नियन्त्रण नहीं है—गलत है। साथ यह सोचना भी गलत है कि स्टाफ अधिकारी मुख्य कार्यपालिका के व्यक्तित्व का विस्तार मात्र है। प्रशासनिक सिद्धान्त के अनुसार शक्ति तथा उत्तरदायित्वों को साथ-साथ चलना चाहिए। किन्तु कुछ केन्द्रित सहायक अभिकरण इस सिद्धान्त का समर्थन नहीं करते हैं जिससे सूत्र अभिकरण की स्वतन्त्रता छिन जाती है। प्रशासकीय सिद्धान्त के अनुसार आदेश की एकता का सिद्धान्त आवश्यक है। लेकिन प्राविधिक सेवाओं के कर्मचारियों को इस सिद्धान्त के विरुद्ध दो उच्च अधिकारियों के अधीन कार्य करना पड़ता है। इसी प्रकार यह आवश्यक नहीं कि कोई अधिकारी अपने नीचे के अधिकारी की आज्ञा माने परन्तु व्यवहार में ऐसा होता है। स्टाफ इकाइयों व व्यक्ति सूत्र इकाइयों के अधिकारियों को आदेश देते है। इसका मूल कारण यह है कि स्टाफ के स्वरूप के विषय में सिद्धान्त तथा व्यवहार में अन्तर है।

भारतीय लोक-प्रशासन में स्टाफ अभिकरण

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् भारत में प्रजातन्त्र को अपनाया गया है, जिसमें संसदीय शासन व्यवस्था को स्थान दिया गया है। इस प्रकार की शासन व्यवस्था में कार्यपालिका की शक्तियाँ एक व्यक्ति में निहित न होकर एक 15–16 व्यक्तियों की समिति में होती हैं जो कार्यों का संचालन करती है। यह समिति संयुक्त या सामूहिक उत्तरदायित्व के आधार पर प्रशासन की देख-रेख करती है। इस समिति

को मन्त्रि-परिषद् कहा जाता है। प्रत्येक मन्त्री के अधीन एक या एक से अधिक विभाग होते हैं।

एम०ई० चाटर्स की सम्मति में संसदीय पद्धति में तीन अवयव पाये जाते हैं—(1) 15–16 व्यक्तियों की एक मन्त्रि-परिषद् जो सामूहिक रूप से कार्य करती है। (2) मन्त्रि-परिषद् के पास में इतना अधिक कार्य रहता है कि यह प्रशासनीय प्रश्नों पर केवल सामान्य रूप से ही विचार कर सकती है और गौण प्रश्नों को यह अन्य अभिकरणों को सौंप देती है। (3) चूंकि सम्पूर्ण प्रशासकीय कार्य 15–16 व्यक्तियों द्वारा एक बड़े पैमाने पर सम्पन्न किया जाना होता है, अतः किसी ऐसे अभिकरण की स्थापना की जानी चाहिए, जो प्रशासकीय कार्यों में तालमेल ला सके। ये अभिकरण मन्त्रिपरिषद् की बैठकों के मिनट या नोट तैयार करते हैं तथा इन बैठकों के लिए कार्यावली तैयार करता तथा इस कार्यावली को सदस्यों के बीच घुमाता है।

उपर्युक्त कार्यों को सम्पन्न करने के लिए पिछले कुछ समय से दो प्रकार के अभिकरणों का उदय हुआ है—(1) मन्त्रि-परिषद् समितियाँ, तथा (2) मन्त्रि-परिषद् सचिवालय।

मन्त्रि-परिषद् समितियाँ

संसदीय शासन-व्यवस्था में विशेषतौर से इस प्रकार की समितियाँ देखने को मिलती हैं। वस्तुतः ऐसी समितियों को सरकार गुप्त ही रखना चाहती है, कारण कि उनके खुल जाने से मन्त्रि-परिषद् के सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त पर आंच पहुँचती है। परन्तु इतना होते हुए भी सरकार से उनके अस्तित्व को इन्कार नहीं किया जा सकता। ये समितियाँ मन्त्रिपरिषद् की सहायतार्थ गठित होती हैं। ये समितियाँ दो प्रकार की होती हैं—(1) स्थायी समितियाँ, तथा (2) अस्थायी समितियाँ। अस्थायी समितियाँ किसी संकटकालीन स्थिति का सामना करने के लिए गठित की जाती हैं, जबकि स्थायी समितियों का कार्य सामान्य कार्यों पर विचार करना होता है। प्रत्येक समिति के सदस्यों की संख्या तीन या चार होती है। इस समय भारत में 4 स्थायी समितियाँ पाई जाती हैं। इनके नाम हैं—(1) प्रतिरक्षा समिति, (2) आर्थिक लोक-कार्य, (3) वैधानिक लोक-कार्य, तथा (4) नियुक्ति समिति। इन स्थायी समितियों के अतिरिक्त दो अस्थायी समितियाँ भी भारत में पाई जाती हैं, जिनके नाम हैं—पुनर्वास समिति तथा प्रशासकीय संगठन समिति।

मन्त्रि-परिषद् सचिवालय

संसदीय शासन-व्यवस्था में मन्त्रि-परिषद् सचिवालय स्टाफ अभिकरण के रूप में दूसरा महत्त्वपूर्ण उदाहरण है। इंग्लैण्ड में प्रथम विश्वयुद्ध के समय लार्ड जॉर्ज ने युद्धकालीन परिस्थितियों का सामना करने के लिए इस प्रकार के कार्यालय का संगठन किया था। भारत में भी स्वतन्त्रता के तुरन्त बाद इस प्रकार के कार्यालय का निर्माण किया गया था। मन्त्रि-परिषद् सचिवालय का कार्य मन्त्रि-परिषद् की

बैठकों के वृत्तों को लिखना, उनके निर्णयों या निश्चयों को लिखना, बैठकों में होने वाली कार्यवाही को लिखना, बैठकों के लिए कार्यावली तैयार करना तथा उसे मन्त्रियों के बीच सूचनार्थ घुमाना एवं विभिन्न विभागों के कार्यों का निरीक्षण करना तथा उन पर नियन्त्रण रखना है।

मन्त्रि-परिषद् सचिवालय का अध्यक्ष एक सचिव होता है। उसकी सहायता के लिए एक संयुक्त सचिव, दो उप-सचिव, दो अवर सचिव, दो सहायक सचिव तथा चार स्टाफ कर्मचारी होते हैं। स्टाफ कर्मचारी प्रतिरक्षा विभाग में से लिये जाते हैं। जहाँ तक मन्त्रि-परिषद् सचिवालय की कार्य-प्रणाली का प्रश्न है—सचिवालय के कार्यों का विभाजन कर दिया जाता है। सचिवालय के कार्यों का विभाजन मुख्य चार भागों में किया जाता है—(क) मन्त्रि-परिषद् शाखा, (ख) प्रशासकीय शाखा, (ग) सामान्य शाखा, तथा (घ) समन्वय शाखा। इन शाखाओं का संक्षिप्त वर्णन नीचे किया जा रहा है

(क) मन्त्रि परिषद् शाखा —इस शाखा का मुख्य कार्य मन्त्रि-परिषद् की बैठकों के लिए कार्यावली तैयार करना तथा उसे मन्त्रियों में सूचनार्थ घुमाना है। इसके अतिरिक्त यह मन्त्रि-परिषद् की बैठकों की कार्यवाही लिखती है तथा उन्हें सुरक्षित रखती है। यह मन्त्रियों को आवश्यक सूचनाओं तथा आँकड़ों से अवगत कराती है।

(ख) प्रशासकीय शाखा—*यह शाखा संगठन एवं कर्मचारियों की समस्याओं से सम्बन्ध रखती है।*

(ग) सामान्य शाखा —यह शाखा असैनिक विभागों के अन्तर्विभागीय कार्यों की देखरेख रखने का कार्य करती है।

(घ) समन्वय शाखा:—इस शाखा का कार्य विदेश में स्थित दूतावासों से तथा मन्त्रालयों से विभिन्न प्रकार की सूचनाएँ एकत्रित करना है। प्राप्त सूचनाओं को मन्त्रियों तक पहुँचाने का कार्य भी इसी शाखा के द्वारा किया जाता है। इसके अतिरिक्त केन्द्र तथा राज्यों के प्रतिनिधियों की संयुक्त बैठकों में समन्वय स्थापित करना भी इसी शाखा का कार्य है।

उपर्युक्त शाखाओं के अतिरिक्त सचिवालय की अन्य इकाइयाँ भी होती हैं, जिनमें चार इकाइयाँ प्रमुख हैं। इन इकाइयों का वर्णन नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है—

(क) संगठन और रीति सम्भाग:—यह सम्भाग केन्द्रीय मन्त्रालयों, विभागों तथा कार्यालयों की आलोचनात्मक दृष्टि से देख-रेख रखता है। वह उन्हें ऐसे सुझाव देता है, जिनमें उनका कार्य कम समय में हो जाए। इसके अतिरिक्त यह इकाई मन्त्रि-परिषद् के सचिवालय की प्रशासकीय शाखा को परामर्श देती है। इस इकाई

का अध्यक्ष एक सचालक होता है तथा उसकी सहायतार्थ एक उप-सचालक की व्यवस्था की जाती है।

(ख) सैनिक प्रशाखा.—सुरक्षा सम्बन्धी मामलों की विभिन्न समितियों को सहायता देने के लिए सैनिक प्रशाखा का गठन किया गया है। इस प्रशाखा के चार सम्भाग होते है—(1) सचिवालय स्टाफ जिसका कार्य प्रतिरक्षा समिति को सहायता पहुँचाना है। (2) संयुक्त नियोजन स्टाफ, जिसका कार्य संयुक्त नियोजन समिति की सहायता करना है। (3) सयुक्त गुप्त वार्ता स्टाफ, इसका कार्य संयुक्त गुप्त वार्ता समिति की सहायता करना है। (4) संयुक्त सचार स्टाफ, जिसका कार्य संयुक्त सचार समिति की सहायता करना तथा समितियों के कार्य का समन्वय करना है।

(ग) आर्थिक प्रशाखा—इस शाखा का कार्य मन्त्रि-परिषद् की आर्थिक लोक-कार्य समिति को सहायता प्रदान करना तथा उसके लिए सूचनाएँ एकत्रित करना एव उसके निश्चयों को क्रियान्वित करना है।

(घ) केन्द्रीय सांख्यिकीय सगठन—केन्द्रीय सांख्यिकीय सगठन का कार्य केन्द्रीय मन्त्रालयों की सांख्यिकीय सामग्री का एकत्रित करना तथा उसका प्रकाशन करना है।

इस प्रकार हम देखते है कि भारत सरकार के कार्य में सहायता देने के लिए विभिन्न प्रकार की समितियों का सगठन किया गया है। ये समितियाँ प्रशासन के कार्यों को सुगम बनाती है। इन शाखाओं के अतिरिक्त कुछ सगठन और भी है जो सरकार की सहायता देने के लिए बनाये गये है, जिनमे मुख्य राष्ट्रीय नियोजन आयोग, केन्द्रीय लेखा परीक्षण विभाग, केन्द्रीय क्रय अभिकरण, लोक सेवा आयोग, तथा केन्द्रीय लेखन सामग्री एव मुद्रण विभाग है। ये सभी सगठन कार्यपालिका के कार्यों को सुगम बनाते है।

परीक्षोपयोगी प्रश्न

1 लोक-प्रशासन म प्रयुक्त 'सूत्र' और 'स्टाफ' शब्दों की परिभाषा दीजिए। इन दोनों के महत्वपूर्ण अन्तर को स्पष्ट कीजिए।

Define clearly the terms 'Line' and 'Staff' agencies as used in Public Administration Bring out the point of difference between the two.

2. किसी बड़े प्रशासकीय सगठन मे स्टाफ अभिकरण के कार्यों और महत्व की व्याख्या कीजिए और बताइए कि यह सहायक स्टाफ के कार्यों से किस तरह भिन्न है।

Define the role and importance of staff agency in a large scale administrative organization How does it differ from the function of auxiliary service.

3. भारतीय प्रशासन में 'स्टाफ अभिकरण' पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

Write a short note on the staff agencies as found in Indian Administration

4. स्टाफ अभिकरण, सहायक अभिकरण तथा सूत्र अभिकरणों के भेदों को स्पष्ट करते हुए उनकी आवश्यकता और कार्यों पर प्रकाश डालिए।

Explain the distinction between Staff Agency, Auxiliary Agency and Line Agency and discuss its importance and function.

5 स्टाफ के कार्यों का वर्णन करते हुए बताइए कि क्या स्टाफ को वास्तव में सत्ता विहीन कहा जा सकता है ?

Discuss the function of the Staff Agency, and how can really staff be called without authority ?



8

विभाग–सूत्र अभिकरण

(DEPARTMENT-LINE AGENCY)

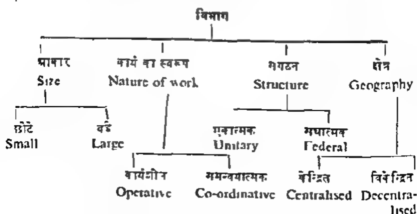
विभाग प्रशासन की मूलभूत तथा सबसे महत्वपूर्ण सूत्र इकाई है। विभाग उन उद्देश्यों को पूरा करने के लिए अपने कार्य सम्पन्न करते हैं जिनके लिए कि सरकार कायम रहती है। मुख्य कार्यपालिका के बाद यह इकाई सबसे ऊँची होती है और यह मुख्य कार्यपालिका के अधीन है तथा उसके प्रति उत्तरदायी भी है। "प्रशासन में श्रम-विभाजन की आवश्यकता का होना ही विभागीय प्रणाली के जन्म का स्वाभाविक कारण है, और जब किसी उद्यम के कार्य लगातार बढ़ते जाते हैं, जैसा आधुनिक सरकार विशेषतः संघीय सरकार के विषय में हो रहा है, तब यह विभागीय-तन्त्र उग्र रूप धारण कर लेता है।" ("The departmental system is the natural outgrowth of the need for the division of labour in administration and becomes acute when the functions of an enterprise multiply over and over as in case of modern Governments specially the, Federal Government.") मुख्य कार्यपालिका तक सूचनाएँ पहुँचाने का विभाग महत्वपूर्ण साधन है। विलोबी का कहना है कि विभागीय संगठन प्रायः सभी दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। आज के युग की यह मुख्य आवश्यकता है। इन्हीं के माध्यम से सरकार अपने उद्देश्यों की पूर्ति करती है। मुख्य कार्यपालिका के साथ विभागों का तत्काल सम्बन्ध होता है और वह इन विभागों की सहायता से ही विधि के निष्पादन तथा नागरिकों की सेवा के कार्य को पूरा करता है। कार्यपालिका सम्बन्धी समस्त कार्यों का उत्तरदायित्व यद्यपि मुख्य कार्यपालिका पर है, परन्तु वह उन्हें स्वयं क्रियान्वित अथवा सम्पन्न नहीं कर सकता। प्रशासनिक कार्यों का सम्पादन विभागों के द्वारा होता है। इस प्रकार विभाग समस्त व्यवस्था की महत्वपूर्ण वे इकाइयाँ हैं, जिनका अपना व्यक्तित्व है तथा कार्यों की पृथकता है, जो उसका अभिन्न भाग भी है और जो मुख्य कार्यपालिका के नियन्त्रण में अन्य विभागों में कार्य करते हैं। विभागों की अनुपस्थिति में प्रशासन की सफलता और उसके लक्ष्य की प्राप्ति सन्देह-युक्त हो जायेगी। भारत तथा ब्रिटेन में कार्यपालिका को यह अधिकार दिया गया है कि वह मन्त्रालय तथा विभागों का निर्माण, संगठन तथा विघटन कर सकती है। इसके विपरीत सोवियत संघ में मन्त्रालयों के पीछे संवैधानिक सम्मोदन रहता है और केवल संविधान में संशोधन करके ही मन्त्रालयों का अन्त किया जा सकता है।

आते हैं। भारत के गृह-विभाग के भीतर गुप्तचर (C.I.D.), शान्ति-व्यवस्था, नियुक्ति, अनुशासन, केन्द्र शासित-प्रदेशों पर नियन्त्रण, संघीय लोक सेवा आयोग से सम्बन्धित मामलों का प्रशासन होता है। इस प्रकार संघात्मक विभाग उप-विभाग के संघ होते हैं। यह स्पष्ट है कि एकात्मक विभाग का संगठन संघात्मक विभाग की अपेक्षा अधिक सुदृढ़ होता है। इसका कारण यह है कि संघात्मक विभाग बहुकार्यी होते हैं। इसमें प्रत्येक उप-विभाग को स्वतन्त्रता देनी होती है। विभाग का अध्यक्ष भी केवल किसी एक या दो कार्यों का विशेषज्ञ हो सकता है, सब का नहीं।

(3) कार्य की प्रकृति के आधार पर—इस आधार पर भी विभागों में परस्पर भेद किया जाता है। उदाहरण के लिए, डाक एवं तार विभाग का कार्य पत्रों, पार्सलों आदि को लाना, ले जाना तथा उनका वितरण करना है। पुलिस विभाग का उत्तरदायित्व शान्ति और व्यवस्था को कायम रखना है। कुछ विभाग ऐसे भी होते हैं जो अधिकांशतः प्रयोगात्मक और समन्वयात्मक कार्य करते हैं।

(4) क्षेत्र के आधार पर:—विभागों का वर्गीकरण क्षेत्र के आधार पर भी किया जाता है। कुछ विभागों का कार्य पूर्णतः अथवा अधिकांशतः मुख्य कार्यालय तक ही सीमित रहता है और इनके पास सहायक या श्रेणी अभिकरण (Line Agency) नहीं होते। उदाहरण के लिए, वित्त तथा स्थानीय स्वायत्त शासन विभाग। इसके विपरीत कुछ ऐसे विभाग होते हैं जिनका कार्य भौगोलिक दृष्टि से बिखरा होता है। विभिन्न स्तरों पर सहायक तथा श्रेणी संगठन होते हैं। इस प्रकार के विभागों में विकेन्द्रित व्यवस्था पाई जाती है। डाक व तार विभाग इसी प्रकार का उदाहरण है। पुलिस विभाग भी इसी श्रेणी में आता है। इन विभागों के अभिकरण देश तथा राज्य भर में फैले हुए होते हैं।

विभाग के उपर्युक्त वर्णित प्रकारों को निम्न चित्र से समझाया जा सकता है—



विभागीय संगठन के आधार

विभाग का अध्ययन करते समय सबसे पहली समस्या जो सामने आती है, वह यह है कि विभागीय संगठन के आधार क्या हो। विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न विभागीय संगठन के आधार बतलाते है। परन्तु ने विभागीय संगठन के दो आधार बतलाये हैं– (1) मनुष्यों या श्रेणियों के अनुसार कार्य का विभाजन, और (2) सेवा के अनुसार कार्य का विभाजन। सरकारी तन्त्र सम्बन्धी हाल्डेन समिति (1918) मे भी यही आधार बतलाये गये थे। इसकी रिपोर्ट में वर्णित दोनों आधारों का यहाँ उल्लेख करना उचित होगा.

"विभागों के कार्य किन सिद्धान्तों पर निश्चित किये जाने तथा सौंपे जाने चाहिए ? इसमें केवल दो विकल्प दीख पड़ते हैं जिनको संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है . पहला, सम्बन्धित लोगों तथा वर्गों के अनुसार वितरण और दूसरा सम्पन्न की जाने वाली सेवाओं के अनुसार वितरण। पहली रीति के अन्तर्गत प्रत्येक मन्त्री शासन के उन क्रियाकलापों के लिए संसद् के प्रति उत्तरदायी होगा जो किसी वर्ग विशेष के लोगों के हितों पर प्रभाव डालेंगे और इस प्रकार उदाहरण के लिए, कजाकों का मंत्रालय भी हो सकता''' संगठन की इस रीति का अपरिहार्य परिणाम होगा। वायनी प्रशासन की प्रवृत्ति। यह असम्भव है कि प्रत्येक विभाग द्वारा समुदाय के प्रति की जाने वाली विशिष्ट सेवा उस समय उतने ऊँचे स्तर की हो सके, जबकि उसका कार्य उस समय एक वर्ग-विशेष के व्यक्तियों तक ही सीमित है तथा उसकी प्रत्येक आवश्यकताओं तक फैला हुआ है, जितनी कि तब जब वह विभाग किसी एक सेवा की आवश्यकताओं पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करता है और अपेक्षाकृत छोटे वर्गों के हितों से परे देखता है।"

"दूसरी रीति, जिसके स्वीकार किये जाने की हम सिफारिश करते हैं, यह है कि प्रत्येक विभाग के कार्य-क्षेत्र का निर्धारण उस सेवा विशेष के अनुरूप हो, जो वह समग्र समुदाय के प्रति करता है। यह अवश्य है कि यह रीति, नितान्त कठोरता के साथ लागू नहीं की जा सकती। उदाहरण के लिए, शिक्षा विभाग का कार्य स्कूल के भवनों की व्यवस्था तथा छात्रों के स्वास्थ्य के लिए सावधानी बरतने को लेकर संयोगवश स्वास्थ्य के क्षेत्र में बलात् प्रवेश कर सकता है। ऐसा आकस्मिक अतिव्यापादन अपरिहार्य है और ऐसी दशा मे यदि इससे कोई कठिनाइयाँ पैदा होने की संभावना हो तो एक-से हित वाले विभागों के सहयोग के लिए उचित व्यवस्था करके उनका निवारण किया जाना चाहिए'''। किन्तु ऐसी आवश्यक शर्तों के बावजूद भी हम समझते हैं कि यदि विभागीय क्रियाओं का वितरण एक सामान्य सिद्धान्त द्वारा किया जाता है तो बहुत कुछ लाभ होगा। हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि समग्र समुदाय के प्रति की जाने वाली सेवा की प्रकृति के अनुसार वितरण करना ही वह सिद्धान्त है जिससे कम से कम भ्रम तथा अतिव्यापादन की सम्भावना हो सकती है।"

यद्यपि हाल्डेन प्रतिवेदन में कार्य के बँटवारे के विषय में दो सिद्धान्त माने गये हैं, किन्तु संगठनों के अध्ययन से विभागीय संगठनों के लिए चार विभिन्न आधार प्रकट किये गये हैं। लूथर गुलिक के अनुसार विभागीय संगठन के लिए चार आधार हैं— (1) उद्देश्य, (2) प्रक्रिया, (3) व्यक्ति, तथा (4) स्थान या क्षेत्र। यहाँ हम इन सभी आधारों का विश्लेषणात्मक अध्ययन करेंगे।

1 उद्देश्य अथवा कार्य–विभागीय संगठन के आधार के रूप में (Function or Purpose as—the basis of Departmental Organization)

कार्य अथवा उद्देश्य विभागीय संगठन का महत्त्वपूर्ण एवं लोकप्रिय आधार माना जाता है। लोक-प्रशासन के विद्वानों से इसे सबसे अधिक समर्थन प्राप्त हुआ है। इसका तात्पर्य यह है कि संगठन में कार्यों का विभाजन विभाग के उद्देश्य के आधार पर किया जाये। कई विभाग ऐसे हैं जिनके नाम से ही हमें उनके कार्य मालूम हो जाते हैं। ये कार्य विस्तृत एवं सीमित दोनों ही प्रकार के हो सकते हैं। उदाहरण के तौर पर शिक्षा विभाग, रक्षा विभाग, स्वास्थ्य विभाग, मालगुजारी विभाग हैं, जो कि कार्य के आधार पर बने हैं। हाल्डेन समिति, हूवर कमीशन ने विभाग के कार्यात्मक आधार का समर्थन किया है। चार्लेस ने अपनी पुस्तक "संघीय कार्यालय कानून" में इस पद्धति का गुण-गान किया है।

इस पद्धति के गुण (Merits of This System) :

(1) इसके द्वारा विशेष ज्ञान तथा विशेष कार्य करने की क्षमता का विकास होता है। जो व्यक्ति एक ही प्रकार का कार्य करते रहते हैं, उनमें उस प्रकार के सम्बन्ध में जानकारी एवं ज्ञान की मात्रा अधिक बढ़ जाती है, कार्यों में शीघ्रता के साथ दक्षता का भी विकास होता है।

(2) इसमें कम से कम भ्रान्ति एवं अनधिकृत हस्तक्षेप के लिए कोई स्थान नहीं रहता।

(3) इस प्रणाली में अतिव्यापन या दोहरापन (Duplication) के कम से कम अवसर आते हैं।

(4) इस पद्धति में कार्य करने की सुविधा रहती है, क्योंकि समस्त इकाइयाँ मिलकर कार्य करती हैं। एक ही विभाग का नियन्त्रण रहता है, अतः समय एवं शक्ति की बचत हो जाती है। यदि प्रतिरक्षा विभाग के पास इंजीनियर, चिकित्सा तथा शिक्षा का प्रबन्ध न हो तो उन्हें दूसरे पर अवलम्बित रहना पड़े।

(5) यदि विभाग का आधार कार्य है तो एक साधारण व्यक्ति भी विभाग के उद्देश्य को आसानी से समझ सकता है।

(6) कार्यों में तालमेल उत्पन्न करना इस पद्धति में सरल है। इसकी अनुपस्थिति में कार्यों की सफलता में सन्देह उत्पन्न हो सकता है।

दोष (Demerits) :

(1) कार्य शब्द का प्रयोग व्यापक और संकुचित दोनों रूपों में किया जा सकता है। व्यापक रूप में सम्पूर्ण सरकार ही एक कार्य है। संकुचित रूप में जब हम इस शब्द का प्रयोग करते हैं, तो इस प्रकार के प्रश्न उठते हैं कि क्या सुरक्षा विभाग का एक ही विभाग रखा जाय ? या उसे पृथक्-पृथक् रखा जाय अर्थात् जल, थल तथा नभ सेना में विभाजित कर दिया जाय। इस प्रश्न का उत्तर देना आसान नहीं है। इसलिए कहा जाता है कि यह सिद्धान्त कार्य के सम्बन्ध में भ्रमात्मक व्याख्या करता है।

(2) यदि विभागों का निर्माण व्यापक दृष्टि से कार्य अथवा उद्देश्य के सिद्धांत के आधार पर किया गया तो कुछ महत्वपूर्ण कार्यों की उपेक्षा की जा सकती है। जैसे कि शिक्षा में इतना ध्यान स्वास्थ्य पर नहीं दिया जा सकता जितना कि यह जन स्वास्थ्य विभाग में सम्भव है। इसके अतिरिक्त अन्य विभागों में इन समस्याओं से सम्बन्धित व्यक्तियों के पास न तो साधन है और न कार्य करने की विशेष योग्यता।

(3) इस प्रणाली में कार्य के द्विगुणन तथा अतिच्छादन होने का भय प्रत्येक समय बना रहता है। उदाहरण के लिए, सामान्य शिक्षा, शिक्षा सम्बन्धी अन्य विषयों का द्विगुणनमात्र है। इसी प्रकार जल, थल एवं नभ सेना में इन्जीनियरिंग विभाग द्विगुणन ही हैं।

(4) विभाग एक-दूसरे के साथ सहयोग नहीं करते, उनमें आत्मपरक होने की प्रवृत्ति पाई जाती है। हर विभाग अपने कार्यों को महत्वपूर्ण एवं श्रेष्ठ समझता है। यह पूर्ण सत्य वाली कहावत सरकारी विभागों के सम्बन्ध में चरितार्थ होती।

2 प्रक्रिया सिद्धान्त—विभागीय संगठन के आधार के रूप में
(Process—as the Basis of Departmental Organisation)

विभागीय संगठन का दूसरा आधार, लूथर गुलिक के अनुसार, प्रक्रिया सिद्धांत है। प्रक्रिया के आधार पर विभाग के संगठन का अर्थ है कि विभाग के निर्माण का कार्य कुशलता के आधार पर करना चाहिए। प्रक्रिया अथवा वृत्ति (Process or Profession) की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि यह तकनीकी कुशलता (Technical Skill) है, जिसका उपयोग किसी विशेषीकृत कार्य को सम्पन्न करने में किया जाता है। इस आधार पर यदि विभागीय संगठन किया जाये तो इन्जीनियरिंग टाईपिंग, चिकित्सा, कानूनी सलाह आदि से सम्बन्धित विभागों का निर्माण स्वाभाविक रूप से होगा। इस प्रकार के संगठन का आधार केवल विशेष योग्यता ही हो सकती है। जैसे यदि सभी चिकित्सक एक ही विभाग में होंगे तो वे भिन्न-भिन्न रोगों का निदान विशेष रूप से कर सकेंगे। इसी प्रकार इन्जीनियर भी एक विभाग में रहकर अपने कार्यों में कुशलता तथा दक्षता दिखा सकते हैं। सारांश यह है कि

प्रक्रिया सिद्धान्त के आधार पर विभागों का संगठन करने मात्र से श्रम-विभाजन सुगम हो जाता है।

इस सिद्धान्त के गुण (Merits of the System) :

(1) श्रम-विभाजन (Division of Labour);—इस सिद्धान्त का सबसे बड़ा लाभ यह है कि विशेषता को प्रोत्साहन दिया जाता है। इसके अनुसार एक व्यवसाय के प्रशिक्षित व्यक्ति एक विभाग में समूह में एकत्रित रहेंगे। इसका अर्थ यह होगा कि नवीन परीक्षण तथा अनुसंधान में सहयोग तथा सरलता रहेगी। डॉ० एम० पी० शर्मा ने इस सिद्धान्त के गुण पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि—"प्रक्रिया सिद्धान्त का प्रथम गुण यह है कि इसमें अधिक से अधिक विशेषीकरण को प्रोत्साहन मिलेगा और आधुनिकतम बुद्धि का अधिक से अधिक तथा उत्तम प्रयोग किया जा सकेगा।"

(2) मितव्ययिता (It develops Economy).—इसके द्वारा प्रशासन में मितव्ययिता का विकास होता है। यदि प्रत्येक विभाग प्राविधिक योग्यता से सम्बन्धित इकाइयों को अपने-अपने पास पृथक रूप में रखेगा तो उसमें आर्थिक हानि होगी तथा श्रम की बचत नहीं होगी। प्रशासन के अंग जो दूर-दूर फैले हुए हैं, उनमें इतनी सामग्री एकत्रित करने की क्षमता नहीं रह जायेगी।

(3) कार्य में एकरूपता तथा समन्वय (Uniformity and Co-ordination in Functions)—इस सिद्धान्त के अनुसार एक व्यवसाय के कुशलता प्राप्त व्यक्तियों को एक ही विभाग में कार्य करने की सुविधा दी जाती है। ऐसी स्थिति में कार्य में एकरूपता तथा विभागीय इकाइयों में समन्वय स्थापित हो जाता है।

(4) आँकड़ों की सुविधा से उपलब्धि (It makes the Statistics easily available)—इस प्रणाली के द्वारा बजट तथा हिसाबों आदि के लिए आँकड़े सुविधा से उपलब्ध हो जाते हैं। हिसाब-किताब रखने में भी सुगमता रहती है। इसके साथ ही अनुमानित व्यय भी आसानी से आँका जा सकता है, क्योंकि एक ही व्यवसाय के लोग एक ही गुट में संगठित होते हैं।

(5) पदोन्नति के अवसर (Chances of Promotions)—इस आधार पर विभागों का निर्माण करने पर विशेष योग्यता रखने वाले कर्मचारियों को पदोन्नति के अवसर अधिक मात्रा में प्राप्त होते हैं, क्योंकि उसमें कार्यरत व्यक्ति उसके विशेष योग्यता रखने वाले व्यक्ति होंगे। उदाहरण के लिए, यदि एक डॉक्टर को शिक्षा विभाग के अन्तर्गत रखा जाए तो उसे कितना ही अनुभव क्यों न हो उसे पदोन्नति के अवसर प्राप्त नहीं होंगे, क्योंकि शिक्षा से सम्बन्ध में उसका ज्ञान सीमित है।

इस सिद्धान्त के दोष (Demerits of the System) :

प्रक्रिया सिद्धान्त के आधार पर विभागों के जहाँ लाभ हैं, वहाँ कुछ दोष भी हैं। इस सिद्धान्त से अग्र लिखित दोष उत्पन्न हो जाते हैं।

(1) समन्वय का अभाव (Lack of Co-ordination):—प्रक्रिया के आधार पर निर्मित होने वाले विभागो की संख्या इतनी अधिक हो जायेगी कि उनके मध्य तालमेल उत्पन्न करना कठिन हो जायेगा। इसके अतिरिक्त प्रत्येक विभाग आत्म-निर्भरता प्राप्त करने का प्रयत्न करता है, इससे अन्य विभागों से उसका सहयोग नही रह पाता। लूथर गुलिक का संकेत है कि "एक प्रक्रिया की असफलता का प्रभाव पूरे उद्यम पर पड़ता है और एक प्रक्रिया सम्भाग मे समन्वय स्थापित न किये जाने के परिणामस्वरूप सम्पूर्ण कार्य की साधना नष्ट हो जाती है।" ("Failure of one process affects the whole department and failure to co-ordinate one process division, may destroy the effectiveness of all the work that is being done.")

(2) साधनों पर अधिक बल (More emphasis on means)—इस सिद्धान्त का सबसे बड़ा दोष यह माना जाता है कि इस सिद्धान्त पर आधारित विभाग साध्य की अपेक्षा साधनो पर अधिक जोर देता है। प्रशासन का लक्ष्य जनता की सेवा करना है, किन्तु यह सिद्धान्त जनता मे यह भ्रान्ति उत्पन्न कर देता है कि प्रशासन का लक्ष्य केवल प्रशासकीय कुशलता प्राप्त करना है। उदाहरण के लिए, आन्तरिक व्यवस्था के लिए पुलिस आवश्यक है। प्रक्रिया के आधार पर इसका निर्माण किया जाए तो यह भ्रम हो सकता है कि सरकार केवल पुलिस को मितव्ययी एव कुशल बनाये रखने के विचार से चल रही है, जनता के हित के लिए नही।

(3) मितव्ययिता के स्थान पर अपव्ययता (Extravagance in place of Economy)—इस व्यवस्था के अन्तर्गत विभागीय कर्मचारियो मे अपव्ययता की आदत बढ़ जाती है। कभी स्वार्थवश वे ऐसे कार्य कर जाते हैं, जिसमे धन का खर्च बहुत होता है और उसका प्रशासन पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

(4) व्यावसायिक दम्भ की उत्पत्ति (Professional arrogance is given birth in this System)—जो विभाग अधिक कुशल व्यक्तियो के बने होते हैं, उनमे व्यावसायिक दम्भ की उत्पत्ति हो जाती है और विभागीय अध्यक्षो मे अभिमान, दम्भ तथा श्रेष्ठता की भावना आ जाती है जिससे प्रशासन मे गड़बड़ी उत्पन्न हो जाती है।

(5) संकुचित दृष्टिकोण (Narrow outlook)—एक कार्य मे पूर्णता प्राप्त व्यक्ति एक ही स्थान पर कार्य करने योग्य रह जाता है, अन्य विभागो मे उसका उपयोग नही हो सकता। एक विषय का विशेषज्ञ होने से उसके विचारो मे संकीर्णता का भाव भर जाता है। शासन मे ऐसे लोगो की उपयोगिता घट जाती है।

(6) अनियन्त्रित नौकरशाही बढ़ने का भय (Fear of increased Uncontrolled Bureaucracy):—उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि 'प्रक्रियाओं' को

विभागीय संगठन का आधार बनाने से एक 'अनियंत्रित नौकरशाही' में परिवर्तित हो जाने का डर बना रहता है।

(3) व्यक्ति सिद्धांत-विभागीय संगठन के रूप में
(Person-as the basis of Departmental Organisation)

लूथर गुलिक के अनुसार बनाये गये विभागीय संगठन का तीसरा आधार व्यक्ति है। इस आधार पर संगठित किये गये विभाग का उद्देश्य समाज के किसी विशिष्ट वर्ग की सेवा करना है। भारत में इसका सर्वोत्तम उदाहरण पुनर्वास तथा अल्पसंख्यकों के मामलों का मंत्रालय है। इस प्रकार के विभाग बहु-कार्यी होते हैं। जैसे पुनर्वास विभाग के शरणार्थियों को बसाना, उनके दावों का निपटारा करना, निष्क्रान्त सम्पत्ति की व्यवस्था करना तथा शरणार्थियों की क्षतिपूर्ति आदि करना, होते हैं।

व्यक्तिप्रधान सिद्धान्त के गुण (Merit of this System)

(1) **व्यक्तियों तथा शासन के सम्बन्धों में सरलता (Relation between persons and administration can easily established)** —व्यक्ति सिद्धांत के आधार पर विभिन्न व्यक्तियों के समूह अथवा वर्गों के हितों की रक्षा के लिए विभागों का निर्माण किया जा सकता है। ऐसी दशा में प्रशासन और व्यक्तियों के बीच सम्पर्क बढ़ता है। इसमें अवकाश प्राप्त सैनिक 'सैनिक बोर्ड' से अपनी समस्याओं का समाधान करा लेते हैं। कृषक की समस्याएँ कृषि विभाग द्वारा हल हो जाती हैं। हरिजनों तथा अनुसूचित जातियों की समस्याएँ समाज-कल्याण विभाग द्वारा दूर की जाती हैं। इसमें समय की बचत होती है तथा व्यक्तियों एवं वर्गों की समस्याएँ सरलतापूर्वक हल हो जाती हैं।

(2) **विभिन्न सेवाओं का सन्तुलन (Co-ordination in various services)**—इस सिद्धांत का दूसरा महत्वपूर्ण गुण यह है कि इसमें विभिन्न सेवाओं में समन्वय हो जाता है क्योंकि एक ही विभाग के अन्तर्गत अनेक सेवाएँ सङ्गठित होती हैं।

(3) **कर्मचारियों में व्यापक दृष्टिकोण (Wide outlook)** :—इस आधार पर बने विभाग के कर्मचारियों का व्यापक दृष्टिकोण होता है। इसका मूल कारण यह है कि विभागों की इस व्यवस्था के अन्तर्गत कर्मचारियों को विविध प्रकार के कार्य करने होते हैं जिससे उनका दृष्टिकोण व्यापक हो जाता है। यह व्यवस्था प्रशासन में अधिक कुशलता लाती है।

व्यक्ति सिद्धांत के दोष (Demerits of this System)

(1) **सामान्य प्रयोग के अयोग्य (Incapable of Universal Application)** :—यह पद्धति विभाग के निर्माण के सम्बन्ध में अयोग्य मानी गयी है। इसका मुख्य कारण यह है कि यदि वर्गों के आधार पर विभागों का संगठन किए जाय तो

प्रत्येक वर्ग अपने लिए एक विभाग की माग करेगा और देश में असंख्य विभाग हो जायेंगे। इस सिद्धात को दृढता के साथ निभाने के लिए अनेक छोटे-छोटे विभागों का निर्माण करना पड़ेगा, जैसे-नवयुवकों का विभाग, बच्चों का विभाग, वृद्धों का विभाग, अध्यापकों का विभाग, चिकित्सकों का विभाग, व्यापारियों का विभाग आदि। इस प्रकार प्रशासन को अनेक व्यावहारिक कठिनाइयों का सामना करना होगा।

इस विषय में हाल्डेन समिति (Haldane Committee) की राय उद्धृत करने योग्य है। उसका विचार है, 'विभाग सरकार की उन क्रियाओं के लिए समाज के प्रति उत्तरदायी होगा, जो कि व्यक्तियों के एक विशेष वर्ग के हितों को प्रभावित करती है तथा इस स्थिति में अनेकों विभाग स्थापित किये जा सकते हैं, जैसे बच्चों के लिए मंत्रालय, अथवा बेरोजगार व्यक्तियों का मंत्रालय, ... सगठन की इस प्रणाली का आवश्यक फल यह होता है कि बहुत "छोटे-छोटे रूप में प्रशासन" (Lilliputation administration) की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। इस सम्बन्ध में समिति की रिपोर्ट में आगे कहा गया है कि इस सिद्धांत को दृढतापूर्वक लागू करने से और अनेक विभागों की स्थापना हो जायगी जैसे युवकों का विभाग, डाक्टरों का विभाग, प्रोफेसरों का विभाग आदि।" विभागीयकरण की इस प्रणाली से अन्तर्विभागीय समन्वय (Inter-departmental Co-ordination) और विभागीय अधिकार क्षेत्र (Departmental Jurisdiction) से सम्बन्धित विभिन्न जटिल प्रशासनीय समस्याएँ उत्पन्न होंगी।

(2) **अधिकार क्षेत्र सम्बन्धी विवाद** (Disputes for Jurisdiction)—इस सिद्धान्त के अनुसार स्थापित विभागों के बीच क्षेत्र सम्बन्धी विवाद उत्पन्न होने की सम्भावना बनी रहती है, जिनका निपटारा सरल नहीं होता। इससे परिणामस्वरूप प्रशासन में कई कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। सेवा किये जाने वाले व्यक्तियों के आधार पर किये जाने वाले विभागीय सगठन का सिद्धात केवल तभी क्रियान्वित किया जाना चाहिए जबकि वे समस्याएँ, जो जनसंख्या के किसी वर्ग विशेष से सम्बन्धित हों, इतनी स्पष्ट, वास्तविक और इतनी घनिष्टता से सम्बन्धित हों कि उनको प्रभावशाली रीति से तभी सुलझाया जा सकता है, जबकि उनके निराकरण का प्रयत्न अनेक पृथक-पृथक सत्तों के माध्यम से ही नहीं अपितु सामूहिक रूप से किया जाए।

(3) **विशेष योग्यता का अभाव** (Lack of Specialization) :—इस व्यवस्था के अन्तर्गत कर्मचारियों को विभिन्न प्रकार के कार्य करने पड़ते हैं। एक समय में एक व्यक्ति एक ही विषय का विशेषज्ञ बन सकता है। अनेक कार्यों में कोई व्यक्ति किसी भी कार्य में दक्षता अर्जित नहीं कर सकता। इसमे अंग्रेजी की यह लोकोक्ति चरितार्थ होती है। 'Jack of all trades but master of none'

(4) **समुदायों का अनुचित क्षेत्र** :—इस सिद्धांत के परिणामस्वरूप वर्गवाद का जन्म होगा। अपने वर्ग को छोड़ लोग दूसरे वर्ग से सहानुभूति नहीं रखेंगे।

निहित स्वार्थ के दल के इशारे पर विभाग चलेंगे और इसका परिणाम भयानक होगा। प्रतिस्पर्द्धा, द्वेष, ईर्ष्या तथा स्वार्थ का बोलबाला हो जायेगा तथा प्रशासन छिन्न-भिन्न हो जायेगा।

(4) स्थान अथवा क्षेत्र विभागीय संगठन के आधार के रूप में (Area or Territory as the basis of Departmental Organization)

विभाग उस क्षेत्र या स्थान के आधार पर संगठित किये जा सकते हैं जहाँ कि वे सेवा करते हैं। विदेश मन्त्रालयों में इस आधार पर कई अनुभाग होते हैं जो किसी क्षेत्र विशेष से सम्बन्धित होते हैं। भारत में दामोदर घाटी निगम, हीराकुण्ड बाँध तथा भाखरा नागल निगम आदि इसी प्रकार के विभागों में गिने जा सकते हैं। प्रशासकीय संगठन में देश की भौगोलिक स्थिति का बड़ा महत्व होता है। भारत में आर्थिक नियोजन तथा अन्य विभागों का संगठन बहुत कुछ भौगोलिक क्षेत्र के आधार पर ही किया गया है। सैन्य संगठन भी बहुत कुछ क्षेत्र के आधार पर ही होता है। भारत में रेल यातायात का संगठन क्षेत्र के आधार पर किया गया है—उत्तरी रेल्वे, पश्चिमी रेल्वे, उत्तर-पूर्वी रेल्वे, उत्तर-पश्चिमी रेल्वे, केन्द्रीय रेल्वे इत्यादि। संयुक्त राष्ट्र संघ में भी बहुत से ऐसे प्रशासकीय अनुभाग हैं जिनका संगठन पूर्णतः क्षेत्र के आधार पर किया जाता है।

क्षेत्रीय सिद्धान्त के गुण (Merits of this System :

क्षेत्रीय आधार पर बने विभाग उन स्थानों पर अधिक लाभदायी सिद्ध होते हैं, जहाँ यातायात के साधनों की कमी रहती है। इस सिद्धान्त के अनेक गुण हैं, जिनका उल्लेख नीचे किया जा रहा है—

(1) स्थानीय समस्याओं का हल (Easiness in solving the Local Problems)—इस आधार पर संगठित विभागों से स्थानीय समस्याओं का हल आसानी से हो जाता है, क्योंकि क्षेत्रीय विभाग अपने क्षेत्र की समस्याओं की पूरी जानकारी रखते हैं और उन्हें सुलझाना उनके लिए सुगम भी होता है।

(2) विस्तृत एवं दुर्गम क्षेत्रों में सुविधा (Facilities in Unapproachable Areas):—क्षेत्रीय आधार पर विभागों का निर्माण प्रशासन के कार्य में उन स्थानों के लिए सुविधाजनक है, जिनमें यातायात के साधनों का अभाव है अथवा जिन राज्यों में शासन का क्षेत्र विस्तृत है। इस प्रकार का विभागीय आधार उन साम्राज्यवादी राज्यों के लिए भी सुविधाजनक है जो अपने स्थानों पर बैठे दूसरे स्थानों पर हुकूमत करना पसन्द करते हैं। ब्रिटिश सरकार ने भारत पर शासन करने के लिए एक अलग विभाग 'भारत मंत्री' की देख-रेख में स्थापित किया था। इस विभाग की स्थापना का आधार क्षेत्रीय था।

(3) क्षेत्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति (Fulfilment of Local Needs):—क्षेत्रीय आधार पर जो विभाग सङ्गठित किये जाते हैं, उनका यह लाभ होता है कि

उनके द्वारा क्षेत्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति होने में सरलता मिलती है। विभागीय अध्यक्ष उन स्थानों की आवश्यकताओं से परिचित होते हैं, अतः वे उन आवश्यकताओं की पूर्ति करने में किसी भी कठिनाई का अनुभव नहीं करते।

(4) मितव्ययिता (Economy) —इस सिद्धांत से सरकारी व्यय में काफी मात्रा में मितव्ययिता हो सकती है। आने जाने में जो व्यय होता है वह सरलता से बच सकता है। निरीक्षण पर होने वाले व्यय की मात्रा भी कम हो जाती है। पत्र व्यवहार में कार्य का धन खर्च नहीं होता।

(5) बड़े राष्ट्रों के लिए उपयुक्त (Suitable for big Countries) —क्षेत्र आधार पर विभागीय संगठन उन देशों के लिए लाभदायक माना जाता है जो विस्तृत और बड़े आकार के होते हैं। समुद्र पार साम्राज्यवादी राज्यों ने विभागीय संगठन की इस पद्धति को अपनाया था। ब्रिटिश सरकार ने ही दूरवर्ती देशों के संगठन के लिए बहुत से विभाग तथा उपविभागों की स्थापना करने की अपेक्षा एक विभाग को क्षेत्रीय विभाग पर संगठित किया, जो India Office कहलाता था और वह भारत सम्बन्धी कार्य के लिए उत्तरदायी था।

(6) समन्वय और नियन्त्रण की सुविधा (Facility Co-ordination and Control) — इस आधार से विशेष क्षेत्र से सम्बन्धित समस्त समस्याओं के मध्य समन्वय सुगमता व सरलता के साथ किया जा सकता है। यह उस स्थान पर विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध होता है जहाँ पर क्षेत्र एक-दूसरे से दूर हैं और जिनमें यातायात सम्बन्धी सुविधाएँ उपलब्ध नहीं हैं। अमेरिका में टैनसी घाटी निगम और भारत में दामोदर घाटी निगम इसी सिद्धान्त पर अवलम्बित हैं।

क्षेत्रीय सिद्धांत के दोष (Demerits of this system) —

(1) प्रशासन की एकता में बाधा (It stands against the Uniformity of Administration) —इस पद्धति का एक महत्त्वपूर्ण दोष यह है कि इसके द्वारा प्रशासन सम्बन्धी राष्ट्रीय एकता के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा उत्पन्न होती है। यह बात तो सत्य है कि एकरूपता के साथ विभिन्नता भी होनी चाहिए परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि एकरूपता को नष्ट ही कर दिया जाय। यदि इस सिद्धांत को मान लिया जाए तो शिक्षा के क्षेत्र में विभिन्न पाठ्यक्रम होंगे और शिक्षा के क्षेत्र में व्यापक रूप में किसी भी सर्वमान्य नीति का निर्धारण कठिन हो जायेगा।

(2) स्थानीयवाद को प्रोत्साहन (*It encourages Localism*) —इस सिद्धान्त का दूसरा दोष यह है कि इसके द्वारा स्थानीयता तथा क्षेत्रवाद का उत्तरोत्तर विकास होता रहता है। राष्ट्रीयता को इससे बड़ा धक्का लगता है। स्थानीय दृष्टिकोण संकीर्णता तथा दुर्गुणता से पूर्ण होता है।

(3) *विशेषीकरण का अभाव (Absence of Specilization)* —व्यक्ति सिद्धात की भाँति क्षेत्रीय सिद्धात में भी यह दोष पाया जाता है कि इसके अन्तर्गत

को विभागीय ढाँचे में प्रत्येक नय जुडाव के समय पर नापना चाहिए और जैसे विगत अनुभव तथा वर्तमान व्यवहार स्पष्टता प्रकट करते हैं, परिणाम यह होगा कि ऐसा विभागीय सगठन बनेगा, जिसमें एक या अधिक से अधिक दो विभागीयकरण के सिद्धान्त को प्रमुखता मिलेगी, परन्तु जिनमें एकीकरण के चारों सिद्धान्त कुछ न कुछ भूमिका अदा करते होंगे। अत विभागों का सगठन परिस्थितियों के अनुसार ही होना चाहिए।

विभाग के सगठन के सम्बन्ध में आधार की समस्या के साथ-साथ एक और समस्या उत्पन्न होती है जिसे प्राधिकार या सत्ता की समस्या कहते हैं। इस समस्या के अन्तर्गत हमें विभागीय प्रशासन में अध्यक्ष की भूमिका की ओर ध्यान देना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त दूसरी समस्या का सम्बन्ध इस प्रश्न से है कि विभाग का अध्यक्ष एक व्यक्ति हो या एक सस्था। एक और समस्या हमारे सामने उस समय आती है जबकि विभाग का सगठन आयोग के रूप में किया जाता है। इसके अन्तर्गत यह प्रश्न आता है कि क्या इस आयोग में प्रतिनिधित्व एक ही दल अथवा वर्ग का हो अथवा विभिन्न दलों का। यहाँ हम सभी समस्याओं पर विचार करेंगे।

विभागीय अध्यक्ष की भूमिका
(Role of the Head of the Department)

यह एक सर्वमान्य बात है कि विभागों के प्रशासकीय कार्यों के सचालन के लिए एक विभागाध्यक्ष होता है। उसी के द्वारा उस विभाग का कार्य सम्पादित होता है। वही विभाग के कार्यों के लिए उत्तरदायी होता है। वह विभाग के लिए योजना बनाता है तथा यह देखता है कि विभाग के सम्बन्ध के सभी कार्य उचित तरीके से हो रहे हैं या नहीं। मुख्य कार्यपालिका लोक-प्रशासन के कार्यों का सचालन तथा उनकी देख-भाल स्वय नहीं करता। यह कार्य उसके अधीन प्रशासकीय अधिकारी करते हैं। मुख्य कार्यपालिका प्रशासन की सुविधा के लिए प्रशासकीय शाखा को कई भागों में विभाजित करती है और प्रत्येक विभाग की देख रेख के लिए पृथक-पृथक अध्यक्ष नियुक्त करती है। इन विभागीय अध्यक्षों को मुख्य कार्यपालिका अपनी सत्ता (Authority) तथा उत्तरदायित्व का थोड़ा बहुत अश सौंप देती है। इस प्रकार यह विभाग में मुख्य कार्यपालिका का ही प्रतिनिधित्व करता है। विभाग का अध्यक्ष मुख्य कार्यपालिका का परामर्शदाता भी होता है। विभागीय अध्यक्ष न केवल अपने विभाग से सम्बन्धित समस्याओं पर मुख्य कार्यपालिका से विचार-विमर्श करता है और इस सम्बन्ध में अपनी राय देता है, अपितु अवसर पड़ने पर लोक-प्रशासन की सामान्य समस्याओं के सम्बन्ध में भी वह परामर्श देता है।

लोक-प्रशासन के विद्वानों का विचार है कि विभाग के अध्यक्ष का मुख्य कार्य नीति निर्धारित करना, योजना बनाना, अपने अधीन विभाग के पदाधिकारियों एव कर्मचारियों को आज्ञा एव आदेश प्रदान करना, विभाग का सगठन करना तथा विभागीय सेवाओं के कार्यों का निरीक्षण एव परीक्षण करना है।

विभाग का अध्यक्ष प्रशासन के कार्यों को राजनीतिक दृष्टिकोण प्रदान करता है। प्रजातान्त्रिक देशों में मुख्य कार्यपालिका निर्वाचित होती है (संसदात्मक व्यवस्था में मन्त्रिमण्डल और अध्यक्षात्मक व्यवस्था में राष्ट्रपति)। निर्वाचन के समय जनता के साथ राजनीतिक वायदे और आश्वासन दिये जाते हैं। निर्वाचित हो जाने पर उनको कार्यरूप देना पड़ता है। विभागीय अध्यक्ष उन्हीं राजनीतिक आधारों पर विभागीय कार्यों का निर्देशन करता है। यहाँ प्रश्न हमारे सामने आता है कि क्या अध्यक्ष को अपने विभाग के विषय में दक्ष होना चाहिए या उसके लिए साधारण योग्यता ही ठीक है। हम जानते हैं कि विभागों के अध्यक्षों की कार्य-कुशलता पर विभागों की सफलता निर्भर होती है। अतः अध्यक्ष के लिए अपने विषय में दक्षता आवश्यक है। संयुक्त राज्य अमेरिका में विभागाध्यक्षों की नियुक्ति राजनीतिक आधार पर होती है, अतः यह आवश्यक नहीं कि जिस व्यक्ति को विभाग का अध्यक्ष बनाया जा रहा है, वह उस विभाग के कार्यों में विशेष योग्यता रखता हो। परन्तु यह बात निर्विवाद सत्य है कि विभाग का अध्यक्ष निश्चित रूप से दक्ष होना चाहिए अन्यथा उसके अधीन कार्य करने वाले व्यक्ति या कर्मभागीगण लापरवाह तथा अनुशासनहीन हो जायेंगे और विभाग का कार्य ठप्प हो जायेगा।

विभागीय संगठन के सम्बन्ध में दूसरा प्रश्न यह है कि विभाग के संचालन का कार्य एक व्यक्ति को सौंपा जाए या एक संस्था या बोर्ड को। इनमें से कौन अधिक प्रभावशाली तथा व्यावहारिक सिद्ध हो सकता है। बहुधा यह बात सभी स्वीकार करते हैं कि विभाग के कार्य-संचालन का भार एक ही व्यक्ति को सौंपा जाए तो उत्तम रहता है, क्योंकि इसमें किसी भी प्रश्न पर शीघ्रतापूर्वक निर्णय करने और कार्य के उत्तरदायित्व को केन्द्रित करने में बहुत सहायता मिलती है।

यह उपर्युक्त मान्यता उस समय की है, जब प्रशासन का क्षेत्र सीमित था, और लोक-कल्याणकारी राज्य का विचार अधिक लोकप्रिय नहीं था। आधुनिक समय में सरकार तथा प्रशासन का कार्य क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत हो गया है। कई कार्य ऐसे हैं, जिन्हें एक व्यक्ति की अपेक्षा कई व्यक्ति मिलकर अच्छी तरह से कर सकते हैं। संक्षेप में, कार्य के स्वरूप, क्षेत्र तथा महत्त्व को दृष्टि में रखकर ही, यह निर्णय करना उचित होगा कि विभाग के संचालन का भार एक ही अधिकारी को सौंपा जाए या बोर्ड को। उत्तम तो यही है कि आधारभूत नीति निर्धारित करने वाले विभागों का दायित्व किसी एक व्यक्ति को न सौंपा जाए।

भारत में ये दोनों ही पद्धतियाँ काम में लाई जाती हैं। किन्तु यदि तुलनात्मक अध्ययन किया जाए तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि यहाँ एक विभागाध्यक्ष की प्रणाली अधिक प्रचलित है। उदाहरण के लिए प्रतिरक्षा, वित्त, शिक्षा आदि मन्त्रालयों का अध्यक्ष सम्बन्धित मंत्री होता है, परन्तु प्रशासन की दृष्टि से इनके अध्यक्ष सम्बन्धित सचिव होते हैं। इसके विपरीत रेल्वे बोर्ड, माध्यमिक शिक्षा बोर्ड तथा

राजस्व मण्डल आदि ऐसे विभाग हैं जिनमें अध्यक्ष एक से अधिक व्यक्ति हैं। वे विभाग जहाँ का अध्यक्ष एक व्यक्ति होता है, उसे ब्यूरो प्रणाली कहते हैं और जहाँ अध्यक्ष का कार्य एक से अधिक व्यक्तियों के द्वारा संचालित होता है, उसे बोर्ड, मण्डल, आयोग प्रणाली कहते हैं। यहाँ हम प्रत्येक प्रणाली के गुण तथा दोषों का वर्णन करेंगे।

एकल अध्यक्ष या ब्यूरो पद्धति

(Single Headship or Bureau System)

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि जब किसी विभाग के नियन्त्रण की सत्ता एक ही व्यक्ति के हाथ में निहित होती है उसे एकल अध्यक्ष या ब्यूरो पद्धति कहा जाता है। यह प्रणाली उस समय अधिक उपयुक्त होती है, जबकि प्रशासकीय नीति एवं कार्य ठीक प्रकार से निर्धारित हो और उसे नियन्त्रित करना शेष रह गया है। साधारणतया सभी देशों में इस पद्धति को प्रशासन में स्थान दिया गया है। यदि विभिन्न देशों के प्रशासनिक ढाँचे पर दृष्टिपात किया जाये तो यह निष्कर्ष निकलेगा कि एकल ब्यूरो पद्धति अधिकांशतया अपनाई जाती है जबकि इसके विपरीत **बहुल अध्यक्ष या मण्डल प्रणाली** (Plural Headship or Board Type System) को बहुत ही कम अंशों में स्थान दिया जाता है। इस प्रणाली के पक्ष में कई विद्वानों ने अपने मत प्रकट किये हैं। **एलेक्जेण्डर हैमिल्टन** महोदय ने लिखा है कि—"प्रशासन के प्रत्येक विभाग में एक विभागाध्यक्ष का होना अत्यधिक अच्छा माना गया है। उससे हमें अधिक ज्ञान, अधिक निश्चय, अधिक उत्तरदायित्व की सम्भावनायें प्राप्त होंगी और साथ ही प्रशासन में अधिक लगन और सावधानी भी काम में लाई जायेगी। मण्डलों में बड़ी सभाओं की सुविधाएँ बँट जाती हैं। उनके निर्णय मन्दगति से होते हैं, उनमें शक्ति कम होती है और उनका उत्तरदायित्व विकेन्द्रित होता है। उनमें वह ज्ञान और योग्यता नहीं पाई जाती है जो उस प्रशासन में पाई जाती है, जहाँ एक ही व्यक्ति के द्वारा शक्तियों का संचालन होता है।' प्रो० एल.डी. ह्वाइट के शब्दों में—"कार्यवाही को सक्रिय बनाने के लिए तथा सुनियोजित उत्तरदायित्व और सरल समन्वय पद्धति की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि एक पदाधिकारी का पक्ष लिया जाये न कि सम्मिलित सत्ता का क्योंकि उद्देश्य की एकता के लिए यही प्रणाली सर्वोत्तम है।"

दोनों ही विद्वानों के उपर्युक्त कथनों की सत्यता इस प्रणाली के निम्न गुणों से स्पष्ट हो जायेगी—

(1) शीघ्र निर्णय (Rapid Decision)—विभाग के कार्यभार का उत्तरदायित्व एक व्यक्ति के पास होने से निर्णय में शीघ्रता रहती है। साथ ही वह अधिक लगन, उत्साह तथा सावधानी से कार्य करने का प्रयत्न करता है।

(2) अनुशासन तथा उत्तरदायित्व में एकता (Uniformity in Discipline and Responsibility) —जब विभाग का अध्यक्ष एक व्यक्ति होता है तो उस विभाग के समस्त कर्मचारी उसके प्रति अनुशासन प्रदर्शित करते हैं, क्योंकि उसका नियन्त्रण सम्पूर्ण विभाग पर होता है। इस प्रकार की व्यवस्था से उत्तरदायित्व की एकता रहती है, कारण कि एक व्यक्ति विभागाध्यक्ष होने से वही कार्य का वितरण कर्मचारियों में करता है, वे कर्मचारी उसके प्रति उत्तरदायी होते हैं।

(3) कम खर्चीली (Less Expensive) —इस पद्धति के पक्ष में यह तर्क दिया जाता है कि यह कम खर्चीली होती है। इसमें एक ही व्यक्ति (अध्यक्ष) के अनुपालन पर सरकारी खजाने से धन खर्च होता है।

(4) योजना की सफलता (Success of Planning) —एक अध्यक्ष के अन्तर्गत कार्य करने वाले कर्मचारी स्वभाव से ही दैनिक कार्य करने के आदी हो जाते हैं। इससे उस विभाग द्वारा निर्धारित समस्त योजनाओं की सफलता निश्चित भी हो जाती है। योजनाओं की सफलता के लिए एकल अध्यक्ष प्रणाली उपयोगी मानी गई है।

(5) नीति की स्पष्टता (Clearity in Policy).—एक अध्यक्ष प्रणाली में नीति में स्पष्टता होती है, क्योंकि विभाग की नीति एक व्यक्ति द्वारा बनाई जाती है, जिसे विभागाध्यक्ष कहते हैं।

(6) उत्साह तथा लगन (Encouragement and Attachment) :—एक अध्यक्ष को जब विभाग के संचालन का भार सौंप दिया जाता है तो वह बहुत उत्साह तथा लगन से कार्य करता है। उसके कार्य में बाधा डालने वाला और कोई नहीं होता है।

(7) उद्देश्य की एकता (Uniformity of Aims) :—उद्देश्य की एकता बनाये रखने के लिए इस पद्धति को बहुत अच्छा माना गया है। विभागीय अध्यक्ष जब एक व्यक्ति होता है, तो उस विभाग के उद्देश्यों में एकता रहना स्वाभाविक ही है।

इसका अर्थ यह नहीं कि ब्यूरो या एकल अध्यक्ष पद्धति में केवल गुण ही गुण हैं। यदि ऐसा होता तो बहुल अध्यक्ष या मण्डल प्रणाली को प्रशासन में स्थान ही नहीं दिया जाता। इस प्रणाली के निम्नलिखित दोष पाये जाते हैं :

(1) सत्ता का दुरुपयोग (Possibility of Misuse of Authority) :ब्यूरो या एकल अध्यक्ष पद्धति का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें सत्ता के दुरुपयोग की सम्भावना बनी रहती है। समस्त विभाग की बागडोर एक व्यक्ति के हाथ में होने से वह मनमानी करने लगता है और वह स्वेच्छाचारी बन जाता है। इसके परिणाम-स्वरूप प्रशासन में कई दोष उत्पन्न हो जाते हैं।

(2) पक्षपात का भय (Fear of Favouritism) :—ब्यूरो प्रणाली में पक्षपात होने का भय बना रहता है। जब विभाग का अध्यक्ष एक व्यक्ति होता है

तो वह किसी एक व्यक्ति या व्यक्ति-समूह के साथ पक्षपात कर सकता है। इससे विभाग में दल बनने लग जायेंगे और प्रशासन को धक्का लगने की सम्भावना बन जाती है।

(1) अविवेकपूर्ण निर्णय (Irrational Decisions) :—जब विभाग का अध्यक्ष एक व्यक्ति होता है तो उसके पास इतना अधिक कार्य बढ़ जाता है कि वह सभी कार्यों पर ठीक से निर्णय नहीं ले सकता। इसके अतिरिक्त अपने पद की श्रेष्ठता के कारण वह किसी से परामर्श लेना आवश्यक नहीं समझता। इन सबका परिणाम अविवेकपूर्ण निर्णय होंगे, जिसके फलस्वरूप प्रशासन में अव्यवस्था बढ़ जायेगी।

इन दोषों के अतिरिक्त यह भी कहा जाता है कि ब्यूरो प्रणाली में आवेशमय निर्णय होने का भय बना रहता है। भावुकता का भी निर्णय के समय असर हो सकता है। इतना ही नहीं, इस व्यवस्था में प्रशासकीय संचालन में नियन्त्रण सम्बन्धी कठिनाइयाँ सदैव बनी रहती हैं, जिनके कारण असफलताओं का मुँह देखना पड़ता है। एकल कार्यपालिका से यह भी आशा नहीं की जा सकती कि वह प्रत्येक विषय का ज्ञाता होगा।

बहुल अध्यक्ष या मण्डल पद्धति
(Plural Headship or Board System)

जब विभाग के निर्देशन तथा निरीक्षण का उत्तरदायित्व एक से अधिक व्यक्तियों में बाँट दिया जाता है तो उसे बहुल अध्यक्ष, मण्डल, आयोग तथा बोर्ड पद्धति का नाम दिया जाता है। यह पद्धति उस समय उपयोगी होती है जब किसी नीति के निर्धारण के बारे में निर्णय तक पहुँचने के लिए विचार एवं पर्यालोचन की आवश्यकता होती है। विलोबी के अनुसार, "जहाँ शासन के कार्यों में नीति निर्धारण करने का महत्वपूर्ण प्रश्न होता है जिसमें कि किसी एक व्यक्ति द्वारा स्वेच्छा का प्रयोग किया जा सकता है अथवा जहाँ किसी प्रकार के मुआवजे आदि का निर्णय करना होता है, वहाँ मण्डल अथवा आयोग प्रणाली अपनाई जाती है।" यही कारण है कि शिक्षा, स्वास्थ्य, भूमि, राजस्व, व्यापार, वित्त आदि से सम्बन्धित प्रशासकीय विभागों का संगठन मण्डलीय पद्धति के आधार पर होता है। सरकार इन विषयों के सम्बन्ध में सामान्य नीति निर्धारित कर देती है, अन्य कार्य मण्डल या बहुल अध्यक्ष के जिम्मे छोड़ देती है।

इस प्रकार की पद्धति के कई गुण तथा दोष पाये जाते हैं। नीचे हम इस प्रणाली के गुणों की तथा बाद में दोषों की विवेचना करेंगे—

मण्डलीय पद्धति के गुण
(Merits of Board System)

(1) स्वेच्छाचारिता से बचाव (It Protects from Dictatorship) :—मण्डलीय पद्धति में विभाग के अध्यक्ष कई लोग होते हैं तथा उनके अधिकार भी

समान होते हैं। इसमें निर्णय एक व्यक्ति के द्वारा न किये जाकर पूरे मण्डल के सदस्यों के द्वारा निर्णय किये जाते हैं जिससे स्वेच्छाचारिता पनपने नहीं पाती।

(2) नीति निर्धारण में सुगमता (Easiness in Framing Policies) :— मण्डलीय पद्धति का यह एक बड़ा गुण है कि नीति के निर्माण में बड़ी सुगमता रहती है। एक व्यक्ति चाहे कितना ही योग्य तथा बुद्धिमान क्यों न हो, पर अनेक लोगों की सामूहिक बुद्धि के बराबर उसकी बुद्धि नहीं हो सकती। प्रशासन के लिए नीति की आवश्यकता होती है और अच्छी नीति-निर्माण के लिए अनेक लोगों की सहायता का उत्तम माना गया है।

(3) सामंजस्य के लिए उपयुक्त (Essential to strike Co-ordination):— जिस विभाग का कार्य दो विरोधी दलों में विरोध को हटा कर सामंजस्य स्थापित करना है वहाँ मण्डलीय पद्धति अच्छी मानी गई है। उदाहरण के लिए, पूँजीपतियों एवं श्रमिकों के झगड़ों को निपटाने के लिए यदि एक व्यक्ति को उत्तरदायित्व सौंप दिया जाए तो उनमें अविश्वास रहेगा। इसके विपरीत इस प्रकार के झगड़े यदि मण्डलीय पद्धति के विभाग को सौंप जायें तो उनमें विश्वास का संचार हो सकता है।

(4) बाहरी दबाव की कम आशंका (Less Fear of Outer Pressure):— जब किसी विभाग का कार्य मण्डलीय पद्धति के द्वारा चलाया जाता है तो बाहरी दबाव की आशंका कम रहती है। इसका कारण यह है कि विभाग के अध्यक्ष अनेक होने से उनको प्रभावित करना सरल कार्य नहीं होता।

(5) विरोधी वर्गों में सन्तुष्टि (Co-ordination between Conflicting Interests) .—आधुनिक समय में बहुदलीय संगठनों की प्रथा बढ़ती जा रही है। उसमें एक विशेषता यह पाई जाती है कि एक दल का प्रभुत्व न होने से विरोधियों को विरोध करने का अवसर नहीं मिलता। समाज में अनेक विरोधी वर्ग होते हैं। यदि किसी एक विरोधी दल का व्यक्ति विभाग का अध्यक्ष बन जाता है, तो वह अपने वर्ग के हित की बात सोचता है, इसमें विरोधियों में असन्तोष बढ़ जाता है, जो कार्य में रुकावटें उत्पन्न कर देता है। इस असन्तोष को दूर करने के लिए बहुल अध्यक्ष या मण्डल पद्धति सर्वोत्तम है।

(6) विवेकपूर्ण निर्णय (Rational Decision) —इस प्रणाली में प्रत्येक निर्णय पूर्ण वाद-विवाद के पश्चात् लिया जाता है। ये निर्णय एक व्यक्ति द्वारा किये गये निर्णयों से अधिक विवेकपूर्ण होते हैं।

मण्डलीय पद्धति के दोष
(Demerits of Board Type System)

मण्डलीय पद्धति दोषमुक्त नहीं है। दूसरी पद्धति के अनुरूप इसमें भी कई दोष पाए जाते हैं। इस पद्धति के कुछ मुख्य दोष अग्रलिखित हैं—

(1) उत्तरदायित्व हीनता की भावना :—इस प्रकार की व्यवस्था में उत्तरदायित्व-हीनता की भावना बढ़ जाती है। कोई भी व्यक्ति अपने पर उत्तरदायित्व लेने को तैयार नहीं होता। व्यक्तिगत उत्तरदायित्व का अभाव होने के कारण किसी विभागीय त्रुटि के लिए आयोग के सदस्य एक-दूसरे को दोषी ठहराने का प्रयत्न करते हैं।

(2) निर्णयों में एकता का अभाव (Lack of Uniformity of Actions)—मण्डलीय पद्धति में ऐसा देखा गया है कि सभी सदस्यों का निर्णय एक नहीं होता। प्रत्येक सदस्य अपने निर्णय को महत्त्व दिलाने में लगा रहता है। इसके परिणामस्वरूप सबकी इच्छा को ध्यान में रखकर निर्णय किये जाते हैं जिससे निर्णय की एकता नहीं रहती।

(3) कार्य में विलम्ब (Weak and dilatory)—इस पद्धति का एक बड़ा दोष यह भी है कि इसमें कार्य बड़ी देरी से होते हैं। प्रत्येक कार्य के लिए वाद-विवाद होता है और फिर किसी की सहमति नहीं हो तो सामंजस्य करना होता है। इस सब के परिणामस्वरूप कार्यों में विलम्ब की सम्भावनाएँ रहती हैं।

(4) अधिक खर्चीली (More Expensive)—यह प्रणाली अधिक खर्चीली होती है क्योंकि इसमें विभाग में बहुत अध्यक्ष होते हैं। उसी अनुपात में कर्मचारी रखने होते हैं तथा दूसरे आवश्यक व्यय होते हैं। एकल अध्यक्ष प्रणाली की अपेक्षा इसमें अधिक व्यय होता है।

(5) दलगत नीति को बढ़ावा (It increases Party-Politics).—मण्डल पद्धति का सहारा विभिन्न वर्गों को प्रतिनिधित्व देने के विचार से लिया जाता है। विभिन्न दलों की उपस्थिति विभाग के कर्मचारियों में भी दलगत भावना उत्पन्न कर देती है। इसका परिणाम यह होता है कि लोग वास्तविक उद्देश्य को भूल जाते हैं और दलगत स्वार्थ में जुट जाते हैं। इससे प्रशासन में संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है।

एलेक्जेण्डर हैमिल्टन ने इस पद्धति के दोष बतलाते हुए लिखा है कि—"मण्डल बड़ी सभाओं की असुविधाओं के साझीदार बन जाते हैं। उनके निर्णय धीरे होते हैं, उनकी शक्ति कम होती है तथा उनका उत्तरदायित्व विकेन्द्रित होता है। उनमें वह ज्ञान व योग्यता नहीं पाई जाती, जो कि एक ही व्यक्ति के द्वारा संचालित प्रशासन में पाई जाती है। प्रथम कोटि के महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति इनमें आने को जल्दी राजी नहीं होंगे, क्योंकि उन्हें मण्डल में कम विशिष्टता तथा कम महत्ता प्राप्त होगी और स्वयं की प्रसिद्धि करने का कम अवसर प्राप्त होगा। मण्डलों के सदस्य स्वयं जानकारी प्राप्त करने तथा विशिष्ट स्थान पाने के बारे में कम प्रयत्न करेंगे, क्योंकि उनमें ऐसा करने की कम प्रेरणाएँ पाई जाती हैं।"

ब्यूरो तथा मण्डलीय पद्धतियों के गुण तथा दोषों का यदि गहनता से अध्ययन किया जाए तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ब्यूरो का एकल अध्यक्ष प्रणाली

अपेक्षाकृत अच्छी मालूम होगी। इस प्रणाली को प्रशासन में स्थान देने से मामलों की एकता, निर्णयों की शीघ्रता तथा कार्यों में स्फूर्ति बनी रहती है। यह अनुभव किया गया है कि मण्डलीय व्यवस्था को प्रशासन में स्थान देने पर भी विभागों में निर्णयों को कार्यान्वित करने के लिए तथा कार्यकारी उत्तरदायित्व उठाने के लिए ब्यूरो या एकल अध्यक्ष व्यवस्था अपनानी पड़ती है। उदाहरण के लिए, शिक्षा बोर्ड का एक सचिव होता है और इसी प्रकार रेलवे बोर्ड का एक वित्तीय आयुक्त होता है। अतः अनुभव ने भी इस बात की ओर संकेत किया है कि प्रशासन में ब्यूरो या एकल अध्यक्ष पद्धति ही उपयोगी है।

विभिन्न देशों में विभागीय संगठन

प्रत्येक देश प्रशासन की सुविधा के लिए सरकार ने कार्यों को विभागों में बाँट देते हैं। जहाँ तक विभागीय संगठन की रचना का प्रश्न है, भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न होती है। कभी कभी तो एक ही देश में विभिन्न प्रकार के विभाग पाये जाते हैं। परन्तु इतना होते हुए भी विभागीय संगठन के क्षेत्र में कुछ सामान्य बातें पाई जाती हैं जिनका अनुसरण सभी जगह थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ किया जाता है। यहाँ हम भारत, ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में पाये जाने वाले विभागीय संगठन की विवेचना करेंगे।

प्राचीन भारत में विभाग—प्राचीन भारत में प्रशासन के विषय में लिखते हुए महान् कुशल प्रशासक 'कौटिल्य' ने अपने समय की प्रशासनिक व्यवस्था का वर्णन करते हुए कहा है कि तत्कालीन नगर का प्रशासन छः भागों में विभक्त था। पहला विभाग शिल्पकारों की देख-भाल करता था। उनकी कुशलता सरकारी सम्पत्ति का एक महत्त्वपूर्ण अंग समझी जाती थी। उनकी कुशलता को हानि पहुँचाने वाले को कठोर दण्ड (हाथों को काटना तथा आँखों का निकालना) दिया जाता था। दूसरा विभाग विदेशियों के नियन्त्रण से सम्बन्धित था। यह विभाग विदेशियों के कार्यों पर निगरानी रखता था। तीसरा जन्म-मरण लेखा विभाग था। यह नागरिकों के जन्म-मरण का रिकार्ड रखता था। चौथा, विनिमय तथा मुद्रा व्यापार नियन्त्रण विभाग था। यह बाटों तथा मापों (Weights and Measure) पर नियन्त्रण रखता था। बिक्री कर उगाहता था। विक्रय वाली वस्तुओं की शुद्धता के निश्चय के लिए उन पर सरकारी मुहर लगाता था। पाँचवाँ विभाग, निर्मित वस्तुओं पर पर्यवेक्षण तथा मुहरबन्दी विभाग था। इसका कार्य निर्मित वस्तुओं पर मुहर लगाना तथा पर्यवेक्षण करना था। छठा, एकत्रीकरण विभाग, यह वस्तुओं के विक्रय धन का $\frac{1}{10}$ इकट्ठा करता था।

यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि उपर्युक्त विभागों का अध्यक्ष मन्त्री हुआ करता था। ये मन्त्री मुख्य कार्यपालिका, जो कि राजा था, को परामर्श देने का कार्य

भी किया करते थे। विभागों के निर्माण के आधारों का वर्णन करते हुए कौटिल्य ने लिखा है कि "आमात्य वे विभव को देश, काल और कार्य के आधार पर विभाजित करें और उसके लिए आमात्य को नियुक्त करें। वे सारे राज्य कर्मचारी आमात्य तो हैं, परन्तु मन्त्री नहीं।"

मुगलकाल में विभाग :

मुगल साम्राज्य और विशेषकर अकबर के समय में प्रशासनिक व्यवस्था उत्कृष्टता और श्रेष्ठता के उच्चतम शिखर पर पहुँच गई थी। सम्राट के नीचे कार्य करने वाला सबसे बड़ा अधिकारी 'वाहिल' कहलाता था। सम्राट प्रशासन सम्बन्धी समस्त महत्त्वपूर्ण विषयों में इस अधिकारी से परामर्श किया करता था। प्रशासन की सुविधा की दृष्टि से मुगल सम्राटों ने विभागों को कई विभागों में बाँट दिया था। वजीर या दीवान को वित्त विभाग का प्रधान अधिकारी बना दिया गया था। देश की समस्त वित्तीय और आर्थिक समस्याओं में वजीर बादशाह के खास व्यक्ति (Right hand) का कार्य करता था। राज्य के कोष का नियन्त्रण, आय और व्यय की जाँच-पड़ताल का कार्य उसी का उत्तरदायित्व था। मालगुजारी वसूल करना, मालगुजारी की दरों को समय और परिस्थितियों के अनुसार कम या अधिक करना आदि कार्य दीवान को ही करना पड़ता था। इसके उपरान्त, सेना, वेतन वितरण और लेखा विभाग था। इसके सम्बन्ध में एक विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि मुगल शासनकाल में सैनिक और असैनिक विभाग में कोई स्पष्ट भेद नहीं था। कोई भी असैनिक अधिकारी समय और आवश्यकता पड़ने पर सैनिक कमान सम्भाल कर मोर्चे पर जा सकता था। इसी प्रकार एक सैनिक अधिकारी को एक असैनिक सरकारी पद पर नियुक्त किया जा सकता था। सरकार के समस्त कर्मचारियों के वेतन, भत्ते आदि का भुगतान करना इस विभाग का कार्य था। तीसरा विभाग 'खासगी' (Royal Household) था और इसका अधिकारी 'खाने-समन' (Khan-e-Saman) कहलाता था यह सम्राट के समस्त शाही परिवार से सम्बन्धित कार्य सम्भालता था। शाही परिवार के लिए नौकरों आदि की व्यवस्था करना तथा समस्त आवश्यक सामग्री और सप्लाई आदि जुटाना 'खाने-समन' का ही उत्तरदायित्व था। सम्राट के सभी निजी खिदमतगार 'खाने-समन' के अधीन रहते थे और लगभग सभी यात्राओं और मुहिमों पर सम्राट के डेरे इत्यादि की समुचित व्यवस्था रखने और शाही लवाजम का इन्तजाम करने के लिए खाने-समन साथ-साथ जाता था। चौथा विभाग 'न्याय विभाग' था, जिसका मुखिया 'काजी' होता था। सभी फौजदारी मुकदमों की सुनवाई करने और उचित दण्ड तजवीज करने का अधिकार 'काजी' के पास था। 'काजी' के निर्णयों के विरुद्ध 'मुख्य काजी' के पास अपील की जा सकती थी। आवश्यकता पड़ने पर 'मुख्य काजी' के निर्णय के विरुद्ध सम्राट के पास अपील की जा सकती

थी, क्योंकि न्याय का सर्वोच्च अधिकारी बादशाह (सम्राट) ही होता था। पाँचवाँ विभाग 'धर्मार्थ' था। इस विभाग का मुख्य कार्य धार्मिक कार्यों के लिए और दीन-दुखियों की आर्थिक सहायता के लिए धन की व्यवस्था करना था। इस विभाग का अधिकारी 'सदारे-सुदूर' कहलाता था। एक अन्य विभाग के जिम्मे था अपराधों की रोकथाम करना और अनैतिकता या कठोरता-पूर्वक दमन करना। इस विभाग का प्रधान अधिकारी 'मुहतसिब' कहलाता था।

इस प्रकार अंग्रेजों के आने के बहुत पूर्व ही भारत में प्रशासन का संगठन बहुत ही उत्तम और व्यावहारिक ढंग पर किया गया था। वस्तुतः अंग्रेजों के भारत में प्रवेश करने के साथ ही जान-बूझ कर पुरानी व्यवस्था का अन्त कर दिया गया। अंग्रेजी शासकों ने भारत को पूरी तरह अपना गुलाम रखने के लिए सभी ओर से एक ऐसा आन्दोलन छेड़ा, जिसका उद्देश्य अतीत के इतिहास को पूरी तरह अवांछनीय ठहराना था और अपनी सभ्यता, संस्कृति और संस्थाओं के प्रति भारतीयों में हीनता और घृणा की भावना जाग्रत करना था। प्रशासन के प्रति भी ऐसी ही भावना पैदा करने का प्रयत्न किया गया। अंग्रेजों ने पुरानी व्यवस्था को समूल नष्ट करके अपनी शासन पद्धति देश पर थोपी और समय के साथ देश में उसकी जड़ें गहरी होती गईं। अंग्रेजों के चले जाने के बाद थोड़े से हेर-फेर के साथ प्रशासन का यही ढाँचा मौजूद है।

आधुनिक भारत में विभागीय संगठन

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत ने संसदात्मक शासन-व्यवस्था अपनाई है। इस व्यवस्था में वास्तविक मुख्य कार्यपालिका मन्त्रिमण्डल होता है। प्रशासकीय कुशलता के लिए कार्यपालिका ने विभागीय पद्धति को अपनाया है। अतः भारत सरकार का प्रशासनिक ढाँचा अनेक मन्त्रालयों में विभक्त किया गया है। साधारणतया एक मन्त्रालय में एक या एक से अधिक विभाग होते हैं। प्रत्येक मंत्रालय का अध्यक्ष एक मन्त्री होता है, जिसे राजनीतिक अध्यक्ष की संज्ञा दी जाती है। यह राजनीतिक अध्यक्ष (मन्त्री) विभाग की नीति का निर्धारण करता है और इस विभाग के कार्यों के लिए संसद के प्रति उत्तरदायी होता है। डा० एम०पी० शर्मा ने मन्त्रालय के संगठन को तिमंजली इमारत की संज्ञा दी है। उनके अनुसार—

"भारत सरकार का मंत्रालय एक तिमंजली इमारत के सदृश होता है, जिसमें ऊपरी मंजिल है—जिसका अध्यक्ष एक मन्त्री है, जो एक राजनीतिक मुखिया होता है तथा उसके अधीन राजनीतिक तरीके से नियुक्त एक या एक से अधिक उप-मन्त्री होते हैं तथा राज्य मंत्री अथवा संसदीय सचिव होते हैं, जो कार्य में उसकी सहायता करते हैं। दूसरी मंजिल पर एक स्थायी सचिवालय होता है, जिसका अध्यक्ष एक स्थाई सचिव होता है। तीसरी-मंजिल पर विभाग का कार्यकारी अंग

होता है, जिसका संगठन मंत्रालय के अन्तर्गत होता है। विभाग का अध्यक्ष एक संचालक, महासंचालक, महानिरीक्षक आदि नामों से पुकारा जाता है।"

राजनीतिक अध्यक्ष

जैसाकि ऊपर बताया जा चुका है कि प्रत्येक विभाग या मन्त्रालय का सर्वोच्च अधिकारी मन्त्री होता है। मन्त्री के कार्यों में सहायता देने के लिए राज्य मन्त्री, उपमन्त्री तथा संसदीय सचिव होते हैं। ये संसद में बहुमत दल के सदस्य होते हैं। इनकी नियुक्ति योग्यता, ज्ञान तथा विशेषज्ञता के आधार पर न होकर राजनीतिक आधार पर होती है। ये विभाग की नीति का निर्धारण करते हैं। एक मन्त्रालय अपने कार्य के लिए प्रधान मन्त्री तथा पूरे मन्त्रि-मण्डल के प्रति उत्तरदायी होता है। शासन के परिवर्तन होने के साथ इनमें भी परिवर्तन होते रहते हैं। ये लोग तब तक ही अपने स्थान पर बने रहते हैं जब तक कि संसद या विधान मण्डल को उनमें विश्वास रहता है। जैसे ही अविश्वास हो जाता है, समस्त मन्त्रि-मण्डल को अपना त्याग-पत्र देना होता है। सामान्य रूप से राजनीतिक अध्यक्ष को निम्न कार्य करने होते हैं—

(क) मन्त्री विभाग की नीति की रूप-रेखा बनाता है एवं उसको लागू करने के लिए नीति-सम्बन्धी प्रश्नों का निर्णय करता है।

(ख) मन्त्री का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य यह है कि वह यह देखे कि जो नीतियाँ बनाई गई हैं वे ठीक ढंग से लागू हो रही हैं अथवा नहीं। इस प्रकार विभाग का नियन्त्रण तथा निरीक्षण करना मन्त्री का मुख्य कार्य है।

(ग) अपने विभाग तथा विभागों की नीति के लिए मन्त्री संसद के प्रति उत्तरदायी होते हैं। उन्हें अपने विभागों के सम्बन्ध में पूछे गये प्रश्नों का उत्तर देना होता है। उन्हें अपने विभाग की पूर्ण जानकारी रखनी होती है। मन्त्री की अनुपस्थिति में राज्य-मन्त्री तथा उप-मन्त्री विधान-मण्डलों के सदस्यों द्वारा पूछे गये प्रश्नों का उत्तर देते हैं। इसके अतिरिक्त विभाग से सम्बन्ध रखने वाले विधेयकों को संसद के सम्मुख प्रस्तुत करते हैं तथा उन्हें पास कराने में महत्त्वपूर्ण भाग लेते हैं। राज्य-मन्त्री, उप-मन्त्री तथा संसदीय सचिव मन्त्री के इन कार्यों में सहायता प्रदान करते हैं।

सचिवालय
(Secretariat)

विभागीय संगठन में राजनीतिक अध्यक्ष के बाद दूसरा स्थान सचिवालय संगठन का है। इसका संगठन मन्त्री की सहायता के लिए किया जाता है। इस सचिवालय का अध्यक्ष एक स्थायी सेवा का व्यक्ति होता है, वह प्रशासकीय अध्यक्ष अथवा सचिव कहलाता है। वह भारतीय प्रशासकीय सेवा का सदस्य होता है। ये मन्त्री को नीति-निर्धारण के लिए उचित परामर्श तथा वाञ्छित सामग्री व सूचनायें प्रस्तुत करते हैं। ये नीतियों के प्रयोग को भी देखता है। वास्तव में यह विभाग

का मेधा-केन्द्र (Brain-Centre) है, क्योंकि नीति को लागू करने में सम्पन्न प्रशासन का संचालन, पर्यवेक्षण तथा नियन्त्रण इसी के पास होता है।

सचिवालय संगठन के कर्मचारियों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—(1) अधिकारी वर्ग, तथा (2) अधीनस्थ कर्मचारी वर्ग। अधिकारी वर्ग में चार श्रेणियाँ होती है—(1) सचिव, (2) उप-सचिव, (3) अवर सचिव, तथा (4) सहायक सचिव। कभी-कभी कार्य की अधिकता के कारण संयुक्त सचिव तथा अतिरिक्त सचिव की भी नियुक्ति की जाती है। लेकिन भारत सरकार ने अतिरिक्त सचिव (Additional Secretary) के पद को समाप्त कर दिया है। प्रत्येक सचिव के अधीन उप-सचिव होता है। लेकिन यह बात यहाँ स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यदि जहाँ अतिरिक्त सचिव है वहाँ उप-सचिव उसके अधीन नहीं होता अपितु सचिव के अधीन ही होता है। उप-सचिव एक महत्वपूर्ण प्रभाग का इन्चार्ज होता है। उप-सचिव के नीचे एक से अधिक अवर सचिव होते हैं। वे एक शाखा के इन्चार्ज होते हैं जैसे स्थापना शाखा, लेखा शाखा, आदि। अवर सचिव के नीचे सहायक सचिव होता है। इस पद के स्थान पर अधीक्षक (Superintendents) भी रखे जाते है जो एक अनुभाग (Section) का इन्चार्ज होता है। इसके नीचे कुछ लिपिक होते है। इन समस्त सचिवों का स्तर अवरोही क्रम का होता है।

सहायक सचिव को छोड़कर अन्य सभी श्रेणी के सचिव भारतीय प्रशासन सेवा (Indian Administrative Services) के सदस्य होते हैं। जो पुराने सचिव हैं, वे भारतीय प्रशासनिक सेवा (Indian Civil Services) के सदस्य हैं। ये केन्द्रीय सेवा के प्रथम श्रेणी के अधिकारी कहलाते हैं। इस अधिकारी वर्ग की भर्ती केन्द्रीय सरकार विभिन्न राज्यों में भारतीय प्रशासन सेवा श्रेणियों में से 'पदावधि प्रणाली' के अन्तर्गत करती है। इस प्रणाली का सर्वप्रथम प्रारम्भ लॉर्ड कर्जन ने 1905 में किया था।

: इस प्रणाली के अनुसार सचिवों को केन्द्रीय सचिवालय में पहुँचने से पूर्व राज्यों में 20–25 वर्ष तक प्रशासनिक विभागों का कार्य करना होता है, तत्पश्चात् तीन वर्ष के लिए उन्हें केन्द्रीय सचिवालय में लिया जाता है। इस अवधि के बाद उन्हें पुनः अपने राज्य में भेज दिया जाता है। व्हीलर कमेटी ने इस पद्धति का महत्व बताते हुए लिखा है कि—"प्रथम बात तो यह है कि भारत सरकार के सचिवालय के कर्मचारियों की सीधी भर्ती नहीं होनी चाहिए, अपितु राज्यों में पहले से ही कार्य कर रहे अधिकारियों से की जानी चाहिए और दूसरी बात यह है कि केन्द्रीय सचिवालय में कार्य करने वाले पदाधिकारियों की पदावधि में और राज्यों में कार्य करने वाले पदाधिकारियों की पदावधि में नियमित अदला-बदली होनी चाहिए।"

इस प्रणाली का सबसे बड़ा लाभ यह है कि सचिवों को कार्य अनुभव के बाद नियुक्त किया जाता है। दूसरा लाभ यह होता है कि उन्हें क्षेत्रीय शासन का भी अनुभव होता है। तीसरा लाभ यह होता है कि इतनी अवधि तक कार्य करने से वे विशेषज्ञ हो जाते हैं जिससे मन्त्रियों के कार्यों में बड़ी सहायता पहुँचाते हैं। किन्तु इन लाभों के होते हुए भी इस पद्धति में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण दोष है और वह यह है कि इससे सचिवालय का सगठन स्थायी नहीं होने पाता। इसका कारण यह है कि अनुभव प्राप्त सचिव तीन वर्षों के बाद पुन अपने राज्य को लौटा दिया जाता है। केन्द्रीय सचिवालय उनके अनुभव से अधिक लाभ नहीं उठा सकता है।

अधीनस्थ कर्मचारी वर्ग के अन्तर्गत विभागीय अधीक्षक, उच्च लिपिक, निम्न लिपिक एव चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी आते हैं। निम्नवर्गीय लिपिकों की भर्ती प्रतियोगिता के परीक्षा द्वारा की जाती है जबकि उच्चवर्गीय लिपिकों की भर्ती कुछ तो प्रतियोगिता परीक्षा के द्वारा होती है और कुछ निम्न लिपिकों की पदोन्नति द्वारा। जिस प्रकार का सचिवालय सगठन केन्द्रीय सचिवालय म पाया जाता है, ठीक उसी प्रकार का सचिवालय सगठन कुछ परिवर्तनों के साथ राज्यों म पाया जाता है।

निष्पादक संगठन

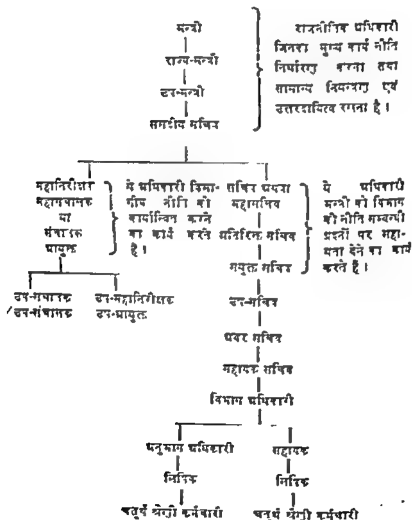
सचिवालय सगठन नीति निर्माण के कार्यों में राजनीतिक अध्यक्ष (मन्त्री) की सहायता करता है। परन्तु नीतियों को क्रियान्वित करने का कार्य एक पृथक् सगठन के द्वारा किया जाता है, जिसे 'निष्पादक सगठन' कहा जाता है जिसका अध्यक्ष, विभागाध्यक्ष होता है। रंगनाथस्वामी का मत है कि—"सचिव जहाँ मन्त्रियों की आँखों व कानों के समान हैं, वहाँ विभागाध्यक्ष उनके हाथों के सदृश होते हैं। ये विभागाध्यक्ष ही होते हैं, जो कि अपने-अपने विभागों में सरकार की नीति एव कार्यक्रम को क्रियान्वित करते है और उस नीति तथा सफलता के लिए उत्तरदायी ठहराये जाते हैं, जिसके द्वारा वे अपना कार्य सम्पन्न करते हैं।"

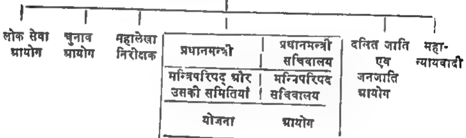
ये विभागाध्यक्ष नीति-निर्माण म भाग नहीं लेते। इनका कार्य तो केवल नीति का निष्पादन करना होता है। ये मन्त्री तथा सचिवालय के सकेतों पर कार्य करते हैं। भारत मे मन्त्रालय तथा विभागाध्यक्ष के बीच ठीक-ठीक सम्बन्धों का विकास नहीं हुआ है। यह ठीक है कि विभागाध्यक्ष मन्त्री तथा सचिवालय के अधीन कार्य करता है, फिर भी उसे स्वतन्त्र रूप से कार्य करने की छूट होती है। मन्त्रालय कम से कम उसके कार्य मे हस्तक्षेप करता है। कभी-कभी मन्त्रालय उसके कार्य की रिपोर्ट मांगकर उस पर नियन्त्रण रखता है। ए०डी० गोरवाला ने मन्त्रालय तथा विभागाध्यक्ष के बीच सम्बन्ध बताते हुए लिखा है—

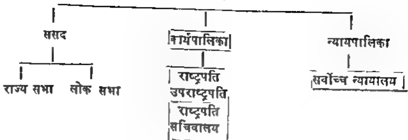
"अच्छा तो यही होगा कि विभागाध्यक्ष को अपना कार्य करने दिया जाए और मन्त्रालय दूर से उस पर निगाह रखे और यह देखने के लिए कि कार्य किस

प्रकार हो रहा है, उससे निश्चित अवधियों के पश्चात् प्रतिवेदन माँगता रहूँ। यदि ऐसे व्यवहार द्वारा मन्त्रालय ने विभागाध्यक्ष का विश्वास प्राप्त कर लिया, तो विभागाध्यक्ष उचित समय पर स्वयं ही ऐसी कठिनाइयाँ मन्त्रालय के सामने लायेगा, जिनमें कि वह मन्त्रालय की सहायता चाहेगा।"

भारत सरकार में मन्त्रालय/विभाग का संगठन




संविधान
संसद
राज्य सभा
लोक सभा
कार्यपालिका
राष्ट्रपति
उपराष्ट्रपति
राष्ट्रपति सचिवालय
न्यायपालिका
सर्वोच्च न्यायालय
लोक सेवा आयोग
चुनाव आयोग
महालेखा निरीक्षक
प्रधानमन्त्री
प्रधानमन्त्री सचिवालय
मन्त्रिपरिषद् और उसकी समितियाँ
मन्त्रिपरिषद सचिवालय
योजना आयोग
दलित जाति एव जनजाति आयोग
महा-न्यायवादी


मन्त्रालय
मन्त्रालय
मन्त्रालय
मन्त्रालय
मन्त्रालय
विदेश
प्रति-रक्षा
गृह
वित्त
विधि
वाणिज्य एव उद्योग
इस्पात एव भारी उद्योग
रेल
परिवहन एव सचार
श्रम एव रोजगार
खाद्य एवं कृषि
सिचाई तथा विद्युत
शिक्षा
स्वा-स्थ्य
वैज्ञा-निक अनु-सधान
सूचना एव प्रसारण
सार्व-जनिक निर्माण
सामुदा-यिक विकास
सस-दीय
पुन-र्वास
अणु-शक्ति

भारत सरकार के मन्त्रालय

सरकार के कार्यों में वृद्धि के साथ-साथ विभागों या मन्त्रालयों की संख्या में भी वृद्धि होती रहती है। भारत में भी स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद कई नये विभाग खोले गये हैं। भारत सरकार का कार्य निम्न मन्त्रालयों या विभागों में बटा हुआ है—

1. विदेश मन्त्रालय
2. प्रतिरक्षा मन्त्रालय
3. गृह मन्त्रालय
4. वित्त मन्त्रालय
5. विधि मन्त्रालय
6. वाणिज्य एवं उद्योग मन्त्रालय
7. इस्पात व भारी उद्योग मन्त्रालय
8. रेल मन्त्रालय
9. परिवहन एवं संचार मन्त्रालय
10. श्रम तथा रोजगार मन्त्रालय
11. खाद्य तथा कृषि मन्त्रालय
12. सिंचाई तथा विद्युत-शक्ति मन्त्रालय
13. शिक्षा मन्त्रालय
14. स्वास्थ्य मन्त्रालय
15. वैज्ञानिक अनुसंधान तथा सांस्कृतिक कार्यों का मन्त्रालय
16. सूचना एवं प्रसारण मन्त्रालय
17. निर्माण-कार्य तथा गृह-निर्माण मन्त्रालय
18. सामुदायिक विकास, पंचायती राज तथा सहकारिता मन्त्रालय
19. संसदीय मामलों का मन्त्रालय
20. पुनर्वास तथा अल्पसंख्यक कार्य मन्त्रालय
21. अणु शक्ति विभाग मन्त्रालय

साधारणतया प्रत्येक मन्त्रालय एक मन्त्री के अधीन होता है। महत्वपूर्ण विभागों के मन्त्री मन्त्रिमण्डल के सदस्य होते हैं। इससे कम महत्वपूर्ण विभागों के मन्त्रियों को राज्य मन्त्री कहा जाता है। ये विभाग के अध्यक्ष तो होते हैं, परन्तु मन्त्रिपरिषद् के सदस्य नहीं होते। आवश्यकता पड़ने पर इन्हें मन्त्रिमण्डल की बैठकों में बुलाया जा सकता है। यहाँ हम नीचे कुछ महत्वपूर्ण मन्त्रालयों के संगठन तथा कार्यों का वर्णन कर रहे हैं।

विदेश अथवा पर-राष्ट्र मन्त्रालय
(Ministry of Foreign Affairs)

विदेश मन्त्री

उप विदेश मन्त्री

महा सचिव



विदेश मन्त्रालय किसी राज्य मे बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखता है । साधारणतया यह विभाग बहुत ही योग्य मन्त्री को दिया जाता है । विदेश मन्त्रालय को निम्नलिखित कार्य सौंपे गये हैं—

(1) विदेश नीति का सचालन तथा विदेशी देशो के साथ सम्बन्ध,

(2) देश में स्थित विदेशो के दूतावासों, कूटनीतिक मिशनो तथा वाणिज्य दूतावासो से सम्बन्धित मामले ;

(3) पार-पत्र तथा प्रवेश-पत्र देना ।

(4) उत्तरी-पूर्वी सीमा प्रान्त तथा नागा पहाड़ी क्षेत्र का प्रशासन ।

(5) देश मे शरण लेने वाले विदेशी अपराधियो को सम्बन्धित सरकारो को हस्तातरित करना तथा भारतीय अपराधियो को जिन्होने कि विदेश में शरण ली है, पुन बुलाने की व्यवस्था करना ।

(6) सयुक्त राष्ट्र सघ, अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन सघ तथा अन्य सस्थाएँ सम्बन्धी कार्य ।

(7) विदेशो मे प्रचार ।

(8) भारतीय विदेश सेवा का सगठन करना तथा भर्ती की व्यवस्था करना ।

(9) विदेशो मे भारतीय दूतावासो के महत्वपूर्ण पदो पर नियुक्ति करना ।

(10) विदेशो के साथ सन्धि तथा समझौते करना ।

(11) राष्ट्रमण्डलीय देशो के साथ सम्बन्ध स्थापित करना ।

इन कार्यों के अतिरिक्त यह मन्त्रालय निम्नलिखित कानूनो का प्रशासन भी भी करता है—

(1) भारतीय देशान्तर अधिनियम, 1922 ।

(2) पारस्परिकता अधिनियम, 1943 ।

(3) बन्दरगाह हज समिति अधिनियम, 1932।
(4) भारतीय तीर्थयात्रा जलयान नियम।
(5) तीर्थयात्रा संरक्षण अधिनियम, 1887।
(6) मुस्लिम तीर्थयात्री संरक्षण अधिनियम, 1896।

इस मन्त्रालय का मुख्य कार्य यह है कि वह विश्व के सभी देशों में राजनयिक तथा कौन्सलर कार्यालय की स्थापना करे। इस कार्य को करने के लिए भारतीय विदेश मन्त्रालय के 85 अनुभाग हैं जिनमें 38 प्रशासनिक एवं 47 प्रादेशिक तथा तकनीकी हैं। ये अनुभाग निम्नलिखित 12 संभागों में बाँटे गये हैं—

(1) **अमेरिकन संभाग** : इसके अन्तर्गत उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका के देशों से सम्बन्धित मामले आते हैं। अमेरिकन देशों द्वारा दी जाने वाली आर्थिक सहायता के मामले भी इस संभाग से सम्बन्ध रखते हैं।

(2) **पूर्वी संभाग** : भारत के पूर्व में आने वाले देशों से सम्बन्धित मामले। पूर्वी देशों में—जापान, चीन, कोरिया, भूटान, उत्तर-पूर्वी सीमान्त ऐजेन्सी, नागा पहाड़ी क्षेत्र आदि।

(3) **पश्चिमी संभाग** : इस संभाग में समस्त यूरोप के देश आते हैं।

(4) **दक्षिणी संभाग** : पश्चिमी एशिया तथा दक्षिणी-पूर्वी एशिया, उत्तरी अफ्रीका, सूडान, अफगानिस्तान, ईरान, बर्मा, लंका, नारमन और स्टाफ, एशियन अफ्रीकन तथा कोलम्बो शांति सम्मेलन आदि आते हैं।

(5) **अफ्रीका संभाग** : उत्तरी अफ्रीका तथा सूडान को छोड़कर समस्त अफ्रीका के देश, ब्रिटेन तथा उसके उपनिवेश इस संभाग के अन्तर्गत आते हैं।

(6) **पाकिस्तान संभाग** : पाकिस्तान से सम्बन्धित मामले इसके अन्तर्गत आते हैं।

(7) **नयाचार संभाग** : नयाचार, कौन्सली कार्य तथा देशान्तर वास सम्बन्धी मामले इसमें अन्तर्गत आते हैं।

(8) **प्रशासन संभाग** : इस संभाग का कार्य विदेशों में भारतीय दूतावासों के कर्मचारियों की देख-रेख करना, विदेशों में नये विभागों की स्थापना करना, बजट तथा लेखे बनाना तथा समन्द कार्य है।

(9) **विदेशी प्रचार संभाग** : विदेशों में भारत के पक्ष का प्रचार करना।

(10) **विदेशी सेवा निरीक्षक वर्ग तथा अपहृत व्यक्ति** : इस विभाग में विदेशी सेवा के मामले रखे जाते हैं तथा अपने देश से जबरदस्ती अपहरण किये गये व्यक्तियों के पता लगाने तथा उन्हें वापिस लाने की व्यवस्था सौंपी जाती है।

(11) **ऐतिहासिक संभाग** : इतिहास सम्बन्धी मामले इस संभाग को सौंपे जाते हैं।

(12) उत्तरी सम्भाग :— इस सम्भाग के अन्तर्गत उत्तरी सीमा तथा चीन से सम्बन्धित मामले रखे गये है।

विदेश मंत्रालय के अधीनस्थ कार्यालय —

(क) देशान्तरवास संस्थान (Emigration Establishment)

(ख) उत्तरी-पूर्वी सीमा एजेन्सी (N. E. F. A.)

(ग) नागा पहाड़ी एवं तुएनसांग क्षेत्र.

(घ) महानिरीक्षक का कार्यालय।

विदेश मंत्रालय की कई आलोचको ने तीव्र आलोचना की है। उनका कहना है कि भारत का विदेश मंत्रालय भड़ी शान-शौकत मे जितना धन व्यय करता है, उतना कार्य नही कर पाता। विदेश मंत्रालय की कार्य प्रणाली के बारे मे श्री ए० डी० गोरवाला ने कहा है कि —"कोई भी अनुभवी व्यक्ति जो कि नई दिल्ली मे विदेश कार्य मंत्रालय अथवा हमारे कुछ राजदूतावासो तथा कौन्सलावासो का भ्रमण करे तो भी नेहरू की प्रशासकीय योग्यता की कमी को स्पष्ट देख सकता है। वहाँ बहुत व्यक्ति थोड़ा कार्य करते है। बहुत कम ही व्यक्ति ऐसे होते है जो उस देश की भाषा को सीखने का कष्ट उठाते है जहाँ कि उनकी नियुक्ति हुई है। व्यर्थ की दिखावट तथा ऊँचे रहन-सहन पर बहुत धन का अपव्यय किया जाता है। एक अच्छे प्रशासक को काफी समय पहले ही इन हानिकारक स्थितियो से छुटकारा पाकर अपनी शासन व्यवस्था को सुधार करा लेना चाहिए था। नेहरू के अधीन ये सब गड़बड़ें तथा भूलें होती रही है, अब समय बीतने के साथ इनकी स्थिति और भी बदतर होती जाती है।"

लेकिन प्रधानमंत्री इन्दिरा गांधी ने नेतृत्व मे विदेश विभाग को अधिक समुचित बनाने का प्रयत्न किया है। उन्होने दूतावास मे अपव्यय को रोकने और उन्हे अधिक व्यावहारिक बनाने की तरफ भी ध्यान दिया है।

गृह अथवा स्वराष्ट्र मंत्रालय
(Ministry of Home Affairs)

गृह मंत्रालय का मुख्य कार्य देश मे शान्ति तथा कानून व व्यवस्था बनाये रखना है। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित कार्य आते है—

(1) लोक सेवाओ की व्यवस्था करना।

(2) लोक सुरक्षा की व्यवस्था करना।

(3) केन्द्र द्वारा शासित क्षेत्रो का प्रशासन, आर्थिक तथा वित्त की व्यवस्था करना।

(4) राज्यो की आर्थिक, वित्तीय और प्रशासनिक समस्याओ पर विचार करना।

(5) राष्ट्रपति, उप-राष्ट्रपति, मन्त्रियो, राज्यपालो, न्यायाधीशो के वेतन तथा भत्तो एवं विशेषाधिकारो से सम्बन्धित मामले।

(6) जन-गणना, नागरिक प्रतिरक्षा तथा हवाई हमले से बचने के उपाय से सम्बन्धित मामले ।

(7) देशी रियासतों के भारतीय संघ में विलीन होने के सम्बन्धी प्रश्नों से उत्पन्न झगड़ों का निपटारा । देशी राजाओं के प्रिवीपर्स तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति और उन्हें दिये जाने वाले भत्ते के मामले (जो अब समाप्त कर दिये गये है ।)

(8) पुलिस प्रशिक्षण स्कूल (आबू) के संचालन की व्यवस्था ।

(9) भारत में रहने वाले विदेशी नागरिकों से सम्बन्धित मामले, नागरिकता राष्ट्रीयता, प्रेस कानून, जागीरदारी और जमींदारी मामले ।

(10) केन्द्रीय सेवाओं की शर्तें निर्धारित करना ।

गृह मंत्रालय 14 सम्भागों में बँटा हुआ है । प्रत्येक सम्भाग को एक उप-सचिव को सौंप दिया जाता है, इन सभागों के नाम निम्नलिखित हैं—

विदेशी सम्भाग, प्रशासनिक सतर्कता सम्भाग, स्थापना सम्भाग, शिक्षा सम्भाग, अखिल भारतीय सेवाओं का सम्भाग, संघीय प्रदेश सम्भाग, प्रशासन सम्भाग, सेवाएँ सम्भाग, न्यायिक सम्भाग, नियोजन सम्भाग, केन्द्रीय सेवायें सम्भाग, संकटकालीन सहायता सम्भाग, पुलिस सम्भाग तथा विदेशी सम्भाग ।

इस मंत्रालय के संलग्न कार्यालय इस प्रकार हैं—

(1) संघीय लोक सेवा आयोग (Union Public Service Commission) ।
(2) केन्द्रीय गुप्तचर विभाग (Central Intelligence Bureau)
(3) भारतीय प्रशासन सेवा प्रशिक्षण स्कूल (I. A. S. Training School)
(4) परिसूचित जातियों एवं आदिम जातियों के लिए आयुक्त ।
(5) महा-रजिस्ट्रार कार्यालय (Office of the Registrar General)
(6) दिल्ली विशिष्ट पुलिस संस्थान (Delhi Special Police Establishment)

गृह मंत्रालय के अधीन निम्न विभाग हैं:—

(1) समन्वय निदेशालय (पुलिस बेतार का तार) ।
(2) सचिवालय प्रशिक्षणशाला ।
(3) केन्द्रीय पुलिस प्रशिक्षण कॉलिज, माउन्ट आबू ।
(4) राष्ट्रीय अग्नि सेवा कॉलेज, रामपुर ।
(5) केन्द्रीय सरकारी राजकोष, त्रिवेन्द्रम ।
(6) केन्द्रीय सुरक्षित पुलिस ।

इस मन्त्रालय के अनेक केन्द्रीय सलाहकार मण्डल हैं, जिनमें मुख्य निम्न हैं-

(1) केन्द्रीय सञ्चालन के पदों के चुनाव के सम्बन्ध में परामर्श देने वाला बोर्ड ।

(2) केन्द्रीय सचिवालय के " के प्रबन्ध व्यवस्था के सम्बन्ध में सुझाव देने वाला बोर्ड।
(3) सकटकालीन सहायता के सम्बन्ध में परामर्श देने वाली समिति।
(4) जन-जातियों के कल्याण के सम्बन्ध में परामर्श देने वाला बोर्ड
(5) हरिजन कल्याण के सम्बन्ध में परामर्श देने वाला बोर्ड।
(6) केन्द्रिय शासित प्रदेशों के सम्बन्ध में परामर्श देने वाली विभिन्न समितियाँ।

प्रतिरक्षा मन्त्रालय
(Ministry of Defence)

प्रतिरक्षा मन्त्रालय देश की सुरक्षा की व्यवस्था करता है तथा देश की सैन्य शक्ति को ऐसे स्तर पर बनाये रखता है जिससे कोई भी विदेशी शक्ति देश पर आक्रमण करने का साहस न करे। प्रतिरक्षा मंत्रालय भारत सरकार का सबसे प्रमुख और महत्वपूर्ण मन्त्रालय है। ब्रिटिश शासन काल में प्रतिरक्षा विभाग सीधे मुख्य सेनापति के अधीन रहता था और वह विभाग के कार्यों के लिए सीधे गवर्नर-जनरल (Governor General) के प्रति उत्तरदायी होता था। लेकिन स्वतन्त्रता के पश्चात् से प्रतिरक्षा मंत्रालय प्रशासन का एक अंग बन गया है और प्रतिरक्षा मंत्री इसका प्रमुख होता है। आज यह कहा जाता है कि केन्द्रीय सरकार की आय का लगभग 50 प्रतिशत भाग इस मंत्रालय पर खर्च किया जाता है। जल, थल और नभ सेना के आन्तरिक प्रशासन और प्रबन्ध तथा संगठन सम्बन्धी मामलों में प्रतिरक्षा मंत्रालय सेनाध्यक्ष के निर्णयों में बहुत कम हस्तक्षेप करता है। कुछ समय पूर्व सेनाध्यक्ष के पदों को समाप्त कर उनके स्थान पर 'प्रमुख सैन्य अधिकारियों (Chief of Staff) की नियुक्तियाँ की गई है। प्रत्येक सेना (जल, थल, और नभ) का प्रमुख सैन्य अधिकारी अपने कार्यों को एक परिषद की सहायता से करता है। इस परिषद में केवल सेना के उच्च अधिकारी नहीं अपितु वित्त तथा अन्य सम्बद्ध मंत्रालयों के भी प्रतिनिधि होते हैं। इन परिषदों का संगठन इग्लैण्ड के 'सैन्य परिषदों और बोर्ड ऑफ एडमिरल्टी' के ढग पर किया गया है। इनका उद्देश्य सेना के सभी अंगो पर सरकार का पूर्ण नियन्त्रण स्थापित करना और उसकी प्रशासनिक क्षमता में वृद्धि करना है।

भारत के प्रतिरक्षा विभाग के मुख्य कार्य निम्न हैं—

(1) भारत की प्रतिरक्षा सम्बन्धी समस्त मामले। इसमें प्रतिरक्षा की तैयारी तथा युद्ध काल में प्रतिरक्षा के कार्य सम्मिलित हैं।

(2) स्थल सेना, नौ सेना, वायु सेना, राष्ट्रीय छात्र सेना, सहायक छात्र सेना, प्रादेशिक सेना तथा लोक सहायक सेना का निर्माण करना।

(3) छावनियों का निर्माण तथा उनसे सम्बन्धित सभी मामले।

(4) युद्ध सामग्री के लिए कारखाने खोलना, युद्ध सामग्री का संग्रह करना आदि।

(5) सैनिक प्रशिक्षण की व्यवस्था करना।

(6) सेनाओं व प्रतिरक्षा विज्ञान संगठन के सम्बन्ध में विशिष्ट अध्ययन तथा अनुसंधान के लिए प्रतिरक्षा मन्त्रालय अनेक संस्थाओं निर्माण करता है तथा उनकी देखरेख भी करता है।

प्रतिरक्षा मन्त्रालय निम्न शाखाओं में बँटा हुआ है—

ऑर्डिनेन्स शाखा, एडजुटेन्ट शाखा, जनरल शाखा, वायु शाखा, वेतन तथा पेन्शन शाखा, सामान्य स्टाफ शाखा, समन्वय शाखा, सतर्कता शाखा, नौ सेना शाखा, कर्मचारी सम्पर्क शाखा, वर्गीकरण शाखा, कर्मचारी वर्ग शाखा, क्वार्टर मास्टर जनरल की शाखा तथा प्रशासन शाखा।

प्रतिरक्षा मन्त्रालय के संलग्न तीन कार्यालय होते हैं—1. स्थल सेना कार्यालय, 2. वायु सेना कार्यालय, तथा 3. नौ सेना कार्यालय।

प्रतिरक्षा मन्त्रालय के महत्त्वपूर्ण मामलों का निर्णय कुछ समितियों की सहायता से होता है। ये समितियाँ निम्नलिखित हैं—

(1) मन्त्रि-परिषद् की प्रतिरक्षा समिति।

(2) प्रतिरक्षा मन्त्री की समिति।

(3) सेना के अध्यक्षों की समिति।

वित्त मन्त्रालय
(Ministry of Finance)

वित्त मन्त्रालय का प्रमुख कार्य देश के वित्तीय एवं आर्थिक मामलों का संचालन करना है। धन प्राप्त करना तथा देश एवं जनता के कल्याण के लिए उसे व्यय करना इसका मुख्य उत्तरदायित्व है। यह सर्वविदित है कि धन के अभाव में प्रशासन का चलना असम्भव है, अतएव यह बहुत आवश्यक है कि वित्त विभाग के कार्यों और गतिविधियों पर सावधानी से नजर रखी जाए। सन् 1857 के विद्रोह के उपरान्त पहली बार भारत सरकार में अलग वित्त मंत्रालय की स्थापना की गई और इसके बाद से इस विभाग की शक्ति लगातार सुदृढ़ और विस्तृत होती गई। सरकार के अन्य विभागों पर इसका नियन्त्रण बढ़ता गया। सन् 1919 के अन्तर्गत सुधारों के फलस्वरूप सरकार के अन्य सभी विभागों पर वित्त विभाग का पूर्ण नियन्त्रण स्थापित हो गया। सार्वजनिक लेखा समिति (Public Accounts Committee) और ऑडिटर जनरल (Auditor-General) की नियुक्ति के फलस्वरूप वित्त विभाग के अधिकारों और प्रभाव का व्यापक प्रसार हुआ।

संसदीय शासन प्रणाली में संसद प्रशासन का वार्षिक बजट (Budget) पास करती है। प्रत्येक विभाग को खर्च के लिए जितना धन स्वीकृत होता है उसके अनुरूप

उसे अपना कार्य करना होता है। संसद की स्वीकृति के बिना न तो धन खर्च किया जा सकता है और न ही करो की उगाही की जा सकती है। प्रशासन के बजट पारित कर देने के पश्चात् भी वह आय और व्यय के साधनो पर लगातार नियन्त्रण रखती है। यह नियन्त्रण सार्वजनिक लेखा समिति व ऑडिटर जनरल के माध्यम से रखा जाता है। प्रत्येक विभाग के लेखे-जोखे की जाँच इनके द्वारा की जाती है और आर्थिक अनियमितता की रिपोर्ट संसद मे पेश की जाती है।

वित्त मन्त्रालय का संगठन

प्रशासन के प्रत्येक विभाग के आय-व्यय का ब्यौरा रखना वित्त मन्त्रालय के महत्त्वपूर्ण कार्यों मे से एक कार्य है। वित्त मन्त्रालय केन्द्रीय सरकार के आय-व्यय का हिसाब रखता है, सभी स्वीकृत साधनो से धन उगाहता है तथा देश की महत्त्वपूर्ण आर्थिक समस्याओ को सुलझाने का कार्य करता है। यही देश की आर्थिक नीति का निर्माण करता है। बैंकिंग, मुद्रा, विदेशी मुद्रा विनिमय आदि सभी विषय वित्त मंत्रालय अन्तर्गत के आते हैं। भारतीय वित्त मन्त्रालय तीन मुख्य विभागो मे बँटा हुआ है—1. आर्थिक मामलो का विभाग, 2 राजस्व विभाग, तथा 3 व्यय विभाग।

आर्थिक मामलो से सम्बन्धित विभाग 6 सभागो मे बँटा हुआ है—बजट सम्भाग, आयोजन सम्भाग, आतरिक वित्त सम्भाग, वाह्य वित्त सम्भाग आर्थिक, वित्त सम्भाग तथा बीमा सम्भाग।

राजस्व विभाग के अन्तर्गत—आयकर, व्ययकर, सीमा शुल्क आदि कार्यों की व्यवस्था आती है।

व्यय विभाग 4 सम्भागो मे बँटा हुआ है, जिनके नाम हैं—प्रस्थापना सम्भाग, प्रशंसनिक सम्भाग, मितव्ययिता सम्भाग तथा प्रतिरक्षा व्यय सम्भाग। व्यय विभाग का सम्बन्ध रेल मन्त्रालय को छोडकर मुख्यतः व्यय नियन्त्रण प्रशासन से होता है।

भारत मे वित्त मन्त्रालय को निम्नलिखित कार्य करने होते हैं—

(1) देश को प्रभावित करने वाले वित्तीय मामलो को सुलझाना तथा उन्हे निपटाना।

(2) आवश्यक आय तथा करो की उगाही करना तथा सरकार की उधार की नीति का नियमन करना।

(3) बैंकिंग तथा मुद्रा से सम्बन्धित समस्याओ को हल करना तथा सम्बन्धित मन्त्रालयो को परामर्श देना।

(4) सरकार के सम्पूर्ण व्यय का नियन्त्रण करना।

रेल्वे मंत्रालय
(Ministry of Railways)

रेल्वे मंत्रालय ने रेल प्रशासन के लिए 'बोर्ड के ढग' की पद्धति (Board Type System) अपनाई है। यह बोर्ड रेल मत्री के अधीन कार्य करता है। रेल्वे

बोर्ड रेलों के सचालन और प्रबन्ध का कार्य करता है। रेल्वे मंत्री अपने विभाग के कार्यों के लिए संसद के प्रति उत्तरदायी होता है। उसके परामर्श के लिए रेलवे बोर्ड होता है जबकि अन्य विभागों में सचिव, उप-सचिव आदि होते हैं। बोर्ड का अध्यक्ष रेल मंत्रालय के सचिव, के रूप में कार्य करता है। बोर्ड के सदस्यों के अतिरिक्त एक वित्त कमिश्नर भी इसमें रखा गया है। बोर्ड का अध्यक्ष सम्पूर्ण रेल प्रशासन में ताल-मेल और समन्वय स्थापित करने का कार्य करता है। बोर्ड के समस्त कार्यों के लिए यह मंत्री को परामर्श देता है। बोर्ड एक सम्मिलित इकाई के रूप में कार्य करता है और रेलों से सम्बन्धित सभी नीति विषयक प्रश्नों पर रेल मंत्री को परामर्श देता है।

भारतीय रेल मंत्रालय के सम्बन्ध में यह एक विशिष्ट बात है कि इसका बजट केन्द्रीय सरकार के सामान्य बजट से बिल्कुल अलग रहता है और इस विभाग से होने वाली आय को भी सभी प्रकार के सरकारी मांग से अलग रखी जाती है। रेल मंत्रालय प्रति वर्ष केन्द्रीय सरकार को अपनी आय का निश्चित प्रतिशत देता है। रेल विभाग को जो लाभ होता है उसका उपयोग निम्न प्रकार से होता है—

(1) सुरक्षित कोष की स्थापना,

(2) घिसावट और टूट-फूट से बेकार होने वाले उपकरणों को बदलने के लिए कोष की स्थापना

(3) रेलों तथा रेलों में उपलब्ध सार्वजनिक सुविधाओं में सुधार,

(4) दरों में कमी आदि।

प्रशासन की सुविधा के लिए रेल प्रशासन को कई क्षेत्रों में बांट दिया गया है, जो निम्न है—

(1) उत्तरी रेल्वे,	(4) उत्तर-पूर्वी रेल्वे,
(2) पूर्वी रेल्वे,	(5) मध्य रेल्वे,
(3) पश्चिमी रेल्वे,	(6) दक्षिण रेल्वे।

प्रत्येक क्षेत्र का एक जनरल मैनेजर होता है जो अपने क्षेत्र में रेल व्यवस्था के लिए बोर्ड के प्रति उत्तरदायी होता है।

भारत में रेल मंत्री को परिवहन विभाग भी दिया जाता है। परिवहन मंत्रालय में निम्न कार्य आते हैं—

(1) देश के बड़े बन्दरगाहों की प्रबन्ध व्यवस्था करना।

(2) जहाजरानी और व्यापारिक जहाजी बेड़ा।

(3) समुद्र में खतरों के स्थानों पर स्थित प्रकाश स्तम्भों की व्यवस्था करना।

(4) पर्यटन की व्यवस्था करना।

(5) परिवहन के विभिन्न साधनों में ताल-मेल की स्थापना करना आदि।

परिवाहन मत्रालय के कार्यों का सचालन भी एक 'परिवहन बोर्ड' द्वारा होता है। एक स्थायी समिति भी होती है जो बोर्ड को परिवहन सम्बन्धी मामलो पर परामर्श देती है। इस समिति की महीने मे एक बैठक अवश्य होती है।

ब्रिटेन में विभागीय सगठन

भारत तथा ब्रिटेन मे विभागीय सगठन मे कोई महत्त्वपूर्ण मौलिक अन्तर नही है। इसका कारण दोनो देशो की एक सी शासन-पद्धति है। दोनो दशो मे ससदीय शासन व्यवस्था है। ब्रिटेन मे भी विभाग के अध्यक्ष के पद पर राजनीतिक व्यक्ति आसीन होता है। इस राजनीतिक अध्यक्ष (मन्त्री) को सेक्रेटरी ऑफ स्टेट के नाम से पुकारा जाता है। इसकी सहायता के लिए एक और राजनीतिक अधिकारी होता है जिसे पर्लियामेन्टरी अण्डर सेक्रेटरी कहते हैं।

विभाग के राजनीतिक अध्यक्ष के नीचे विभाग का प्रशासकीय अध्यक्ष होता है, जिसे स्थायी सचिव कहा जाता है। यह पद स्थायी होता है। सचिव के कार्यों मे सहायता के लिए एक स्थाई अवर सचिव की व्यवस्था की गई है। कार्य की अधिकता के कारण आवश्यकतानुसार कभी-कभी उप-स्थाई अवर सचिव के नियुक्त करने की भी व्यवस्था है। इन अधिकारियो की सहायता के लिए सहायक अवर सचिव भी होते हैं। ये सहायक अवर सचिव विभागीय शाखाओं की देख-रेख करते हैं। भारत मे इनके स्थान पर कार्य करने वाले अधिकारी को अनुभाग अधिकारी कहते हैं। सहायक अवर सचिव के नीचे सहायक सचिव होते है तथा उनके नीचे सहायक प्रिन्सिपल होते हैं।

ब्रिटेन मे सचिवालय सगठन के नीचे निष्पादक या कार्यकारी सगठन होता है जिसके अध्यक्ष को निदेशक, निरीक्षक, सुपरिण्टेण्डेन्ट आदि नामो से पुकारा जाता है। कार्यपालिका के नीचे क्षेत्रीय सस्थाएँ होती है जो सम्पूर्ण देश मे फैली हुई होती है।

उपर्युक्त समानताओं के होते हुए भी दोनो देशो के विभागीय सगठन मे एक महत्त्वपूर्ण अन्तर पाया जाता है वह यह है कि ब्रिटेन मे भारत की तरह सचिवालय तथा कार्यपालिका का सगठन के एक-दूसरे से पूर्ण पृथक् नही किया गया है। वास्तव मे, कार्यपालिका सम्बन्धी कार्य वहाँ सचिवालय के सगठन के ढाँचे मे ही सम्पादित होते हैं।

संयुक्त राज्य अमेरिका मे विभागीय संगठन

सयुक्त राज्य अमेरिका मे विभागीय सगठन भारत तथा ब्रिटेन से भिन्न है। भारत तथा ब्रिटेन मे विभागीय सगठन के ऊपरी मजिल पर राजनीति अध्यक्ष (मन्त्री) होता है। उसके नीचे राजनीतिक तत्व नही होते। स० रा० अमेरिका मे विभागीय सगठन की दूसरी तथा तीसरी मजिलो पर भी राजनैतिक तत्त्व पाये जाते हैं। स.रा. अमेरिका मे कार्यपालिका सगठन का अध्यक्ष राष्ट्रपति होता है। उसके नीचे दस विभाग होते हैं। दसो प्रशासकीय विभाग राष्ट्रपति रूपी सूर्य से प्रकाशित रहते हैं।

इन विभागों के अध्यक्षों को सचिव कहा जाता है। विभाग में नीति-निर्धारण का कार्य सचिव (मंत्री) करता है। सचिव अपने कार्यों के लिए कांग्रेस (Americal Parliament) के प्रति उत्तरदायी नहीं होता, अपितु वह राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी होता है। राष्ट्रपति व सचिवों के बीच का सम्बन्ध संसदीय व्यवस्था में प्रधानमन्त्री व मन्त्रियों के सम्बन्ध से भिन्न होता है। संसदीय व्यवस्था में प्रधानमंत्री समकक्षों में अग्रणीय (First among equal) होता है। उसे अपनेमंत्रियों को साथ लेकर चलना पड़ता है। इसके विपरीत स० रा० अमेरिका में सचिव राष्ट्रपति के एक प्रकार से सलाहकार व नौकर है। राष्ट्रपति की इच्छा तक वे अपने पद पर बने रहते हैं। अपने विभागों की नीतियों का निर्माण वे राष्ट्रपति की इच्छानुसार करते हैं। सचिव की सहायतार्थ, अवर सचिव, सहायक सचिव तथा अन्य सहायक भी होते हैं। इनके अतिरिक्त विशेष सहायकों की भी व्यवस्था होती है। विभागीय संगठन के इस स्तर तक सभी नियुक्तियाँ राजनीतिक आधार पर होती हैं। ये सभी राजनीतिक नेता होते हैं और इनकी नियुक्ति साधारणतया राष्ट्रपति द्वारा अपने दल के योग्य और अनुभवी व्यक्तियों से की जाती है।

सं० रा० अमेरिका में सहायक सचिव के नीचे ब्यूरो होते हैं, जिसका अध्यक्ष निर्देशक कहलाता है। इस अध्यक्ष को प्रशासक अथवा आयुक्त भी कहते हैं। इस अध्यक्ष तथा इसके नीचे के कर्मचारियों की नियुक्ति राजनीतिक आधार पर न होकर प्रतियोगिता के आधार पर लोक सेवा आयोग के द्वारा की जाती है।

परीक्षोपयोगी प्रश्न

1. विभागीय संगठन के विभिन्न आधारों का वर्णन करते हुए उनके गुण-दोषों का वर्णन कीजिए।

What are the various basis of Departmental Organisation. Describe their merits and demerits.

2. भारत में विभागीय संगठन की व्याख्या करते हुए इंग्लैण्ड तथा स० रा० अमेरिका में विभागीय संगठन से तुलना कीजिए।

Describe the Departmental Organisation in India and compare it with that of Departmental Organisation in U.K. and U.S.A.

3. भारत में प्रतिरक्षा मंत्रालय या वित्त मंत्रालय के संगठन कार्यों तथा प्रशासन की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

How is the Ministry of Defence or Ministry of Finance is organised, administered, and controlled in India ? Give a critical appraisal of the functions it performs

4. कार्य के आधार पर विभागीय संगठन की प्रणाली के गुण-दोषों का वर्णन कीजिए।

Discuss the merits and defects of a department organised on the basis of a 'Function'

5. विभागीय संगठन में प्रशासनिक अध्यक्ष की भूमिका का वर्णन कीजिये। एकल और बहुल अध्यक्ष व्यवस्था के गुण-दोषों का वर्णन कीजिए।

Describe the role of Administrative Head in Departmental Organisation, Discuss the members and demerits of Single and Plural Headship,

6. भारत में केन्द्रीय स्तर किसी एक महत्त्वपूर्ण विभाग के संगठन तथा का वर्णन कीजिए। क्या आप इसके सुधार का कोई सुझाव प्रस्तुत कर सकते हैं?

Describe the structure and working of and major department of Government at union level in India Can you give suggestions for improvement ?

9

पदाधिकारियों की समस्या

(THE PROBLEM OF PERSONNEL)

पदाधिकारियों से हमारा अर्थ उस व्यक्ति समूह से है जिसके सदस्य लोक-सेवाओं में कार्य करते हैं। एक असैनिक कर्मचारी लोक कर्मचारी है। पदधिकारी की सही कसौटी यह है कि वह अपने कार्यों के लिए किसी सरकारी कर्मचारी के प्रति उत्तरदायी है या नहीं। असैनिक सेवा शब्द का विकास भी सैनिक तथा पुलिस सेवाओं के सादृश्य हुआ है। पुलिस और सेना का कार्य आन्तरिक तथा बाह्य सुरक्षा की व्यवस्था करना है जबकि असैनिक सेवाओं के कर्मचारियों का कार्य असैनिक तथा प्राविधिक (Technical) प्रकार का है। दूसरे शब्दों में असैनिक कर्मचारी वह है जिसका कार्य राष्ट्र के कानून को लागू करना है। फाइनर (Finer) ने असैनिक सेवाओं की परिभाषा करते हुए कहा है कि "यह सेवा स्थायी, वैतनिक तथा कार्य-कुशल अधिकारियों का समूह है।"

लोक-प्रशासन के अन्तर्गत अन्य सभी समस्याओं से पदाधिकारियों के संगठन की समस्या अधिक जटिल एवं महत्वपूर्ण है। इसका कारण यह है कि नीतियों, नियमों तथा उप-नियमों को क्रियान्वित करने का कार्य पदाधिकारियों के द्वारा सम्पादित किया जाता है। लोक-प्रशासन की सफलता का आधार स्थायी कर्मचारी ही होते हैं। राज्य का संगठन कितना ही वैज्ञानिक क्यों न हो तथा उसकी नीति कितनी ही अच्छी क्यों न हो, परन्तु प्रशासन में कुशलता नहीं आ सकती जब तक कि उसमें कार्य करने वाले कर्मचारी तथा अधिकारी कार्यकुशल तथा योग्य न हों। पदाधिकारियों की सच्चाई, ईमानदारी, कार्यकुशलता एवं योग्यता पर ही लोक-प्रशासन की सफलता आधारित है और यह सब कुछ उसी स्थिति में प्राप्त की जा सकती है जबकि इन पदाधिकारियों की नियुक्ति स्वस्थ एवं कल्याणकारी सिद्धान्तों पर आधारित हो। पदाधिकारी अपनी सम्पूर्ण योग्यता से तभी कार्य करेंगे जब उनको नौकरी में स्थायित्व व सुविधा प्राप्त हो। यदि प्रशासन में लगे कर्मचारी अकुशल, अनुशासनहीन, पतित और भ्रष्ट हों तो प्रशासन अधिक समय तक संचालित नहीं रह सकता। इसके विपरीत यदि कर्मचारी कुशल, अनुभवी, परिश्रमी और ईमानदार हैं तो कार्यपालिका की अनेक त्रुटियों को छिपाते हुए भी प्रशासन अपना कार्य भली प्रकार जारी रख सकता है। भारत के प्रसिद्ध कूटनीतिज्ञ कौटिल्य ने भी

प्रशासन मे योग्य, कुशल और ईमानदार कर्मचारियो की नियुक्त करने पर विशेष बल दिया है। यहाँ हम पहले सिविल सेवा के इतिहास व कार्यों का वर्णन करेंगे, तत्पश्चात् उसके सगठन की समस्या का विस्तार से वर्णन किया जायेगा।

लोक या असैनिक सेवाओ का इतिहास

(History of Civil Services)

लोक-सेवाएँ कोई नई वस्तु नही है। इसका इतिहास काफी पुराना है। रोम के केन्द्रित प्रशासन की स्थापना के बहुत पूर्व भी पूर्वी देशो, जैसे भारत, चीन तथा मिस्र (पश्चिमी एशिया) मे सगठित तथा व्यवस्थित लोक सेवाओ का अस्तित्व था। पश्चिमी राज्यो मे रोमन साम्राज्य प्रथम था जिसमे असैनिक सेवाओ की उत्पत्ति तथा विकास हुआ। रोमन कुशल प्रशासक हुए हैं और उनके दार्शनिको ने भी बहुधा प्रशासनिक समस्याओ और प्रश्नो पर गम्भीरतापूर्वक मनन किया और लोक-सेवाओ को प्रोत्साहित किया। रोमन साम्राज्य के अलावा पश्चिमी राष्ट्रो ने प्रशासन को व्यवस्थित व सगठित रूप देने के प्रति विशेष रुचि नही ली। इतना ही नही, ग्रीक राज्यो मे भी इसका विकास नही हुआ यद्यपि वहाँ पर काफी राजनीतिक जागृति थी।

लेकिन रोमन साम्राज्य के नष्ट होने के साथ-साथ यह प्रथा भी समाप्त हो गई। रोमन साम्राज्य छोटे-छोटे राज्यो और जागीरो मे बँट गया और व्यवस्था एव कुशलता के स्थान पर अव्यवस्था और गडबडी फैल गई। इस प्रकार जागीरदारी प्रथा ने एक प्रकार से राज्य का अन्त कर दिया और कुछ समय के लिए 'लोक-सेवा' व्यवस्था का लोप हो गया। परन्तु चर्चो (गिरजाघरो) में यह परम्परा एक दूसरे रूप मे जीवित रही। सत्य तो यह है कि मध्यकालीन यूरोप मे चर्च-व्यवस्था के अन्तर्गत ही एक सगठित और व्यवस्थित अधिकारी-राज्य प्रणाली का विकास हुआ और यह चर्च व्यवस्था कालान्तर मे इतनी शक्तिशाली हो गई कि यह आशका होने लगी कि 'धार्मिक व्यवस्था' कही प्रशासन और सरकार के सचालन मे हस्तक्षेप न करने लगे। इसी बीच जागीरो का शनैः शनैः अन्त हो गया और यूरोप के क्षितिज पर कई नये राज्यो का उदय हुआ। इस समय तक धर्माधिकारियो का राज्य के कार्यो मे हस्तक्षेप बढ चुका था और यह हस्तक्षेप धीरे धीरे असहनीय हो गया था। यूरोप के बहुत से देशो ने इस धार्मिक हस्तक्षेप के विरुद्ध, पुनरुत्थान काल तथा धर्म सुधार आन्दोलनो के परिणामस्वरूप इस दिशा मे प्रगति हुई। राष्ट्रीय राज्यो का विकास हुआ। इटली, जर्मनी, स्विटजरलैंड, न्यूजीलैण्ड आदि ऐसे देश थे। इन नवीन राष्ट्रीय राज्यो ने अपनी स्थिति को सुदृढ करने के लिए सरकारी कर्मचारियो की सख्या बढा दी। अपनी सुरक्षा के लिए इन राज्यो ने बड़े-बड़े सैनिक सगठन की स्थापना की। उसके लिए धन की आवश्यकता पडी और धन को एकत्रित करने के

लिए शासकों को ऐसे प्रभावशाली, व्यापक और विस्तृत संगठन का निर्माण करना पड़ा, जो सेना पर होने वाले व्यय के लिए अधिक से अधिक धन जुटा सके। यह केवल संगठित लोक या असैनिक सेवाओं से ही सम्भव था। जैसे-जैसे राज्य के कार्य-क्षेत्र और उत्तरदायित्व का विस्तार होता गया, लोक-सेवाओं का भी विस्तार होता गया। फिर भी असैनिक प्रशासनीय सेवाओं का विकास संगठित रूप में 17वीं शताब्दी के बाद ही माना जाना चाहिए। इस समय तक 'राष्ट्रीय राज्यों' की स्थापना हो चुकी थी। फ्रांस में रिचलू और हेनरी तृतीय, इंग्लैंड में एलिजाबेथ और 'ग्रेट-इलैक्टर' ने राज्य के अस्तित्व और कार्य-क्षेत्रों, पदों और स्थायी सरकारी अधिकारियों के सम्बन्ध में एक नवीन और आधारभूत सिद्धान्त की व्याख्या की। उनके शासन काल में राज्य में कार्य-क्षेत्रों का विस्तार हुआ और प्रशासन की एक व्यवस्थित और स्पष्ट रूप-रेखा उभरने लगी। इतने पर भी ये आधुनिक 'लोक-सेवा' के जन्म-दाता नहीं हैं, क्योंकि इस समय की लोक-सेवाओं में भी सार्वजनिक हित के स्थान पर शासक के प्रति निजी निष्ठा और स्वामी-भक्ति की भावना को ही विशेष महत्त्व प्राप्त रहा।

आधुनिक असैनिक सेवाओं की विशेषताएँ
(Features of Modern Civil Service)

आधुनिक युग में असैनिक सेवा का महत्त्व दिन-प्रति-दिन बढ़ता जा रहा है। राज्य के आकार और कार्यों में अप्रत्याशित वृद्धि होने के साथ असैनिक सेवा का महत्त्व भी बढ़ता जा रहा है। उनकी निम्न विशेषताएँ हैं—

(1) पद-सोपान (Hierarchy):—लोक या असैनिक सेवाओं का संगठन पद-सोपान के सिद्धान्त के आधार पर किया जाता है। इससे सेवाओं में संगठन और अनुशासन उत्पन्न किया जाता है। इसमें प्रत्येक कर्मचारी को यह पता होता है कि वह किसके प्रति उत्तरदायी है। आज्ञा का क्रम ऊपर से नीचे तक चलता रहता है और प्रशासन में संगठन मजबूत बना रहता है।

(2) तटस्थता (Neutrality):—सिविल सेवाओं की यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषता है। तटस्थता का अर्थ है कि उन्हें राजनीति के साथ अपने को नहीं जोड़ना चाहिए। प्रजातन्त्र में राजनीतिक दल अनिवार्य होते हैं। चाहे किसी दल की सरकार बने, उन्हें उनकी नीतियों और कार्यक्रमों को उत्साह और कर्तव्य-परायणता के साथ लागू करना चाहिए। इसके साथ ही सिविल सैनिकों का अपना चरित्र ऊँचा रखना चाहिए और उनमें लाभ या नाम कमाने की भावना नहीं आनी चाहिए।

(3) निष्पक्षता (Impartiality):—सिविल सेवा के सदस्यों में निष्पक्षता होना अनिवार्य है। उनका कार्य है कानूनों और नीतियों को ईमानदारी से लागू करना। समाज के किसी भी वर्ग के प्रति किसी भी प्रकार का पक्षपात किये बिना

अपने उत्तरदायित्वों को पूरा करना है। उनके लिए समाज के सभी व्यक्ति समान होने चाहिए।

(4) व्यावसायिक (Professionals) —यह सिविल सेवा का आधारभूत लक्षण है। सिविल सेवा ऐसे अधिकारियों का एक व्यावसायिक वर्ग है जो कि प्रशिक्षण प्राप्त, कुशल, स्थायी तथा वैतनिक होते हैं। सरकारी सेवा करना इन व्यक्तियों का पेशा बन जाता है। प्रशासन में इनको कई प्रकार के कार्य करने होते हैं, अतः सामान्य दक्षता आवश्यक होती है। उन्हें अपने कार्य के लिए वेतन दिया जाता है। प्रशासन का कार्य करना ही उनका पूर्णकालीन (Full time) व्यवसाय है।

(5) अनामता (Anonymity) —सिविल सेवा में अनामता की भावना आवश्यक है। प्रजातन्त्र में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका देश के लिए नीतियाँ, योजनाएँ तथा कानून बनाती है। इनके निर्माण में सिविल सेवकों की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है। मन्त्री जिन कार्यों को करता है, जिन नीतियों का निर्माण करता है, जिन योजनाओं को बनाता है उनमें सिविल सेवकों की परामर्श लेना है। सिविल सेवक ही उनके लिए आँकड़े व सूचनाएँ एकत्रित करता है। उनके परामर्श से ही मन्त्री अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह करता है। मन्त्री सभी कार्यों में दक्ष नहीं होता, जबकि सिविल सेवा के सदस्य अपने कार्य में दक्ष और योग्य होते हैं। इतने पर भी उन्हें नाम कमाने की भावना से कार्य नहीं करना चाहिए।

(6) सार्वजनिक हित (Public Interest).—सिविल सेवकों की एक और यह विशेषता है कि उनमें सेवा-भाव होना चाहिए। उनका उत्तरदायित्व जन-कल्याण करना है। उनका दृष्टिकोण संकुचित नहीं होना चाहिए। सिविल सेवा के लोग व्यक्तिगत लाभ से प्रेरित नहीं होने चाहिए। उनमें अहम् और अफसर की भावना नहीं होनी चाहिए।

(7) जन प्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी (Responsible to Public Representatives) —सिविल सेवा में उत्तरदायित्व की भावना होनी जरूरी है। साधारणतया प्रत्यक्ष रूप से सिविल सेवक भले ही व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी न हो, परन्तु व्यवस्थापिका मन्त्रियों के माध्यम से सिविल सेवा को नियन्त्रित रखते हैं। व्यवस्थापिका (Legislature) के सदस्य प्रशासन पर प्रश्न पूछ सकते हैं, पूरक प्रश्न तथा कामरोको प्रस्ताव रख सकते हैं। इससे प्रशासन चौकन्ना रहता है, साथ ही उत्तरदायी भी।

(8) सिविल सेवा जीवन-वृत्ति के रूप में (Civil Services as Career).—सिविल सेवक सरकारी सेवा को एक स्थायी जीवन-वृत्ति के रूप में अपनाते हैं। सेवा काल में उनके लिए पर्याप्त पदोन्नति के अवसर रहते हैं। उनको अनेक सुविधाएँ दी जाती हैं, जिससे योग्य व्यक्ति सिविल सेवा में आकृष्ट हो सकें और प्रशासन कुशल बनाया जा सके।

आधुनिक सिविल सेवा की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए एस० ई० फाइनर (S. E. Finer) ने अपनी पुस्तक 'A Primer of Public Administration' में लिखा है कि "सिविल सेवा" ... का अस्तित्व लाभोपार्जन के लिए नहीं होता। अतः इसके सदस्यों की प्रेरणा, अन्तिम आश्रय के रूप में, वेतन प्राप्त करने की होती है, जोखिम उठा कर अधिक धन कमाने की नहीं। दूसरे सिविल सेवा सार्वजनिक होती है। अतः उसके कार्यों की दृढ़ तथा सूक्ष्म जाँच की जाती है और वे अस्वीकृत भी किये जा सकते हैं। इससे पुनः इसकी लोचशीलता व सतर्कता सीमित हो जाती है। तीसरे, सिविल सेवकों तथा उनके मन्त्रियों को निरन्तर संसद (Parliament) की आलोचनाओं का सामना करना होता है। इससे उन्हें अवसरों के प्रति सतर्क तथा सन्नद्ध रहने के लिए प्रोत्साहन मिलता है। अन्ततः इसकी सेवाएँ व्यापक होती हैं। यह स्थिति इसको इस बात के लिए बाध्य करती है कि यह अपने स्टाफ और सम्बन्धों की ओर विशेष ध्यान दे तथा उनमें पारस्परिक प्रेम के अभाव अथवा विवाद को दूर करने के लिए सेवा की कोटि (Quality) के सम्भावित व्यय पर व्यवहार की समानता उत्पन्न करे।

सिविल सेवा के कार्य
(Functions of Civil Service)

मोटे रूप से सिविल सेवा के सदस्य कार्यपालिका द्वारा निश्चित तथा व्यवस्थापिका द्वारा स्वीकृत कार्यों को लागू करने का कार्य करते हैं। इनके अतिरिक्त कार्यपालिका के सदस्यों को परामर्श देते हैं। उनके लिए सूचनाएँ तथा आँकड़े एकत्रित करते हैं। इस प्रकार उनके उत्तरदायित्वों को पूरा करने में सहायता व सहयोग देते हैं। इनके अतिरिक्त भी सिविल सेवा के सदस्यों को और भी अनेक कार्य करने पड़ते हैं। मुख्य रूप से वे निम्न कार्य करते हैं—

(1) परामर्श (Advice)— सिविल सेवा के कर्मचारियों का सबसे उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य राजनीतिक कार्यपालिका के सदस्यों को परामर्श देना है। इन्हीं परामर्शों के आधार पर सामान्य नीतियों का निर्माण होता है। हालांकि राजनीतिक कार्यपालिका के सदस्यों (मंत्रियों) को जनता की कठिनाइयों और आवश्यकताओं का अनुभव होता है, तथापि यह निर्विवाद सत्य है कि उनका इन समस्याओं और कठिनाइयों के प्रति विश्लेषण इतना तीक्ष्ण और गहरा नहीं होता जितना कि सिविल सेवा के कर्मचारियों का होता है। इसका मूल कारण यह है कि ये सेवी-वर्ग के लोग एक लम्बे समय तक प्रशासन के सामने आने वाली कठिनाइयों का समाधान ढूँढते रहते हैं। इससे उनकी सूझ-बूझ और अनुभव बढ़ता है। यही कारण है कि मन्त्री को अधिकांशतः उनकी परामर्श पर निर्भर रहना होता है। ये ही मन्त्रियों के लिए सूचनाएँ एवं आँकड़े एकत्रित करते हैं जिनके आधार पर नीतियों का निर्माण किया जाता है। रेम्जेम्योर (Ramsay Muir) ने तो यहाँ तक कहा है कि अनुभव शून्य मन्त्री एक निर्जीव मशीन के समान सिविल सेवकों के बताये हुए स्थान पर चुप-चाप हस्ताक्षर

कर देते हैं। लेकिन यह विचार अतिशयोक्तिपूर्ण है। इतने पर भी यह बात सत्य है कि राजनीतिक कार्यपालिका सामान्य नीतियों के निर्माण में बहुत हद तक अपने कर्मचारियों के परामर्श पर निर्भर करती है क्योंकि जनता के सम्बन्ध में उनका अनुभव व्यापक और लम्बा होता है। इस प्रकार कार्यपालिका को परामर्श देना उनका प्रमुख कार्य है। सर जोसुआ स्टेम्प ने इस सम्बन्ध में कहा है—"मुझे पूर्ण विश्वास है कि नवीन समाज में—समाज को प्रत्येक स्थिति में अपने सुझाव तथा परामर्श देकर सिविल सेवा उसकी उन्नति का मुख्य साधन बनेगी।" ("I am fully confident that the official must be the mainspring of the new Society, suggesting, promoting and advising at every stage.)

(2) कार्य-क्रम नियोजन (Programme Planning):—यद्यपि प्रशासनिक और अन्य क्षेत्रों में नीति का निर्माण तथा आयोजन कार्य राजनैतिक कार्यपालिका के द्वारा सम्पादित किया जाता है तथा नीति के निर्धारण में प्रशासकीय अधिकारी भी अपने विस्तृत प्रशासकीय अनुभव तथा योग्यता के कारण पर्याप्त प्रभाव डालते हैं। क्योंकि नीति के क्रियान्वयन से उन्हीं का सम्बन्ध होता है तथा वे नीति के निर्माण में आवश्यक सूचनाएँ, तथ्य तथा आँकड़े उपलब्ध कराते हैं। सिविल सेवा के कर्मचारियों को अपने विवेक व योग्यता का परिचय देने के अवसर 'प्रत्यायोजित विधान निर्माण' (Delegated Legislation) के क्षेत्र में प्राप्त होते हैं। इतना ही नहीं सिविल सेवा के अधिकारी यदि आवश्यक समझें तो प्रस्तुत योजना या क्रियान्वयन में की विधि के सम्बन्ध में आवश्यक संशोधन या परिवर्तन भी प्रस्तुत कर सकते हैं।

(3) उत्पादन (Production)—आज की बढ़ती हुई मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रशासन अनेक उत्पादन व निर्माण कार्य में संलग्न रहता है जैसे सड़क तथा भवनों का निर्माण, आवागमन के साधनों में वृद्धि करना, सिंचाई की व्यवस्था, आदि। उत्पादन की मात्रा सिविल सेवा के कर्मचारियों की कार्य कुशलता का माप-दण्ड है। यदि प्रशासन जनता का अधिक सुविधाएँ तथा उत्पादन सुलभ कराता है तो लोग उसकी प्रशंसा करते हैं अन्यथा आलोचना। उत्पादन किसी भी क्षेत्र में हो सकता है जैसे यदि पुलिस आन्तरिक व्यवस्था और व्यक्ति सुरक्षा करने के उत्तरदायित्व को पूरा करता है तो उसकी प्रशंसा होती है। इसी प्रकार यातायात के साधनों में वृद्धि से जनता की सुविधाएँ बढ़ती है तो जनता सम्बन्धित कर्मचारियों की सराहना करती है—ये सभी उत्पादन कार्य हैं। सिविल सेवकों का यह कर्तव्य है कि वे जन-कल्याण में वृद्धि करें।

उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त सिविल सेवा के अधिकारियों को अनेक कार्य करने होते हैं। वस्तुतः प्रशासन के महत्त्व के बढ़ जाने का कारण राज्य के महत्त्व का बढ़ जाना है। आधुनिक राज्य लोक-कल्याणकारी राज्य बन गये है, परिणामस्वरूप उनके कार्यों में अत्यधिक वृद्धि हो गई है। इन कार्यों का सम्पादन सिविल सेवा के

कर्मचारियों के द्वारा किया जाता है। वास्तव में सरकार की सफलता तथा असफलता कर्मचारियों पर निर्भर करती है। सरकार अच्छी से अच्छी योजना या कानून का निर्माण कर दे लेकिन उसके पास अच्छे, योग्य और ईमानदार सेवक नहीं है तो उनका कोई लाभ नहीं हो सकता। इसके विपरीत यदि नीतियाँ या कानून खराब भी हों तो भी योग्य और अनुभवी कर्मचारियों के हाथ में आने से एक बार अच्छे बन जायेंगे। लम्बे समय तक प्रशासनिक कार्यों का अनुभव प्राप्त करके कर्मचारी अपने कार्य में योग्य और दक्ष हो जाते हैं। अपने इन्हीं गुणों के आधार पर वे राजनीतिक कार्यपालिका का परामर्श देते हैं और उनका परामर्श अधिकांशतः स्वीकार भी किया जाता है। मन्त्री अपने कार्यों व उत्तरदायित्वों के लिए सिविल सेवकों पर निर्भर करते हैं। उनकी ही सूचनाओं, आँकड़ों और तथ्यों पर नीतियों का निर्माण होता है। सिविल सेवा के प्रभाव की विवेचना करते हुए रैम्जेम्योर (Ramsay Muir) ने तो यहाँ तक कहा है कि—"संसद स्थायी सिविल सेवा के कर्मचारियों के हाथ में एक खिलौना है।" (Parliament is a tool in the hands of permanent Civil Service.)

पदाधिकारियों के विभिन्न स्वरूप
(Different Kinds of Personnel)

लोक-प्रशासन को समुचित रूप से संचालन करने के लिए पदाधिकारियों का संगठन किस प्रकार किया जाए—यह एक महत्वपूर्ण समस्या है। पदाधिकारियों के संगठन की व्यवस्था भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न है। प्रत्येक देश अपनी परम्परा और अपनी आवश्यकता के अनुकूल भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों को अपनाते रहे हैं। पदाधिकारियों के सम्बन्ध में तीन प्रमुख तथा प्रसिद्ध पद्धतियाँ रही हैं—(1) नौकरशाही पद्धति, (2) कुलीनतन्त्रात्मक पद्धति, (3) लोकतन्त्रात्मक पद्धति। इनके अतिरिक्त भी कुछ पद्धतियाँ हैं जैसे योग्यता पद्धति, लूट-खसोट पद्धति आदि। नीचे सभी पद्धतियों का विस्तार से वर्णन किया जा रहा है।

(1) नौकरशाही पद्धति
(Bureaucracy)

नौकरशाही को अंग्रेजी में ब्यूरोक्रेसी (Bureaucracy) कहते हैं। यह फ्रान्सीसी भाषा के शब्द 'ब्यूरो' (Bureau) से बना है, जिसका अर्थ है—लिखने की मेज या डेस्क। व्यावहारिक भाषा में इसका अर्थ होता है 'मेज कुर्सी वाले कार्यालय' का शासन या डेस्क सरकार। इस आधार पर नौकरशाही को पदाधिकारियों की सरकार कहा गया है। नौकरशाही उस पद्धति को कहते हैं जिसमें अन्तर्गत सरकारी कार्यों का संचालन एवं निर्देशन उन व्यक्तियों के हाथों में होता है जो जन-हित से दूर विशेष प्रशिक्षण प्राप्त, कानूनों का अक्षरशः पालन करने वाले तथा अपने व्यक्तिगत विचारों एवं भावनाओं को उच्चतर समझते हुए अपनी कानूनी सीमा में कार्य करते

हैं। यह यह व्यवस्था है जिसमे कार्यों मे देरी होती है, ये कागजी घोड़े दौड़ाने में विश्वास रखते हैं। इसमे रहम और मितव्ययता का कोई स्थान नहीं। इस प्रकार यह शब्द लोक-प्रशासन मे काफी बदनाम तथा तिरस्कृत शब्द है और प्राय स्वेच्छा-चारिता, अपव्यय, कार्यालय की कार्यवाही और तानाशाही के लिए प्रयुक्त किया जाता है।

एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका (Encyclopaedia Britanica) के अनुसार नौकरशाही का अर्थ—"ब्यूरो या विभागो मे प्रशासकीय शक्ति का केन्द्रित होना तथा राज्य के हस्तक्षेप की परिधि से बाहर के विषयो मे भी अधिकारियो का अनुचित हस्तक्षेप व्यक्त करना है।"

जॉर्ज बर्नार्ड शॉ (G B. Shaw) ने नौकरशाही की निन्दा करते हुए लिखा है—"सत्ता के उपासक उच्च अधिकारियों की सामन्तशाही का दूसरा नाम नौकरशाही है।"

एफ० एम० मार्क्स (F M Marx) के अनुसार—"विकृति तथा परिहास के कारण नौकरशाही शब्द का अर्थ चपलता, मनमानी, अतिव्यय, हस्तक्षेप तथा वर्गीकरण माना जाने लगा है।"

डॉ० जेनिग्स के अनुसार—"तानाशाही एक व्यक्ति का शासन है और नौकर-शाही नियमो का शासन है, पहले का उद्देश्य कार्य को करना है जबकि दूसरे का उद्देश्य कार्य को व्यवस्थित करना है।"

मैक्स वेबर (Max Weber) ने नौकरशाही का वर्णन करते हुए लिखा है कि—"यह एक प्रकार का प्रशासकीय संगठन है जिसमे विशेष योग्यता, निष्पक्षता तथा मनुष्यता का अभाव आदि लक्षण पाये जाते है।" ("A system of a administration charcterised by expertness impartiality and the absence of humanity ")

इसी प्रकार लास्की (Laski) के अनुसार—"नौकरशाही शब्द साधारण रूप से उस शासन पद्धति के लिए प्रयोग किया जाता है जिसमे नियन्त्रण कर्मचारियो के हाथ मे हो और उनकी शक्ति साधारण नागरिको पर शासन करती हो।" "A system, the control of which is so completely in the hands of officials that their power geoperdise the liberties of ordinary citizens.")

विल्ले तथा स्टोल ने नौकरशाही की परिभाषा देते हुए लिखा है—"यह एक ऐसा पद-सोपानीय प्रशासनिक ढाँचा है जहाँ पर प्रत्येक कर्मचारी मशीन के डांटे की तरह फिट हो। इस संगठन मे अवसर के लिए कुछ नहीं रहता। समस्त महत्त्वपूर्ण सम्बन्धो को पूर्वतः ही परिभाषित कर लिया जाता है तथा अधिकारों के पिरामिड़ो

को उचित रूप से उत्तरदायी स्तर के अनुसार विभाजित कर दिया जाता है। इसलिए जिसमें नौकरशाही सर्वोच्च है वहाँ एक बुद्धिमत्ता है।"

विल्सन महोदय (Wilson) का मत है कि—"अपने व्यापक रूप में नौकरशाही का प्रयोग उस पदाधिकारी पद्धति का वर्णन करने के लिए किया जाता है, जहाँ की पदाधिकारियों का वर्गीकरण उस प्रशासकीय व्यवस्था में किया जाता है, जिसकी रचना उप-विभागों, मण्डलों, ब्यूरो, विभागों आदि के पद-सोपान के क्रम में की जाती है।"

प्रयुक्ति अर्थ में नौकरशाही शब्द के प्रयोग के बारे में बताते हुए विल्सन महोदय ने आगे लिखा है कि—"इस दृष्टि से नौकरशाही का अर्थ एक ऐसी पद्धति से है, जहाँ लोक-कर्मचारियों का एक निकाय पद-सोपान के क्रम में संगठित किया गया हो और जो प्रभावशाली सार्वजनिक नियन्त्रण के क्षेत्र से बाहर हों।"

विल्सन महोदय के मत के अनुसार यह अर्थ निकलता है कि नौकरशाही एक ऐसी शासन-व्यवस्था को कहा जाता है, जिसमें कुछ विशेष योग्यता वाले सरकारी कर्मचारी संगठित रूप से प्रशासन का संचालन करते हैं।

नौकरशाही शब्द का प्रयोग कई रूपों में किया जाता है। एफ०एम० मार्क्स (F. M. Marx) के अनुसार यह शब्द मुख्य रूप से चार अर्थों में प्रयुक्त होता है। जो निम्नलिखित है—

(1) नौकरशाही एक विशेष प्रकार के संगठन के रूप में:—अधिक स्पष्ट रूप में नौकरशाही लोक-प्रशासन के संचालन के लिए एक सामान्य रूप-रेखा है। विफनर ने इसी अर्थ में इसका प्रयोग किया है। उनके अनुसार—"नौकरशाही कार्यों तथा व्यक्तियों का एक विशेष प्रकार का व्यवस्थित संगठन है जो सामूहिक प्रयत्न के उद्देश्यों को सबसे अधिक प्रभावशाली ढंग से प्राप्त कर सकता है।" ग्लैडन (E. N. Gladden) ने भी नौकरशाही को इसी रूप में परिभाषित किया है। उनके अनुसार "यह एक ऐसी विनियमित प्रशासकीय प्रणाली या तन्त्र है जो अन्तर्सम्बन्धीय पदों की शृंखला के रूप में संगठित होती है।" जर्मनी के प्रसिद्ध समाजशास्त्री तथा नौकरशाही का विस्तृत विश्लेषण करने का प्रयास करने वाले प्रथम यूरोपीय विचारक मैक्स वेबर ने नौकरशाही संगठन की कुछ विशेषताएँ बताई हैं जिनमें मुख्य निम्न हैं—

(1) संगठन के प्रत्येक सदस्य को कुछ विशेष कर्तव्य सौंपे जाते हैं।

(2) इसमें सत्ता का विभाजन कर दिया जाता है जिससे प्रत्येक सदस्य अपने उत्तरदायित्वों, जो कि उसे सौंपे गये हैं, पूरा कर सके।

(3) इन कार्यों का नियमित रूप से पालन करने के लिए उचित प्रबन्ध किया जाता है।

(4) संगठन की रचना पद-सोपान के आधार पर की जाती है।

(5) लिखित दस्तावेजों और अभिलेखों को अधिक महत्त्व दिया जाता है।

(6) संगठन के लेनदेन पर नियन्त्रण रखने के लिए नियमों की रचना की जाती है।

(7) कर्मचारियों की भर्ती तथा उनके विशिष्ट प्रशिक्षण की व्यवस्था होती है।

(2) नौकरशाही संगठन के अच्छे प्रबन्ध में बाधक एवं व्याधि के रूप में:— नौकरशाही प्रशासन का बदनाम नाम है। यह कई दुर्गुणों और कठिनाइयों का प्रतीक है। इस शब्द में कोई न कोई बुराई चिपकी रहती है। जॉन एम० गौस ने इसके दोष बताते हुए लिखा है कि— "विद्रूप तथा परिहास के कारण नौकरशाही शब्द का अर्थ घपला, मनमानी, अतिव्यय, हस्तक्षेप तथा वर्गीकरण माना जाने लगा है।" प्रो० लास्की (Laski) ने नौकरशाही की विशेषताओं का वर्णन करते हुए लिखा है कि—"इसमें प्रशासन में दैनिक कार्यों पर बल दिया जाता है, निर्णय करने में पर्याप्त देरी की जाती है और नवीन प्रयोगों को हाथ में लेने से इन्कार कर दिया जाता है।" इस प्रकार कठोरता, यन्त्रवत्, अमानुषिक, औपचारिकता तथा आत्म रहित दृष्टिकोण नौकरशाही के लक्षण हैं। और ये सभी लक्षण संगठन के अच्छे प्रबन्ध में बाधक माने जा सकते हैं।

(3) 'नौकरशाही बड़ी सरकार' के रूप में:—लोक-कल्याणकारी राज्य की स्थापना के साथ राज्य के कर्तव्य और दायित्व इतने बढ़ गये हैं कि इनको सम्पन्न करने के लिए विभिन्न बड़ी संस्थाएँ अनिवार्य हैं। जैसे सरकार, निगम, व्यापार, मजदूर संघ आदि। संस्थाओं का बड़ा आकार नौकरशाही का मूलभूत कारण है। विकनर तथा प्रेस्थस के मतानुसार जहाँ भी बड़े पैमाने का उद्यम होता है वहाँ नौकरशाही अवश्य मिलती है। आज सरकार को प्रत्येक कार्य इतना विस्तृत रूप से करना पड़ता है कि वह अपने समस्त कार्यों को पूरा नहीं कर सकती। यह कारण है कि एक नई शक्ति सरकार और जनता के बीच में उदित हो गई है। यह शक्ति उन कर्मचारियों की होती है जो राज्य के लिए पूर्णरूप से अज्ञात होते हैं। ये लोग सरकार के नाम से लिखते हैं और बोलते हैं। प्रशासकीय शाखा के अत्यधिक महत्व के कारण आधुनिक कल्याणकारी राज्य को 'प्रशासनिक राज्य' की संज्ञा दी जाती है।

(4) नौकरशाही स्वतन्त्रता विरोधी के रूप में:—नौकरशाही सिविल सेवा के कर्मचारियों के द्वारा ऐसी संचालित सरकार है जिसका उद्देश्य स्वयं की उन्नति करना होता है। लास्की ने नौकरशाही की व्याख्या करते हुए लिखा है कि—"यह सरकार की एक ऐसी प्रणाली है जिसका नियन्त्रण पूर्णरूपेण अधिकारियों के हाथों में होता है, जिनके कारण उनकी शक्ति सामान्य नागरिकों की स्वतन्त्रता को संकट में डाल देती है।"

नौकरशाही के विकास के स्रोत
(Sources for the Growth of Bureaucracy)

नौकरशाही के विकास के लिए उत्तरदायी अनेक स्रोत तथा परिस्थितियाँ हैं। उनमें से प्रमुख परिस्थितियों का आगे वर्णन किया जा रहा है—

(1) संगठनात्मक स्रोत (Organization Sources):—संगठन में आकार की वृद्धि के कारण नौकरशाही का विकास स्वाभाविक बन गया है। सरकार अपने विस्तृत उत्तरदायित्वों को पूरा करने के लिए बड़े-बड़े संगठनों की स्थापना करती होती है। ये संगठन पद-सोपान के सिद्धान्त पर संगठित किये जाते हैं। पद-सोपान के परिणामस्वरूप उनमें शनैः-शनैः विशेषीकरण एवं औपचारिकता का विकास होने लगता है और यही सब मिलकर नौकरशाही बन जाती है। यही कारण है कि एच॰ ए॰ साइमन (H. A. Simon) ने नौकरशाही को "बड़े पैमाने के संगठन" का पर्यायवाची माना है।

(2) विशेषीकरण (Specialization)—बड़े संगठनों में श्रम-विभाजन आवश्यक हो जाता है। इसका स्वाभाविक परिणाम विशेषीकरण होता है जो नौकरशाही को पनपने में सहयोग देता है। इतना ही नहीं तकनीकी विशेषज्ञों द्वारा जो व्यवस्थाएँ एवं प्रक्रियाएँ विकसित की जाती हैं वे कुछ समय बाद अपने-आप में साध्य बन जाती है, जो नौकरशाही के विकास के लिए उपर्युक्त परिस्थिति है।

(3) मनोवैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक (Psychological and Cultural) :—नौकरशाही प्रवृत्ति के विकास का एक कारण यह भी है कि मनुष्य सुरक्षा व व्यवस्था पूर्ण जीवन चाहता है। जैनिंग्स ने बताया है कि अधिकारीगण नियमों एवं प्रक्रियाओं द्वारा अपने वातावरण को नियन्त्रित करने, सुरक्षा की खोज करते हैं। इस सम्बन्ध में अनेक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त बनाये जा सकते हैं। यदि हम प्राचीन व नवीन वैज्ञानिक समाजों में नागरिक सेवा के विकास का तुलनात्मक अध्ययन करें तो यह बात स्पष्ट हो जायेगी। जिन देशों में रीति-रिवाजों और परम्पराओं का आदर किया जाता है उनमें नौकरशाही का विकास सुगमतापूर्वक होता है।

(4) तकनीकी आवश्यकताएँ (Technical Requirements):—नौकरशाही के विकास के लिए कुछ पूर्व आवश्यकताएँ होती हैं, जिनके अभाव में उसका विकास नहीं हो सकता। ये पूर्व आवश्यकताएँ क्या हैं, इस सम्बन्ध में कोई निश्चिततापूर्वक नहीं कहा जा सकता। फिर भी कुछ सामान्य बातों का उल्लेख किया जा सकता है। नौकरशाही के विकास के लिए स्थायी कर-व्यवस्था होनी चाहिए जिससे उसके सचालन के लिए समुचित धन की व्यवस्था हो सके। इसके अतिरिक्त समाज में कानून पालन की आदत होनी चाहिए तथा समाज में पूर्ण शान्ति तथा व्यवस्था हो। लोग नौकरशाही के नियमों का उस समय तक पालन नहीं करेंगे जब तक कि वे कानून एवं व्यवस्था का सम्मान न करें।

(5) उपयुक्त कार्यों का होना (Existence of Suitable Tasks) :—नौकरशाही का विकास वहाँ होता है जहाँ करने के लिए ऐसे कार्य हों जिनमें विशेषज्ञों, प्रशासकों के सोपानों तथा सेवाओं को दोहराने की आवश्यकता हो। जहाँ ये विशेषताएँ नहीं होती वहाँ प्रशासन में नौकरशाही नहीं आ पाती।

इस प्रकार नौकरशाही विभिन्न स्रोतो से विकास की प्रेरणा प्राप्त करती है। आधुनिक युग मे बड़े सगठनो में नौकरशाही अनिवार्य है।

नौकरशाही पद्धति की विशेषताएं
(Features of Bureaucratic System)

नौकरशाही पद्धति सर्वप्रथम यूरोप तथा विशेष रूप मे इग्लैण्ड मे पनपी। धीरे-धीरे दूसरे देशो के प्रशासन मे भी इस पद्धति को स्थान दिया जाने लगा। इसमे मुख्य फ्रास, जर्मनी, स्पेन तथा इटली थे। भारत मे भी ब्रिटिश शासन काल मे इस पद्धति का प्रशासन मे बोलबाला रहा। इस पद्धति मे कई विशेषताएं हैं। मैक्स वेबर ने समाजशास्त्र पर लिखे अपने निबन्धो में नौकरशाही पद्धति की कई विशेषताओ का उल्लेख किया है, जिसका पिछले पृष्ठो मे विवेचन किया जा चुका है।

यहाँ हम सार रूप मे मैक्स वेबर (Max Weber) के विचारो को व्यक्त कर रहे हैं :—"सभी नौकरशाही व्यवस्था मे पद-सोपान का सिद्धान्त लागू होता है; लिखित दस्तावेज, फाइलो, अभिलेखों (Records) तथा आधुनिक दफ्तरी प्रबन्ध (Official Management) के लिए सामान्य नियमो या व्यवहारो का निर्माण किया जाता है तथा सरकारी और गैर-सरकारी दोनो ही प्रकार के प्रशासन के अधिकारी उन नियमो तथा तकनीको मे, जिनमे कि उनके विशेषज्ञ तथा निपुण होने की आवश्यकता हो, प्रशिक्षण प्राप्त (Trained) होने चाहिए।"

प्रो० फ्रेडरिक (Prof. Friedrich) ने नौकरशाही की निम्न विशेषताएं बताई हैं—

(1) कार्यों का विभक्तिकरण।
(2) पद के लिए योग्यताएं।
(3) पद-सोपान क्रम का सगठन तथा अनुशासन।
(4) कार्य-रीति की उद्देश्य विषयता।
(5) नियमो, लाल-फीताशाही तथा अभिलेखो को रखने के सम्बन्ध में यथार्थता तथा दृढता अथवा निरन्तरता।
(6) विवेक का प्रयोग जिससे प्रशासन के कुछ पहलुओं के सम्बन्ध मे कुछ गुप्तता रहे।

नौकरशाही पद्धति का गुण

इस पद्धति का सबसे बड़ा गुण यह है कि यह प्रशासन मे कार्य-कुशलता प्रदान करती है, क्योंकि शासक उन पर भरपूर नियन्त्रण होता है जिससे कर्मचारियों को अपने कर्तव्य-पालन के प्रति जागरूक रहना होता है। इसमे दूसरा गुण यह है कि कर्मचारी ईमानदार तथा सतर्क रहता है, अन्यथा उसे शासक की स्वेच्छारिता का शिकार होना पड़ता है। तीसरा गुण इस पद्धति का यह है कि लोक-प्रशासन के

पदाधिकारी एवं कर्मचारी राजनीतिक एवं वैयक्तिक दूर रह कर अपने कार्यालयों का प्रशासन करते हैं और शासन की नीतियों एवं कानूनों का सम्पादन योग्यता एवं निपुणता के साथ करते है। प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व प्रशा के लोक-प्रशासन की सफलता तथा पूर्णता का यही एकमात्र कारण था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व भारतीय प्रशासन की कुशलता का कारण भी नौकरशाही पद्धति था।

नौकरशाही पद्धति के दोष

इस पद्धति के कई मुख्य गुण होते हुए भी इसे अच्छा नहीं कहा जा सकता है। इसका कारण यह है कि इस पद्धति में गुणों की अपेक्षा दोषों की मात्रा अधिक है। नौकरशाही व्यवस्था की कुछ विद्वानों ने अत्यधिक कठोर आलोचना की है। नौकरशाही की व्यवस्था में प्रायः जो दोष मिलते हैं उनमें अधिकारियों का मिथ्या आत्म-गौरव अथवा अपने कार्य को बहुत अधिक महत्त्व देने की भावना, नागरिकों की व्यक्तिगत भावना तथा सुविधा की उपेक्षा, बिना यह चिन्ता किये कि विशेष मामले पर किसी निर्णय का कितना बुरा प्रभाव पड़ सकता है अथवा कितना अन्याय हो सकता है—विभागीय प्रबन्ध, रूप, परम्परा तथा निर्णय के अमानवीय प्राधिकार की मान्यता पर जोर, प्रशासन की विशेष इकाइयों के ही कार्यों में लगे रहना, नियमों तथा क्रियाविधि औपचारिकताओं का हल, सरकार को समग्र दृष्टि से देखने की अक्षमता आदि प्रमुख हैं। यही कारण है कि इसे बुरा शब्द माना जाता है और नौकरशाही कह कर निन्दा की जाती है। लॉर्ड हीवर्ट ने इसे 'नवीन निरंकुशता' (New Despotism) का नाम दिया है। अन्त में कहा जा सकता है कि नौकरशाही का ढाँचा तथा इसमें कार्य करने वाले लोग प्रक्रिया की कठोरता को प्रोत्साहन देते हैं और इसलिए संगठन के बाहर के लोगों में विरोध का कारण बनते हैं। इस पद्धति में प्रशासकीय कर्मचारी अपने को शासन का सेवक समझते हैं और सदैव जनता की माँग की अवहेलना करते हैं। उनके कार्यों का मुख्य उद्देश्य अपने शासक की शक्ति को बढ़ाना होता है, चाहे इसमें जनता का अहित ही क्यों न हो। इस पद्धति में लोक-कर्मचारी बाह्य नियन्त्रण एवं प्रभाव से स्वतन्त्र रहने तथा जनता से दूर रहने के कारण वे लोकेच्छा को समझने में असमर्थ रहते हैं। इसलिए इस पद्धति के सम्बन्ध में प्रो० लास्की (Laski) ने कहा है कि "यह वह शासन-प्रणाली है जिसका नियन्त्रण अधिकारियों के हाथ में इतनी अधिक मात्रा में रहता है कि उस सामान्य नागरिकों की स्वतन्त्रतायें खतरे में पड़ जाती हैं।"

नौकरशाही पद्धति के अवगुणों पर प्रकाश डालते हुए ब्रिटिश विद्वान रैम्जे-म्योर ने अपनी पुस्तक 'ब्रिटेन किस प्रकार शासित किया जाता है' (How England is Governed) में लिखा है कि, "नौकरशाही अथवा सेवकतन्त्र अग्नि के समान है जो कि एक सेवक के रूप में तो बहुमूल्य सिद्ध होती है परन्तु जब वह स्वामी बन जाती है तो घातक सिद्ध होती है।" उन्होंने आगे कहा कि, "नौकरशाही मंत्रीय

उत्तरदायित्व के लबादे मे पनपती तथा बढती है। संयुक्त राज्य अमरिका के राष्ट्रपति हूवर (Hoover) ने इस पद्धति की आलोचना करते हुए कहा है कि "नौकरशाही मे तीन सन्तुष्ट न होने वाली प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं—अर्थात् आत्म-स्थिरता, आत्म-विस्तार तथा अधिक शक्ति की माँग। इस पद्धति के मुख्य दोष निम्न है:—

(1) लालफीताशाही (Red Tapism) —इस पद्धति का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमे लालफीताशाही की प्रवृत्ति बढ़ जाती है। इसका अभिप्राय यह है कि अधिकारी वर्ग इसमे नियमो तथा उपनियमो की बड़ी चिन्ता करते है तथा पग-पग पर कानून की दुहाई देता है। इससे कार्यों मे अनावश्यक बाधा उत्पन्न होती है। अंग्रेजी विद्वान वाल्टर बेजहोट ने लालफीताशाही के बारे मे लिखते हुए कहा है कि "यह एक अनिवार्य दोष है कि नौकरशाही मे अधिकारी परिणाम की अपेक्षा दैनिकता की अधिक परवाह करते हैं, जैसा कि बर्क (Burke) ने कहा है कि 'वे कार्य के रूप को इतना महत्त्व देने लगते हैं, जितना कि कार्य की विषयवस्तु या सार को। इस भाँति सिविल सेवक नियमो तथा उपनियमो मे प्रशिक्षण प्राप्त करते है और तब वे उनको लागू करते हैं। परिणाम यह होता है कि वे अपने व्यवसाय के ऐसे दर्जी बन जाते हैं, जो कि कपड़े को छाँट तो करते हैं, परन्तु वह शरीर पर पहनने के योग्य नही बन पाता।"

(2) शक्ति प्रेम (Lust of Power) —नौकरशाही मे पदाधिकारी अपने महत्त्व का प्रदर्शन करना चाहते हैं, जैसाकि महाकवि 'शेक्सपियर' ने कहा है कि "प्रत्येक मनुष्य अपनी सत्ता के छोटे से छोटे कण से भी प्यार करता है। इसमे कोई सन्देह नही नौकरशाही शक्ति के भूखे होते है। स्थायी नागरिक सेवा के सदस्य प्रजातन्त्र के नाम पर विभागो की शक्ति मे निरन्तर वृद्धि करते जा रहे हैं और मन्त्रियो के उत्तरदायित्वो के सिद्धान्त के नाम पर सारी शक्तियाँ स्वयं के हाथो मे केन्द्रित कर ली है।

(3) विभाग या साम्राज्य-रचना (Departmentaliom or Empire Building):—इस पद्धति का परिणाम यह होता है कि समाज मे एक नये वर्ग का जन्म होता है जो अपने को अन्य वर्गों से श्रेष्ठ समझता है। श्रेष्ठ होने की भावना उनको समाज के अन्य व्यक्तियो से पृथक् कर देती है। वे अपने को शासक वर्ग समझते है तथा जनता को शासित वर्ग। इस प्रकार वे सामान्य जनता के साथ घुल-मिल नही पाते। नौकरशाही के कारण सरकार के कार्य अलग-अलग सम्भागो (Divisions) मे विभाजित हो जाते है। क्योकि प्रत्येक नागरिक सेवा अपनी सत्ता एवं महत्त्व का प्रदर्शन करना चाहती है। प्रत्येक विभाग अपने को स्वतन्त्र एवं पृथक इकाई मानकर यह भूल जाता है कि वह बड़े समग्र का एक भाग है। वह अपने अधिकार-क्षेत्र को ही अपनी अन्तिम सीमा मानने लगता है।

(4) निरंकुशता (Dispotism):—नौकरशाही पर निरंकुशता का आरोप लगाया जाता है। इंग्लैण्ड के एक विधिशास्त्री लॉर्ड हेवर्ट (Lord Hewert) ने एक बार अपना विचार प्रकट किया कि "इस बढ़ती हुई प्रशासकीय निरंकुशता के भार के अन्तर्गत ब्रिटिश नागरिक अपनी स्वतन्त्रता खो देगा।" उन्होंने अपनी पुस्तक 'नई निरंकुशता' (New dispotism) में लिखा है कि "एक मामूली सी जाँच इस बात को स्पष्ट करने के लिए काफी होगी कि प्रशासनिक कार्य पर गत कुछ वर्षों से एक दृढ़ प्रभाव पड़ता रहा है और अब भी पड़ रहा है। निःसन्देह इसका प्रभाव यह हुआ है कि विभागीय सत्ता एवं विभागों का विशाल एवं अधिकाधिक क्षेत्र सामान्य विधि की पहुँच के बाहर हो गया है, चाहे इस प्रभाव को पोषण करने वाली भावनाएँ कुछ भी क्यों न हों।"

(5) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का विरोधी (Against Personal Liberty):—नौकरशाही व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का विरोधी है। इसमें सत्ता अधिकारी वर्ग के पास रहती है। वे सत्ता में इतने मस्त हो जाते हैं कि जन-कल्याण या लोकहित की बात नहीं सोच पाते। श्री बर्ट्रेण्डरसल के अनुसार, "नौकरशाही में एक प्रकार के नकारात्मक मनोविज्ञान का विकास होता है, जो एक निषेध वृत्ति का रूप धारण कर लेता है।" ("Bureaucracy tends to develop a negative Psychology that perpetually proves to take the form of prohibitions".)

(6) अनुदार विचारों की समर्थक (Supporter of Conservatism):—नौकरशाही परम्परा-प्रिय होती है। वे प्राचीन परम्पराएँ एवं रीति-रिवाजों के समर्थक होते हैं। यही कारण है कि वे समाज की नवीन आवश्यकताओं एवं परिवर्तनों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर नहीं चल पाते। एक ही प्रकार का कार्य करते-करते उनमें कानूनीपन की आदत पड़ जाती है, परिणामस्वरूप वे कानूनों का ध्यान अधिक रखते हैं और जन-कल्याण का कम।

(7) जन-साधारण की माँगों तथा इच्छाओं की उपेक्षा (Unresponsiveness to Popular Demands and Wills).—नौकरशाही अपने-आप को लोकहित का अभिभावक मानती है। इतना ही नहीं, वे यह भी मानते हैं कि उन्हीं के द्वारा जनहित की सही व्याख्या की जा सकती है। यदि जनमत लोकहित के विरुद्ध है तो नौकरशाही उसकी उपेक्षा करने में नहीं हिचकती। इसी तर्क के आधार पर नौकरशाही जनमत किसी भी माँग का विरोध कर देती है। नौकरशाही अपने-आप में एक संस्था बन चुकी है जो आत्म-निर्भरता की विशेषता रखती है। दूसरे संस्थाओं की भाँति वह उन परिवर्तनों का विरोध करती है जो इनके हितों और अधिकारों को कम करती या चुनौती देती है। प्रक्रियाएँ और परम्पराएँ, कार्यालय की गोपनीयता, व्यक्तिगत अधिकारों का विस्तार, लोचहीनता, आत्म-विस्तार नौकरशाही की विशेषताएँ हैं जो उसमें जनता के प्रति अनुत्तरदायित्व की भावना का विकास करती है।

प्रजातन्त्रो के विकास के साथ-साथ नागरिक सेवा भावना मे परिवर्तन आया है। इसके साथ ही नौकरशाही ने अपने-आप को परिस्थितियो के अनुरूप ढालने का प्रयत्न किया है। आधुनिक व्यवस्था मे व्यवस्थापिका द्वारा सिविल सेवा का नियन्त्रण किया जाता है जिससे उसमें नौकरशाही न पनपे। इस नियन्त्रण के फलस्वरूप वह जनमत की पूर्ण उपेक्षा नही कर सकती अत. अब यह आलोचना क्षीण होता जा रही है।

हेयर्ड (Hayward) ने नौकरशाही के निम्नलिखित दोषो का वर्णन किया है—

(1) विकारग्रस्तता (Perversiveness),
(2) राजद्रोह (Treason),
(3) स्वार्थता (Selfishness)
(4) जटिलता उत्पन्न करना (Cultivation of Complexity),
(5) निश्चितता का भय (Fear of Definiteness),
(6) देख-भाल अथवा निरीक्षण से घृणा (Hatred of Supervision),
(7) आत्म-प्रशंसा अथवा स्वयं की प्रशंसा की भावना (Self-praise),
(8) प्रभुत्व जमाना,
(9) अपने वर्ग को सर्वोच्च वर्ग समझना अर्थात् वर्गीय चेतना (Class Consciousness),
(10) लालफीताशाही (Red-tapism)।

प्रो० रॉबसन (Prof Robson) ने भी नौकरशाही की व्याधियो अथवा दोषो का वर्णन किया है। उनके अनुसार नौकरशाही निम्न व्याधियो से पीडित है—

(1) अधिकारियो के आत्म-महत्त्व की भावना
(2) नागरिको के सुविधाओ तथा भावना के प्रति उदासीनता,
(3) विभागीय निर्णयो तथा सत्ता की लोचहीनता एव बाध्यकारिता,
(4) कानूनो एव औपचारिकता के प्रति दृढ़ता,
(5) प्रशासको व प्रशासितो में बीच प्रजातान्त्रिक सम्बन्धो की अवहेलना, आदि।

नौकरशाही के दोषो को दूर करने के सुझाव
(Suggestion for the removal of these Defects)

नौकरशाही मे अनेक दोष हैं, परन्तु ऐसा नही कि उन्हें दूर नही किया जा सकता। इन दोषो को दूर करने के लिए नीचे कुछ सुझाव दिये जा रहे हैं—

(1) नौकरशाही मे अधिकारियो के पास शक्ति का केन्द्रीयकरण होता है जिसके फलस्वरूप उनमे पृथकता, लोचहीनता, भावुकता का अभाव, स्थानीय दशाओं के विषय मे अज्ञानता, कार्य मे विलम्ब तथा कार्य का बंडल-पन की प्रवृत्ति पनपती है। विकेन्द्रीयकरण के परिणामस्वरूप अधिकारियो को छोटी-छोटी समस्याओ के

समाधान के लिए उच्च अधिकारियों के आदेशों की प्रतीक्षा नहीं करनी होगी। वे स्थानीय आवश्यकतानुसार निर्णय लेकर समस्या को हल कर सकते हैं। ऐसा करने से कार्यों में देरी भी नहीं होगी और कार्य भी सरलता से हो जाते हैं। इस प्रकार अधिकारियों की शक्ति को सीमित करने के लिए सत्ता का विकेन्द्रीकरण कर देना चाहिए। यह अधिकारियों की बढ़ती हुई सत्ता पर लगाया जाने वाला सबसे प्रमुख शक्ति अवरोध है।

(2) विद्वानों ने नौकरशाही के दोषों को दूर करने का दूसरा सुझाव यह दिया है कि लोक-कर्मचारियों पर मन्त्रि-मण्डल तथा संसद् का प्रभावशाली नियन्त्रण होना चाहिए।

(3) ऐसे प्रशासकीय ट्रिब्यूनलों की स्थापना की जानी चाहिए, जिनमें नागरिक अधिकारियों के विरुद्ध शिकायतें कर सकें और उनको दूर करा सकें। यह सुविधा प्रदान करते समय किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए।

(4) लोक-प्रशासन में नौकरशाही के दोषों को दूर करने का यह भी सुझाव दिया है कि उसे सामान्य जनता के प्रति उत्तरदायी बनाया जाए। ऐसा होने से नौकरशाही अपने-आप को एक पृथक वर्ग के रूप में संगठित नहीं कर सकेगी।

(5) प्रशासन को अधिक उपयोगी और सार्वक बनाने के लिए सामान्य जनता का सहयोग प्राप्त किया जाना चाहिए। गैर-सरकारी लोगों का प्रशासन में योगदार प्राप्त करके सच्चे अर्थों में उसे प्रजातन्त्रात्मक बनाया जा सकता है। इससे नौकरशाही को और अधिक उत्तरदायीपूर्ण बनाया जा सकता है।

(6) प्रशासकों व नागरिकों के बीच प्रभावशाली संचार व्यवस्था का होना जरूरी है। पत्र-व्यवहार, संदेशों का आदान-प्रदान एवं अन्य माध्यमों से दोनों को एक-दूसरे की बात सुनने व कहने की पर्याप्त सुविधा होनी चाहिए।

इससे भी नौकरशाही को नियन्त्रित रखा जा सकता है।

प्रो० रॉबसन (Robson) ने नौकरशाही के दोषों को दूर करने के निम्न सुझाव दिए हैं

(क) नौकरशाही में प्रशासकीय कर्मचारियों पर मन्त्रि-मण्डल तथा संसद् का प्रभावशाली नियन्त्रण होना चाहिए।

(ख) प्रशासकीय कर्मचारियों को एक सामान्य नागरिक के प्रति भी जवाबदेह होना चाहिए।

(ग) शासक और नागरिकों के बीच सीधा पत्र-व्यवहार होना चाहिए अर्थात् सरकारी विभाग उन लोगों के बीच, जिनकी कि वे सेवा करते हैं, पत्र-व्यवहार सीधा एवं प्रभावशाली होना चाहिए।

(घ) प्रशासन के कार्यों में गैर-सरकारी लोगों को भी समुचित भाग देना चाहिए।

(ड) सिविल सेवा मे आर्थिक तथा सामाजिक वर्गों का प्रतिनिधित्व होना चाहिए ।

नौकरशाही व्यवस्था के अध्ययन के पश्चात् निष्कर्ष के तौर पर यह कहा जा सकता है कि नौकरशाही मे अधिकारी राष्ट्र की सेवा करते है । जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि इसमे अधिकारी ईमानदारी, योग्यता एव सतर्कता से कार्य करता है फिर भी आवश्यकता इस बात की है कि इस प्रकार के प्रशासन मे सुधार की आवश्यकता है न कि उसे पूर्णतया समाप्त करने की माँग । नौकरशाही मे लोक-प्रशासन के अधिकारी अच्छा कार्य करते हैं तो उनकी प्रशसा की जानी चाहिए तथा खराब कार्य करने पर उनकी भर्त्सना । नौकरशाही आधुनिक युग की अनिवार्य आवश्यकता है और इसे समाप्त नही किया जा सकता । होना यह चाहिए कि उन पर उचित नियन्त्रण रखा जाए जिससे उनकी उपयोगिता प्राप्त की जा सके और वे जनता के सेवक बन सके ।

कुलीनतान्त्रिक पद्धति
(Aristocratic System)

लोक-प्रशासन मे पदाधिकारियो एव कर्मचारियो की व्यवस्था नौकरशाही पद्धति के अतिरिक्त कुलीनतन्त्रीय पद्धति के आधार पर की जाती है । प्राचीन तथा मध्यकाल मे इस पद्धति का प्रचलन था । इग्लण्ड तथा फ्रान्स मे यह पद्धति बहुत समय तक चलती रही । इसमे शासन का सचालन कुलीनो (धनी या प्रतिष्ठित व्यक्ति) के द्वारा होता है । उच्च पद तथा सेवाओ पर समाज के उच्चवर्ग के व्यक्तियो का एकाधिकार होता है । कुलीनतन्त्र मे निम्न जाति का व्यक्ति किसी उच्च सैनिक अथवा असैनिक पद पर नियुक्त नही किया जाता था । इस पद्धति मे विभिन्न श्रेणियो के कर्मचारियो के मध्य स्पष्ट आर अलोचशील रेखा होती थी और एक पद पर कार्य करने वाले कर्मचारी को कार्य-कुशलता और योग्यता के आधार पर ऊँचे पद पर पहुँचने मे बहुत कठिनाई होती है । कुछ पद तो ऐसे थे जिन पर कोई प्रतियोगिता परीक्षा नही होती थी । वे केवल सामन्त या कुलीनो के लिए सुरक्षित थी । अन्य कोई व्यक्ति चाहे कितना ही योग्य क्यो न हो पद प्राप्त नही कर सकता है । इस प्रकार यह पद्धति योग्यता सिद्धान्त के प्रतिकूल है साथ ही प्रगतिशीलता की विरोधी भी है । कुछ छोटे पदो के लिए प्रतियोगिता परीक्षा की व्यवस्था थी । परन्तु इग्लैण्ड मे यह परीक्षा इतनी कठीन थी कि साधारणतया ऑक्सफोर्ड तथा केम्ब्रिज विश्वविद्यालयो (Universities of Oxford and Cambridge) के स्नातक ही उसमे पास हो पाते । इस प्रकार जो विद्यार्थी इन विश्वविद्यालयो मे शिक्षा प्राप्त करने का अवसर पा सकते थे, वे ही इन पदो को प्राप्त कर सकते थे । शेष विश्वविद्यालयो के विद्यार्थी इस अधिकार से वंचित रहते थे ।

कुलीनतान्त्रिक पद्धति भी उन्ही सिद्धान्तो पर आधारित होती है, जिन सिद्धान्तो के अनुसार सेना विभाग मे पदाधिकारी पद्धति का सगठन किया जाता है ।

सेना विभाग की भाँति निर्देशकीय पदाधिकारियों (Directing Personnel) अर्थात् अधिकारी वर्ग तथा सामान्य कर्मचारियों अथवा सहायक वर्ग के बीच पृथकता के सिद्धान्त को अपनाया जाता है। जिस प्रकार सैन्य विभाग के कर्मचारियों को एक पद से दूसरे पद पर पहुँचने के लिए कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है उसी प्रकार कुलीनतान्त्रिक पद्धति में एक प्रशासकीय कर्मचारी को उच्च पद पर पहुँचने में कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। कुछ समय पूर्व यह पद्धति इंग्लैंड तथा फ्रान्स में शासन का आधार थी। परन्तु इस पद्धति में कई दोष उत्पन्न हो गये। प्रो० हरमन फाइनर (Herman Finer) ने फ्रान्स की शासन-पद्धति का, जो कुछ हेर-फेर के साथ इंग्लैण्ड में भी प्रचलित थी, उल्लेख किया है। उनके अनुसार—

'फ्रान्स में महान् क्रान्ति होने के पूर्व समस्त राज्य में एक दर्जन अथवा कुछ अधिक पदों को छोड़कर शेष समस्त उच्च पद केवल व्यक्तिगत क्रय, उपहार, अथवा उत्तराधिकार के द्वारा प्राप्त किये जाते थे। लगभग समस्त सरकारी पद व्यक्तिगत सम्पत्ति का एक प्रकार से भाग बने हुए थे और एक विस्तृत व्यवहार शास्त्र के द्वारा इनके हस्तान्तरण की व्यवस्था की जाती थी। ये पद बेचे जा सकते थे, या उत्तराधिकार के आधार पर वंश-परम्परागत माने जाते थे। यह दोहरी प्रवृत्ति रखते थे एक तो ये सम्पत्ति माने जाते थे तथा दूसरा इन सरकारी कार्य का होता था। उस समय जो व्यक्ति सरकारी पद को प्राप्त करना चाहता था, वह पद के स्वामी से सम्पत्ति के रूप में उसे खरीद लेता था और सरकारी कार्य करना प्रारम्भ कर देता था। केवल सम्राट को यह अवसर प्रदान करता था कि वह उससे उस पद को सम्भालने की क्षमता की गारण्टी की माँग कर सके; परन्तु वास्तव में सम्राट तथा उसके अधिकारी, जिनके रजिस्टरों में इन हस्तान्तरणों तथा पद-नियुक्तियों का लेखा किया जाता था, ऐसी गारण्टियों की माँग ही नहीं करते थे। वे तो व्यक्तिगत रूप से मिलने वाली फीसों, रिश्वतों तथा ऐसी अन्य बातों से पूर्णतया सन्तुष्ट रहते थे। वैसे कोई भी व्यक्ति किसी पद को कीमत देकर कानूनी रूप से उसका अधिकारी नहीं बन सकता था; परन्तु व्यवहार में प्रत्येक व्यक्ति कीमत चुका कर पद प्राप्त कर लेता था। योग्य व्यक्ति को यदि धन एवं परिवार का समर्थन प्राप्त नहीं था, तो वह सरकारी पदों से बिल्कुल बहिष्कृत था। संक्षेप में व्यवस्था यह थी कि धन लेकर पदों की बिक्री की जाती थी और यह बिक्री पक्षपात से प्रभावित होती थी।"

प्रो० हरमन फाइनर के उपर्युक्त कथन को पढ़ने से कुलीनतान्त्रिक पद्धति स्पष्ट रूप से समझ में आ जाती है। इस पद्धति की निम्न विशेषताएं हैं—

(1) इस पद्धति में विभिन्न स्तरों के अधिकारियों के बीच अन्तर की स्पष्ट रेखा खींच दी जाती है। इसमें निम्न श्रेणी के व्यक्ति उच्च श्रेणी में पदोन्नति के

द्वारा जा सकें, ऐसी व्यवस्था नहीं होती। यदि कोई कर्मचारी अपने भाग्यवश निम्न स्तर से ऊपर के स्तर पर पहुँच जाता है तो उसे अपवाद माना जाता है। इंग्लैण्ड में लोक-प्रशासन के कर्मचारियों में दो वर्ग होते हैं—प्रशासकीय वर्ग तथा कार्यपालिका वर्ग। भारत में भी प्रशासकीय सेवाओं तथा कार्यपालिका के बीच भेद पाया जाता है। प्रशासकीय वर्ग के पुन: दो भाग किये जाते हैं, एक उच्च प्रशासकीय अधिकारी तथा दूसरे अन्य। प्रथम भाग में वे अधिकारी आते हैं जो विभागों एवं राजनीतिक अध्यक्षों के बीच कड़ी का कार्य करते हैं। ब्रिटेन में इन्हें स्थायी अवर सचिव तथा सहायक सचिव कहते हैं। इनकी नियुक्ति सिविल सेवा अधिनियमों के आधार पर होना आवश्यक नहीं है, बल्कि इनकी नियुक्ति का आधार नियुक्ति अधिकारी का विवेक होता है। यद्यपि इस बात का ध्यान अवश्य रखा जाता है कि नियुक्ति किये गये व्यक्ति में प्रशासकीय योग्यता हो, पर इसके लिए किसी विशिष्ट तकनीकी ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती।

(2) इस पद्धति में स्पष्टतया लोक-प्रशासन में तीन स्तर होते हैं—उच्च स्तर पर प्रशासकीय वर्ग, मध्य स्तर पर लिपिक वर्ग तथा नीचे के स्तर पर निम्न वर्ग होते हैं।

(3) कुलीन-तान्त्रिक पद्धति में उच्च वर्ग के अधिकारियों की नियुक्ति नियुक्ति-अधिकारी के विवेक के आधार पर की जाती है तथा अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति का आधार प्रतियोगिता परीक्षा होती है जिसका मापदण्ड काफी ऊँचा रखा जाता है।

(4) कुलीन-तन्त्रीय प्रणाली की एक विशेषता यह है कि वहाँ की लोक-सेवा को जीवनोपार्जन का एक स्थायी तरीका माना जाता है। प्रारम्भिक अवस्था में ही पदाधिकारियों की नियुक्ति कर दी जाती है और इसके पश्चात् उन्हें लोक-प्रशासन की टेक्नीक में प्रशिक्षण दिया जाता है। पदाधिकारी लोक-सेवा को छोड़ कर अन्य सेवाओं में न चले जाएँ, इसके लिए उनको नौकरी की सुरक्षा, पद वृद्धि, वेतन तथा अवकाश प्राप्ति आदि की समुचित व्यवस्था की जाती है।

(5) इस पद्धति की अन्तिम विशेषता यह है कि कर्मचारियों की नियुक्ति सामान्य शिक्षा के आधार पर होती है न कि तकनीकी योग्यता के आधार पर।

कुलीनतन्त्र पद्धति के गुण
(Merits of Aristocratic System)

(1) कुलीनतन्त्र पद्धति का सबसे बड़ा गुण यह है कि इसमें लोक-प्रशासन के कर्मचारियों में उत्तरदायित्व तथा कार्यकुशलता पाई जाती है। इस पद्धति में प्रत्येक विभाग का एक राजनैतिक अध्यक्ष होता है, जो अपने सभी कार्यों के लिए जनता के प्रति उत्तरदायी होता है। दूसरी ओर प्रत्येक विभाग में प्रशासकीय अध्यक्ष होता है, जिसकी नियुक्ति उस पद पर लम्बे प्रशासनिक अनुभव के आधार पर की जाती

है, जिसके परिणामस्वरूप उसमें कार्यकुशलता का गुण होना स्वाभाविक है। अतः उत्तरदायित्व एवं कार्यकुशलता दोनों ही इस पद्धति में पाई जाती हैं।

(2) इस पद्धति का दूसरा लाभ यह है कि इसमें उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति योग्यता एवं अनुभव के आधार पर होने से वे राजनीतिक विभागाध्यक्ष अर्थात् मन्त्रियों को प्रशासन चलाने में महत्त्वपूर्ण सहायता करते हैं। इन अधिकारियों की सहायता से ही वे प्रशासन का चलाने में सफल होते हैं।

(3) इस पद्धति का एक गुण यह बताया जाता है कि इस पद्धति में नियुक्तियों का आधार सामान्य ज्ञान होता है, जिससे उनका दृष्टिकोण व्यापक होता है अर्थात् उनके संकीर्ण विचार नहीं होते।

(4) इस पद्धति में यह सेवा जीविकोपार्जन का स्थायी साधन बन जाता है।

(5) इस पद्धति में अधिकारी लालफीताशाही व संकीर्ण दृष्टिकोण से ग्रस्त नहीं होते।

(6) कुलीनतान्त्रिक पद्धति में एक ऐसे वर्ग की स्थापना हो जाती है जो प्रशासकीय अधिकारियों की पूर्ति करता रहता है। सरकार को उनकी खोज की आवश्यकता नहीं रहती।

कुलीनतन्त्र पद्धति के दोष
(Demerits of Aristocratic System)

एक ओर जहाँ कुलीनतन्त्र पद्धति में उपर्युक्त गुण पाये जाते हैं वहाँ उसमें कई दोष भी हैं। मुख्य दोष निम्न हैं—

(1) इस पद्धति का मुख्य दोष यह है कि यह अप्रजातान्त्रिक (Undemocratic) है। अप्रजातान्त्रिक का अर्थ है कि यह सिविल सर्विस को जन्म न देकर एक प्रशासकीय वर्ग को जन्म देती है। इस पद्धति के लिए यह कहा जाता है कि प्रशासन के उच्च पदों पर केवल उन लोगों की नियुक्ति होती है जिनका समाज के उच्च वर्ग के साथ सम्बन्ध होता है। परन्तु इस आलोचना के उत्तर में यह कहा जाता है कि इस दोष को दूर करने के लिए विश्वविद्यालयों में गरीब छात्रों को छात्रवृत्तियाँ देकर तथा समाज के पिछड़े वर्ग के लिए स्थान सुरक्षित कर इस दोष को दूर किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त यदि भारत तथा ब्रिटेन में प्रशासनिक सेवाओं के संगठन की ओर दृष्टिपात किया जाए तो आसानी से यह कहा जा सकता है कि दोनों देशों में उच्च प्रशासनिक पदों पर समाज के उच्च वर्ग के सदस्य पाये जायेंगे।

(2) इस पद्धति का दूसरा महत्त्वपूर्ण दोष यह है कि इसमें निम्न वर्ग के कर्मचारी उच्च पदों पर पदोन्नति के द्वारा नहीं पहुँच सकते। उन्नति के मार्ग बहुत सीमित होने से उनका उत्साह, लगन तथा कार्य-क्षमता कम होती जाती है।

(3) इस पद्धति का एक यह भी दोष है कि इसमें कर्मचारियों की नियुक्ति तकनीकी योग्यता के आधार पर नहीं होती इससे कई विशेषज्ञ प्रशासन में नहीं आ सकते। इसमें केवल सामान्य ज्ञान वाले लोगों को ही नियुक्ति दी जाती है।

(4) इस पद्धति मे यह भी एक दोष बताया जाता है कि इसमे प्रशासक वर्ग बहुधा रूढ़िवादी होता है। इसका मुख्य कारण यह होता है कि उच्च प्राशासनिक पदो पर समाज के प्राय: उच्च वर्ग के लोग होते हैं जो परिवर्तन के विरुद्ध होते हैं। लेकिन इस बात मे बहुत कम सत्यता है। इतिहास साक्षी है कि इग्लैण्ड मे 1945 से 1950 तक लेबर पार्टी ने शासन किया उसे अपने राष्ट्रीयकरण के कार्यक्रम को क्रियान्वित करने मे लोक-प्रशासन के कर्मचारियो का पूरा सहयोग मिला।

(5) इस पद्धति की आलोचना यह कह कर भी की जाती है कि इसमे सेवा मे प्रवेश करने के लिए कम आयु सीमा रखी जाती है जिससे छोटी उम्र के लोग जिनको कम अनुभव होता है, सरकारी नौकरियो मे प्रवेश पा जाते हैं। जबकि सरकार को उस आयु सीमा के बाहर बहुत से अनुभवी तथा योग्य व्यक्ति मिल सकते हैं। होना यह चाहिए कि राज्य को यह अधिकार होना चाहिए कि वह देश के किसी भी कोने से अनुभवी तथा योग्य व्यक्ति को नियुक्त कर सके। दूसरी ओर प्रत्येक नागरिक को बिना किसी आयु के बन्धन के अपनी सेवाओ से राज्य को लाभान्वित करने का अधिकार होना चाहिए।

प्रजातान्त्रिक पद्धति

(Democratic System)

पदाधिकारियो की व्यवस्था मे तीसरी व्यवस्था प्रजातान्त्रिक पद्धति है। जब किसी देश मे पदाधिकारियो की नियुक्ति प्रजातान्त्रिक सिद्धान्तो पर आधारित होती है तो उसे प्रजातान्त्रिक पद्धति कहा जाता है। आधुनिक युग प्रजातन्त्र का युग है और इस पद्धति को प्रजातान्त्रिक देशो मे अपनाया जा रहा है। अमेरिका मे यह पद्धति पूर्णरूप से पाई जाती है। इस पद्धति को प्रजातान्त्रिक इसलिए कहा जाता है कि यह प्रजातन्त्र के मूल सिद्धान्तो या मान्यताओ के अनुकूल है। सं० रा० अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति जैक्सन के अनुसार, "किसी व्यक्ति को सरकारी पद प्राप्त करने का किसी अन्य व्यक्ति से अधिक जन्मजात अधिकार प्राप्त नहीं है।" ("No one has any more intrinsic right to official station than another")

इस पद्धति का साधारण भाषा मे अर्थ यह है कि इसमे पद पाने के लिए न तो आयु की सीमा होती है और न निम्न वर्ग से उच्च वर्ग तक पहुचने पर प्रतिबन्ध होता है। प्रत्येक व्यक्ति योग्यता के अनुसार पद पाने का अधिकार रखता है। उन्नति के अवसर हर नागरिक के लिए हर समय खुले रहते हैं। भारत तथा ब्रिटेन मे भी इस पद्धति को स्थान दिया गया है, परन्तु पदाधिकारियो की नियुक्ति के सम्बन्ध मे यहाँ पूर्ण प्रजातान्त्रिक सिद्धान्त नही मिलते। इस पद्धति की निम्न विशेषताएँ हैं—

(1) इस पद्धति मे सरकारी सेवा मे आने के लिए कोई आयु, सीमा नही होती। भारत मे सरकारी सेवा मे आने की उम्र 18 से 25 वर्ष है। इसके विपरीत

सं०रा० अमेरिका में आयु सीमा 18 से 45 वर्ष रखी गई है। इससे अनुभवी व योग्य व्यक्ति मिल जाते हैं जो प्रशासन की सफलता के लिए आवश्यक है।

(2) इस पद्धति की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें प्रशासकीय सेवाओं में वर्ग-भेद नहीं होता। कोई भी निम्न कर्मचारी अपने योग्यता के आधार पर सर्वोच्च पद पर पहुँच सकता है। इसमें पदोन्नति के लिए कुछ कसौटियाँ निर्धारित कर दी जाती हैं। उन कसौटियों पर सफल होने पर कर्मचारी की पदोन्नति कर दी जाती है।

(3) इस पद्धति में अधिकारियों की नियुक्ति सामान्य योग्यता के आधार पर नहीं की जाती, अपितु तकनीकी योग्यता को महत्त्व दिया जाता है। अतः प्रशासनिक पदों पर उन्हीं लोगों को नियुक्त किया जाता है जिन्हें उस पद के लिए आवश्यक विशेषज्ञान पहले से ही प्राप्त हो।

(4) इस पद्धति में लोक सेवा जीविकोपार्जन का एक स्थायी व्यवसाय नहीं है। इसमें कोई भी व्यक्ति किसी समय लोक सेवा में भर्ती हो सकता है और उसे किसी भी समय छोड़ सकता है। कुलीनतन्त्र पद्धति में इस प्रकार की बात नहीं होती। वहाँ लोक सेवा में भर्ती की आयु-सीमा 21 वर्ष से 24 वर्ष होती है। इसके बाद की आयु के लोग जीवन भर लोक सेवा में प्रवेश नहीं पा सकते।

प्रजातान्त्रिक पद्धति के गुण
(Merits of Democratic System)

प्रजातान्त्रिक पद्धति के विद्वानों ने कई गुण बताये हैं जिनमें मुख्य निम्न हैं—

(1) इस पद्धति का सबसे महत्त्वपूर्ण गुण यह है कि इसमें कर्मचारी को समान अवसर दिये जाते हैं। इसमें वे लगन तथा सन्तोष से कार्य करते हैं।

(2) यह पद्धति योग्यता तथा अनुभव पर आधारित है। इसमें धन तथा जन्म या वंश को किसी प्रकार का महत्व नहीं दिया जाता।

(3) इस पद्धति में कुलीनतन्त्र पद्धति की तरह कर्मचारियों की पदोन्नति पर किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं होता। प्रत्येक कुशल, योग्य तथा अनुभवशील व्यक्ति को पदोन्नति के समान अवसर दिये जाते हैं।

(4) प्रजातान्त्रिक पद्धति का एक गुण यह भी है कि कर्मचारियों की नियुक्ति की आयु सीमा एक प्रकार से नहीं के बराबर होती है। इससे चुनाव का क्षेत्र व्यापक हो जाता है तथा योग्य एवं अनुभवी व्यक्ति प्राप्त हो सकते हैं।

प्रजातान्त्रिक पद्धति के दोष
(Demerits of Democratic System)

(1) प्रजातान्त्रिक पद्धति का प्रमुख दोष यह है कि इसमें तकनीकी योग्यता पर आवश्यकता से अधिक बल दिया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि प्रशासकीय सेवाओं में प्रवेश पाने के लिए जिन प्रतियोगी परीक्षाओं की व्यवस्था की जाती है उनमें भी विभागों से सम्बन्धित विशिष्ट ज्ञान को ही महत्त्व दिया जाता है। सामान्य प्रशासकों का विकास सम्भव नहीं रहता।

(2) दूसरा इस पद्धति का दोष यह बताया जाता है कि यह पद्धति लोक सेवा को जीविकोपार्जन बनाने की प्रेरणा नहीं देती। इसमे अनेक नवयुवक सरकारी खर्चे पर प्रशासनिक अनुभव प्राप्त करते हैं और बाद में नौकरी छोड़ देते हैं तथा अपने अनुभव का उपयोग गैर-सरकारी उद्योगो में करते हैं जो उनके लिए अधिक लाभप्रद होता है।

उपर्युक्त तीनो पद्धतियो की विशेषताओं एवं गुण-दोषों का अध्ययन करने के पश्चात् यह प्रश्न हर लोक-प्रशासन के विद्यार्थी के मस्तिष्क में उत्पन्न होता है कि इन तीनों पद्धतियो में कौन-सी पद्धति श्रेष्ठ है। इस प्रश्न का उत्तर दिया जाना बहुत कठिन है। कारण यह कि प्रत्येक पद्धति की अपनी विशेषता है जो दूसरी पद्धति में नहीं पाई जाती। उदाहरण के तौर पर यह कहा जा सकता है कि कार्य-कुशलता की दृष्टि से नौकरशाही श्रेष्ठ है परन्तु यह पद्धति आधुनिक काल में सर्वथा अनुपयुक्त है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक पद्धति के कुछ दोष भी हैं। किस देश में किस प्रकार की पद्धति का विकास हो, यह उस देश की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक परिस्थितियो पर निर्भर करता है। जिन परिस्थितियो से स० रा० अमेरिका ने अध्यक्षात्मक शासन-व्यवस्था को अपनाया, ग्रेट ब्रिटेन ने संसदात्मक शासन-व्यवस्था को अपनाया है, उसी प्रकार लोक-प्रशासन की दृष्टि से स०रा० अमेरिका के लिए प्रजातान्त्रिक पद्धति उपयुक्त है तथा ब्रिटेन के लिए कुलीनतन्त्र पद्धति। अन्त में यह कहना ठीक होगा कि सभी पदाधिकारी पद्धतियो की समीक्षा के फलस्वरूप प्रजातान्त्रिक पद्धति ही सर्वश्रेष्ठ है।

पदाधिकारी पद्धति के आधारभूत सिद्धान्त
(Some Basic Principles of Personnel System)

ऊपर हमने विश्व के विभिन्न देशो में पाई जाने वाली मुख्य पदाधिकारी पद्धतियो का वर्णन किया है। किसी भी देश में चाहे किसी भी प्रकार की पदाधिकारी पद्धति हो, अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पदाधिकारी प्रशासन सम्बन्धी कुछ आधारभूत सिद्धान्त तो प्रत्येक पद्धति में समान रूप से पाये जाते हैं। इन आधारभूत सिद्धान्तों में मुख्यतया निम्न बातें आती हैं—

(क) पदाधिकारियो की अवधि पद्धति,
(ख) योग्यता बनाम लूट-खसोट पद्धति;
(ग) राज्य सेवा जीवन वृत्ति के रूप में, तथा
(घ) पदाधिकारियो का वर्गीकरण।

पदाधिकारियो की अवधि पद्धति
(Tenure System)

पदाधिकारी पद्धति के आधारभूत सिद्धान्तो में प्रथम प्रश्न उसमें पदाधिकारियों की अवधि का निर्णय करने सम्बन्धी उत्पन्न होता है। पदावधि के सम्बन्ध में हम तीन प्रकार की अवधि में विभेद कर सकते हैं। प्रथम, जहां नियुक्ति अधिकारी की

इच्छा पर अवधि निर्धारित होती है। द्वितीय, जहाँ पदाधिकारी की नियुक्ति निश्चित समय के लिए की जाती है, जैसे 4 वर्ष, 5 वर्ष या 6 वर्ष। तृतीय, जहाँ कर्मचारियों की नियुक्ति एक बार हो जाने के बाद वे निश्चित आयु 60 अथवा 63 वर्ष तक अपने पद पर कार्य करते रहते हैं।

पदाधिकारियों के लिए अवधि की कौनसी पद्धति अच्छी है, इस प्रश्न का निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता। वास्तव में इस बात का निर्णय कर्मचारी के स्वरूप पर निर्भर करता है।

प्रशासन में जहाँ राजनीतिक आधार पर नियुक्तियाँ की जाती हैं, उनकी अवधि पहले से ही निश्चित होती है। अतः यह पद्धति प्रशासकीय पदों के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। नियुक्ति अधिकारी की इच्छा पर अधिकारियों की अवधि को निर्धारित करना भी प्रशासकीय कर्मचारियों के लिए उचित नहीं है। इस पद्धति में सबसे बड़ा दोष यह है कि यदि पदाधिकारियों की पद अवधि नियुक्ति अधिकारी की इच्छा होती है तो प्रशासन में कई प्रकार की कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जायेंगी कारण कि अधिकारी किसी भी कर्मचारी से थोड़ा सा असन्तुष्ट होने पर उसे पद से हटा देगा चाहे वह कितना ही योग्य क्यों न हो। दूसरा दोष जो इस पद्धति में पाया जाता है वह यह है कि प्रशासन में स्थिरता तथा कार्यकुशलता उत्पन्न नहीं की जा सकती।

जहाँ तक निश्चित अवधि पद्धति का प्रश्न है यह उन नियुक्तियों के लिए तो उपयुक्त है जो राजनीतिक आधार पर की जाती हैं, परन्तु अन्य स्थायी कर्मचारियों के लिए यह पद्धति उपयुक्त नहीं समझी जाती है इसके निम्न दोष हैं—

(1) यह अवधि योग्य व्यक्तियों को राजकीय सेवा के लिए आकर्षित नहीं करती। अवधि का कार्यकाल छोटा होने से उनका प्रशिक्षण आदि भी असम्भव होता है।

(2) इस पद्धति का मुख्य दोष यह है कि पदाधिकारी कठोर परिश्रम तथा कार्य-कुशलता के साथ कार्य करने की भावना नहीं रखते कारण कि वे जानते हैं कि चाहे कितने ही परिश्रम के साथ कार्य किया जाय निश्चित अवधि के बाद वे हटा दिये जायेंगे।

(3) तीसरा इस पद्धति का दोष यह है कि प्रशासनिक पद राजनैतिक दलों की लूट-खसोट की वस्तु बन जायेंगे और प्रशासन में लूट-खसोट पद्धति के सभी दोष उत्पन्न हो जायेंगे। इन दोषों का वर्णन हम आगे करेंगे।

इन दो पद्धतियों का अध्ययन करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि इनमें से किसी पद्धति को प्रशासन में स्थान दिया जाता है तो कई बुराइयाँ उत्पन्न हो जायेंगी। अतः सफल प्रशासन के लिए तीसरी पद्धति को उत्तम माना गया है, जिसमें कर्मचारी अपने पद पर सन्तोषप्रद कार्य करते रहने से निश्चित आयु तक कार्य करते रहते हैं। इस पद्धति के निम्नलिखित गुण हैं—

(1) इस पद्धति को प्रशासन मे लागू करने से कार्य मे कुशलता बढ़ती है। इसका कारण यह है कि कर्मचारियो को अपने पद के स्थायित्व के सम्बन्ध मे आश्वासन प्राप्त हो जाता है कि वे सन्तोषप्रद कार्य करते रहेंगे तो उनको पद से नही हटाया जायेगा।

(2) इस पद्धति के परिणामस्वरूप सरकारी नौकरियाँ जीविकोपार्जन का एक स्थायी तरीका बन जाता है। इससे प्रशासन म योग्य तथा कुशल कर्मचारी मिल जाते हैं।

(3) इसमे पदोन्नति की भी उचित व्यवस्था रहती है। कार्य की कुशलता तथा योग्यता के आधार पर पदोन्नति की जाती है। इसमे कर्मचारियो मे कठोर परिश्रम करने की भावना उत्पन्न होती है।

योग्यता बनाम लूट-खसोट पद्धति
(Merit Vs Spoil System)

लोक-प्रशासन के कर्मचारियो की नियुक्ति के सम्बन्ध मे एक और पद्धति कार्य मे लाई जाती है, जिसे योग्यता बनाम लूट-खसोट पद्धति कहते हैं। यहाँ हम नीचे दोनो पद्धतियो के गुण तथा दोषो का वर्णन करेंगे।

लूट-खसोट पद्धति
(Spoil System)

आधुनिक युग मे विश्व के लगभग सभी देशो मे आज सिविल सेवा के कर्मचारियो की नियुक्ति का आधार योग्यता को स्वीकार किया गया है। लेकिन स०रा० अमेरिका मे लूट-खसोट पद्धति को महत्त्व दिया गया और आज भी किसी न किसी रूप मे वहाँ यह पद्धति प्रचलित है। लूट-खसोट पद्धति का अभिप्राय यह था कि चुनाव में जीतने वाला राजनीतिक दल राज्य के सभी सरकारी पदो पर इस सिद्धान्त के आधार पर अपने व्यक्तियो को नियुक्त करे कि 'लूट-खसोट का सम्बन्ध विजेताओ से ही होता है। इस प्रकार सरकारी पदो को 'लूट का माल' समझा जाता था और उस माल का उपभोग चुनावो मे जीतने वाला राजनैतिक दल करता था। अमेरिका मे जब नया राष्ट्रपति निर्वाचित होता है तो पुराने राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त अधिकारी त्याग-पत्र दे देते हैं और उन रिक्त स्थानो पर नये राष्ट्रपति को नियुक्ति का अधिकार मिल जाता है। इन पदो पर राष्ट्रपति अपने दल के सदस्यो, चुनाव मे सहायता करने वाले लोगो व अपने सहयोगियो को नियुक्त करता है। नियुक्ति के समय योग्यता को कोई महत्त्व नही दिया जाता। वर्तमान समय मे राजनीतिक पदो को छोड़कर लूट-खसोट पद्धति प्रशासकीय अधिकारियों पर लागू नही होती। स०रा० अमेरिका में सर्वप्रथम इस पद्धति को राष्ट्रपति जैक्सन ने चलाया था।

स०रा० अमेरिका मे इस पद्धति को कार्य-रूप देने के पक्ष मे यह मत दिया जाता है कि जब एक दल का शासन बदलता है तथा दूसरे दल का शासन आता है, तो नया दल पिछले सब उच्च अधिकारियो को पृथक् कर अपने दल के व्यक्तियो को

उन पदों पर नियुक्त करता है। इससे दल विशेष की नीति को चलाने में अधिक सफलता मिलती है। उसको आन्तरिक विरोध का भय नहीं रहता है। राजनीतिक आधार पर विजयी दल का यह पद-वितरण ही 'लूट-खसोट' की पद्धति कहलाता है। यह प्रणाली पहले कई देशों में पाई जाती थी। इस पद्धति की प्रशंसा करते हुए विलियम टर्न (William Turn) ने अपना मत व्यक्त किया है—

"यह एक अनोखी पद्धति है, जिसमें यह माना जाता है कि मनुष्य शारीरिक अवयव का सरल मिश्रण है, जो कि प्रयोगशाला की विधियों के आधीन होते हैं। इनके नमूनों के परीक्षण किये जाते हैं और उनके परिणामों के आधार पर उनकी सूचियाँ बना ली जाती हैं तथा उनको उस समय तक फाइलों में रखा जाता है, जब तक उसकी आवश्यकता न हो" " । उनका विश्वास है कि सिविल सेवक विचारशील नहीं होते, फलस्वरूप प्राप्त कर्मचारियों के समान उनकी प्रशासन में कोई अभिरुचि नहीं होती और वे काफी लम्बी अवधि तक अपने पद पर बने रहते हैं, वे दैनिक कार्य के अभ्यासी व्यक्ति बन जाते हैं, उन घोड़ों के समान, जिनकी दोनों आँखों के बाहर की ओर आड़ के लिए पट्टियाँ लगी रहती हैं, वे केवल एक ही दिशा की ओर देखते हैं " ।"

इस पद्धति के अध्ययन करने से इसकी कुछ विशेषताएँ हमारे सामने आती हैं, जिनमें से मुख्य निम्न हैं—

(1) इस पद्धति में प्रशासकीय पदों पर नियुक्तियाँ राजनीतिक दलों की जीत या हार पर आधारित होती है।

(2) इसमें लोक सेवा के कर्मचारी स्थायी पद प्राप्त व्यक्ति नहीं होते।

(3) इस पद्धति में चुनाव के पश्चात् विजयी दल अपने दल के लोगों में प्रशासनिक पदों का वितरण करते हैं।

लूट-खसोट पद्धति के गुण
(Merits of Spoil System)

इस पद्धति में निम्नलिखित गुण पाये जाते हैं—

(1) इस पद्धति में जो दल विजय प्राप्त करता है, वह अपने दल के व्यक्तियों को सैनिक तथा असैनिक पद बाँटता है। इसमें लोग दलों को जिताने के कार्य में भाग लेते हैं। जो लोग इस कार्य में भाग लेते हैं, वे दल की नीतियों को वास्तविक रूप में समझते हैं। उनके प्रशासन में आने पर राजनीतिक अधिकारियों में पूर्ण सहयोग तथा सद्भावना बनी रहती है।

(2) इस पद्धति का दूसरा गुण यह है कि इसमें दल-विशेष के कर्मचारी पूर्ण निष्ठा से कार्य करते हैं, जिससे पुनः आने वाले चुनाव में जनता उन्हें सहयोग दे। वे सार्वजनिक जन-कल्याण की नीतियों को बड़ी योग्यता तथा तत्परता से लागू करते हैं। उनमें आलस्य तथा उपेक्षा की भावना नहीं आ पाती।

स्वार्थ राजनैतिक कार्यों का प्रेरणा स्रोत बन जाता है''' '''''। लूट-प्रणाली की प्रमुख बुराइयों में से एक यह है कि सरक्षणता के प्रमादपूर्ण दुरुपयोग तथा अत्यधिक अपव्यय एवं भ्रष्टाचार ने दल को इतना अधिक निरंकुश तथा स्वच्छन्द बना दिया है कि देश का सद्विवेक तथा बुद्धिमत्ता अधिकतर सिद्धान्तहीन अज्ञानता और धृष्टतापूर्ण घातकों की दासता में बँध गये हैं।

डॉ० फाइनर (Dr. Finer) ने इस पद्धति के बारे में अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा है कि—

"इस व्यवस्था के परिणाम है—पूर्ण अदक्षता, सरकारी लागत खर्च में बढोतरी, नौकरी चाहने वाले एक वर्ग का जन्म, राजनैतिक भ्रष्टाचार, नियुक्तियों एवं विभागाध्यक्ष के समय एवं श्रम की बर्बादी और अन्ततः उनके द्वारा पद के लिए आवेदन-पत्र लेने से इन्कार।"

विलोबी महोदय (Willoughby) ने भी लूट-खसोट पद्धति की आलोचना निम्न शब्दों में की है—

"राजनीतिज्ञ जन-कल्याण के सम्बन्ध प्रयत्नशील नहीं होते और राजनीतिक दल का आधार जन-कल्याण के लक्ष्य की उपलब्धि न होकर भौतिक स्वार्थों के संघर्ष में विजय की चेष्टा बन जाती है।"

योग्यता पद्धति

(Merit System)

लूट-खसोट पद्धति के ठीक विपरीत एक और अधिकारियों के नियुक्ति की पद्धति है, जिसे योग्यता पद्धति कहते हैं। अनुभव ने इस बात को सिद्ध कर दिया है कि लोक-प्रशासन में कर्मचारियों की नियुक्ति योग्यता के आधार पर होनी चाहिए, न कि किसी दूसरे आधार पर। लोक-प्रशासन के कार्य को दक्षता तथा सुचारु रूप से चलाने के लिए योग्य कर्मचारियों की आवश्यकता होती है। योग्यता तथा पर्याप्त अनुभव के लिए एक व्यक्ति का सेवा में स्थायी रूप से लगा रहना आवश्यक माना गया है। प्रजातन्त्र में जहाँ हर 4–5 वर्ष पश्चात् चुनाव होते हैं तथा शासक दल भी बदल सकता है, वहाँ प्रशासन का कार्य शिथिल न पड़े इस दृष्टि से प्रजातान्त्रिक देशों में लोक-प्रशासन के कर्मचारियों का किसी भी दल का सदस्य होना कानून विरोधी माना गया है तथा वे किसी भी दल के साथ पक्षपात नहीं करेंगे, इस सम्बन्ध में आदेश जारी कर दिये जाते हैं। भारत में इस प्रकार की व्यवस्था है। इंग्लैण्ड तथा अमेरिका में भी योग्यता के आधार को ही अपनाया गया है।

इसके अन्तर्गत जीतने वाला राजनैतिक दल पहले की नियुक्तियों को ही मान्यता देता है, क्योंकि उसका आधार कोई और न होकर योग्यता ही होता है। इस प्रणाली के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को सार्वजनिक पद पाने का अधिकार अपनी योग्यता के आधार पर दिया जाता है न कि अपने जन्म, सम्पत्ति या नस्ल के आधार पर। इस प्रणाली की निम्नलिखित मुख्य विशेषताएँ हैं—

(1) योग्यता पद्धति में लोक-प्रशासन के कर्मचारियों की नियुक्तियाँ क्षमता या योग्यता के आधार पर निष्पक्ष संस्था के द्वारा होती हैं जिसे लोक सेवा आयोग कहते हैं।

(2) इस पद्धति में योग्यता 'खुली प्रतियोगिता' (Open Competition) के मापदण्ड से नापी जाती है अर्थात् प्रतियोगिता परीक्षाएँ होती हैं। भाग लेने का अवसर योग्य व्यक्तियों को दिया जाता है तथा चुने गये व्यक्तियों को नियुक्तियां प्रदान की जाती हैं।

(3) समस्त नागरिकों को समानता के आधार पर पद पाने का अवसर प्रदान किया जाता है।

(4) इसमें लोक-प्रशासन के कर्मचारियों का दलीय आधार नहीं होता है। वे तटस्थ रहते हैं।

(5) इस व्यवस्था में सरकारी नौकरी को जीविकोपार्जन का साधन बनाया जाता है।

(6) पदोन्नति भी इस व्यवस्था में योग्यता के आधार पर ही होती है न कि राजनैतिक आधार पर।

योग्यता-पद्धति के गुण

(Merits of Merit System)

योग्यता पद्धति सामान्यतया विश्व के सभी देशों में अपनाई गई है। इसके मुख्य गुण निम्न हैं—

(1) योग्यता प्रणाली का सबसे महत्वपूर्ण गुण यह है कि इसमें लोक सेवाओं का संगठन वैज्ञानिक आधार पर किया जाता है न कि राजनैतिक आधार पर। इसका परिणाम यह होता है कि न केवल प्रशासन में कार्यकुशलता आती है अपितु राजनैतिक वातावरण भी शुद्ध होता है।

(2) इस पद्धति के अपनाने से पक्षपात तथा अनैतिकता का अन्त हो जाता है जो कुलीनतन्त्र तथा लूट-खसोट पद्धति में पाया जाता है।

(3) इसमें योग्य व्यक्तियों की ही नियुक्तियाँ होती हैं। राजनीतिक आधार पर या वंश के आधार अयोग्य व्यक्तियों को स्थान नहीं दिया जाता।

(4) इस पद्धति में पदावधि की सुरक्षा होती है अर्थात् जीविकोपार्जन के रूप में अपनाया जाता है जिससे उनमें कार्य करने की भावना तथा प्रेरणा बढ़ती है।

(5) इसमें लोक प्रशासन के कर्मचारी दलगत राजनीति से दूर रहते हैं। कोई भी दल सरकार बनाये, वे सरकार के प्रति वफादार रहते हैं।

(6) इस पद्धति में जाति-भेद, रंग-भेद तथा धर्म-भेद की भावना का अन्त होता है तथा समानता, स्वतन्त्रता, एवं बन्धुत्व की भावना को प्रोत्साहन मिलता है।

योग्यता प्रणाली के दोष
(Demerits of Merit System)

योग्यता प्रणाली में अनेक गुण हैं। इन गुणों के होते हुए भी इस पद्धति में कुछ दोष पाये जाते हैं जो निम्न प्रकार हैं—

(1) प्रजातान्त्रिक युग में राजनीतिक दलों का बोलबाला होता है। मन्त्रिगणों के लिए कोई योग्यता होना आवश्यक नहीं माना गया है। वे लोग केवल राजनीति में ही व्यस्त रहते हैं और प्रशासन की ओर मुड़कर ही कम देखते हैं। इसका बुरा प्रभाव यह होता है कि लोक-प्रशासन के कर्मचारी योग्य होने से राजनीतिक प्रध्यक्ष को प्रभावित करने में सफल हो जाते हैं। इससे भ्रष्टाचार फैलने की भी सम्भावना रहती है।

(2) इस पद्धति में विशिष्टीकरण की भावना पनपती है। एक अधिकारी एक ही विभाग में कार्य कर सकता है, दूसरे विभाग का उसे तनिक भी ज्ञान नहीं होता।

जीवन-वृत्ति के रूप में राज्य या सरकारी सेवा
(Government Service as Carrier)

प्रारम्भ में जब राज्य के कार्य तथा व्यक्ति की आवश्यकताएँ सीमित थी तब लोक सेवा अपने स्वभाव से सरल तथा अप्राविधिक (Non-technical) थी जैसे-जैसे राज्य के स्वरूप में परिवर्तन आया लोक-सेवाओं में सदस्यों की संख्या बढ़ती गई और कार्य तकनीकी होता गया। और जब आज राज्य ने अपने को एक लोक-कल्याणकारी संस्था (Welfare Institution) बनाया है उसके कार्यों में और वृद्धि हुई है और साथ ही नागरिकों के प्रत्येक क्षेत्र में उनका कल्याण करना राज्य का उद्देश्य तथा कर्तव्य हो गया है। इस प्रकार लोक-सेवाओं की संख्या और उत्तरदायित्व में वृद्धि होती गई। अपने बढ़ते हुए कार्यों तथा उत्तरदायित्वों को राज्य तभी पूरा कर सकते हैं जब लोक सेवा में योग्यतम व्यक्ति भर्ती हो।

इस प्रकार प्रशासन को चलाने के लिए योग्य कर्मचारियों की आवश्यकता होती है। जब कर्मचारी किसी एक व्यवसाय में लगातार कई वर्षों तक कार्य करता रहता है तो वह अनुभवी तथा योग्य बन जाता है। लेकिन वह उस व्यवसाय में जमा रहे, इस हेतु कुछ आकर्षक वातावरण होना चाहिए। इस हेतु लोक-प्रशासन के कर्मचारियों को एक निश्चित आयु तक कार्य करने का अवसर दिया जाय। वास्तव में लोक-प्रशासन में कार्यकुशलता लाने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि सरकारी नौकरी को जीविकोपार्जन का स्थायी साधन बनाया जावे। स. रा. अमेरिका में 1933 में सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद् (Social Seecience Research Council) के द्वारा एक आयोग की नियुक्ति की गई। आयोग ने छानबीन करने के पश्चात् अपनी सिफारिश निम्नलिखित शब्दों में की—"हम सिफारिश करते हैं कि सरकार के निर प्रशासनिक कार्य को निश्चित रूप से जीवन वृत्ति सेवा का रूप दे दिया जाये।

इससे हमारा अभिप्राय यह है कि सरकारी सेवा को जीवनचर्या के रूप में बदल दिया जाय। क्षमता, चरित्र तथा निष्ठा वाले युवक एवं युवतियों के लिए सरकारी सेवा का मार्ग खुला रहे तथा सेवा के आधार पर प्रतिष्ठा एवं सम्मान के पदों के लिए उन्नति के अवसर सुलभ हों।"

विलोबी महोदय (Willoughby) ने 'जीवन वृत्ति के रूप में सरकारी सेवा' की परिभाषा करते हुए लिखा है कि—"यह ऐसा तरीका है जिसमें समस्त नागरिकों को सरकारी नौकरी में प्रवेश पाने के समान अवसर होते हैं, एक ही प्रकार की बुद्धि एवं योग्यता पर आधारित कार्य करने वाले कर्मचारियों को एक सा वेतन मिलता है; सबको उन्नति के समान अवसर होते हैं, सबको सभी लाभदायक शर्तें तथा सेवा निवृत्ति भत्ते में समान रूप से हिस्सा प्राप्त होता है तथा जिसमें सभी कर्मचारियों से समान प्रकार की माँग की जाती है।" अमेरिका में सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद् के द्वारा नियुक्त आयोग ने 'जीवन वृत्ति' का अर्थ बतलाते हुए लिखा है—"यह एक सामान्य व्यवसाय है जिसे कि एक व्यक्ति सामान्यतया प्रगति की आशा से अपनी युवावस्था में अपनाता है और निवृत्ति काल तक उसे बनाये रखता है।"

जीविकोपार्जन के रूप में लोक सेवाओं के प्रयोग में हमारा अर्थ है कि ऐसा वातावरण तथा लोक-सेवाओं का क्रम निश्चित किया जाय जिससे सरकारी सेवा में भर्ती के बाद कर्मचारी अपने को अपनी स्थिति से भलिभाँति सन्तुष्ट रख सकें। जिस समय तक सरकारी कर्मचारियों में यह मनोवैज्ञानिक विश्वास उत्पन्न नहीं हो जाता कि सरकारी सेवा को जीवन-वृत्ति के रूप में अपनाने पर वे प्रगति कर सकेंगे, अन्यायपूर्ण एवं अस्थायी परिस्थितियों का उन्हें सामना नहीं करना पड़ेगा, उन्हें उनके परिश्रम के अनुसार वेतन मिलेगा, पक्षपात नहीं किया जायेगा और उनके अच्छे कार्यों की सराहना की जायेगी, उस समय तक सरकार अच्छे, योग्य, कुशल, कर्मठ, मेधावी व्यक्तियों को अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकेगी। इस प्रकार सरकार को ऐसा वातावरण व दशाएँ (Conditions) उत्पन्न करनी चाहिए जिससे सिविल सेवक सन्तोष अनुभव करे तथा और अपने-आप को सर्वोत्तम रूप से सेवा में लगा सके। एक जीवन-वृत्ति सेवा एक अच्छे तथा कुशल प्रशासन का सर्वश्रेष्ठ बीमा है। (A Career service is the best insurance of good and efficient administration.) लोग सरकारी सेवा को जीवन-वृत्ति के रूप में तब अपनाते हैं जबकि योग्यता के अनुसार उन्नति के अवसर प्रदान किये जाएँ।

सरकारी सेवाओं को आकर्षक बनाने के उपाय

(1) सरकारी सेवा में नियुक्ति की सुविधाओं का मार्ग समस्त नागरिकों के लिए खुला रखा जाये।

(2) समान कार्य करने वाले कर्मचारियों को वेतन समान दिया जाये।

(3) उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति राजनीतिक आधार पर नहीं होनी चाहिए अपितु प्रतियोगिता परीक्षा के द्वारा होनी चाहिए।

(4) पदोन्नति का आधार केवल योग्यता रखा जाये न कि पक्षपात या भाई-भतीजावाद।

(5) अयोग्य व्यक्तियों के हाथ में योग्य व्यक्तियों एवं प्रशिक्षित व्यक्तियों के हाथ में शिक्षित व्यक्तियों की नियुक्ति का अधिकार नहीं होना चाहिए।

(6) किसी भी कर्मचारी को अपने पद से हटाने से पूर्व उसे अपने ऊपर लगाये गये आरोपों के उत्तर का मौका दिया जाये।

(7) पद की सुरक्षा एवं स्थिरता होनी चाहिए।

यदि उपर्युक्त व्यवस्थाएँ लोक-प्रशासन में होंगी तो निश्चित ही योग्य, कर्त्तव्यपरायण एवं कुशल व्यक्ति सरकारी नौकरी को जीविकोपार्जन बनाने को तैयार हो जायेंगे।

जीवन-वृत्ति के सिद्धान्त के मार्ग में आने वाली बाधाएँ
(Hindrances in the way of Career Principle)

लोक-सेवाओं को जीवन-वृत्ति के रूप में अपनाये जाने के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ हैं। इनके परिणामस्वरूप लोग लोक-सेवाओं की तरफ आकृष्ट नहीं होते। ये बाधाएँ निम्न हैं—

(1) जीवन-वृत्ति के सिद्धान्त के विकास में प्रमुख बाधा यह है कि किसी भी विशिष्ट पद के लिए 'स्थानीय निवासियों' (Local People) की माँग की जाती है और कुछ पदों पर तो स्थानीय निवासी ही नियुक्त किये जाते हैं। उदाहरण के लिए शिक्षा विभाग में शिक्षकों की आवश्यकता है तो अधिसूचना (Advertisement) में यह लिखा जाता है कि प्रार्थी राजस्थान का निवासी होना चाहिए। इसी प्रकार सब राज्य में राज्य के पदों के लिए राज्य का ही निवासी होना अनिवार्य होता है। इससे राज्य के बाहर के योग्य व्यक्ति पदों के लिए आवेदन नहीं कर सकते। इससे चुनाव (Selection) का दायरा सीमित हो जाता है।

(2) पदोन्नति के कम अवसर जीवन-वृत्ति के सिद्धान्त की एक महत्त्वपूर्ण बाधा है। कर्मचारियों की पदोन्नति केवल उसी विभाग में की जाती है, जिसमें कि वे कार्य कर रहे होते हैं। जैसे रेल्वे कर्मचारियों की पदोन्नति केवल रेल्वे विभाग में ही की जा सकती है। इस प्रकार पदोन्नति के अवसर सीमित हो जाते हैं।

(3) लोक-सेवा को जीवन-वृत्ति के रूप में अपनाने के मार्ग में एक और बाधा यह है कि सरकारी सेवा में कर्मचारी एक ही प्रकार का कार्य करते-करते रूढ़िवादी बन जाते हैं जिससे प्रगतिशील नीतियों को लागू करने में उनका पूर्ण सहयोग प्राप्त नहीं होता।

इन बाधाओं ने लोक-सेवा को जीवन-वृत्ति के रूप में अपनाने को हतोत्साहित किया है। इस प्रवृत्ति का निदान किया जाना चाहिए जिससे अधिक से अधिक लोग लोक-सेवा को जीवन-वृत्ति के रूप में अपना सकें।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि लोक-सेवाओं को जीवन-वृत्ति के रूप में अपनाने के लिए सरकार को विशेष वातावरण व सुविधाओं की व्यवस्था करनी चाहिए जिससे प्रतिभावान व्यक्ति इस ओर आकृष्ट हो सके। इसके साथ यह भी आवश्यक है कि कर्तव्यों तथा उत्तरदायित्वों के आधार पर सब पदों का वर्गीकरण किया जाये जिससे विशेष समान पद-क्रम के लिए सभी विभागों में एक-सा वेतन, उन्नति के समान अवसर, एक ही सेवा-निवृत्ति आयु (Retirement Age), समान निवृत्ति वेतन (Pension) आदि सम्भव हो सके। सिविल सेवा में कई प्रकार की पद-श्रेणियाँ होती हैं। अत सभी श्रेणी के कर्मचारियों को समुचित प्रगति तथा पदोन्नति के अवसर प्रदान किये जाने चाहिए। कुछ श्रेणियों का अध्ययन नीचे किया जा रहा है—

(1) प्रशासन श्रेणी जीवन-वृत्ति के रूप में (The Administrative Class as a Career).—इस श्रेणी में आने वाले कर्मचारी सर्वोच्च प्रशासनिक कर्मचारी होते हैं, जैसे अंग्रेजी शासन काल में भारतीय सिविल सेवा (Indian Civil Services) के सदस्य तथा स्वतन्त्र भारत में भारतीय प्रशासनिक सेवा (Indian Administrative Services) के सदस्य। इसके सदस्य प्रशासन में उच्चतम पदों पर कार्य करते हैं। विभागों के स्थायी सचिव होने के नाते वे मन्त्रियों को परामर्श देते हैं और नीति निर्माण में भाग लेते हैं। अब देखा जाये तो इन कर्मचारियों के कन्धों पर सरकार के संचालन का उत्तरदायित्व रहता है। उच्च सिविल सेवा में आने वाले व्यक्तियों के लिए अधिकतम आकर्षण प्रदान किये जाने चाहिए जिससे वे सरकारी सेवा को स्थायी जीवन-वृत्ति के रूप में चुन सकें। इनको अच्छा वेतन, पदोन्नति की अच्छी व्यवस्था, सेवा-निवृत्ति के बाद सम्मान-पूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिए आकर्षक पेन्शन की व्यवस्था होनी चाहिए।

(2) विशेषज्ञों के लिए जीवन-वृत्ति (Career of Specialists)—आधुनिक सरकारें आज अनेक क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार के कार्य सम्पादित करती है। जैसे तकनीकी, व्यावसायिक, वैज्ञानिक कार्य आदि। राज्यों के कार्यों में वृद्धि और प्रशासन विधियों की बढ़ती जटिलता ने इन विशेषज्ञों की माँग में और वृद्धि की है। सरकार के इन उत्तरदायित्वों को पूरा करने के लिए अनेक तकनीकी तथा व्यावसायिक व्यक्ति सरकारी सेवाओं में लिये जाते हैं। योग्य विशेषज्ञ तभी प्राप्त हो सकते हैं जब उनको उन्नति के पर्याप्त साधन दिये जाते है साथ ही आधुनिक सुविधाएँ भी तकनीकी कर्मचारियों के उन्नति की दृष्टि से पदों के पद-सोपान (Hierarchy) के क्रम में वर्गीकृत (Classified) किया जाना चाहिए।

(3) लिपिक वर्ग तथा निम्न सेवाओं में जीवन-वृत्ति (Career for Clerical and Lower Personnel).—सरकार के दैनिक कार्यों को सम्पादित करने के लिए लिपिक वर्ग की आवश्यकता होती है। इन व्यक्तियों की नियुक्तियाँ योग्यता के आधार पर की जानी चाहिए। उनके सेवा काल में पदोन्नति के आकर्षक अवसर होने

चाहिए। इनकी नियुक्ति 18–21 वर्ष तक की जानी चाहिए। इनके पदोन्नति का आधार पूर्णतया योग्यता होनी चाहिए। इनकी प्रशासन में एक अलग श्रेणी होती है। सेवाओं में इस श्रेणी के नीचे एक और श्रेणी होती है जिसमें चपरासी, दफ्तरी, चौकीदार आदि आते हैं। यह श्रेणी सिविल सेवा की अन्तिम सीढ़ी है। इनका वेतन बहुत कम होता है। इन पदों के लिए कोई विशिष्ट योग्यता की आवश्यकता नहीं होती, केवल साधारण-सा ज्ञान ही पर्याप्त माना जाता है।

(4) राज्य तथा स्थानीय सरकारी सेवाओं में जीवन-वृत्ति (Career in State and Local Governments)—यह तो निर्विवाद है कि संघीय अथवा केन्द्रीय सेवाओं में वर्तमान वातावरण जीवन-वृत्ति की स्थापना के लिए अनुकूल है। लेकिन जहाँ तक राज्य सरकारों में सेवाओं की जीवन-वृत्ति का प्रश्न है, यह कहा जाता है कि कर्मचारियों को एक सेवा से दूसरी सेवा में जाने अथवा एक राज्य से दूसरे राज्य में जाने के अवसर नगण्य होते हैं। इसके अतिरिक्त पदोन्नति के साधन भी कम होते हैं। लेकिन यह कथन सत्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि जीवन-वृत्ति सेवाओं की स्थापना के लिए ये बातें आधारभूत नहीं हैं। जहाँ तक भारत का प्रश्न है, राज्यों में जीवन-वृत्ति सेवाओं की स्थापना में कोई कठिनाई नहीं है। राज्यों में राज्यीय स्तर की सेवाओं की स्थापना की गई है तथा अन्य विभिन्न प्रकार से कर्मचारियों को आकृष्ट करने के लिए पदोन्नति के अतिरिक्त पेन्शन, चिकित्सा सुविधा, अन्य भत्ते आदि की व्यवस्था है।

लेकिन स्थानीय सरकार में समस्या भिन्न है। स्थानीय इकाइयों का आकार इतना छोटा होता है कि कर्मचारियों की प्रगति के अवसर जीवन-वृत्ति की दृष्टि से नहीं के बराबर हैं। इसके अतिरिक्त भी कई परिस्थितियाँ हैं जो जीवन-वृत्ति सेवा की स्थापना में बाधक हैं। इन क्षेत्रों में सेवाओं का संगठन किसी अन्य तरीके से किया जा सकता है।

पद-वर्गीकरण
(Position Classification)

पदाधिकारी पद्धति के आधारभूत सिद्धान्तों में एक आवश्यक सिद्धान्त, पदों का वर्गीकरण भी माना जाता है। विभिन्न प्रकार की वस्तुओं में समानता रखने वाली वस्तुओं को पृथक्-पृथक् रखना, वर्गीकरण कहलाता है। लोक सेवाओं का भी वर्गीकरण उक्त आधार पर किया जाता है। यहाँ यह बात ध्यान रखने योग्य है कि लोक सेवाओं में वर्गीकरण का आधार कर्मचारीगण नहीं होते अपितु पद होते हैं। "पदों का कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व के आधार पर श्रेणियों में विभाजन करना ही लोक-सेवा का वर्गीकरण कहलाता है।" पदों का वर्गीकरण कार्य के आधार पर किया जाता है।

हरमन फाइनर (Herman Finer) वर्गीकरण की परिभाषा करते हुए लिखते हैं—"वर्गीकरण की समस्या सभी सेवकों को ऐसे कार्य पर लगाना है जिसे सम्पन्न करना उनके लिए न बहुत सरल हो और न बहुत कठिन और फिर उन

लोगों के साथ समान व्यवहार करना जो कि समान कार्य करते हैं और जहाँ किये गये कार्य की मात्रा तथा कोटि में अन्तर हो वहाँ उस सेवा को उसी अनुपात में पुरस्कृत करना है।"

मिल्टन एम० मेण्डेल ने वर्गीकरण की परिभाषा करते हुए कहा है कि—"वर्गीकरण का तात्पर्य है कर्तव्य एवं भर्ती के लिए अपेक्षित योग्यता की समानता के आधार पर स्थितियों को श्रेणी और समूहों में बाँटना।"

एल०डी० ह्वाइट (L D white) के अनुसार—"सम्पूर्ण पद-वर्गीकरण योजना एक वह आधार है जिस पर लोक सेवाओं की पदाधिकारी आवश्यकता का निर्माण हुआ है, सार्वजनिक रोजगार से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार के कार्य एवं उत्तरदायित्वों के तार्किक विश्लेषण का यह उद्भूत रूप है।" (The position classification plan as a whole is the skeleton on which the personnel requirement of the services are built It is derived from a logical analysis of the various types of work and degree of responsibility which are found within employment")

फिफनर (*Pfifner*) के अनुसार—"पद-वर्गीकरण योजना का सम्बन्ध कर्तव्यों के करने निहित उत्तरदायित्वों, शक्ति एवं निरीक्षण आदि से है जो उस पद के साथ जुड़े हुए हैं।" ("The position classification plan refers to the allocation of position to the classes on the basis of duties performed, the responsibilities involved and the authority and supervisory functions concerned")

टाइमा के अनुसार—"पद-वर्गीकरण योजना एक विधि है जिसका प्रयोग लोक-सेवाओं के क्षेत्र में, पदाधिकारी प्रक्रियाओं को सरल और सम-स्तर बनाने के लिए व्यापक रूप में किया जाता है।" ("The position classification plan is a device widely used in public service jurisdiction to simplify and standardise personnel procedures")

संयुक्त राज्य अमेरिका की 1945 में बनी 'वर्गीकरण समिति' ने अपनी रिपोर्ट में पद-वर्गीकरण की परिभाषा निम्न शब्दों में की है—

"सरलतम शब्दों में वर्गीकरण एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा तथ्यों के संग्रह और विश्लेषण के आधार पर यह ढूँढने का प्रयत्न किया जाता है कि सेवा में ऐसी कौन-कौन सी स्थित श्रेणियाँ हैं जिनके लिए अलग-अलग व्यवस्था अपेक्षित है, साथ ही इसमें उपलब्ध श्रेणियों का क्रम-बद्ध रिकॉर्ड और हर श्रेणी में प्राप्त विशेष स्थिति का लेखा-जोखा भी सम्मिलित है।"

वर्गीकरण की विधि

(Methods of Classification)

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि लोक सेवाओं का वर्गीकरण पदों के आधार पर होना चाहिए। लेकिन अब प्रश्न यह आता है कि पद

वर्गीकरण की विधि या तरीका कैसा होना चाहिए। इस सम्बन्ध में विशेषज्ञों के सुझाव निम्न हैं—

(1) एक ही प्रवृत्ति वाले सभी पदों को एक ही श्रेणी में एक साथ वर्गीकृत कर दिया जाना चाहिए। ऐसा करते समय विभागीय स्थिति, पद के नाम अथवा प्रतिफल या अन्य कोई तत्त्व की परवाह नहीं की जानी चाहिए, जो कि व्यवसाय की प्रकृति में नहीं पाया जाता हो।

(2) किसी पद के कार्य या व्यवसाय की प्रकृति का निर्धारण उस पद से सम्बद्ध कर्त्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों तथा उन योग्यताओं के द्वारा किया जाना चाहिए जो कि एक नये नियुक्तार्थी को उस पद के कार्य सम्पादन के योग्य बनाने के लिए आवश्यक हों।

(3) किसी भी पद के वर्गीकरण में वर्तमान पदाधिकारी के सेवा की श्रेष्ठता की मात्रा या किसी ऐसी योग्यता या, जिसे वह धारण करता हो अथवा उसके व्यक्तित्व पर आधारित अन्य किसी भी तथ्य या विचार नहीं किया जाना चाहिए।

पद-वर्गीकरण के लाभ
(Merits of Position Classification)

(1) इस सिद्धान्त से लोक-प्रशासन में कर्मचारियों की भर्ती की समस्या सुविधाजनक बन जाती है। भर्ती अधिकरण विभिन्न विभागों के आवश्यक वर्गों की नियुक्ति की व्यवस्था एक साथ कर देता है।

(2) इसमें पदोन्नति प्रत्येक कर्मचारी को निश्चित शर्तों के आधार पर मिलती है। प्रत्येक कर्मचारी को ये शर्तें मालूम होती हैं। अवसर आने पर पदोन्नति वरिष्ठता के आधार पर की जाती है।

(3) प्रतिफल का निर्णय कर्मचारी की योग्यता पर आधारित नहीं होता अपितु पद के कार्य की कठिनाइयों एवं उत्तरदायित्व पर होता है। पद जितने उत्तरदायित्व का होगा उतना ही उसका वेतन अधिक होगा।

(4) पद वर्गीकरण से सरकारी कर्मचारियों में परस्पर सहयोग की भावना बढ़ती है और यही कारण है कि वे संघ बनाने में सफल होते हैं।

(5) पद-वर्गीकरण का आधार 'समान कार्य के लिए समान वेतन' होता है। यह सिद्धान्त नैतिकता की स्थापना करता है। प्रो० फाइनर ने कहा है—"सर्वोत्तम वर्गीकरण से राजकीय सेवा में कम से कम बुराइयाँ और अधिक से अधिक अच्छाइयाँ आ जाती हैं।

(6) पद-वर्गीकरण में चुनाव का आधार योग्यता होने से कम भ्रष्टाचार होने की सम्भावना रहती है। इसमें रिश्वत तथा सिफारिशों को स्थान नहीं दिया जाता।

परीक्षोपयोगी प्रश्न

1. आधुनिक सिविल सेवा की विशेषताएँ तथा कार्यों का वर्णन कीजिए।

Describe the features of Modern Civil Service and discuss its functions

2. नौकरशाही से आप क्या समझते हैं? उसकी विशेषताओं का वर्णन कीजिए तथा इसके गुण-दोषों का वर्णन कीजिए।

What do you understand by Bureaucracy. Discuss its characteristics and show its merits and demerits.

3. योग्यता बनाम लूट-खसोट पद्धति का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए।

Examine critically Merit V, s Spoil System.

4. जीवन-वृत्ति के रूप में सरकारी सेवा के अर्थ को बताइए। सरकारी सेवाओं को आकर्षक बनाने के कुछ सुझाव दीजिये।

What do you understand by government service as career ? What suggestions can you give to make government service more attractive ?

10

लोक कर्मचारियों की भर्ती

लोक-प्रशासन में कर्मचारियों के महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। प्रशासन की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि उसमें लगे कर्मचारी योग्य, ईमानदार तथा कार्य-कुशल हों। इस प्रकार के कर्मचारी किस प्रकार से प्राप्त किये जायें अर्थात् उनकी भर्ती कैसे की जाये, यह लोक-प्रशासन की महत्त्वपूर्ण समस्या है। सामान्य अर्थ में 'भर्ती' शब्द को नियुक्ति का समानार्थक माना जाता है, परन्तु यह सही नहीं है। भर्ती का अर्थ हम गलत रूप से परीक्षाओं और साक्षात्कार से लगा लेते हैं जो वास्तव में भर्ती से सम्बन्धित बाद की सोपानें हैं। वास्तव में नियुक्ति, साक्षात्कार, परीक्षण आदि समस्त बातों के सामूहिक नाम को भर्ती कहा जाता है। मार्शल डिमॉक (Demock) के अनुसार, 'भर्ती का अर्थ सही व्यक्ति को एक विशेष कार्य पर लगाना है। हमें बहुत सारे कर्मचारी प्राप्त करने के लिए विज्ञापन देना होगा अथवा विशेष कार्य के लिए योग्यता प्राप्त व्यक्तियों को ढूँढना होगा।" डॉ० ह्वाइट (L.D White) के अनुसार, "प्रतिस्पर्धात्मक परीक्षाओं, रिक्त-स्थानों एवं पदों के लिए व्यक्तियों को आकृष्ट करना ही भर्ती है।" इस प्रकार किसी संगठन विशेष उचित एवं कार्यशील व्यक्तियों या कर्मचारियों की खोज ही भर्ती है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि योग्य, ईमानदार और कार्य-कुशल व्यक्ति ही प्रशासन को सफल बना सकते हैं—लेकिन इनको प्राप्त करना एक कठिन समस्या है। विशेष तौर से भारत जैसे विशाल देश के विशाल प्रशासकीय ढाँचे में लोक कर्मचारियों की संख्या अत्यधिक बढ़ जाने से, भर्ती की समस्या और भी कठिन बन गई है। किंग्सले (Kingsley) ने सार्वजनिक भर्ती की व्याख्या करते हुए लिखा है कि—"यह वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा लोक-सेवाओं के लिए उम्मीदवारों (Candidates) को स्पर्धात्मक रूप में आकर्षित किया जा सकता है।" डॉ० ह्वाइट के शब्दों में, "भर्ती की प्रक्रिया में हम विरोधी तत्त्वों में खींचा-तानी पाते हैं—एक ओर समानता तथा मानवता और दूसरी ओर विशेष योग्यता।" ("The process of recruitment illustrate admirably the tug and pull of the opposing forces of equalitarianism and humanitarianism on the one hand as aganist the claim of special competence on the other.") यह सर्वमान्य बात है कि भर्ती करते समय ध्यान यही रहता है कि पदों पर उचित

व्यक्ति ही नियुक्त हो, अतः भर्ती की कुछ ऐसी तकनीकें अपनाई जाती है जिससे योग्य व्यक्ति ही उस पद का अभ्यार्थी हो सके, और योग्यतम व्यक्तियो को छांटा जा सके और अयोग्य व्यक्तियो को नियुक्त होने से रोका जा सके। भर्ती सही ढग से किया जाना किसी भी कुशल प्रशासन की प्रथम एवं अनिवार्य शर्त है। ग्लैडन (Gladden) के शब्दो मे, "प्रशासन तन्त्र-जिसमें मानवीय तत्त्व कार्यरत रहते हैं—की उपयोगिता की मात्रा तथा प्रकृति इसी पर निर्भर करती है।" ("The nature and degree of usefulness of the administrative machinery to the service of which the human elements are dedicated") भर्ती ही शक्तिशाली लोक-सेवा की कुञ्जी है। जैसा कि स्टाल (Stahl) का कहना है "यह सम्पूर्ण लोक-कर्मचारियो के ढाँचे की आधारशिला है।" (Recruitment is Cornerstone of the whole public personnel structure")

अतः यह निर्विवाद है कि सार्वजनिक हित की अधिकतम उपलब्धि के लिए योग्य व्यक्तियो की ही सेवाएँ प्राप्त की जाएँ। सरकार की नीतियो को सफलतापूर्वक तभी लागू किया जा सकता है जब योग्य कर्मचारी ही नियुक्त हो। अयोग्य व्यक्तियो की भर्ती लोक-सेवाओ के लिए क्षय रोग से कम नही है। स० रा० अमेरिका की समाज विज्ञान अनुसधान परिषद् (Social Science Research Council of United States) द्वारा नियुक्त एक जाँच आयोग (1935) के प्रतिवेदन के अनुसार, "सेवा धृति का कोई भी तत्त्व भर्ती की नीति से अधिक महत्त्वपूर्ण नही होता है।" इसी प्रकार प्रो० जिन्क (Zink) का कथन है कि "भर्ती के अतिरिक्त लोक-प्रशासन का अन्य कोई भाग अधिक महत्त्वपूर्ण नही है, क्योंकि जिस समय तक आधारभूत सामग्री उचित नही होगी, उस समय तक प्रशिक्षण, निरीक्षण, सेवायापन, वर्गीकरण, खोज, कितनी ही व्यापक क्यो न हो, सार्वजनिक कर्मचारियों की पूर्ति न हो सकेगी।" ("No aspect of public administration is more important than recruiting, for unless the basic material is reasonably good, no amount in service training, supervision, service rating, classification or research will be able to provide an adeuate staff of public employees")

प्राचीन काल मे राज्य का महत्त्वपूर्ण कार्य देश मे शान्ति तथा सुरक्षा बनाये रखना तथा उसकी बाहरी आक्रमण से रक्षा करना था। अत. इन राज्यो को 'पुलिस राज्य' की विद्वानो ने सज्ञा दी है। प्राचीन काल मे राज्य बहुत छोटे हुआ करते थे और उनमे पदाधिकारियो की समस्या इतनी जटिल नही थी, क्योंकि राजा स्वयं इनकी नियुक्ति करता था तथा उन्हे पद से हटाने का भी अधिकार रखता था। परन्तु जैसे-जैसे छोटे राज्यो के स्थान पर बड़े राज्यो की स्थापना हुई तथा सरकार के कार्यों मे विस्तार हुआ, लोक-प्रशासन के कर्मचारियो की भर्ती की समस्या भी बढती गई। यह अनुभव किया जाने लगा कि कम खर्च व थोडे समय मे योग्य व अनुभवी कर्मचारियो की नियुक्ति किस प्रकार की जाए।

चीन विश्व का पहला देश था जिसने पदाधिकारियों की भर्ती की समस्या को वैज्ञानिक प्रकार से हल करने का प्रयत्न ईसा की दूसरी शताब्दी से प्रारम्भ किया। वहाँ पदाधिकारियों की भर्ती के सम्बन्ध में प्रतियोगिता परीक्षाओं को उत्तम आधार बताया। चीन में इसी आधार पर लोक कर्मचारियों की नियुक्ति की जाती थी। आधुनिक काल में प्रशा ने सर्वप्रथम प्रतियोगिता परीक्षा को अपनाया। इसके बाद सभी राज्यों में इस व्यवस्था को स्थान दिया गया है। भारत ने इस पद्धति को सन् 1853 से अपनाया है।

वास्तव में लोक-सेवा में ईमानदार, परिश्रमी, योग्य एवं कुशल कर्मचारियों की भर्ती एक साधारण कार्य नहीं है। यदि योग्य एवं कुशल कर्मचारी मिल जायें तो प्रशासन की आधी समस्या अपने-आप ही हल हो जाती है। कर्मचारियों की भर्ती की समस्या लोक-प्रशासन तथा निजी प्रशासन दोनों के सामने समान रूप से रहती है। निजी प्रशासन में भर्ती का प्रश्न पक्षपातपूर्ण हो सकता है क्योंकि वहाँ स्वामी का स्वार्थ सर्वोपरि होता है। निजी उद्योग में स्वामी अपने पुत्र, रिश्तेदार तथा अन्य की भर्ती करके पक्षपात दिखा सकता है और उसका कार्य इस प्रकार की भर्ती से कुशलता-पूर्वक चल सकता है। परन्तु लोक-प्रशासन में यह पक्षपात नहीं चल सकता। सं०रा० अमेरिका इसका उदाहरण है जहाँ पर लोक-प्रशासन के कर्मचारियों की नियुक्ति राजनीतिक आधार पर लूट-खसोट प्रणाली (spoil system) के द्वारा होती थी, जो कि बहुत बदनाम हुई और अन्त में वहाँ पर भी विवश होकर पक्षपात रहित नियम को अपनाना पड़ा।

भर्ती की नकारात्मक और सकारात्मक धारणाएं

(The Negative and Positive Concepts of Recruitment)

भर्ती की समस्या पर प्रत्येक देश की ऐतिहासिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और शैक्षणिक आदि तत्वों का प्रभाव पड़ता है। प्रायः इन तत्वों के आधार पर भर्ती के रूप अथवा प्रकार भी विकसित हो जाते हैं। लेकिन आज विश्व के सभी देशों में भर्ती योग्यता के आधार पर की जाती है। इसके लिए खुली प्रतियोगिता (Open Competition) तथा बाद में मौखिक परीक्षा (Oral test) की व्यवस्था की जाती है। लोक प्रशासन में की जाने वाली भर्तियों को मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—(1) नकारात्मक या निषेधात्मक भर्ती (Negative Recruitment), (2) सकारात्मक या निश्चयात्मक भर्ती (Positive Recruitment) नकारात्मक भर्ती का आशय यह है कि जब भर्ती का उद्देश्य अयोग्य और अनुचित व्यक्ति को लोक सेवाओं से दूर रखना है या लोक सेवा से राजनीति के प्रभाव को हटाना हो तो इसे भर्ती की निषेधात्मक या नकारात्मक विचारधारा की संज्ञा दी जाती है। उदाहरण के लिए सं० रा० अमेरिका में जब लूट-प्रणाली (Spoil System) के दोषों को समाप्त करने के लिए लोक-सेवा आयोगों का निर्माण किया गया तो इस योजना का उद्देश्य नकारात्मक था। अर्थात् लोक सेवा आयोगों का कार्य सेवाओं से राजनीतिक

प्रभाव को समाप्त करना तथा 'धूर्तों को लोकसेवा के बाहर रखना' था। साथ ही योग्य व्यक्तियों को लोक सेवाओं के लिए आकृष्ट करना था, योग्यता की जाँच खुली-प्रतियोगिता के द्वारा की जाती थी। इससे यह आशा बलवती होने लगी कि यदि एक बार लोक सेवाओं में नौकरी के लिए योग्य व्यक्ति आने लगेंगे तो एक ऐसा क्रम बना रहेगा। परन्तु यह भ्रम ही सिद्ध हुआ क्योंकि धूर्त लोगों को लोक सेवाओं से दूर रखने के चक्कर में जाने-अनजाने में योग्य, कुशल और बुद्धिमान व्यक्ति भी सेवा के बाहर रह जाते हैं। यह विश्वासपूर्ण सिद्ध नहीं हो सकता कि जब धूर्त और अयोग्य व्यक्तियों को सेवाओं से बाहर रख दिया जायेगा तो योग्य व्यक्ति स्वतः ही प्राप्त होने लगेंगे।

इसके विपरीत आवश्यकता इस बात की है कि योग्य व्यक्तियों को लोक सेवाओं की ओर आकृष्ट किया जाये। योग्य व्यक्तियों की खोज के लिए प्रयास किये जाने चाहिए। अधिकांश देशों में लोक सेवा आयोगों का कार्य धूर्त व अयोग्य व्यक्तियों को सेवाओं के बाहर रखना ही नहीं अपितु उनके स्थान पर क्षमतावान, ईमानदार और योग्य व्यक्तियों को आकर्षित करना है। इसके लिए प्रतियोगिता परीक्षाओं की व्यवस्था की जाती है जिसकी सूचना व्यापक स्तर पर दी जाती है—जैसे समाचार-पत्रों, विज्ञप्तियों (Advertisement), स्लाइड्स आदि। बड़ी संख्या में नियुक्ति करनी होती है तो इन सभी साधनों का प्रयोग कर योग्य व्यक्तियों को आकर्षित किया जा सकता है। तकनीकी पदों के लिए तकनीकी शिक्षण संस्थाओं के अध्यक्षों से सम्पर्क स्थापित कर योग्य व्यक्तियों को प्राप्त किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त उच्च पदों के लिए, जहाँ विशिष्ट योग्यता एवं अनुभव की आवश्यकता होती है, वहाँ भर्ती-कर्ता अधिकारी उपयुक्त व्यक्तियों से व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित कर सकता है और उस व्यक्ति को औपचारिकता पूरी करने की दृष्टि से प्रार्थना-पत्र देने को कहा जा सकता है। प्रयत्नों की इस पद्धति को भर्ती के सम्बन्ध में सकारात्मक या विधेयात्मक दृष्टिकोण की संज्ञा दी जा सकती है।

भर्ती की सकारात्मक व्यवस्था का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसमें योग्य और उचित व्यक्तियों को ही प्रतियोगिता में सम्मिलित होने की स्वीकृति दी जाती है। इसमें इस बात पर बल दिया जाता है कि राज्य की सेवा के लिए योग्यतम व्यक्तियों को कैसे प्रोत्साहित किया जाये। प्रो० किंग्स्ले (Kingsley) ने भर्ती के सकारात्मक दृष्टिकोण की निम्न विशेषताएँ बताई हैं—

(1) पद तथा पदोन्नति सोपान क्रम पर बल।
(2) योग्य व्यक्तियों की व्यापक खोज पर बल।
(3) अयोग्य व धूर्त व्यक्तियों को दूर रखने के लिए नियुक्ति पूर्व परीक्षा पर बल।
(4) विभागों के ही पारस्परिक सहयोग तथा शान्तिमय सम्बन्धों पर बल।

भर्ती की समस्याएं
(Problems of Recruitment)

लोक-प्रशासन मे योग्य व्यक्तियो की भर्ती के सम्बन्ध मे अनेक समस्याएं है जिनमे से मुख्य हैं—(1) नियुक्ति सत्ता का स्थापन, (2) कर्मचारियो के भर्ती की व्यवस्था, (3) कर्मचारियो की योग्यता निर्धारित करने का ढंग, (4) योग्यता निर्धारित करने के लिए प्रशासकीय यन्त्र का सगठन, आदि ।

प्रो० विलोबी के अनुसार भर्ती की समस्या में निम्नलिखित बातें आती हैं—जिनका विस्तार से वर्णन किया जा रहा है—

1. नियुक्ति सत्ता का स्थापन,
2. भर्ती करने वाले अधिकरणों के प्रकार,
3. कर्मचारियो की भर्ती के तरीके,
4. कर्मचारियो की योग्यता,
5. योग्यताओ को निर्धारित करने के ढंग, तथा
6. योग्यता निर्धारित करने के लिए 'प्रशासकीय तन्त्र' का सगठन ।

(1) नियुक्ति सत्ता का स्थापन
(Location of Appointing Power)

लोक-प्रशासन मे कर्मचारियो की भर्ती की समस्याओं मे सर्वप्रथम समस्या नियुक्ति सत्ता की स्थापना है । साधारण शब्दो मे इसका अर्थ होता है कि कर्मचारियो की नियुक्ति करने के अधिकार किसे प्राप्त होने चाहिए । जिन देशों में संविधान लिखित होता है, वहाँ नियुक्ति करने वाली सत्ता का उल्लेख कर दिया जाता है। भारत, सं० रा० अमेरिका तथा फ्रान्स आदि देशो के संविधानों में इस बात का स्पष्ट रूप से वर्णन है कि राज्य के उच्च कर्मचारियो की नियुक्ति करने का किसे अधिकार है और अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति कौन करेगा । संविधान के अलिखित होने पर नियुक्ति करने वाली सत्ता का स्थापन संसद् अथवा व्यवस्थापिका द्वारा पारित किये गये कानून के अनुसार होता है ।

संसार के सभी प्रजातान्त्रिक देशो मे कुछ महत्त्वपूर्ण अधिकारियो को नियुक्त करने का अधिकार एक व्यक्ति अथवा संस्था को न होकर समस्त जनता को दिया जाता है । उदाहरण के लिए भारत तथा सं० रा० अमेरिका को लिया जा सकता है; जहाँ मुख्य प्रशासकीय अधिकारी (राष्ट्रपति) का चुनाव जनता द्वारा किया जाता है । सं० रा० अमेरिका मे राष्ट्रपति की नियुक्ति निर्वाचन के आधार पर होती है जिसमे भाग लेने के लिए निर्वाचक विशेष रूप से चुने जाते हैं । किन्तु इन निर्वाचकों के चुनाव के लिए सं० रा० अमेरिका के समस्त नागरिक भाग लेते हैं । भारत मे राष्ट्रपति के निर्वाचन की पद्धति सं० रा० अमेरिका से थोड़ी भिन्न है । यहाँ

राष्ट्रपति के निर्वाचन में संसद् के निर्वाचित सदस्य तथा राज्यों के विधान मण्डलों के निर्वाचित सदस्य भाग लेते हैं।

कुछ महत्त्वपूर्ण पदों की नियुक्ति का अधिकार जनता के अतिरिक्त मुख्य कार्यपालिका को दे दिया जाता है। ऐसा करना इसलिए उचित माना गया है कि प्रशासन की देख-भाल का उत्तरदायित्व कार्यपालिका पर ही रहता है तथा अधिकारियों से कार्यपालिका का ही सीधा सम्बन्ध रहता है। जैसे राष्ट्रपति, जो कि मुख्य कार्यपालिका होता है, उसे मन्त्रि-मण्डल के सदस्यों, न्यायाधीशों, राजदूतों, लोक-सेवा आयोग के सदस्यों, महालेखा निरीक्षक आदि को नियुक्त करने का अधिकार होता है। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि जिन देशों में संसदात्मक शासन व्यवस्था की स्थापना की गई है वहाँ वास्तविक कार्यपालिका शक्तियाँ मन्त्रि-मण्डल में निवास करती हैं। उदाहरण के लिए भारत तथा इंग्लैण्ड को लिया जा सकता है, जहाँ राष्ट्रपति तथा सम्राट को वास्तविक कार्यपालिका के अधिकार प्राप्त नहीं हैं। कहने को राष्ट्रपति प्रधान मन्त्री की नियुक्ति करता है, परन्तु वास्तविकता इस बात में है कि वह उसी व्यक्ति को प्रधान मन्त्री नियुक्त करता है जो निम्न सदन में बहुमत दल का नेता होता है। इसके अतिरिक्त उसी की राय से दूसरे मन्त्रि-मण्डल के सदस्यों की नियुक्ति की जाती है। जहाँ तक दूसरे पदाधिकारियों की नियुक्ति का इस प्रकार की शासन व्यवस्था में प्रश्न है, वह सम्बन्धित मन्त्रियों के द्वारा सम्पादित किया जाता है।

दूसरी ओर जिन देशों में अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था पाई जाती है, वहाँ कार्यपालिका सम्बन्धी अधिकार वहाँ के राष्ट्रपति में निहित होते हैं। अपनी स्वेच्छा से पदाधिकारियों तथा मन्त्रि-परिषद् के सदस्यों की नियुक्ति करता है। मन्त्रि-परिषद् के सदस्यों से राष्ट्रपति राय लेता है, परन्तु उस राय से वह बाध्य नहीं होता। 1789 से लेकर आज तक अमेरिका के राष्ट्रपति ने मन्त्रि-परिषद् द्वारा दिये गये अनेकों परामर्शों को ठुकरा दिया है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि स० रा० अमेरिका में राष्ट्रपति के नियुक्ति अधिकार पर कोई नियन्त्रण नहीं होता। वस्तुस्थिति यह है कि जो महत्त्वपूर्ण नियुक्तियाँ राष्ट्रपति करता है वे तभी अन्तिम मानी जाती हैं जबकि वहाँ की सीनेट उनका अनुमोदन कर देती है। इस प्रकार स० रा० अमेरिका में नियुक्ति का अधिकार सीनेट तथा राष्ट्रपति के बीच बँटा हुआ है। राष्ट्रपति जब किसी राज्य में सघीय अधिकारी की नियुक्ति करता है तो उस राज्य के सीनेटरों से पहले परामर्श करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पदाधिकारियों की नियुक्ति के सम्बन्ध में दो विचार प्रचलित हैं। एक मत तो यह है कि जनता को प्रशासकीय अधिकारियों एवं कर्मचारियों को मतदान प्रणाली द्वारा निर्वाचन का अधिकार प्राप्त होना चाहिए। सिद्धान्त रूप में इस प्रणाली के कई लाभ हो सकते हैं परन्तु व्यवहार में इस पद्धति के कई दोष हैं। जनता में इतनी योग्यता नहीं हो सकती कि वह कोई बुद्धिमतापूर्ण

निर्णय ले सके। विशेषकर समस्त पदाधिकारियों के निर्वाचन अथवा चुनाव में जनता के बुद्धिमत्तापूर्ण निर्णय की आशा करना महान् भूल होगी। प्रजातन्त्रीय अनुभव ने इस बात को सिद्ध कर दिया है कि पदाधिकारियों के चुनाव में जनता व्यक्तिगत एवं राजनैतिक प्रभावों से वंचित नहीं रह सकती है, अतः पदाधिकारियों के गलत निर्वाचन की शत-प्रतिशत सम्भावना बनी रहती है। इस आलोचना के पीछे मूल बात यह है कि 'जनता के अधिकांश सदस्य मूर्ख होते हैं।' अतः जनता को प्रशासन के अधिकारियों की नियुक्ति का अधिकार देना कुशल प्रशासन के हित में नहीं है।

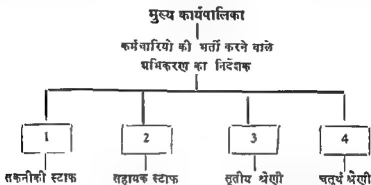
दूसरे विचार के अनुसार व्यवस्थापिका सभा के सदस्यों तथा मुख्य कार्यपालिका को, जिनका कार्य शासन की नीति निर्धारित करना तथा निर्देश देना होता है, छोड़कर जनता को अन्य पदाधिकारियों की नियुक्ति का अधिकार न देना चाहिए। अन्य पदाधिकारियों एवं कर्मचारियों की नियुक्ति के लिए ऐसी समितियों एवं आयोग का निर्माण करना चाहिए जिसके द्वारा योग्य निपुण एवं उत्साही व्यक्तियों का चुनाव हो सके। आज विश्व के सभी देशों में कर्मचारियों की नियुक्ति का अधिकार मुख्य कार्यपालिका अथवा उसके द्वारा निर्मित समिति [illegible] आयोग को दिया गया है जिससे प्रशासन में योग्य कर्मचारी चुने जा सकें। इन आयोगों या समिति को राजनीतिक प्रभाव से मुक्त रखा जाता है और स्वायत्तता तथा स्वतन्त्रता दी जाती है। इस प्रकार का संगठन लोक सेवा आयोग (Public Service Commission) होता है जो योग्य कर्मचारियों का चयन का कार्य करता है। योग्यता का पता लगाने के लिए परीक्षा पद्धति (लिखित तथा मौखिक) का प्रयोग किया जाता है। तत्पश्चात् योग्य व्यक्तियों के नाम सरकार या सम्बन्धित विभाग को भेजे जाते हैं, जिसके आधार पर नियुक्तियाँ की जाती हैं। कई विद्वानों का विचार है कि लोक सेवा आयोग के सदस्यों को विभिन्न विषयों का ज्ञाता होना चाहिए क्योंकि एक ही विषय के विशेषज्ञ के लिए यह सम्भव नहीं कि वह प्रत्येक पद के उम्मीदवार की योग्यता का मूल्यांकन कर सकें। साथ यह भी सुझाव दिया जाता है कि इसके सदस्य इतने वरिष्ठ होने चाहिए कि उन पर साधारणतया प्रभाव नहीं डाला जा सके। वे योग्यता के सही पारखी होने चाहिए।

लोक सेवा आयोग की विशिष्ट भूमिका होती है। ये सरकार को भर्ती सम्बन्धी नीति के बारे में परामर्श देते हैं। इसके अतिरिक्त अभ्यर्थियों की परीक्षा लेना तथा उनका साक्षात्कार करना, पदोन्नति एवं स्थानान्तरण (Transfer) के लिए उपयुक्तता का परामर्श देना, अनुशासनात्मक कार्यवाहियों पर सलाह देना, अस्थायी पुनर्नियुक्तियों के सम्बन्ध में परामर्श देना, सेवा की शर्तों के सम्बन्ध में सुझाव देना आदि।

(2) भर्ती करने वाले अभिकरणों के प्रकार
(Kinds of Recruiting Agencies)

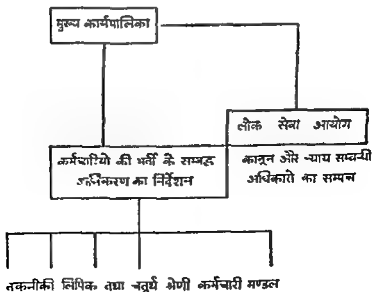
लोक प्रशासन के कर्मचारियों का चुनाव मुख्यतः तीन प्रकार के अभिकरणों

के द्वारा किया जाता है। पहले प्रकार का अभिकरण तो वह है जिसमे प्रमुख शक्ति एक मुख्य अधिकारी के हाथ मे केन्द्रित रहती है। इस प्रकार के अभिकरण को नीचे दिये गये चित्र द्वारा समझाया जा सकता है—



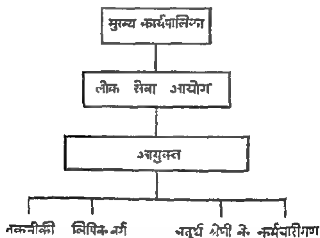
इस प्रकार के अभिकरण में भर्ती करने का अधिकार अनेक अधिकारियो में बटा हुआ न होकर एक मुख्याधिकारी के हाथो मे केन्द्रित रहता है। इस प्रकार की व्यवस्था स० रा० अमेरिका में राज्यीय प्रशासनो में विशेष रूप से देखने को मिलती है।

दूसरे प्रकार का अभिकरण वह है, जिसमे कर्मचारियो के चुनाव आदि का



उत्तरदायित्व एक निर्देशक को दे दिया जाता है जो मुख्य कार्यपालिका के अधीन रहता है, परन्तु इसमें अध्यक्ष के अतिरिक्त लोक सेवा आयोग की भी व्यवस्था रहती है। कानून द्वारा निर्देशक और लोक सेवा आयोग, दोनों के ही अधिकार-क्षेत्र का निर्धारण कर दिया जाता है निर्देशक पर प्रशासन सम्बन्धी कार्यों का उत्तरदायित्व रहता है जब कि आयोग को नियम और आचार संहिता का निर्माण करने, विवादास्पद मामलों की जाँच करने, और उनका निर्णय करने का कार्य सौंपा जाता है। इसके अतिरिक्त यह कर्मचारियों की भर्ती सम्बन्धी आवश्यक बातों को निश्चित करता है और इस सम्बन्ध में आवश्यक नियम बनाता है। स० रा० अमेरिका के राज्यों में इस प्रकार के अभिकरण विशेष रूप से विद्यमान हैं।

तीसरे प्रकार का अभिकरण आयोग के ढंग का होता है। उसकी रचना निम्नलिखित चित्र से स्पष्ट हो जायेगी—



प्रायः सभी प्रजातान्त्रिक देशों में तीसरे प्रकार के अभिकरण को अपनाया गया है। इस प्रकार के अभिकरण का सबसे महत्त्वपूर्ण लाभ यह है कि एक व्यक्ति के निर्णय से बजाय कई व्यक्तियों के द्वारा मिलकर लिया जाने वाला निर्णय अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण होता है। भारत में संघ में संघीय लोक सेवा आयोग (Union Public Service Commission) तथा राज्यों में राज्य लोक सेवा आयोग (State Public Service Commission) की व्यवस्था की गई है। इसके अतिरिक्त रेलवे सेवा आयोग (Railway Service Commission) की भी व्यवस्था है। ये आयोग राजनीतिक और अन्य प्रभावों को भर्ती की प्रक्रिया से दूर रखते हैं तथा योग्य कर्मचारियों के चयन को सम्भव बनाते हैं। भारतीय संविधान में संघ तथा राज्य स्तर पर स्वतन्त्र लोक सेवा आयोगों की स्थापना करने की व्यवस्था है।

(1) कर्मचारियों की भर्ती के तरीके
(Methods of Recruitment)

लोक-प्रशासन के कर्मचारियों तथा पदाधिकारियों के सम्बन्ध में यह एक महत्वपूर्ण समस्या है कि उच्चाधिकारियों का चुनाव प्रशासन का कार्य करने वाले कर्मचारियों में से ही होना चाहिए अथवा प्रशासन के बाहर के व्यक्तियों में से। लोक-प्रशासन की इस समस्या का "आन्तरिक नियुक्ति बनाम बाह्य नियुक्ति" का नाम दिया जाता है। लेवी मेयर्स के मतानुसार पदाधिकारियों को नियुक्त करने के दो तरीके हैं—"सेवा या सम्बन्धित सेवा के भीतर से ही पुन नियुक्ति करना या पदोन्नति देना या सेवा के बाहर से नियुक्ति करना।" साधारणतया सभी सरकारें दोनों ही पद्धतियों का उपयोग करती हैं। वस्तुत इस समस्या का सर्वोत्तम समाधान यह है कि प्रशासकीय अनुभव तथा सामान्य राजनीतिक दृष्टिकोण के प्रकाश मे इन दोनों का सुखद समन्वय हो। फिर भी यहाँ यह बता देना उचित होगा कि निम्न स्तर पर प्रत्यक्ष भर्ती का नियम होना चाहिए, मध्यम स्तर के लिए प्रत्यक्ष भर्ती के साथ पदोन्नति की एक उदार प्रणाली का सम्मिश्रण होना चाहिए और ऊपर या चोटी के स्तर पर पदोन्नति की एक सुनिश्चित प्रणाली होनी चाहिए। इस तरह यह समस्या मुख्यत लोक सेवाओं की मध्यम श्रेणियों से सम्बन्धित है।

लोक-प्रशासन मे कर्मचारियों की भर्ती के दोनों तरीकों के गुण तथा दोषों का संक्षेप मे वर्णन करना यहाँ उचित होगा।

भीतर से नियुक्ति या भर्ती के गुण
(Merits of Recruitment from within or by Promotion)

लोक-कर्मचारियों की भर्ती उसमे कार्य कर रहे कर्मचारियों मे से की जाती है तो उसे भीतर से नियुक्ति (Recruitment from within) अथवा पदोन्नति द्वारा नियुक्ति (Recruitment by Promotion) कहा जाता है। जो लोग सेवाओं मे व्यावसायिकता (Professionalization) को महत्त्व देते हैं, उनका मत है कि भर्ती अन्दर से अर्थात् पदोन्नति द्वारा की जानी चाहिए। वे इस प्रकार की भर्ती के निम्न लाभ बताते हैं—

(1) इस व्यवस्था मे प्रगति का दरवाजा कार्य करने वाले कर्मचारियों के लिए खुला रहता है। इससे परिणामस्वरूप कर्मचारी बड़ी योग्यता तथा कर्मठता से कार्य करता है। इससे प्रशासन कुशल बना रहता है।

(2) इसमे कर्मचारियों को प्रशिक्षण की आवश्यकता कम रहती है जिससे प्रशिक्षण के कार्य हेतु व्यय नहीं करना पड़ता।

(3) इसका एक लाभ यह भी होता है कि सरकार योग्य व्यक्तियों को अपनी ओर आकर्षित करती है। यदि सरकार ऐसा करने मे असफल रहती है तो योग्य व्यक्ति दूसरे व्यवसायों मे चले जायेंगे और लोक-प्रशासन मे कोई भी आना पसन्द नहीं करेगा।

(4) इस व्यवस्था में पदोन्नति के पर्याप्त अवसर होने से निम्न स्तर पर कर्मचारी कम वेतन पर भी कार्य करने के लिए तैयार रहता है, क्योंकि वह जानता है कि अच्छा कार्य करने पर अवश्य ही पुरस्कार मिलेगा। यह पुरस्कार पदोन्नति के रूप में होता है।

(5) इस व्यवस्था में सेवाओं में पारस्परिक द्वेष उत्पन्न नहीं होने पाता। प्रत्येक कर्मचारी को अपने कार्य-काल की अवधि के अनुसार पदोन्नति मिलती रहती है। अपने ऊपर के अधिकारी के साथ सहयोग और सद्भावना के साथ कार्य किया जाता है। यदि खुली प्रतियोगिता से रिक्त पदों को भरा जाए तो नया आने वाला कर्मचारी और पुराने कर्मचारी में द्वेष की भावना उत्पन्न होने की सम्भावना लगातार बनी रहती है।

(6) पदोन्नति द्वारा भर्ती की व्यवस्था से लोक सेवा आयोग के कार्यों में अतिभार नहीं बढ़ता। उसे रिक्त पदों के लिए विज्ञापन निकालना तथा प्रतियोगिता परीक्षा की व्यवस्था नहीं करनी पड़ती। अतः आयोग अपने दूसरे कार्यों को कुशलता-पूर्वक कर सकता है।

(7) भीतर से भर्ती का एक लाभ यह भी होता है कि इसमें यह सन्देह नहीं रहता कि पदोन्नत व्यक्ति अपने उत्तरदायित्वों को निभा सकेगा या नहीं। कार्य करते हुए प्रशासकीय कर्मचारी दक्षता को प्राप्त कर लेता है, अतः इस प्रकार के सन्देह की कोई गुन्जाइश नहीं रहती। इसके विपरीत सीधी भर्ती में यह सन्देह बराबर बना रहता है कि नया नियुक्त अधिकारी अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने में सक्षम है अथवा नहीं।

(8) यह पद्धति परीक्षा पद्धति से कहीं अधिक अच्छी है। यह सर्वथा स्वीकार किया जाता है कि कोई भी परीक्षा ऐसी नहीं होती जो परीक्षार्थी की व्यक्तिगत योग्यताओं का भली प्रकार पता लगा सके। इसके विपरीत पदोन्नति व्यवस्था में कर्मचारी के कार्य करने की क्षमता व योग्यता का पता रहता है, अतः उसकी सामर्थ्य का गलत अनुमान लगाये जाने का भय नहीं रहता।

भीतर से भर्ती के दोष

(Demerits of Recruitment from within)

भीतर से भर्ती में कई गुण हैं। इन गुणों के साथ इस पद्धति में कुछ गम्भीर दोष भी पाये जाते हैं, जो निम्न हैं—

(1) आलोचक इस पद्धति का सबसे बड़ा दोष यह बतलाते हैं कि इसमें पक्ष-पात अधिक बढ़ जाता है। अधीनस्थ कर्मचारियों की पदोन्नति उनके उच्च अधिकारी की रिपोर्ट पर निर्भर करती है। यदि किसी कारणवश निम्न अधिकारी अपने उच्च अधिकारी को प्रसन्न नहीं रख सके तो उनकी पदोन्नति खतरे में पड़ जाती है। इस पद्धति में चापलूसी चरम सीमा पर पहुँचने का भय रहता है। इसमें अकुशल कर्मचारियों की उन्नति की सम्भावना रहती है।

(2) इसमें चुनाव का क्षेत्र सीमित हो जाता है। यह आवश्यक नहीं कि उसी सीमित क्षेत्र से योग्य तथा कुशल कर्मचारी मिल सकें।

(3) इस प्रणाली का यह दोष बताया जाता है कि कर्मचारी उच्च पद पर पहुँचते-पहुँचते वृद्ध हो जायेगा तथा अपनी शक्ति एवं कार्यक्षमता खो देगा। वह विचार से भी रूढ़िवादी हो जायेगा। इससे प्रशासन में शिथिलता आ जायेगी।

(4) यह प्रणाली प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों के विरुद्ध है क्योंकि इसमें लोक सेवकों एवं सामान्य नागरिकों में भेद किया जाता है। इस कारण यह कहा जा सकता है कि यह प्रणाली पक्षपात एवं असमानता पर आधारित है।

बाहर से भर्ती-व्यवस्था के गुण

(Merits of Recruitment from outside or by Open Competition)

बाहर से लोक-कर्मचारियों की भर्ती से हमारा अर्थ 'खुली प्रतियोगिता' से होता है। इस प्रकार की व्यवस्था में भर्ती में चुनाव का क्षेत्र व्यापक होता है। इसमें यदि किसी विभाग में कुछ कर्मचारियों की आवश्यकता होती है तो उन पदों के लिए योग्यता तथा शिक्षा की शर्तें, विज्ञापन द्वारा समाचार पत्रों में प्रकाशित की जाती हैं। जो व्यक्ति उन शर्तों को पूरा करता है, वह आवेदन-पत्र दे सकता है और नियुक्ति अधिकारी उनमें से योग्यतम व्यक्तियों को छाँट लेता है। योग्यतम व्यक्तियों को छाँटने का आधार परीक्षा तथा साक्षात्कार होता है। इस प्रणाली के निम्न गुण हैं—

(1) इस पद्धति में लोक कर्मचारियों की नियुक्ति में समानता रखी जाती है। जिस पद के लिए विज्ञापन दिया गया है उसके लिए कोई भी व्यक्ति आवेदन-पत्र दे सकता है, चाहे वह प्रशासन में कार्य करता हो अथवा नहीं। प्रश्न यह है कि वह व्यक्ति उस पद की योग्यता रखता हो। अतः यह पद्धति लोकतन्त्रात्मक सिद्धान्तों के अनुकूल है।

(2) इस पद्धति में चुनाव-क्षेत्र व्यापक होता है। समस्त राज्य के योग्य व्यक्ति आवेदन-पत्र भेज सकते हैं। अपनी योग्यता के आधार पर वह उच्च पद प्राप्त कर सकता है।

(3) इस पद्धति के द्वारा योग्य व नये विचारों वाले व्यक्ति लोक-प्रशासन में आ पायेंगे। इससे लोक-प्रशासन में नये प्रयोग होने की सम्भावना रहती है।

(4) इस पद्धति में रूढ़िवादिता तथा संकीर्णता प्रशासन में नहीं आ सकेगी। नये रक्त के युवक उत्साह और उमंग से कार्य करेंगे, इससे वैज्ञानिक शिक्षा का लाभ प्रशासन को होगा।

(5) नियुक्ति की इस व्यवस्था से सरकार योग्य व्यक्तियों को अपनी ओर आकर्षित कर सकती है अन्यथा वे युवक अन्य कार्य-धन्धे में लग जायेंगे। इस प्रकार सरकार विश्वविद्यालय तथा अन्य शिक्षण संस्थाओं से निकलने वाले योग्य व परिश्रमी विद्यार्थियों से वंचित रह जायेगी।

(6) प्रत्यक्ष भर्ती के परिणामस्वरूप प्रशासन में नौजवान नियमित रूप से आते रहते हैं। इससे देश की बदलती हुई सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के अनुकूल लोक-सेवाएँ बनी रहती हैं। अतः यह पद्धति परम्परावादी तथा अवरोध उत्पन्न करने वाली प्रवृत्तियों के विकास को रोक देती है।

(7) तकनीकी सेवाओं के लिए खुली प्रतियोगिता पद्धति (Open Competitive System) का विशेष महत्त्व है। इसमें ऐसे व्यक्तियों को प्राप्त किया जा सकता है जो नवीन अनुसन्धानों व खोजों से परिचित हों जिससे अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने में कोई कठिनाई न हो।

बाहर से भर्ती के दोष
(Demerits of Recruitment from outside)

बाहर से भर्ती के जहाँ कुछ महत्त्वपूर्ण गुण हैं वहाँ इस पद्धति में कुछ दोष भी हैं। इन्हीं दोषों के कारण इस पद्धति की आलोचना की जाती है। ये तर्क निम्न हैं—

(1) इस पद्धति का सबसे बड़ा दोष यह बताया जाता है कि इससे प्रशासन में अनुभवहीन व्यक्ति प्रवेश पा जाते हैं। इससे प्रशासन में दक्षता कम हो जाती है। नये व्यक्तियों को प्रशासनिक कार्य सीखने में कई वर्ष लग जाते हैं।

(2) इस पद्धति में प्रशिक्षण की व्यवस्था करना आवश्यक होता है। इससे सरकार को व्यर्थ में धन व्यय करना होता है।

(3) आलोचक यह भी कहते हैं कि यह आवश्यक नहीं कि नये कर्मचारी पुराने कर्मचारियों से योग्य हों। जब पुराने कर्मचारियों की उन्नति का मार्ग बन्द हो जाता है तो वे उत्साहहीन हो जाते हैं। इसका प्रशासन पर प्रभाव पड़ता है।

(4) इस पद्धति का यह भी दोष बताया जाता है कि लिखित परीक्षा या साक्षात्कार के आधार पर योग्यता की वास्तविक जाँच नहीं की जा सकती।

दोनों पद्धतियों के गुण तथा दोषों के अध्ययन के पश्चात् यह निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि दोनों में से कोई भी पद्धति अपने में पूर्ण नहीं है। किसी न किसी रूप में लोक-प्रशासन के कर्मचारियों की नियुक्ति के सम्बन्ध में दोनों पद्धतियों को स्थान दिया जाता है। आज सभी देशों में उच्च पदों की भर्ती के लिए दोनों प्रकार की पद्धतियों का प्रयोग किया जाता है। कभी-कभी तो अनुपात की मात्रा तक निश्चित कर दी जाती है। भारत में अखिल भारतीय सेवाओं (All India Services) जैसे भारतीय प्रशासनिक सेवा, (I A S), भारतीय पुलिस सेवा (I.P.S) आदि। अन्य सेवाओं में कुछ प्रतिशत पद पर भर्ती भीतर से की जाती है जबकि शेष रिक्त पदों पर नियुक्तियाँ खुली-प्रतियोगिता द्वारा की जाती हैं। इसी प्रकार राज्य स्तरीय सेवाओं में कुछ प्रतिशत पद भीतर से भर्ती के द्वारा भरे जाते हैं और बाकी पद खुली प्रतियोगिता द्वारा। परन्तु जहाँ तक निम्न पदों का प्रश्न है, उनकी भर्ती खुली प्रतियोगिता के द्वारा की जाती है।

इंग्लैण्ड में उच्च पदों पर 80 प्रतिशत व्यक्ति प्रतियोगितात्मक परीक्षाओं व परिणामस्वरूप भर्ती की खुली व्यवस्था के द्वारा नियुक्त किये जाते हैं और 20 प्रतिशत व्यक्ति निम्न सेवाओं में से पदोन्नति के आधार पर नियुक्त किये जाते हैं। सं०रा० अमेरिका में उच्च पदों पर भर्ती अधिकांश मात्रा में निम्न पदों पर कार्य करने वाले व्यक्तियों में से की जाती है, क्योंकि वहाँ पर सिविल सेवा के सम्बन्ध में कठोर नियम नहीं हैं।

अन्त में कहा जा सकता है कि भर्ती की व्यवस्था में हम दोनों में से किसी एक पद्धति को अपनाने का पूर्ण निश्चय नहीं कर सकते। हमें दोनों ही व्यवस्थाओं को अपनाकर उनके गुणों से लोक सेवाओं को कार्य-कुशल बनाना होगा।

(4) कर्मचारियों की योग्यता

(Qualification of Personnel)

लोक-प्रशासन में कर्मचारियों के लिए योग्यता का इतना अत्यावश्यक है, क्योंकि प्रशासन का कौशल इसी पर निर्भर है। इसी कारण लोक सेवाओं में विभिन्न पदों के लिए योग्यता निर्धारित कर दी जाती है। जो लोग उन योग्यताओं को रखते हैं, पद के लिए प्रत्याशी (Candidate) बन सकते हैं। लेकिन समानता और मानवता के समर्थकों ने पूर्व अपेक्षित योग्यता (Pre-requisite Qualification) को समानता के सिद्धान्त के विरुद्ध बताया है। उनका विचार है कि प्रत्येक व्यक्ति को इस बात का अवसर होना चाहिए कि वह अपनी पसन्द की किसी भी सेवा के लिए प्रतियोगिता कर सके। शिक्षा सम्बन्धी योग्यताएँ प्रतियोगिता में क्षेत्र को केवल उन्हीं लोगों तक सीमित कर देती हैं, जो कि उस योग्यता को पूरा करते हैं, जो उचित नहीं है। इसके विपरीत जो लोग इस मान्यता के हैं कि पूर्व अपेक्षित योग्यताएँ होनी चाहिए, वे तर्क प्रस्तुत करते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक पद के लिए योग्य और उपयुक्त नहीं हो सकता। अतः पदों के लिए उन्हीं लोगों को प्रतियोगी बनने की स्वीकृति दी जानी चाहिए जो उनसे सम्बन्ध की योग्यता रखता हो। इससे अयोग्य व्यक्तियों को सेवा से बाहर रखा जा सकता है। अतः प्रत्येक पद के लिए कुछ योग्यताओं को निर्धारित किया जाना चाहिए।

लोक सेवाओं में भर्ती के लिए कुछ योग्यताएँ निर्धारित की जाती हैं। योग्यता को दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है—(1) सामान्य तथा (2) विशिष्ट। सामान्य योग्यताओं के अन्तर्गत नागरिकता, अधिवास, लिंग एवं आयु आदि आते हैं। ये योग्यताएँ सभी कर्मचारियों पर समान रूप से लागू होती हैं। विशेष योग्यताओं में शिक्षा, अनुभव, तकनीकी ज्ञान आदि आते हैं।

सामान्य योग्यतायें

(General Qualifications)

(क) नागरिकता (Citizenship)—लोक-प्रशासन के कर्मचारियों के लिए यह आवश्यक माना गया है कि वे राज्य के नागरिक हों। अनागरिक या विदेशियों

को सरकारी सेवा में स्थान नहीं दिया जाता है। ऐसा होना इसलिए आवश्यक माना गया है कि सरकारी सेवाओं में कार्य करने वाले कर्मचारियों का सरकार तथा राज्य के प्रति स्वामि-भक्त होना आवश्यक है। यह तभी सम्भव है जबकि लोक-कर्मचारी राज्य के नागरिक हों। कभी-कभी विदेशियों को भी सरकारी सेवा में रख लिया जाता है। किन्तु इस सम्बन्ध में नियम यह है कि ऐसा करते समय उनसे राज्य के प्रति वफादारी की शपथ ली जाती है। इस प्रकार की व्यवस्था सं० रा० अमरीका में पाई जाती है।

(ख) **अधिवास (Domicile)** — *कहीं-कहीं पर कर्मचारियों की भर्ती करते समय अधिवास या निवास का प्रतिबन्ध लगा दिया जाता है। उदाहरण के लिए, भारत में राज्यों के प्रशासकीय पदों पर केवल उन्हीं लोगों को नियुक्त किया जाता है जो उस राज्य के निवासी हों परन्तु इस प्रकार का प्रतिबन्ध तकनीकी सेवाओं के लिए नहीं रखा जाता है।* अधिवास की योग्यता का सर्वप्रथम सं० रा० अमरीका ने लागू किया था। वहाँ आज भी विभिन्न राज्यों को राष्ट्रीय सेवाओं में यथोचित प्रतिनिधित्व दिया जाता है। परन्तु इस सिद्धान्त द्वारा कार्य-कुशलता प्रभावित होती है। कई ऐसे योग्य व्यक्ति हो सकते हैं जो अधिवास की शर्त के परिणामस्वरूप किसी राज्य या प्रदेश में नियुक्ति नहीं पा सकते हैं। भारत में भी कई राज्यों द्वारा इस परिपाटी को अपनाया गया है। कई बार समाचार-पत्रों में यह पढ़ने को मिलता है कि किसी राज्य ने कुछ पदों का विज्ञापन दिया परन्तु प्रत्याशी (Candidate) के लिए यह आवश्यक है कि वह उसी राज्य का हो। इस प्रकार किसी दूसरे राज्य का व्यक्ति उन पदों के लिए प्रार्थना-पत्र नहीं दे सकता। कुछ राज्य अपने क्षेत्र में रहने वाले व्यक्तियों को दूसरे राज्य में रहने वाले व्यक्तियों की अपेक्षा प्रशासकीय पदों पर प्राथमिकता देते हैं। इससे दूसरे राज्य के योग्य व्यक्ति नियुक्ति से वंचित रह जाते हैं। लोक-सेवाओं में भर्ती के लिए अधिवास को आवश्यक योग्यता बनाने से योग्यता का सिद्धान्त दूषित हो जाता है। जैसा कि स्टाल (Stahl) का विचार है कि "योग्यता के आधार पर चयन करने की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह होती है कि सर्वश्रेष्ठ योग्यता प्राप्त व्यक्ति को भर्ती किया जाये चाहे वह कहीं भी रहता हो।

(ग) लिंग (Sex) — प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व विश्व के प्रायः सभी देशों में स्त्रियों को महत्वपूर्ण राजनैतिक तथा प्रशासकीय पदों पर नियुक्त नहीं किया जाता था। परन्तु 1919 के बाद इंग्लैंड तथा सं० रा० अमरीका में लिंग-भेद को समाप्त कर दिया गया। तत्पश्चात् स्वतन्त्रता, समानता तथा प्रजातन्त्र के वर्तमान युग में स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार दिये गये हैं तथा सरकारी नौकरियों में लिंग के आधार पर कोई भेद नहीं किया जाता। फिर भी कुछ ऐसी सरकारी सेवाएँ होती हैं जिनमें लिंग का ध्यान रखा जाता है, जैसे वायु सेना। कभी-कभी उच्च प्रशासकीय पदों पर विवाहित स्त्रियों पर रोक लगा दी जाती है, उसका कारण यह बताया *जाता है कि विवाह के बाद उनका पारिवारिक उत्तरदायित्व उनके प्रशासकीय उत्तरदायित्व में बाधक हो सकता है।*

(घ) आयु (Age) —प्रशासकीय पदों की भर्ती के समय आयु योग्यता को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। परन्तु आयु कम से कम और अधिक से अधिक कितनी होनी चाहिए इस पर विचारक एकमत नहीं हैं। कुछ लोगों का यह विचार है कि कम उम्र के लोगों को सरकारी सेवा में भर्ती कर उनको आवश्यकता के अनुरूप ढाल सकते हैं जबकि पक्की आयु (प्रौढ़) वाले व्यक्ति को सेवाओं में लिया जाता है तो उस समय तक उनकी बुद्धि का विकास तथा अनेक पहलुओं पर विचार निश्चित हो जाते हैं, जिसको बदलना बहुत कठिन होता है। जबकि दूसरी ओर अधिक उम्र वाले व्यक्ति अधिक अनुभवशील होते हैं और अपने पद के उत्तरदायित्व को निभा सकते हैं। अधिकांश देशों में कम उम्र के लोगों को सेवाओं में लिया जाता है। भारत में राजनीतिक पदों पर नियुक्ति के लिए भी आयु-सीमा लगाई गई है। उदाहरण के लिए, भारत का राष्ट्रपति 35 वर्ष से कम की आयु का नहीं हो सकता तथा राज्य सभा के सदस्य के लिए 30 वर्ष की आयु का होना आवश्यक है। इसी प्रकार लोक सभा के सदस्य के लिए 25 वर्ष की आयु का होना आवश्यक माना गया है। प्रशासकीय पदों के लिए भी आयु का बन्धन लगा हुआ है। प्रशासकीय पदों के लिए 21 से 26 वर्ष की आयु निर्धारित की गई है। अधीनस्थ कर्मचारियों पर भी यह बन्धन लगा हुआ है। भारत में निम्न लिपिक के लिए कम से कम 18 वर्ष तथा अधिक से अधिक 25 वर्ष रखे गये हैं। इङ्गलैंड में प्रथम श्रेणी लिपिक के लिए 22 वर्ष से लेकर 24 वर्ष तक की आयु तथा बॉय क्लर्क के लिए 15 वर्ष से लेकर 17 वर्ष की आयु अनिवार्य मानी गई है। कुछ पदों के लिए अधिकतम आयु निश्चित कर दी जाती है जिससे उन लोगों की नियुक्ति उन पदों पर न हो सके जो अधिक आयु के हो जाने के कारण उन पदों के उत्तरदायित्व का निभाने में असमर्थ हैं। इसके विपरीत सं० रा० अमेरिका में आयु सम्बन्धी प्रतिबन्ध को स्थान नहीं दिया गया है। वहाँ ऐसे व्यक्तियों को प्राथमिकता दी जाती है जिन्होंने व्यक्तिगत क्षेत्र में काम करने का अनुभव प्राप्त कर लिया हो। अतः ऐसी स्थिति में लोक सेवाओं में नियुक्ति के लिए आयु सीमा कुछ अधिक होगी अन्यथा अनुभवी कर्मचारी उपलब्ध नहीं हो सकते।

विशिष्ठ योग्यतायें
(Special Qualifications)

उपर्युक्त सामान्य योग्यताओं के अतिरिक्त कुछ विशिष्ठ योग्यतायें भी प्रशासकीय पदों की भर्ती के लिए आवश्यक मानी गई हैं। इनमें अभ्यार्थी की शिक्षा, अनुभव तकनीकी ज्ञान तथा वैयक्तिक ज्ञान आदि आते हैं जिनका विवरण नीचे दिया जा रहा है।

(1) शिक्षा (Education) लोक सेवाओं में प्रवेश पाने के लिए पद की निम्नतम शिक्षण योग्यता निर्धारित कर दी जाती है। उसके अभाव में किसी भी अभ्यार्थी को उस पद पर नियुक्त नहीं किया जा सकता। ब्रिटेन व भारत में प्रत्येक पद की निम्नतम शिक्षा-योग्यता निर्धारित है। ब्रिटेन में यह योग्यता सामाजिक तथा

मानव शास्त्रों की उदार योग्यता है यद्यपि स० रा० अमेरिका में तकनीकी तथा व्यावसायिक पदों को छोड़कर अन्य सरकारी पदों पर भर्ती के लिए किसी प्रकार की शिक्षा सम्बन्धी योग्यता की आवश्यकता नहीं है। वहाँ सभी अमरीकी नागरिकों को लोक सेवा परीक्षा में बैठने के लिए समान अधिकार दिया जाता है। भारत में निम्न लिपिक के लिए न्यूनतम शिक्षा योग्यता मैट्रिक निर्धारित की गई है। प्रशासकीय पदों के लिए किसी विश्वविद्यालय का स्नातक होना आवश्यक है। कुछ लोगों का विचार है कि शिक्षा सम्बन्धी योग्यता के निर्धारण के परिणामस्वरूप विश्वविद्यालयों में विद्यार्थियों की संख्या में बड़ी मात्रा में वृद्धि हुई है और जिसके कारण शिक्षा के स्तर में गिरावट आई है। यह तर्क ध्यान देने योग्य है कि उच्च शिक्षा अर्जित करने का अर्थ कदापि यह नहीं है कि वह व्यक्ति प्रशासनिक कार्यों में उतना दक्ष होगा। इसी बात को ध्यान में रखते हुए कुछ विचारकों ने यह मत व्यक्त किया है कि भारत में प्रशासकीय पदों में शिक्षा की योग्यता को कम कर दिया जाय अर्थात् विश्वविद्यालय की स्नातक डिग्री (Bachelor's Degree) के स्थान पर हायर सैकेण्ड्री (Higher Secondary) को निम्नतम शिक्षा स्वीकार की जाय और उसके प्रशिक्षण की अवधि बढ़ा दी जाये। ऐसा होने पर अभ्यर्थी (Candidate) अपने पद के सम्बन्धित ज्ञान को अर्जित कर सकेगा और उसके उत्तरदायित्व का निर्वाह कर सकेगा।

लेकिन यह भी स्वीकार करना होगा कि उच्च शिक्षा व्यक्ति के ज्ञान, बुद्धि तथा अनुभव में वृद्धि करती है जिससे उसका दृष्टिकोण व्यापक हो जाता है और निर्णय की शक्ति बढ़ जाती है। निष्कर्ष के तौर पर यह कहा जा सकता है कि अच्छा यह रहेगा कि औपचारिक शिक्षा और प्रशासन की आवश्यकताओं के बीच परस्पर समन्वय किया जाये।

(2) अनुभव (Experience)—स० रा० अमेरिका में लोक सेवाओं में अनुभव को अधिक महत्त्व दिया जाता है। भारत में भी प्रशासकीय पदों की भर्ती के समय अनुभव का ध्यान रखा जाता है। इसका कारण यह है कि अनुभवहीन से अनुभवशील उपयुक्त होता है। परन्तु कई पदों पर विद्यालय तथा महाविद्यालय से निकले नवयुवकों की नियुक्ति की जाती है। यह आवश्यक माना गया है कि जो उच्च प्रशासकीय पद हैं वहाँ अनुभव को भर्ती का आधार माना जाना चाहिए परन्तु दूसरी ओर साधारण या अधीनस्थ पदों पर अनुभव के अभाव में भी सरकारी सेवा में प्रवेश दिया जा सकता है।

(3) तकनीकी ज्ञान (Technical Knowledge)—प्रशासन में कुछ ऐसे पद होते हैं जिनके लिए विशेष योग्यता अर्थात् तकनीकी ज्ञान की आवश्यकता होती है। जैसे इंजीनियर, डॉक्टर, वैज्ञानिक, कानूनी परामर्शदाता तथा लेखापाल आदि। एक डाक्टर के लिए एम. बी. बी. एस. की डिग्री का होना आवश्यक माना गया है। इसी प्रकार इंजीनियरिंग तथा अन्य पदों के लिए भी तकनीकी शिक्षा को महत्त्व

दिया जाता है जिसके प्रभाव में उस पद के उत्तरदायित्व को पूरा नहीं किया जा सकता है।

(4) वैयक्तिक गुण (Personal Qualities) —लोक सेवाओं में वैयक्तिक गुणों को महत्व दिया जाता है। लोक-प्रशासन की सफलता उसमें कार्य करने वाले कर्मचारियों के वैयक्तिक गुणों पर निर्भर करती है। वैयक्तिक गुणों में ईमानदारी, सच्चरित्रता, नम्रता, कर्तव्य-परायणता, आज्ञापालन आदि गुण आते है। यद्यपि इन गुणों का पता कर्मचारी के लम्बे समय तक कार्य करने से चलता है परन्तु फिर भी मौखिक साक्षात्कार से इन गुणों का कुछ पता लगाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त अभ्यार्थी ने जिस शिक्षा संस्था में शिक्षा प्राप्त की उसके प्रधानाचार्य के द्वारा दिये गये चरित्र प्रमाण पत्र देखकर भी इन योग्यताओं का पता लगाया जाता है।

यह बात महत्त्वपूर्ण है कि प्रशासन में अधिकारियों में नेतृत्व की क्षमता होनी चाहिए तथा साथ ही उनका नेतृत्व सन्देह में परे होना चाहिए। इसका सीधे शब्दों में अर्थ यह है कि प्रशासकीय अधिकारी भ्रष्ट, दुश्चरित्र नहीं होने चाहिए। आवश्यकता इस बात की है कि अधिकारियों में दूसरा के विचारों को सुनने व अपने विचारों को समझाने की क्षमता हो। उसमें लोक-कल्याण की भावना हो। लोक सेवक अन्ततः प्रशासकीय संगठन का एक भाग होता है अतः उसमें उपयुक्त सद्गुणों का होना अनिवार्य है। फिफनर तथा प्रेस्थस ने लोक प्रशासन के अधिकारियों में कुछ गुणों का होना अनिवार्य बताया है जो निम्न हैं—

(1) विचारों की लोचशीलता हो किन्तु अनिवार्यतः चिन्तन का एक वैज्ञानिक ढंग हो—जो समन्वय की आवश्यकता को मानता है।
(2) संगठन तथा प्रबन्ध की विषय-वस्तु (Subject-Matter) का ज्ञान होना चाहिए।
(3) समस्या को सुगमतापूर्वक सुलझाने की योग्यता।
(4) पढ़ने-लिखने की व्यापक योग्यता।
(5) जटिल परिस्थितियों को विभिन्न व्यक्तियों के सम्पर्क द्वारा सुलझाने की योग्यता।

भारत में लोक सेवकों की योग्यताएं या अर्हताएं
(Qualifications of Public Personnel in India)

भारत में भी सामान्य और विशिष्ट योग्यताओं को लोक सेवा में भर्ती के लिए अपनाया गया है। नागरिकता की दृष्टि से नेपाल, सिक्किम व लंका के विस्थापित (Migrated) भी लोक-सेवा के लिए प्रत्याशी हो सकते है। ऐसा भारत का इन देशों के साथ प्रगाढ़ सम्बन्ध का होना है। अधिवास की दृष्टि से सभी नियन्त्रण समाप्त कर दिये गये है। प्रशासनिक सेवा में आने के लिए अवसर की समानता को स्वीकारा गया है जो प्रशासनिक एकता के लिए आवश्यक है। लेकिन व्यवहार में अभी भी राज्य नियुक्तियाँ करते समय अपने निवासियों को ही प्राथमिकता देता है।

कई बार भर्ती के आवेदन-पत्र माँगते समय कई राज्य अपनी भाषा जानने वाले को प्राथमिकता दी जायेगी, का प्रयोग करते हैं। जिसका अर्थ यह है कि दूसरे राज्य के व्यक्ति पद के योग्य नहीं समझे जा सकते क्योंकि उनको उस राज्य की भाषा का ज्ञान नहीं होता। लिंग-भेद के सम्बन्ध में भारतीय संविधान में स्पष्ट लिखा गया है कि "सभी नागरिकों के लिए राज्य के अन्तर्गत किसी भी पद पर नियुक्ति अथवा नियुक्ति सम्बन्धी मामलों में समान अवसर होंगे।' किसी के साथ जाति धर्म लिंग के आधार पर कोई भेद भाव नहीं किया जायेगा। यही कारण है कि भारत में सरकारी सेवाओं में बड़ी संख्या में स्त्रियाँ प्रवेश पा रही हैं और बड़े-बड़े पदों पर नियुक्त हैं। आयु की दृष्टि से भारत ब्रिटेन आदि देश नवयुवकों को ही भर्ती करते हैं। भारत में लोक-सेवाओं में भर्ती के लिए निम्नतम आयु 18 वर्ष है। प्रशासनिक बड़े पदों के लिए आयु 21 से 25 तक रखी गई। तकनीकी तथा अनुभव वाले पदों पर कुछ लम्बी बन जाती है। जहाँ तक विशिष्ट योग्यता का प्रश्न है भारत में लिपिक या उससे सम्बन्धित पदों के लिए हाई स्कूल (High School) या हायर सैकेण्ड्री की योग्यता अनिवार्य रखी गई है। बड़े पदों के लिए स्नातक डिग्री (किसी भी विषय की) अनिवार्य मानी गई है। भारत में साधारणतया सभी पदों पर विश्वविद्यालयों से निकले विद्यार्थियों को सीधे सेवाओं में भर्ती किया जाता है और बाद में प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाती है। फिर भी कुछ पदों पर नियुक्ति के लिए पूर्व-अनुभव को आवश्यक माना गया है। तकनीकी पदों के लिए अनुभव आवश्यक योग्यता समझी जाती है। किन्तु लोक-प्रशासन में लोक-सेवकों तथा तकनीकी वर्ग के बीच समुचित सम्बन्ध का गम्भीर प्रश्न विभिन्न समस्या पैदा कर रहा है और इस प्रश्न का अभी तक कोई सन्तोषजनक और सम्मानजनक उत्तर नहीं मिल पाया है। कुछ समय पूर्व उत्तर प्रदेश में राज्य-विद्युत मण्डल के तकनीकी अभियन्ताओं ने इसी आधार पर हड़ताल भी की थी। अतः ऐसे उपाय खोजे जाने चाहिए जिससे दोनों वर्गों के बीच सौहार्द की स्थापना की जा सके।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि कर्मचारियों में उपर्युक्त सामान्य तथा विशेष योग्यताओं का होना आवश्यक है। परन्तु महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि इन योग्यताओं को किस प्रकार से नापा जाये। मौखिक परीक्षाओं से इन सभी योग्यताओं का पता व्यावहारिक रूप से नहीं लगाया जा सकता। फिर भी इस प्रकार की परीक्षा से प्रत्याशी के आन्तरिक गुणों का बहुत कुछ सीमा तक पता लगाया जा सकता है। नीचे हम कर्मचारियों की योग्यता को निर्धारित करने के ढंग का विस्तृत रूप से वर्णन करेंगे।

(5) कर्मचारियों की योग्यता को निर्धारित करने के ढंग
(Methods of Determining Qualifications)

लोक-प्रशासन में कर्मचारियों की भर्ती करते समय कुछ योग्यताओं का होना आवश्यक माना गया है। लेकिन यह किस प्रकार से पता लगाया जाये कि वांछित

योग्यता किसी कर्मचारी में है या नहीं। इस प्रश्न का हल कोई आसान नहीं है। कर्मचारियों की योग्यता निर्धारण का सही तरीका ही प्रशासन में योग्य कर्मचारियों की भर्ती के लक्ष्य को सफलता पूर्वक प्राप्त कर सकता है। भिन्न भिन्न देशों में योग्यता निर्धारण करने के भिन्न-भिन्न तरीके काम में लाये जाते हैं परन्तु निम्न कुछ ऐसे तरीके हैं जो सामान्यतया कर्मचारियों की योग्यता को निर्धारण करने में उपयुक्त सिद्ध हुए हैं—

(1) नियुक्ति अधिकारी का व्यक्तिगत न्याय,
(2) आचरण एवं योग्यता आदि के प्रमाण-पत्र,
(3) पूर्व अनुभव का उल्लेख, यथा
(i) शिक्षा सम्बन्धी, (ii) व्यवसाय सम्बन्धी।
(4) परीक्षाएँ।
(i) लिखित तथा (ii) मौखिक या अलिखित।

कर्मचारियों की लोक-सेवा में भर्ती का सरलतम तथा प्राचीन उपाय यह है कि अभ्यार्थी की योग्यता को निर्धारित करने का अधिकार नियुक्ति अधिकारी को दे दिया जाय। इसमें नियुक्ति अधिकारी अभ्यार्थी को प्रश्न पूछकर उसके आन्तरिक गुणों तथा बाहरी गुणों की जाँच करता है। यह तरीका यद्यपि बहुत सरल है परन्तु इसमें पक्षपात की आशंका बनी रहती है। जहाँ तक छोटे उद्योगों का प्रश्न है यह प्रणाली निश्चित रूप से अच्छी सिद्ध हुई है परन्तु बड़े उद्योगों तथा राज्य जैसे बड़े संगठन में यह पद्धति ठीक सिद्ध नहीं हुई है। आलोचकों का कहना है कि राज्यों में नियुक्ति के अधिकार को नियुक्ति अधिकारी पर छोड़ देने में उचित भर्ती नहीं होगी क्योंकि नियुक्ति अधिकारी राजनीतिक प्रभाव से अछूता नहीं रह सकता। इसके अतिरिक्त नियुक्ति अधिकारी सर्वगुण-सम्पन्न नहीं होता। तकनीकी कार्यों के कर्मचारियों की भर्ती वही व्यक्ति कर सकता है जिसे उस तकनीकी कार्य में दक्षता प्राप्त हो। इसके अलावा यह तरीका अप्रजातान्त्रिक भी है।

इस पद्धति की आलोचना होते हुए भी कई स्थानों पर नियुक्तियाँ नियुक्ति अधिकारी के व्यक्तिगत निर्णय पर ही की जाती है। जैसे पर्सनल सहायक, व्यक्तिगत सचिव आदि ऐसे पद हैं जिन पर नियुक्ति करते समय नियुक्ति अधिकारी का निर्णय ही अन्तिम होता है।

आचार व्यवहार तथा योग्यताओं के प्रमाण पत्रों द्वारा भी किसी अभ्यार्थी के गुणों का ज्ञान प्राप्त हो सकता है। जब कोई प्रत्याशी प्रार्थना-पत्र देता है तो योग्यता के प्रमाण-पत्र देता है और योग्यता के प्रमाण-पत्रों के साथ-साथ आचरण तथा खेल-कूद सम्बन्धी प्रमाण-पत्रों की प्रतिलिपियाँ संलग्न करनी होती हैं। इन प्रमाण-पत्रों में यह पता लगाया जाता है कि अभ्यार्थी की शिक्षा सम्बन्धी योग्यता क्या है तथा किन-किन परीक्षाओं में कौनसी श्रेणी प्राप्त की। स्कूल तथा कॉलेज में खेल कूद में कितना भाग लेता रहा है अथवा शारीरिक योग्यता के लिए उसने एन० सी० सी०,

स्काउटिंग तथा अन्य कार्यों में कितना भाग लिया है। इसके अतिरिक्त उसका विद्यार्थी जीवन कैसा रहा है अर्थात् आज्ञाकारी या उद्दण्ड।

इन प्रमाण-पत्रों को देखकर ही प्रत्याशी की योग्यता का निर्धारण किया जाता है तथा अभ्यार्थी को चुनाव करके साक्षात्कार या प्रतियोगी परीक्षा के लिए बुलाया जाता है। यदि अभ्यार्थी की संख्या कम होती है तो योग्यता सम्बन्धी निर्धारण बहुत कुछ सीमा तक इसी आधार पर होता है। इन प्रमाण पत्रों के द्वारा ही अभ्यार्थी के जीवन की झाँकी मिलती है। परन्तु इस पद्धति का अभ्यार्थियों की योग्यता को जाँचने की एक मात्र कसौटी के रूप में प्रयोग नहीं किया जा सकता। इस पद्धति का प्रयोग इसलिए किया जाना चाहिए जिससे अभ्यार्थियों की लम्बी सूची में से प्रारम्भिक चुनाव किया जा सके। इस पद्धति का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें नियुक्ति अधिकारी को एक व्यक्ति के विवेक पर आश्रित रहना पड़ता है। किन्तु इससे हमारा अभिप्राय यह नहीं कि इस पद्धति के द्वारा अच्छे फलों की आशा नहीं की जा सकती। यदि प्रमाण-पत्र देने वाले अधिकारी सभी परिस्थितियों को ध्यान में रख कर प्रमाण-पत्र दें तो निःसन्देह अच्छे फलों को प्राप्त किया जा सकता है। यहाँ यह बता देना भी आवश्यक है कि केवल अभ्यार्थी के प्रमाण-पत्रों के देखने से ही उसकी योग्यता का पता नहीं चल सकता। बिस्मार्क का स्कूल जीवन झगड़ालू, लापरवाह आदि दोषों से पूर्ण था पर वह जर्मनी का सबसे योग्य प्रशासक, राजनीतिज्ञ, तथा महान् संगठन-कर्त्ता सिद्ध हुआ।

आचरण तथा योग्यता के प्रमाण-पत्रों के साथ-साथ अभ्यार्थी से पूर्व अनुभव का उल्लेख माँगा जाता है। पूर्व अनुभव के प्रमाण-पत्र अभ्यार्थी की योग्यता को प्रकट करने में सहायक सिद्ध हुए हैं। इस प्रकार के प्रमाण-पत्रों से प्रार्थी की शिक्षा तथा व्यावसायिक योग्यता का पता लग जाता है। कुछ शिक्षण संस्थाओं में विद्यार्थियों के बारे में पूर्ण रिकार्ड रखा जाता है। इसी प्रकार प्रत्येक कार्यालय में कर्मचारियों के व्यक्तिगत रिकार्ड रखे जाते हैं। स० रा० अमेरिका में इस पद्धति को वैज्ञानिक रूप प्रदान करने का प्रयास किया गया है। वहाँ कर्मचारियों की कार्य-कुशलता तथा सेवा वर्गीकरण सम्बन्धी अभिलेख रखने की प्रथा है। इस प्रकार के अनुभव का महत्व उस समय अधिक होता है जबकि प्रशासन में पदोन्नति से नियुक्ति की जाती है। परन्तु पिछला रिकार्ड देखकर ही किसी कर्मचारी की योग्यता को नहीं आँका जा सकता। इस पद्धति को हम सन्तोषजनक नहीं कह सकते।

जिन पद्धतियों का अभी ऊपर वर्णन किया है वह अभ्यार्थी की वास्तविक योग्यता का पता लगाने में पूर्णतया सफल नहीं हो सकती हैं। अतः सुझाव यह दिया जाता है कि किसी नवीन प्रणाली को कार्य रूप दिया जाय। इस नवीन प्रणाली को परीक्षा प्रणाली' कहते हैं। कर्मचारियों की भर्ती के लिए परीक्षा पद्धति कोई नई नहीं है। ईसा से 300 वर्ष पूर्व यूनान के सुप्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो (Plato) ने योद्धाओं के चुनाव के लिए एक विशेष प्रकार की परीक्षा-प्रणाली के उपयोग करने

का सुझाव दिया था। इसके बाद भी किसी विशेष कार्य के लिए नियुक्त किए जाने वाले व्यक्तियों को किसी न किसी प्रकार की परीक्षा देनी पड़ती थी। जैसे उस समय कोई व्यक्ति शस्त्रास्त्र तैयार करने वाले कारीगर के पास नौकरी के लिए जाता तो उसे नौकरी पाने के पूर्व अपने भावी मालिक को सन्तुष्ट करना होता था कि उसे शस्त्र बनाने की विद्या आती है। अतः परीक्षा पद्धति बहुत पुरानी पद्धति है।

आज भी उम्मीदवार की योग्यता और प्रतिभा की सबसे विश्वसनीय और सही कसौटी 'परीक्षा' ही मानी जाती है। परीक्षाओं का सार्व कर्मचारियों की योग्यताओं को मापने के यन्त्र के रूप में प्रयोग सर्वप्रथम चीन में प्रारम्भ हुआ था। आधुनिक युग में परीक्षा पद्धति का प्रयोग प्रशा की सरकार ने किया था। इसके बाद यूरोप के अन्य देशों और ब्रिटेन ने भी सिविल सेवा में कर्मचारियों की भर्ती के लिए परीक्षा प्रणाली को ही अपनाया।

परीक्षा प्रणाली के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि इससे न केवल दलगत राजनीति और पक्षपात से सेवाओं को बचाया जा सकता है अपितु यह भी कहा जा सकता है कि इसको अपनाने से अयोग्य और अनुपयुक्त व्यक्तियों को लोक सेवाओं से दूर रखा जा सकता है। यह कहना तो बड़ा कठिन है कि इस प्रणाली में कोई दोष नहीं है। यह भी सम्भव है कि परीक्षा से प्राप्त निष्कर्ष कभी-कभी गलत और भ्रामक हो सकते हैं। फिर भी सावधानी से तैयार किए गये प्रश्न पत्रों के उत्तरों के आधार पर प्रत्येक अभ्यर्थी की प्रतिभा और योग्यता का कुछ अंशों में पता लगाया जा सकता है।

परीक्षा दो प्रकार की होती है—मौखिक तथा लिखित। इस परीक्षा में भाग लेने के लिए पहले से ही शिक्षा सम्बन्धी योग्यता निर्धारित कर दी जाती है। कुछ प्रशासकीय सेवाओं में कर्मचारियों की नियुक्ति मौखिक या लिखित परीक्षाओं के आधार पर की जाती है और कुछ पदों अथवा सेवाओं के लिए दोनों ही प्रकार की परीक्षाओं को अपनाया जाता है। यहाँ हम दोनों प्रकार की परीक्षा का विस्तृत वर्णन करेंगे।

लिखित परीक्षा (Written Examination)

लिखित परीक्षा का उद्देश्य प्रत्याशियों की सामान्य बुद्धिमत्ता एवं श्रेष्ठतर ज्ञान का पता लगाना होता है। उन परीक्षाओं में उन विषयों को रखा जाता है जो सामान्यतया अभ्यर्थी विद्यालय में पढ़ चुका होता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि इन लिखित परीक्षाओं में उच्चतम अंक प्राप्त करने वाला अभ्यर्थी समस्त कार्यों में दक्ष होगा। लार्ड मैकाले के विचार इस सम्बन्ध में महत्त्व रखते हैं। उनके अनुसार, "ऐसे व्यक्ति जो 21 या 22 वर्षों तक ऐसे अध्ययनों में व्यस्त रहे जिनका किसी भी प्रकार के व्यवसाय से सम्बन्ध नहीं रहा और जिनके प्रभाव से उनका मस्तिष्क खुला, ग्रहणशील तथा शक्तिशाली बना है, वे व्यवसाय के प्रत्येक कार्य में उन व्यक्तियों से अधिक सफल सिद्ध होंगे जिन्होंने कि 18–19 वर्ष तक अपने व्यवसायों के विशेष अध्ययन में व्यतीत किये हैं।"

लिखित परीक्षा दो प्रकार की होती है -निबन्ध के तरह की परीक्षा तथा लघु उत्तर परीक्षा (Essay type and short answer) —

निबन्ध की तरह की परीक्षा में अभ्यर्थियों को प्रश्नों के उत्तर निबन्ध की तरह लम्बे लिखने होते हैं। इस प्रकार की परीक्षा से अभ्यर्थी की लेखन शैली, लेखन शक्ति तथा विचारों को व्यक्त करने की शक्ति का पता लग जाता है। अभ्यर्थी में कितना ज्ञान है तथा उसे समझने की कितनी कला है इसका भी पता इस पद्धति से लग जाता है। भारत में इसी प्रणाली को महत्त्व दिया जाता है। इस प्रणाली के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि इस प्रकार के लम्बे उत्तर अभ्यर्थी आसानी से लिख सकता है। विद्यालयों तथा महाविद्यालयों में भी इस प्रकार के प्रश्न-पत्र आते हैं जिनके उत्तर लम्बे चौड़े लिखने होते हैं। वास्तव में इस प्रकार की परीक्षा से ज्ञान का पता नहीं लग सकता। कारण यह है कि अभ्यर्थी रटे-रटाये उत्तर लिख देता है यदि उस प्रकार के प्रश्न उसे प्रश्न पत्र में मिल जाते हैं।

लिखित परीक्षा का दूसरा तरीका लघु उत्तर परीक्षा होता है। इसमें प्रश्नों के उत्तर बड़े-छोटे लिखने होते है। इस प्रकार की परीक्षा में अभ्यर्थी को थोड़ा समय देकर अधिक प्रश्न दे दिये जाते हैं और उनसे कहा जाता है कि इन प्रश्नों के उत्तर हाँ अथवा ना में दिये जायें। कभी-कभी प्रश्न के आगे उत्तर लिख दिये जाते हैं वे उत्तर गलत तथा सही दोनों ही हो सकते हैं तथा अभ्यर्थी को यह कहा जाता है कि उनके सामने लिखे उत्तर जो सही है उन पर निशान लगायें। इस प्रकार अभ्यर्थी के सामान्य ज्ञान की खोज की जाती है और यह भी पता लगाया जाता है कि उसमें शीघ्र निर्णय करने की कितनी शक्ति है। इस प्रकार की परीक्षाओं को आजकल भारत में भी स्थान दिया जाने लगा है।

इस प्रकार की परीक्षा का दोष यह है कि इसमें इतना समय अभ्यर्थी को मिलता है कि वह कुछ सोच नहीं सकता। इसमें परीक्षार्थी की लिखने की शैली का पता नहीं लगाया जा सकता, कारण कि प्रश्नों के उत्तर 'हाँ' या 'ना' में देने होते हैं। इसके अतिरिक्त इसके द्वारा जटिल समस्याओं के विश्लेषण की योग्यता का पता नहीं लगाया जा सकता। इस प्रणाली में अभ्यर्थी (Candidate) के मानसिक गुणों का पता नहीं लगाया जा सकता। कभी-कभी यह भी आरोप लगाया जाता है कि ये परीक्षाएँ प्रत्याशी के केवल तथ्य सम्बन्धी ज्ञान की जाँच कर सकती हैं। कुछ अमेरिकी विद्वानों का यह विचार है कि यदि इन परीक्षाओं के प्रश्नों को सावधानी से छाँटा जाय तो यह प्रणाली अन्य सभी प्रणालियों से उपयोगी सिद्ध हो सकती है तथा कम खर्च के साथ प्रत्याशी का निर्णय तर्क तथा निर्णय करने की योग्यता का माप कर सकती है। इस परीक्षा पद्धति के सम्बन्ध में प्रो० रॉबसन (Prof Robson) ने लिखा है कि "लिपिक सहायकों का चयन ऐसी लघु परीक्षाओं के द्वारा किया जाता है जिसमें गणित, अक्षर-विन्यास (Spelling) तथा शब्दों के अर्थ आदि से सम्बन्धित सरल 'सही व गलत' प्रश्न दिये जाते हैं। इन परीक्षाओं का एक गम्भीर दोष यह है कि

इसमें ठोस योग्यता के लिए कोई स्थान नहीं होता जैसा कि स्पष्ट वर्णन शैली में होता है, परन्तु इसमें यह लाभ अवश्य है कि कार्य शीघ्र गति से हो जाता है।" किन्तु एल० डी० ह्वाइट (L. D. White) का मत है कि—"इसमें परीक्षण की ही परीक्षा की जाती है। किसी योग्यता का स्थान नहीं नहीं रहता।" (It permits the testing of the test itself and has no ability.")।

लिखित परीक्षाओं के विभिन्न प्रकार
(Different Forms of Written Test)

परीक्षा के सम्बन्ध में एक सर्वविदित मान्यता है कि इसमें आवेदक या अभ्यर्थी (Candidate) की योग्यता का शीघ्र माप हो सकता है। लिखित परीक्षाओं द्वारा सीधी भर्ती के लिए ही नहीं अपितु पदोन्नति के लिए भी व्यक्ति की योग्यताओं को अधिक वस्तुगत रूप से सन्तनापूर्वक मापा जा सकता है। लिखित परीक्षा मौखिक या कार्य सम्पादन की परीक्षा की तुलना में अधिक सुगम और सस्ती होती है क्योंकि इसमें एक ही समय में अनेक व्यक्तियों की परीक्षा ली जा सकती है। लिखित परीक्षाएँ अनेक प्रकार की होती है जिनको निम्न वर्गों में बाँटा जा सकता है—

(1) योग्यता परीक्षा (Ability Test) –

इस प्रकार की परीक्षा का उद्देश्य आवेदकों (Applicants) की स्मरण-शक्ति तार्किकता तथा विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों के प्रति प्रतिक्रियाओं का पता लगाना है। इस प्रकार की परीक्षाओं के लिए 'संक्षिप्त उत्तर परीक्षा' या 'निबन्ध सदृश्य परीक्षा' का प्रयोग किया जाता है। ये परीक्षाएं निम्नलिखित प्रकार की होती हैं—

(I) सामान्य बुद्धि परीक्षाएँ (General Intelligence Tests)—इनमें मानसिक योग्यता की जाँच करने के लिए टर्मन ग्रुप टेस्ट (Terman Group Test) का प्रयोग किया जाता है। इस पद्धति की खोज का श्रेय क्रमशः बीनेट तथा साइमन (Binet and Simon) को है।

(II) यूनिट ट्रेट सिस्टम (Unit Trait System)—बुद्धि के विभिन्न पक्षों को (स्मरण-शक्ति, तार्किकता, वस्तुओं को समझने की योग्यता) पहचानने के लिए इस पद्धति का प्रयोग किया जाता है। इस पद्धति की खोज का श्रेय एल० एल० थर्स्टोन (L. L. Thurstone) को है।

(III) सामाजिक योग्यता परीक्षा (Social Intelligence Test)—सामाजिक योग्यता सम्बन्धी परीक्षाओं का पता भी थर्स्टोन ने लगाया था। इन परीक्षाओं का मूल उद्देश्य परीक्षार्थी (Candidate) के सम्बन्ध में इस बात का पता लगाना है कि वे अपने को अपने चारों ओर के वातावरण के साथ किस सीमा तक समायोजित कर सकते हैं। इसमें परीक्षार्थियों के ग्रुप बना दिए जाते हैं जो 15 दिन से 30 दिन तक कैम्प में रखे जाते हैं तथा परीक्षक इनके साथ रहते हैं। परीक्षार्थी की प्रत्येक कार्य-वाही पर कड़ी नजर रखी जाती है। इस अवधि में परीक्षार्थी कई परीक्षाओं में से

गुजरता है। इस प्रकार की परीक्षाओं का प्रयोग पुलिस सेवाओं तथा सेना में भर्ती करते समय किया जा सकता है।

(iv) प्रशासकीय योग्यता सम्बन्धी परीक्षाएँ (Administrative Ability Tests)—थर्स्टोन तथा मेंडल (Thurstone and Milton Mendel) ने अपनी परीक्षा सम्बन्धी खोजों के आधार पर यह बताया कि कुशल प्रशासक बनने के लिए *केवल बौद्धिक योग्यता ही आवश्यक नहीं है, अपितु उसमें प्रशासकीय योग्यता होना* भी अत्यावश्यक है। प्रशासकीय सफलता के लिए मेंडल ने निम्नलिखित गुणों को आवश्यक बताया है—

(1) जनता का मूल्यांकन करने की क्षमता।
(2) सैद्धान्तिक व भावात्मक विषयों में रुचि।
(3) समूह में आचरण।
(4) प्रशासकीय विवेक।
(5) बुद्धि।
(6) जन-साधारण के लिए सम्मान।
(7) अन्तःकर्मचारी सम्बन्धों को समझने का विवेक।
(8) अपने देख-रेख में किये जाने वाले कार्यों में रुचि।

उपर्युक्त गुणों का पता लगाने के लिए गोट्शाल्ड (Gottshold) परीक्षा *का प्रयोग किया जाता है।*

(v) यांत्रिक परीक्षाएँ (Mechanical Tests)—इस प्रकार की परीक्षाओं का प्रयोग टाइपिस्ट (Typist) तथा स्टेनोग्राफर (Stenographer) आदि की यांत्रिक योग्यता का पता लगाने के लिए किया जा सकता है।

(2) अभियोग्यता परीक्षा (Aptitude Test)--

इस प्रकार की परीक्षा का प्रयोग परीक्षार्थियों की मानसिक परिपक्वता का पता लगाने के लिए किया जाता है। इङ्गलैंड तथा अमरिका के कुछ विश्वविद्यालयों में विद्यार्थियों की मानसिक परिपक्वता को जाँचने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। अमेरिका में तो व्यापार तथा अन्य उद्योगों के लिए इन परीक्षाओं का काफी मात्रा में प्रयोग किया जाता है। सोवियत रूस में भी इसका काफी प्रयोग किया जाता है।

(3) निष्पादन परीक्षा (Achievement).- -

प्रत्येक प्रकार की प्रतियोगी परीक्षाओं (Competitive Examination) में बैठने के लिए शैक्षणिक योग्यता पहले से ही निश्चित कर दी जाती है। इसी को निष्पादन परीक्षायें कहते हैं। जैसे भारत में आई० ए० एस०, आई० पी० एस० आदि परीक्षाओं के लिए स्नातक होना आवश्यक माना गया है। निष्पादन परीक्षा का सम्बन्ध परीक्षार्थियों की शिक्षा सम्बन्धी योग्यता की जाँच करना है अर्थात् यह पता लगाना कि परीक्षार्थी की डिग्रियाँ वास्तविक व अर्थपूर्ण हैं तथा उसमें कार्य करने की योग्यता व क्षमता है।

(4) व्यक्तित्व परीक्षा (Personality Test) —

उपर्युक्त परीक्षाओं के द्वारा व्यक्तित्व के सम्बन्धी ज्ञान का पता लगाना बड़ा कठिन है क्योंकि लिखित परीक्षाओं से व्यक्तित्व के सम्बन्ध का सही पता नहीं लगाया जा सकता। लेकिन मनोवैज्ञानिकों (Psychologists) द्वारा व्यक्तित्व की परीक्षा करने के लिए कुछ परीक्षाओं का प्रयोग किया गया है। इसका प्रयोग व्यक्ति के नेतृत्व के गुणों का पता लगाने के लिए किया जाता है। सर्वप्रथम इस परीक्षा को इङ्गलैंड में द्वितीय विश्व युद्ध के समय प्रयोग में लाया गया। इसमें अभ्यार्थियों को किसी कैम्प में बुला लिया जाता था और कुछ दिन तक उनको उसमें रखा जाता था। जिससे उनके व्यक्तित्व के बारे में जानकारी प्राप्त की जाती थी। इसके अतिरिक्त अभ्यार्थी से कई प्रश्न पूछे जाते थे। जिससे उसकी बुद्धि निर्णयक्षमता, शीघ्रता आदि का पता लगाया जाता है। वस्तुतः परीक्षा का यह तरीका जटिल है और इसे सुगमता से सभी अवसरों पर प्रयोग नहीं किया जा सकता। यह तरीका खर्चीला भी है।

मौखिक परीक्षा
(Oral Test)

अभ्यार्थी की योग्यता जाँचने का एक यह भी तरीका है कि उसकी मौखिक परीक्षा ली जाये। इसके आधार पर परीक्षा लेने वाला अधिकारी उसके व्यक्तिगत गुणों की जाँच कर सकता है। इसमें नियुक्ति अधिकारी अभ्यार्थी को प्रश्न पूछता है उसके प्रश्न के उत्तर के तरीके को देखता है उसके व्यवहार तथा उसके पहनाव के तरीकों को ध्यानपूर्वक देखता है। कभी-कभी वाद-विवाद से भी अभ्यार्थी के गुणों का पता लगाने का प्रयत्न किया जाता है। मौखिक परीक्षा के पक्ष में इङ्गलैंड की "साक्षात्कार समिति" ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि—

"हमारा विश्वास है कि मौखिक परीक्षा में प्रत्याशी के कुछ ऐसे गुण प्रकाश में आते हैं जिनकी कि लिखित परीक्षा के द्वारा जाँच नहीं की जा सकती और वे गुण लोक सेवकों के लिए बड़े उपयोगी होते हैं। कभी-कभी यह तर्क दिया जाता है कि एक सब प्रकार से सुयोग्य प्रत्याशी मौखिक परीक्षा में घबरा सकता है और इस प्रकार न्याय प्राप्ति से वंचित रह सकता है। किन्तु हमारा विचार है कि इस प्रकार घबरा जाना तथा धैर्य को खो देना क्या एक गम्भीर कमी नहीं है अथवा प्रतिभा शक्ति या सामर्थ्य सूझ-बूझ तथा मानसिक सन्तुलन जो कि ऐसी दशाओं में प्रत्याशी को उसके सभी साधनों का समुचित उपयोग करने के योग्य बनाते हैं क्या बहुमूल्य गुण नहीं है। हमारे विचार में मौखिक साक्षात्कार प्रत्याशी की सतर्कता, बुद्धिमत्ता तथा उसके मानसिक दृष्टिकोण की जाँच करने का श्रेष्ठ तरीका है। हमारा विचार है कि मौखिक परीक्षा शैक्षणिक अध्ययन के विषय से नहीं बल्कि सामान्य अभिरुचि के ऐसे विषयों के सम्बन्ध में होनी चाहिए जिन पर प्रत्येक नवयुवक को कुछ न कुछ कहना ही पड़े।"

मौखिक परीक्षा के सम्बन्ध में लिए गए दृष्टिकोण का एक दूसरा पहलू भी है। इस सम्बन्ध में परीक्षाओं की जाँच की अन्तर्राष्ट्रीय संस्था (International Institute of Examination Enquiry) के द्वारा एक अनुसंधान किया गया। इस संस्था ने लोक सेवा की मौखिक परीक्षा के प्रतिरूप की व्याख्या की और यह पाया कि भिन्न भिन्न साक्षात्कार मण्डलों (Interview Boards) द्वारा एक से ही प्रत्याशियों को दिये गये अंकों में 92 तथा 72 का अन्तर रहा तथा और उनके अंकों का औसत अन्तर 37 था। जाँच मण्डल ने यह कहा कि "100 में 20 से लेकर 30 तक के औसत अन्तर और 100 में लगभग 12 अंकों का औसत अन्तर साक्षात्कार परीक्षा की अविश्वसनीयता तथा अप्रामाणिकता की ओर संकेत करते हैं और इस बात का प्रकट करते हैं कि यह परीक्षा प्रत्याशी को लोक सेवा परीक्षा में निर्णायक स्थान पर रखने में कितना अधिक प्रभाव डालती है।" भारत के भूतपूर्व गृहमन्त्री स्व० श्री गोविन्दवल्लभ पंत ने मौखिक परीक्षा पर अपना व्यक्तिगत असन्तोष प्रकट करते हुए कहा था—"मैं साक्षात्कार की वर्तमान पद्धति से सन्तुष्ट नहीं हूँ। मैं यह अनुभव करता हूँ कि हमारी प्रतियोगी परीक्षा की सामान्य योजना में साक्षात्कार को अनावश्यक महत्त्व प्रदान किया गया है। साक्षात्कार हमारी निषेधात्मक प्रक्रिया का निकृष्ट प्रतीक है, जो पुराने समय में हमारे प्रशासन की विशेषता रही है।

इस प्रकार मौखिक परीक्षा में कई दोष हैं। इसका सबसे बड़ा दोष यह है कि अभ्यार्थी को कम समय दिया जाता है तथा उस समय का वातावरण परीक्षा के लिए उपयुक्त नहीं होता। साधारणतया अभ्यार्थी के बाहरी हाव-भाव से प्रभावित होकर अंक दिये जाते हैं। इसका फल यह होता है कि कई योग्य व्यक्ति मौखिक परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो पाते और इन्हें प्रशासनीय सेवाओं से मुक्त रहना पड़ता है। इस प्रणाली पर यह भी दोष लगाया जाता है कि इसमें मौखिक परीक्षा लेने वाले अधिकारी पर अनुचित प्रभाव डाला जा सकता है जिससे कम योग्यता के व्यक्तियों की भर्ती होने की सम्भावना रहती है। इसके अतिरिक्त इसमें धन व समय दोनों ही अधिक लगते हैं। यह भी कहा जाता है कि इस प्रकार की परीक्षायें व्यक्ति के चरित्र की समस्त विशेषताओं को सामने नहीं ला पाती, केवल वे ही गुण सामने आते हैं जिनको परीक्षक चाहता है। चूँकि ये परीक्षाएँ वस्तुगत होती हैं अतः अभ्यार्थी के समस्त गुणों का प्रदर्शन नहीं हो पाता। परीक्षक की पसन्द तथा नापसन्द का इसमें महत्त्व होता है।

मौखिक परीक्षा के दोषों को दूर करने के लिए प्रो० हरमन फाइनर ने कुछ सुझाव दिये हैं जिनमें से मुख्य निम्न हैं :

(1) साक्षात्कार की अवधि कम से कम आधा घंटा होनी चाहिए।

(2) साधारणतया अभ्यार्थी से उन्हीं विषयों पर प्रश्न पूछे जाने चाहिए जो उसके पाठ्यक्रम के अन्तर्गत आते हों। प्रश्न पूछते समय अभ्यार्थी की रुचि का भी ध्यान में रखा जाना चाहिए।

(3) साक्षात्कार का प्रयोग केवल पूरक परीक्षा के रूप में होना चाहिए, उसे निर्णायक परीक्षा के रूप में नहीं रखी जानी चाहिए।

(4) साक्षात्कार मण्डल में एक विश्वविद्यालय से सम्बद्ध व्यक्ति तथा एक व्यावसायिक व्यक्ति होना चाहिए।

(5) साक्षात्कार लिखित परीक्षा के बाद में होना चाहिए न कि उससे पहले।

(6) प्रत्याशी द्वारा प्रस्तुत प्रमाण-पत्र साक्षात्कार के बाद में देखे जाने चाहिए।

(7) मौखिक परीक्षा के अंक घटा देने चाहिए जो 150 से अधिक नहीं होने चाहिए।

(6) योग्यता निर्धारित करने के लिए प्रशासकीय यन्त्र
(Administrative Machinery for Determining Qualifications)

पदाधिकारियों एवं कर्मचारियों की योग्यता निर्धारित करने के लिए प्रत्येक देश में संविधान अथवा संसदीय अधिनियम द्वारा प्रशासकीय यन्त्र का निर्माण किया जाता है। इस प्रशासकीय यन्त्र को लोक सेवा आयोग या असैनिक सेवा आयोग कहते हैं। यह प्रत्याशियों की योग्यता निर्धारित करने के लिए लिखित तथा मौखिक परीक्षाओं की व्यवस्था ही नहीं करता अपितु कर्मचारियों के लिए सेवा की दशायें उनकी पदवृद्धि करने उन्हें पदच्युत करने आदि के नियमों को निर्धारित करने के कार्य भी करता है। भारत में लोक-कर्मचारियों की भर्ती करने वाले यन्त्र अर्थात् लोक सेवा आयोग के संगठन तथा कार्यों का आगे के अध्याय में विस्तृत वर्णन किया जायेगा।

इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि लोक कर्मचारियों की भर्ती करने वाले इस आयोग के सदस्य न केवल योग्य तथा बुद्धिमान ही होने चाहिए अपितु वे राजनीतिक दलबन्दी से तटस्थ और निष्पक्ष भी होने चाहिए जिससे कि वे कर्मचारियों की योग्यता का निष्पक्ष निर्णय कर सकें। उन्हें अपने कार्य को करने के पूर्ण अधिकार दिये जाने चाहिए। इसी कारण प्रत्येक राज्य में एक ऐसे संगठन का निर्माण किया जाता है जिसके सदस्यों की नियुक्ति देश के मुख्य कार्यपालिका के द्वारा की जाती है।

भारत में वरिष्ठ असैनिक सेवाओं के शाही आयोग ने 1924 में लिखा था "जो पुष्ट प्रजातन्त्रीय संस्थायें विद्यमान हैं, अनुभव ने यह प्रकट कर दिया है कि यदि कुशल असैनिक सेवा प्राप्त करनी है तो आवश्यक है कि जहाँ तक सम्भव हो राजनीतिक तथा व्यक्तिगत प्रभावों से इसकी रक्षा की जाये और इसको वह स्थायित्व व सुरक्षा दे दी जाये जो निष्पक्ष तथा कुशल साधनों के रूप में उसके सफलतापूर्वक कार्य करने के लिए अत्यावश्यक है और जिन साधनों के द्वारा सरकारें, चाहे वे किसी प्रकार की हों, अपनी नीतियों को लागू कर सकें। ऐसे देशों में, जहाँ इस सिद्धान्त

की अवहेलना की गई है और जहाँ लूट प्रणाली स्थान जमाये हुए है, अकुशल तथा असंगठित असैनिक सेवा ही विशेष रूप से प्राप्त होती रही है।" अतः प्रत्येक प्रजातन्त्र देश में लोक सेवाओं के लिए भर्ती का कार्य सामान्यतया असैनिक सेवा आयोग जैसे किसी स्वतन्त्र निकाय को, जैसा सं० रा० अमेरिका, ब्रिटेन तथा भारत में है, सौंप दिया है।

लोक सेवाओं में कर्मचारियों की नियुक्ति, भर्ती आयोग की सिफारिश पर, नियुक्ति अधिकारी के द्वारा की जाती है। नियुक्ति पहले पहल एक या दो वर्ष के लिए अस्थायी रूप में की जाती है। नियुक्ति को स्थायी करने के लिए परिवीक्षा (Probation) पद्धति को कार्य में लाया जाता है। इसके अनुसार कर्मचारी के कार्य की जाँच की जाती है तथा उसके अनुशासन को देखा जाता है। यदि रिपोर्ट सन्तोषजनक होती है तो कर्मचारी को स्थायी किया जाता है। साधारणतया परिवीक्षा अवधि (Probation Period) एक या दो वर्ष होती है, परन्तु इसे बढ़ाया भी जा सकता है। यदि परिवीक्षा अवधि में कर्मचारी का कार्य सन्तोषजनक नहीं पाया जाता है तो उसे उस पद से हटाया भी जा सकता है।

इस पद्धति को अपनाने का मुख्य कारण यह है कि नियुक्ति अधिकारी ने पदाधिकारियों को चुनने में चाहे कितनी ही अधिक सतर्कता से कार्य क्यों न किया हो और अपनी बुद्धि तथा विवेक द्वारा व्यक्तिगत न्याय विचार का प्रयोग किया हो, उसके निर्णय में त्रुटि हो सकती है। यह भी सम्भव है कि एक प्रत्याशी में सभी आवश्यक सैद्धान्तिक गुण विद्यमान हों, लेकिन उसमें व्यावहारिक गुणों का अभाव हो, जिससे वह प्रशासकीय उत्तरदायित्व को निभाने में असमर्थ सिद्ध हो। अतः परिवीक्षा काल पद्धति से पदाधिकारी की व्यावहारिक योग्यता का पता लग जाता है। इस पद्धति को आजकल प्रत्येक देश के लोक-प्रशासन में अपनाया जाता है।

इस पद्धति की उपयोगिता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, फिर भी इस बात का ध्यान विशेष रूप से रखा जाना चाहिए कि नियुक्ति अधिकारी अपने अधिकारों का दुरुपयोग कर कर्मचारी को उसके सन्तोषजनक कार्य के पश्चात् भी पदच्युत न कर दें। इस सम्बन्ध में विद्वानों का विचार है कि नियुक्ति अधिकारी पर यह नियन्त्रण रखा जाना आवश्यक है कि वह परिवीक्षा अवधि में कर्मचारी के कार्य का पूर्ण विवरण आदि रखे तथा अवधि के समाप्त होने पर उसकी पदच्युति के आदेश देने के पूर्व लोक सेवा आयोग की स्वीकृति प्राप्त करे।

भारत में कर्मचारियों की भर्ती का तरीका

(System of Recruitment in India)

पिछले पृष्ठों में लोक-प्रशासन में कर्मचारियों की भर्ती सम्बन्धी व्यवस्था का विस्तार से वर्णन किया जा चुका है। यहाँ हम संक्षेप में भारत में कर्मचारियों की भर्ती के तरीके का वर्णन करेंगे। भारत में सिविल सेवाएँ दो स्तर की पाई जाती हैं—अखिल भारतीय प्रशासनिक सेवाएँ तथा राज्य स्तर की प्रशासनिक सेवाएँ। अखिल भारतीय

प्रशासनिक सेवाओं में भर्ती का कार्य संघीय लोक सेवा आयोग के द्वारा सम्पादित किया जाता है तथा राज्य प्रशासनिक सेवा सम्बन्धी भर्ती का कार्य राज्य लोक सेवा आयोग के द्वारा किया जाता है। इसके अतिरिक्त भारत में रेल्वे विभाग में कर्मचारियों की भर्ती हेतु रेल्वे सेवा आयोग भी है। इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के स्वायत्त आयोगों द्वारा अपने कर्मचारियों की भर्ती हेतु अलग सेवा आयोग की स्थापना की जाती है। राजस्थान में पंचायत समितियों तथा जिला परिषदों की सेवा में कर्मचारियों की भर्ती हेतु एक अलग प्रकार के आयोग की व्यवस्था की गई है।

संघीय लोक सेवा आयोग के सदस्यों की नियुक्ति भारत के राष्ट्रपति द्वारा छह वर्ष के लिए की जाती है। यहाँ सदस्यों की अधिकतम आयु सीमा 65 वर्ष रखी गई है, उसके बाद कोई भी व्यक्ति अपने पद पर बना नहीं रह सकेगा। राज्य लोक सेवा आयोग के सदस्यों की नियुक्ति सम्बन्धित राज्य के राज्यपाल द्वारा की जाती है। इनकी सेवा निवृत्ति आयु 60 वर्ष की रखी गई है। आयोग के सदस्यों को कम से कम दस वर्ष का सरकारी सेवा अनुभव आवश्यक माना गया है। उनके कार्यकाल में इनका वेतन कम नहीं किया जा सकता। संघीय लोक सेवा आयोग के सदस्यों को राष्ट्रपति उनके पद के दुर्व्यवहार के कारण हटा सकता है परन्तु उसे उच्चतम न्यायालय का परामर्श लेना आवश्यक माना गया है। यदि कोई सदस्य अपने कार्यकाल में पागल या दिवालिया हो जाये तो राष्ट्रपति उसे उच्चतम न्यायालय से परामर्श लिए बिना भी हटा सकता है।

भारत में लोक सेवाओं की भर्ती खुली प्रतियोगिता के आधार पर की जाती है। कभी-कभी आवश्यकता पड़ने पर कर्मचारियों की नियुक्ति विभागों में अस्थायी रूप से कर दी जाती है, परन्तु ये कर्मचारी स्थायी तभी हो सकते हैं जब कि लोक-सेवा आयोग की उन नियुक्तियों के सम्बन्ध में अनुमति प्राप्त हो जाये। प्रशासनिक सेवाओं के लिए 21 से 24 वर्ष की आयु निर्धारित की गई है। परन्तु यह आयु 1970 में बढ़ा कर 26 वर्ष कर दी गई है। यह आयु-वृद्धि प्रशासकीय सुधार आयोग के प्रतिवेदन के आधार पर की गई है। परीक्षा में प्रवेश पाने के लिए किसी विश्वविद्यालय की स्नातक डिग्री को निम्नतम योग्यता माना गया है। इन्जीनियरिंग, मेडिकल तथा टैकनिकल क्षेत्र के स्नातक इन परीक्षाओं में नहीं बैठ सकते। छोटे पदों जैसे लिपिक तथा टाईपिस्ट के लिए हाईस्कूल को अनिवार्य माना गया है। इन पदों के लिए आयु सीमा 18 से 25 वर्ष निर्धारित की गई है।

भारत में अखिल भारतीय सेवाओं में भर्ती हेतु परीक्षा दोनों प्रकार से ली जाती है जिसे लिखित तथा मौखिक परीक्षा कहते हैं। लिखित परीक्षा में अनिवार्य तथा ऐच्छिक विषय होते हैं। अनिवार्य विषय सामान्य अंग्रेजी, लेख या निबन्ध

तथा सामान्य ज्ञान होते हैं। ऐच्छिक विषय वे आते हैं जिसे अभ्यार्थी ने अपने शिक्षण-काल में उनका अध्ययन किया है।

अनिवार्य विषय का प्रत्येक प्रश्न-पत्र 150 अंक का होता है। इस प्रकार अनिवार्य विषयों का कुल योग 450 अंक होता है। ऐच्छिक विषयों में से अभ्यार्थी को 3 विषय चुनने पड़ते हैं। प्रत्येक विषय का प्रश्न-पत्र 200 अंकों का होता है। इस प्रकार कुल 600 अंक होते हैं। आई० ए० एस० तथा आई० एफ० एस० के परीक्षार्थियों को दो अतिरिक्त विषय भी लेने होते हैं। प्रत्येक विषय का प्रश्न-पत्र 200 अंकों का होता है। अतः 400 अंक और हो जाते हैं। इस प्रकार अनिवार्य विषयों के अंक 450 तथा ऐच्छिक एवं अतिरिक्त विषयों के अंकों का योग 1000 होता है। प्रत्येक प्रश्न-पत्र में 40 प्रतिशत अंक अनिवार्य हैं और कुल योग 50 प्रतिशत होना चाहिए। तभी किसी अभ्यार्थी का साक्षात्कार के लिए नाम भी प्रस्तुत करनी चाहिए। यह एक प्रकार से न्यूनतम अंक हैं। वैसे इन न्यूनतम अंकों में थोड़ा बहुत परिवर्तन हो सकता है फिर भी 50 प्रतिशत अंक साक्षात्कार के लिए न्यूनतम माने जा सकते हैं। लिखित परीक्षाओं में सफल होने वाले अभ्यार्थियों को साक्षात्कार के लिए आमंत्रित किया जाता है। मौखिक या व्यक्तित्व परीक्षण के अंक 400 होते हैं। परन्तु अब इसे घटाकर 300 अंक कर दिये गये हैं। लेकिन भारतीय विदेश सेवा के लिए अब भी व्यक्तित्व परीक्षण (Personality Test) 400 अंकों का ही होता है। अन्य केन्द्रीय सेवाओं के लिए 200 अंक रखे गये हैं। संघीय लोक सेवा आयोग के द्वारा व्यक्तित्व परीक्षण किया जाता है। यह परीक्षा 15 से 30 मिनट तक चलती है। इसमें व्यक्ति के व्यक्तिगत गुणों का पता लगाने का प्रयत्न किया जाता है और इसी के आधार पर उसको अंक दिये जाते हैं। लिखित तथा मौखिक या व्यक्तित्व परीक्षण के अंकों को सम्मिलित कर दिया जाता है और योग्यता क्रम (Order of Merit) निश्चित किया जाता है। सफल अभ्यार्थियों की सूची, जो योग्यता के क्रम में बनाई जाती है, संघीय लोक सेवा आयोग (Union Public Service Commission) के द्वारा गृह मन्त्रालय (Ministry of Home) को प्रस्तुत कर दी जाती है। गृह मंत्रालय सूची के क्रम के अनुसार पदों पर नियुक्तियाँ करता है।

डॉ० एपलबी (Dr Paul H. Appleby) ने भारत की भर्ती-प्रणाली के सम्बन्ध में निम्नलिखित दोष बताये हैं—

(क) प्रथम दोष तो यह है कि उसमें कल्पना का अभाव है। एपलबी महोदय के ही शब्दों में, "ऐसा प्रतीत होता है कि विज्ञापन तथा लोक सम्पर्क अधिकारियों के द्वारा न लिखे जाकर-विधि शास्त्रियों के द्वारा लिखे जाते हैं, परन्तु इसके लिए अन्य विज्ञापनों से अलावा दूसरे अन्य बातों की भी आवश्यकता होती है।"

(ख) परीक्षा द्वारा भर्ती का यह दोष बतलाया जाता है कि परीक्षा पद्धति का सम्बन्ध प्रशासकीय योग्यता के आधुनिक ज्ञान से नहीं होता। हमारे यहां प्राथमिकता विद्या विषयक ज्ञान को ही दी जाती है तथा अन्य बातों की उपेक्षा की जाती है। यह पद्धति केवल एक प्रकार के ही प्रशासकीय पदों के लिए उपयुक्त हो सकती है, परन्तु सभी प्रकार के पदों के लिए यह परीक्षा प्रणाली लाभदायक नहीं होती। इस सम्बन्ध में डॉ० गोरवाला (A. D. Gorewala) ने लिखा है कि "स्पष्टतः विभिन्न कार्यक्रमों तथा विभिन्न आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए प्रविधाओं में अन्तर होना चाहिए।"

लिखित परीक्षा के दोषों के अतिरिक्त डॉ० गोरवाला ने भारत की मौखिक परीक्षा या साक्षात्कार पद्धति को भी दोषयुक्त बताया है। उनके अनुसार, "15 मिनिट की बातचीत से अभ्यार्थी के मानसिक एवं भावात्मक गठन के बारे में कोई ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता।" इसलिए उन्होंने सुझाव दिया है कि लोक सेवा आयोग और विश्वविद्यालयों के बीच अधिक सम्पर्क होना चाहिए।

भारत में भर्ती पद्धति के सामान्य दोष

(1) सभी पदों पर नियुक्तियों का अधिकार लोक सेवा आयोग को नहीं दिया गया है। सरकार किसी भी पद को लोक सेवा आयोग के क्षेत्राधिकार से बाहर घोषित कर सकती है। इन पदों पर नियुक्ति का अधिकार सरकार को प्राप्त हो जाता जिससे योग्य व्यक्तियों के नियुक्ति की आशा नहीं की जा सकती।

(2) लोक सेवा आयोग सरकार को परामर्श देने का अधिकार रखता है। कई बार यह देखने में आया है कि सरकार आयोग की सिफारिश को नहीं मानती।

(3) सरकारी हस्तक्षेप के कारण लोक सेवा आयोग के मान-सम्मान तथा शक्ति को धक्का पहुँचा है। आज आयोगों की निष्पक्षता में लोगों का विश्वास कम होता जा रहा है। यही कारण है कि प्रत्येक उम्मीदवार सिफारिश ढूंढने के चक्कर में लगा देखा पाया जाता है।

(4) अभ्यार्थियों की जो लिखित परीक्षाएँ ली जाती हैं उनका पाठ्यक्रम पुराना और घिसा-पिटा है। साथ ही परीक्षा पद्धति समयानुरूप और वैज्ञानिक नहीं है।

(5) साक्षात्कार को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया जाता है। इसके स्थान पर मनोवैज्ञानिक परीक्षण आरम्भ किये जाने चाहिए।

भारत में प्रायः समस्त नियुक्तियाँ परिवीक्षा पद्धति के आधार पर एक या दो वर्ष के लिए की जाती है। इस अवधि में यदि कर्मचारियों का कार्य सन्तोषजनक

पाया जाता है तो उन्हें उनके पद पर स्थाई कर दिया जाता है। सेवाओं में नियुक्ति के पश्चात् कर्मचारी के लिए आवश्यक प्रशिक्षण की व्यवस्था भी की जाती है जिससे प्रशासन में कुशलता रह सके। प्रशिक्षण से सम्बन्धित बातों पर अलग से विचार किया जायगा।

परीक्षोपयोगी प्रश्न

(1) लोक सेवाओं में कर्मचारियों के भर्ती के विभिन्न तरीकों का वर्णन कीजिये। योग्य व्यक्तियों की भर्ती के लिए किन तरीकों को आप उपयुक्त मानते हैं।

Examine the different systems of recruitment of personnels. Which methods could ensure the recruitment of meritorious persons.

(2) विभाग के 'बाहर से भर्ती' तथा 'भीतर से भर्ती' से आप क्या समझते हैं? इनके गुण-दोषों की तुलनात्मक व्याख्या कीजिये।

What do you mean by recruitment from within and recruitment from Out side? Describe their relative merits and demerits

(3) लोक सेवा में भर्ती होने वाले व्यक्तियों की योग्यता मापने के विभिन्न तरीकों का वर्णन कीजिए।

What are the various methods of testing qualifications of Candidates desirous to enter the public services.

(4) भारत में अखिल भारतीय सेवाओं में कर्मचारियों की भर्ती कैसे होती है? क्या आप उसमें सुधार के सुझाव दे सकते हैं?

How the personnel are recruited in All India Services? Can you give some suggestion for its improvement.?

(5) मौखिक परीक्षाओं के गुण-दोषों का वर्णन कीजिए।

Describe the merits and demerits of oral examination.

11

कर्मचारियों की पदोन्नति

पिछले अध्याय में हमने लोक-प्रशासन के कर्मचारियों की भर्ती सम्बन्धी अनेक समस्याओं का विस्तृत रूप से वर्णन किया। कर्मचारियों की नियुक्ति के उपरान्त लोक-प्रशासन को उसकी पद-वृद्धि या पदोन्नति करने की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। किसी देश की प्रशासन व्यवस्था की उत्तमता इस बात पर आधारित है कि वहाँ के कर्मचारी कितने अनुशासनप्रिय तथा राजभक्त हैं। यह अनुशासन प्रियता तभी कर्मचारियों में बनी रहती है जब कर्मचारी वर्ग सन्तुष्ट बना रहता है और यह सन्तुष्टि तभी प्राप्त होती है जबकि कर्मचारी-वर्ग को वेतन-वृद्धि तथा पद-वृद्धि मिलती रहती है। प्रशासन को सुचारु रूप से तथा सुव्यवस्थित रूप से चलाने के लिए कर्मचारियों की पदोन्नति की समुचित व्यवस्था की जाये, जिससे लोक-प्रशासन योग्य तथा निपुण व्यक्तियों को आकृष्ट कर सके। लोक-प्रशासन का हित जनहित की रक्षा करने में ही है, और जनहित की रक्षा तभी हो सकती है जब कर्मचारियों को पदोन्नति का समुचित अवसर प्रदान किया जाय। इतना ही नहीं कर्मचारियों में निरन्तर कुशलता और क्षमता को बनाये रखने के लिए कुछ आकर्षण देना अनिवार्य है, और सम्भवत: कर्मचारियों के लिए लोक-सेवाओं में पदोन्नति से बढ़ कर और कोई आकर्षण नहीं हो सकता। कर्मचारियों को अपने कर्तव्यों के प्रति जागरूक बनाये रखने के लिए पदोन्नति से बढ़ कर कोई भी प्रभावकारी साधन नहीं होता।

वेतन-वृद्धि तथा पद-वृद्धि के अन्तर को बता देना यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है। साधारणतया लोग वेतन-वृद्धि (Increment) को पद-वृद्धि मान लेते हैं जो उचित नहीं है। वेतन-वृद्धि से हमारा तात्पर्य यह होता है कि एक कर्मचारी अपने पद पर कार्य करते हुए, अपने उत्तरदायित्व को निभाता रहता है और उस वेतन-क्रमानुसार (Pay scale) वार्षिक वृद्धि होती है उसे वेतन वृद्धि कहा जाता है। इस प्रकार की वेतन वृद्धि को पदोन्नति नहीं कहा जा सकता। पदोन्नति का अर्थ यह है कि निम्न पद से व्यक्ति उन्नति कर उच्च पद पर पहुँच जाय। उसका वेतन क्रम तथा उत्तरदायित्व भी बढ़ जाये, जैसे एक चपरासी लिपिक बन जाय एक सहायक निरीक्षक, निरीक्षक बन जाय, एक जिलाधीश कमिश्नर बन जाय। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि "कर्तव्यों तथा उत्तरदायित्वों में परिवर्तन होना पदोन्नति का एक अनिवार्य लक्षण है।"

प्रशासन में पदोन्नति के महत्त्व को कम नहीं किया जा सकता। प्रशासन को सुचारु तथा व्यवस्थित ढंग से चलाने के लिए यह आवश्यक है कि कर्मचारियों की वृद्धि तथा पदोन्नति का समुचित प्रबन्ध किया जाये जिससे और प्रशासन निपुण तथा योग्य व्यक्तियों को आकर्षित कर सके। पदोन्नति के महत्त्व की व्याख्या करते हुए डॉ० एo डब्लूo प्रोक्टर का मत है कि—"पदोन्नति प्रणाली में अभाव का सार्वजनिक प्रशासन की प्रतिभाओं पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। इसके परिणामस्वरूप अच्छे कर्मचारी प्रायः सरकारी सेवा छोड़कर प्राइवेट सेवाओं में चले जाते हैं। सरकारी वातावरण में इनके फलस्वरूप अनुशासन, सद्भावना और उत्साह बनाये रखना कठिन हो जाता है। फलस्वरूप व्यक्ति व समूह की कार्य-क्षमता के ऊँचे मान स्थिर रखना कठिन हो जाता है।

पदोन्नति एक बहुत महत्त्वपूर्ण समस्या है। डॉ० ह्वाइट (L. D. White) का कथन है कि "एक अनियोजित पदोन्नति व्यवस्था व्यक्तियों को प्रोत्साहन देकर संगठन को हानि पहुँचाती है। इसके साथ सम्पूर्ण नैतिकता का स्तर निम्न हो जाता है।"

विलोबी महोदय (Willoughby) का मत है कि—"कर्मचारियों के लिए पद-वृद्धि एक पुरस्कार अथवा सम्भव पुरस्कार है। वास्तविक वृद्धि एक पुरस्कार तथा वृद्धि का अवसर एक सम्भव पुरस्कार है।" ("To the employees promotion is of direct significance as a reward or possible reward. Actual promotion is a reward, while the opportunity for promotion is a possible reward.")

विलोबी महोदय के उपर्युक्त कथन द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि एक कर्मचारी पदोन्नति को पुरस्कार के रूप में स्वीकार करता है। इस पुरस्कार को प्राप्त करने अथवा पुरस्कार के लिए अवसर मिलने से कर्मचारी में प्रशासनीय कार्य के प्रति रुचि पैदा होती है तथा उसके कर्तव्यों के पालन में प्रोत्साहन मिलता है, जिसके कारण वह प्रशासनीय कार्यों को निपुणता, योग्यता तथा धैर्य के साथ सम्पादित करने की चेष्टा करता है। कर्मचारियों के प्रशासनीय कार्यों के प्रति कर्तव्यनिष्ठा तथा वफादार रहने के कारण लोक-प्रशासन लोकप्रिय तथा सफल बनता है। अतः पदोन्नति से न केवल कर्मचारियों को ही लाभ पहुँचता है बल्कि लोक-प्रशासन में भी गतिशीलता बनी रहती है। लेकिन पदोन्नति करते समय अधिकारियों को यह बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए कि पदोन्नति की योजना सुव्यवस्थित तरीकों पर आधारित हो। "एक दोषयुक्त आयोजित वृद्धि व्यवस्था से एक संगठन को न केवल इसलिए हानि होती है कि उसमें अयोग्य व्यक्ति आगे बढ़ जाते हैं, अपितु उससे सम्पूर्ण समूह का धैर्य भी नष्ट हो जाता है।" ("A badly planned promotion system harms an organization not only by pushing ahead

unqualified persons but also by undermining the morale of the whole group."—L. D. White) अतः इस समस्या को बड़ी सावधानी से हल करना चाहिए।

एफ० एम० मार्क्स का मत है कि "कर्मचारियों की पदोन्नति के सम्बन्ध में एक व्यवस्थित और स्पष्ट नीति अपनाने से कर्मचारियों और सरकार दोनों को ही लाभ होता है।" कर्मचारियों को कुशलता, दक्षता और ईमानदारी से अपने कार्य करने की प्रेरणा मिलने के साथ-साथ आगे बढ़ने का अवसर भी मिलता है। योग्य और प्रतिभाशाली व्यक्ति यह आशा लेकर कि वे आगे तरक्की कर लेंगे कम वेतन के पद को भी प्रारम्भ में स्वीकार कर लेते हैं। अपनी स्थिति से असन्तुष्ट रहने पर भी अच्छे भविष्य की आशा में पद का त्याग नहीं करते और न प्रतिदिन अच्छी नौकरी पाने की तलाश में रहते हैं। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि सरकार को नये कर्मचारियों के प्रशिक्षण पर बार-बार धन खर्च नहीं करना पड़ता और न ही नये कर्मचारियों की अनुभवहीनता के कारण प्रशासन के कुशल संचालन में कोई व्यवधान पैदा नहीं हो पाता। कर्मचारी छोटे पदों पर काम करते हुए जिस व्यापक अनुभव को प्राप्त करते हैं, वह उनके ऊँचे पदों पर पहुँचने पर शासन के कुशल रूप से संचालन की दृष्टि से बहुत उपयोगी और व्यावहारिक सिद्ध होता है। इससे प्रशासन में स्थायित्व के साथ-साथ कर्मचारियों का नैतिक बल भी बढ़ता है।

संक्षेप में, लोक-सेवाओं में पदोन्नति की उचित व्यवस्था होना आवश्यक है, क्योंकि इस प्रकार की व्यवस्था होने पर ही योग्य और ईमानदार व्यक्तियों को लोक सेवाओं में आने के लिए आकर्षित किया जा सकता है। इससे कर्मचारियों में दक्षता तथा अनुशासन बना रहता है। कर्मचारियों में इस बात का भय बना रहता है कि यदि उनका सेवा रिकार्ड (Service Record) खराब हो गया तो उन्हें पदोन्नति नहीं मिलेगी। इसके विपरीत यदि पदोन्नति करने की व्यवस्था न्यायसंगत और निष्पक्ष नहीं होगी तो उसके व्यापक कुपरिणाम हो सकते हैं तथा प्रतिभाशाली व्यक्ति लोक सेवा में आने के बजाय व्यक्तिगत प्रशासन (Private Administration) में जाना अधिक अच्छा तथा श्रेय कर समझेंगे। इसके अतिरिक्त कर्मचारियों को दक्षता और कुशलता के साथ काम करने के लिए कोई प्रोत्साहन नहीं मिलेगा। इससे कर्मचारियों का नैतिक स्तर गिर जायेगा जो प्रशासन की असफलता का द्योतक होगा।

प्रायः यह देखा जाता है कि राजनैतिक दबाव के कारण पदोन्नति की नीति के निष्पक्ष संचालन में बाधा उत्पन्न होती है। सत्ता प्राप्त दल के नेतागण प्रशासन पर प्रभाव डालकर अपने समर्थकों को पदोन्नति दिलवा देते हैं, जबकि योग्य एवं कुशल व्यक्ति पीछे रह जाते हैं। लगभग सभी देशों में इस प्रकार के पक्षपात की थोड़ी बहुत शिकायत होती रहती है। वस्तुतः इस प्रकार के दबाव का उपयोग करना बहुत ही अनुचित है और यह नैतिक दासता एवं पतन का द्योतक माना जाता है। पदोन्नति के निष्पक्ष संचालन में कभी-कभी इसलिए भी बाधा पड़ती है कि वे अधिकारी, जिन्हें पदोन्नति करने के अधिकार होते हैं, कर्मचारियों से घूंस

मानते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि अधिकारी अपने किसी अधीनस्थ कर्मचारी से किसी बात पर नाराज हो जाता है और उसकी पदोन्नति में बाधक बन जाता है।

अतः कर्मचारियों की पदोन्नति के सम्बन्ध में एक सन्तोषजनक एवं न्यायसंगत नीति निर्धारित करने के लिए कई बातों का होना परमावश्यक है। पदोन्नति की नीति को निर्धारित करते समय निम्न बातों का ध्यान रखना आवश्यक है—

(1) पदोन्नति प्रणाली की सर्वप्रथम आवश्यकता लोक-प्रशासन की सेवाओं को विभिन्न भागों में विभाजित करने में है। प्रशासन को सफल बनाने के लिए अनुभव ने इस बात को सिद्ध कर दिया है कि सेवाओं को उनके कार्यों के अनुसार अलग-अलग विभक्त कर दिया जाय। इस प्रकार से सेवाओं को विभक्त करने को लोक-प्रशासन में पद वर्गीकरण का नाम दिया जाता है।

(2) एक ही प्रकार के कार्यों और उत्तरदायित्वों से सम्बन्धित पदों को एक ही प्रकार की सेवा के अन्तर्गत रखना चाहिए।

(3) पद-वृद्धि के आधारभूत तत्त्वों में एक बात यह भी है कि केवल अनुभव और कार्यक्षमता के आधार पर ही किसी कर्मचारी की पदोन्नति करने का निर्णय नहीं किया जाना चाहिए, अपितु उसकी शिक्षा एवं योग्यता पर भी आवश्यक ध्यान दिया जाना चाहिए।

(4) पदोन्नति के सम्बन्ध में विद्वानों का मत है कि पदोन्नति विभाग में से ही की जाय। इसके लिए विभागीय कर्मचारियों की पदोन्नति प्रतियोगिता परीक्षा भी नहीं होनी चाहिए। लेकिन कुछ विचारकों का कहना है कि इस व्यवस्था से प्रशासन पर उल्टा प्रभाव पड़ता है। पदोन्नति करते समय कर्मचारियों के सेवा रिकार्ड को ही महत्त्व दिया जाना चाहिए।

(5) अन्त में, पदोन्नति प्रणाली के लिए यह आवश्यक माना गया है कि विभिन्न पदाधिकारियों एवं कर्मचारियों को वर्गों में विभाजित करने के बाद उनके वेतन शृङ्खला को निर्धारित कर दिया जाना चाहिए जिससे पदोन्नति एक वेतन शृङ्खला से दूसरे वेतन शृङ्खला में की जा सके।

विलोबी महोदय का पदोन्नति के सम्बन्ध में यह कहना है कि पदोन्नति प्रणाली को दोषमुक्त बनाने के लिए कुछ मूल आवश्यकताओं को पूरा करना आवश्यक है। उनके अनुसार ये आवश्यकताएँ निम्न हैं—

(1) लोक सेवाओं में कार्य करने वाले समस्त कर्मचारियों के लिए आवश्यक कर्तव्यों एवं योग्यताओं के सम्बन्ध में प्रामाणिक निर्देशनों को स्वीकार करना।

(2) लोक-प्रशासन की सेवाओं के सभी पदों को निश्चित करना तथा उनका वर्गीकरण करना।

(3) इस वर्गीकरण में उन पदों को छोड़कर जिनका नीति के निर्माण से सम्बन्ध है, अन्य समस्त पदों को वर्गीकरण में सम्मिलित करना।

(4) उन रिक्त पदों की भर्ती के लिए यथासम्भव पदोन्नति के सिद्धान्त को स्वीकार करना तथा महत्त्व देना।

(5) पदोन्नति के लिए योग्यता सिद्धान्त का अपनाना।

(6) पद-वृद्धि के लिए योग्य कर्मचारियों की सापेक्ष योग्यता का निर्धारित करने के लिए पर्याप्त साधनों की व्यवस्था करना।

पद-वृद्धि प्रणाली का उद्देश्य
(Aims of Promotion System)

लोक-प्रशासन में पदोन्नति का कोई एक ही निश्चित उद्देश्य नहीं होता। पदोन्नति करने के कई उद्देश्य होते हैं, जिनमें मुख्य निम्न हैं—

(1) लोक-प्रशासन में पदोन्नति के कारण ही योग्य, ईमानदार, परिश्रमी तथा कर्मठ व्यक्ति आकृष्ट होते हैं।

(2) पदोन्नति का उद्देश्य कर्मचारी में आशा का संचार करना है जिससे उनमें अनुशासन, कार्य-कुशलता तथा परिश्रमशीलता का विकास हो।

(3) पदोन्नति के परिणामस्वरूप केवल कर्मचारी को ही लाभ नहीं होता, अपितु प्रशासन को लाभ होता है। इससे लोक-प्रशासन में कार्य-कुशलता की वृद्धि होती है तथा लोक-प्रशासन गतिशील बनता है।

(4) लोक-प्रशासन में कार्यक्षमता बनाये रखना पदोन्नति का मुख्य उद्देश्य है। **विलोबी महोदय** का मत है—"यदि पदोन्नति प्रणाली असफल हो जाय तो उसका प्रभाव सम्पूर्ण कर्मचारी-वर्ग पर पड़ेगा, उनमें असन्तोष उत्पन्न होगा। उनके विचार उनको पतन की ओर जाने के लिए उत्साहित करेंगे और उनमें जो नैतिकता की भावना है उसका अन्त हो जायगा।"

(5) पदोन्नति का एक उद्देश्य यह भी है कि कुछ व्यक्ति सेवा को जीविकोपार्जन का साधन बना लें। यह तभी सम्भव है जबकि कर्मचारियों को इस बात का विश्वास हो कि उनको पदोन्नति के अवसर मिलते रहेंगे। इससे वे रुचि से कार्य करेंगे। ऐसी सम्भावना न होने पर लोग सरकारी सेवा में आना पसन्द नहीं करेंगे।

उपरोक्त विवरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि लोक-प्रशासन में पदोन्नति का कितना महत्त्व है। अतः इस समस्या को वैज्ञानिक आधार पर हल किया जाना चाहिए। इस प्रणाली का लाभ तभी हो सकता है जबकि यह प्रणाली सभी कर्मचारियों पर समान रूप से निष्पक्षता के साथ लागू हो। एक दोष-युक्त पदोन्नति प्रणाली की अपेक्षा तो पदोन्नति प्रणाली ही नहीं होना उचित है। अतः यह आवश्यक है कि पदोन्नति प्रणाली का आधार समानता, न्याय तथा समान अवसर होना चाहिए।

पदोन्नति के लिए पात्रता (Eligibility for Promotion) —

पदोन्नति देने के पूर्व स्वभावतः ही यह प्रश्न उठता है कि किन कर्मचारियों को पदोन्नति के योग्य समझा जाये ? केवल अनुभव और कार्यक्षमता के आधार पर

पदोन्नत करने का निर्णय नहीं किया जा सकता। इसके लिए शिक्षा सम्बन्धी विशिष्ट योग्यता का होना अत्यावश्यक है। उदाहरण के लिए एक द्वितीय श्रेणी अध्यापक (II Grade Teacher) को वरिष्ठ अध्यापक (Senior Teacher) तब तक नहीं बनाया जा सकता जब तक कि उसने एम०ए०, बी०एड० (M.A., B.Ed.) की डिग्री हासिल न कर ली हो। इसका अर्थ यह है कि केवल उन्हीं द्वितीय श्रेणी अध्यापकों को वरिष्ठ अध्यापक बनाया जायेगा जिनके पास एम० ए०, बी० एड० की डिग्री है।

पदोन्नति के सम्बन्ध में दूसरी महत्वपूर्ण समस्या यह उत्पन्न होती है कि किस पद पर कार्य करने वाले कर्मचारी को किस पद पर पदोन्नति दी जा सकती है। अर्थात् क्या द्वितीय श्रेणी अध्यापक को सीधा मुख्य अध्यापक (Head Master) के पद पर पदोन्नत किया जा सकता है। इसका स्पष्ट उत्तर 'नहीं' में होगा। पहले द्वितीय श्रेणी अध्यापक को पहले वरिष्ठ अध्यापक के पद पर पदोन्नत किया जायेगा। तत्पश्चात् मुख्य अध्यापक के पद पर पदोन्नत किया जा सकता है। संक्षेप में कोई भी कर्मचारी छलांग लगा कर पदोन्नति नहीं पा सकता। उसे एक सीढ़ी के बाद दूसरी सीढ़ी और बाद में तीसरी सीढ़ी पर चढ़ना होगा। यह व्यवस्था सर्वाधिक न्यायोचित है और इससे कर्मचारियों में अनुशासन बना रहता है। इसके विपरीत, यदि पदोन्नति छलांग लगा कर प्राप्त की जाती है तो इससे कर्मचारियों में निराशा व असुरक्षा का भय बढ़ जायेगा। यह व्यवस्था न्याय व किसी सिद्धान्त पर उचित नहीं मानी जा सकती। अतः पदोन्नति नीचे से ऊपर की क्रम के आधार पर दी जाती है।

पदोन्नति के सम्बन्ध की तीसरी समस्या यह है कि पदोन्नति विभाग में कार्य करने वाले कर्मचारियों में से ही की जानी चाहिए अथवा सरकार के अन्य विभागों के कर्मचारियों में से। साधारणतया पदोन्नति एक ही विभाग या ब्यूरो में से ही की जाती है। परन्तु कई विभाग ऐसे होते हैं जहाँ पदोन्नति जल्दी हो जाती है जबकि दूसरे विभागों में पदोन्नति होने में एक लम्बा समय लग जाता है। इसलिए यह सुझाव दिया जाता है कि विभिन्न विभागों में कार्य कर रहे ऐसे योग्य व्यक्तियों की एक सूची तैयार की जायेगी जो उच्चतर नियुक्ति के लिए सुयोग्य पाए जायेंगे। तत्पश्चात्, पदों के रिक्त होने पर उस सूची के क्रम से लोगों को नियुक्त किया जायेगा। चाहे वह किसी भी विभाग का क्यों न हो। परन्तु इस योजना से उन्नति के समान अवसर उपलब्ध कराने के मार्ग में कई कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं; जैसे उस विभाग के कर्मचारी, जिसमें स्थान रिक्त हुआ है, बाहर से पदाधिकारी लिए जाने पर आपत्ति करते हैं; क्योंकि ऐसा होने पर उनकी उन्नति के मार्ग अवरुद्ध हो जाते हैं। दूसरी समस्या यह उत्पन्न होती है कि प्रत्येक विभाग की कार्य प्रणाली भिन्न होती है। जब किसी एक विभाग के कर्मचारी को दूसरे विभाग में पदोन्नत किया जाता है तो उस विभाग की कार्य-प्रणाली से वह परिचित नहीं होता है। इसका परिणाम यह होता है कि वह अपने पद के उत्तरदायित्व को पूरा नहीं कर

पायेगा और प्रशासन में बाधा उपस्थित हो जायगी। उदाहरण के लिए यदि माल गुजारी वसूल करने वाले किसी अधिकारी को पुलिस अधिकारी बना दिया जाये तो वह बिल्कुल अनुपयोगी सिद्ध होगा, क्योंकि उसको पुलिस के कार्यों और उत्तरदायित्व के बारे में जरा भी ज्ञान नहीं होगा। अतः यह स्पष्ट है कि पदोन्नति अन्तर्विभागीय न होकर विभाग या ब्यूरो में से ही होनी चाहिए।

अन्त में कहा जा सकता है कि अन्तर्विभागीय पदोन्नति के लाभ होने के बावजूद इसकी महत्त्वपूर्ण कमियों के कारण आज इसे वह महत्त्व नहीं दिया जा रहा है। पदोन्नति के लिए संगठनात्मक प्रतिबन्ध लगाया जाता है जिसका अर्थ होता है—एक विभाग में से अपने कर्मचारियों की पदोन्नति की व्यवस्था। हालांकि इस व्यवस्था से अधिकारियों के निर्वाचन का क्षेत्र आवश्यक रूप से कम हो जाता है और बाहर के योग्य व्यक्ति किसी विभाग में नहीं आ पाते, परन्तु इससे पदोन्नति की रेखाएँ स्थिर तथा निश्चित हो जाती हैं। कई विद्वानों का यह मत है कि पदोन्नति के पात्रता के क्षेत्र का विस्तार किया जाना चाहिए। प्रत्येक कर्मचारी को यह अधिकार होना चाहिए कि वह पदोन्नति वाली पदों के लिए प्रतियोगिता कर सके। इससे योग्यतम व्यक्ति प्राप्त हो सकेंगे जो प्रशासन को नई गति दे सकेंगे।

लोक प्रशासन में यह समस्या बहुत ही महत्त्वपूर्ण है कि पदोन्नति का आधार पद-वृद्धि को स्वीकार किया जाय अथवा योग्यता को। इस सम्बन्ध में अलग-अलग धारणाएँ हैं। अगले पृष्ठों में हम पदोन्नति की पद्धतियों का वर्णन करेंगे।

पदोन्नति के सिद्धान्त
(Principles of Promotion)

प्रायः सभी देशों में पदोन्नति के सम्बन्ध में दो पद्धतियाँ पाई जाती हैं—ज्येष्ठता तथा योग्यता का सिद्धान्त। अधिकांश विद्वान इन दोनों सिद्धान्तों को पदोन्नति के प्रमुख सिद्धान्त मानते हैं। इन दोनों सिद्धान्तों के सम्बन्ध में पूर्ण विवेचना हम नीचे करेंगे।

ज्येष्ठता का सिद्धान्त
(Principle of Seniority)

इस सिद्धान्त को वरिष्ठता का सिद्धान्त भी कहते हैं। लोक-प्रशासन में ज्येष्ठता का अभिप्राय है 'सेवा की अवधि' अर्थात् जिस व्यक्ति का सेवा का कार्यकाल सबसे अधिक रहा है, प्रथम उसे पदोन्नति का अवसर दिया जाना चाहिए। ज्येष्ठता का अभिप्राय केवल सेवा की अवधि से ही नहीं होता, अपितु उसका अभिप्राय पद तथा उसकी वेतन शृंखला की ज्येष्ठता से भी है। उदाहरण के लिए किसी विभाग में निरीक्षक का पद रिक्त होने पर उसकी पूर्ति सहायक निरीक्षकों में जो सबसे अधिक समय से कार्य कर रहा है, उस व्यक्ति की पदोन्नति कर दी जानी चाहिए। इसी प्रकार जब किसी सरकारी कार्यालय में मुख्य लिपिक का पद रिक्त होने पर, सहायक लिपिकों के वर्ग में उसी लिपिक की पद-वृद्धि की जानी चाहिए जिसकी सेवा का कार्य-काल उस वर्ग की सेवा में सबसे अधिक रहा हो।

इस सिद्धान्त के पीछे यह धारणा निहित है कि सेवा की ज्येष्ठता के द्वारा एक अधिकारी विभागीय कार्य का विशेष अनुभव प्राप्त कर लेता है तथा वह व्यक्ति जो अधिक समय से एक कार्य कर रहा है वह उस व्यक्ति की अपेक्षा, जो उसी कार्य को थोड़े ही समय से कर रहा है, अधिक ज्ञान और अनुभव रखता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि प्रशासन में जो व्यक्ति अधिक पुराना होगा वह उतना ही अनुभवशील होगा। अतः उसकी पदोन्नति कार्य की अवधि के आधार पर की जानी चाहिए।

ज्येष्ठता के सिद्धान्त के गुण
(Merits of Seniority System)

पदोन्नति के सम्बन्ध में ज्येष्ठता के सिद्धान्त के निम्नलिखित गुण हैं—

(1) यह पद्धति बहुत ही सरल है। इसमें पदोन्नति कार्य की अवधि के आधार पर की जाती है। जो व्यक्ति अधिक पुराना होगा उसको पदोन्नति का अवसर सर्वप्रथम दिया जायगा। उसके बाद उससे कम अवधि वाले को उन्नति का अवसर दिया जायेगा। इस प्रकार यह क्रम चलता रहेगा।

(2) यह सिद्धान्त न्याययुक्त माना जाता है क्योंकि प्रत्येक कर्मचारी को उसके क्रम के अनुसार पदोन्नति मिलती है। इसमें किसी भी कर्मचारी को शिकायत का अवसर नहीं मिलता। अतः यह पदोन्नति का उचित एवं न्यायपूर्ण सिद्धान्त है।

(3) इस पद्धति को अपनाने से अनुचित प्रभाव डालने की सम्भावना कम रहती है, क्योंकि पदोन्नति कार्य की अवधि के द्वारा की जाती है। (Under this system strife advancement is eliminated and those eligible for promotion are releved of for political or other out side pressures.)

(4) इस सिद्धान्त से प्रत्येक व्यक्ति को यह विश्वास होता है कि उसको निश्चित रूप से पदोन्नति मिलेगी, अतः योग्य तथा निपुण व्यक्ति प्रशासनिक सेवा के लिए आकृष्ट होते हैं, जो कि प्रशासन की सफलता के लिए आवश्यक है।

(5) इस पद्धति का एक लाभ यह है कि इसमें छोटी उम्र के व्यक्ति अधिक उम्र के व्यक्ति के अधिकारी नहीं बन सकते। जिससे अधिक आयु के व्यक्ति में हीनता की भावना पैदा नहीं हो पाती। इस सम्बन्ध में डा० फाइनर (Finer) का विचार है कि "यह सिद्धान्त स्वाभाविक है और व्यक्तियों के पारस्परिक अनावश्यक अनुचित गतिरोध को समाप्त करता है। नवागन्तुक नौजवान को अनुभवी व्यक्तियों के ऊपर नहीं बैठाता।

(6) इस सिद्धान्त को अपनाने से समस्त कर्मचारी सन्तुष्ट रहते हैं तथा परस्पर सहयोग की भावना से कार्य करते रहते हैं, क्योंकि प्रत्येक कर्मचारी इस बात को जानता है कि समय आने पर उसकी भी पदोन्नति स्वतः हो जायगी।

(7) इस सिद्धान्त के अनुसार चूँकि पदोन्नतियाँ एक न्यायोचित सिद्धान्त के आधार पर की जाती हैं अतः कर्मचारी का मनोबल (Morale) ऊँचा बना रहता है।

(8) ज्येष्ठता का सिद्धान्त कर्मचारियों को पदोन्नति की निश्चितता प्रदान करता है, अत. योग्य, परिश्रमी और कुशल व्यक्ति सरकारी सेवा की ओर आकृष्ट होते है।

ज्येष्ठता के सिद्धान्त के दोष
(Demerits of Seniority System)

ज्येष्ठता के सिद्धान्त मे उपर्युक्त गुण होते हुए भी उसमे कुछ दोष है, जो निम्न है —

(1) इस सिद्धान्त की यह मान्यता है कि एक वेतन अनुक्रम मे कार्य करने वाले समस्त कर्मचारी पदोन्नति के योग्य है। परन्तु अनुभव यह बताता है कि ऐसा हमेशा नही होता।

(2) इस सिद्धान्त का आधार यह है कि अधिक समय तक एक पद पर कार्य करने से किसी व्यक्ति को अधिक अनुभव होता है यह अनुचित है। केवल अनुभव या आयु व्यक्ति को योग्य नही बनाती। योग्यता के लिए अन्य तत्त्व भी जैसे, विभिन्न विषयो का ज्ञान, विशिष्ट विषय का ज्ञान, स्वविवेक, बुद्धि आदि भी आवश्यक होते है।

(3) इस सिद्धान्त को लागू करने मे प्रत्येक कर्मचारी को यह पता होता है कि नम्बर आने पर उसकी पद-वृद्धि हो जाएगी। अत वह कर्मचारी लगन तथा रुचि से कार्य नही करेगा। इससे प्रशासन मे कार्य-कुशलता का अभाव हो जायेगा।

(4) कुछ विभागो म एक ही वेतन शृंखला के कर्मचारी इतनी अधिक सख्या म होते हैं कि ज्येष्ठता के आधार पर वे उन्नति की आशा नही कर सकते। ऐसी स्थिति मे कर्मचारी ईमानदारी स कार्य करना छोड देते है, क्योकि मेहनत करने पर उनको कोई लाभ दृष्टिगत नही होता।

(5) इस सिद्धान्त का एक यह भी दोष है कि इसमे योग्यता को कोई महत्व नही दिया जाता है। चाहे व्यक्ति योग्य हो या अयोग्य, समय आने पर सबको पद-वृद्धि दी जाती है। इसमे योग्य व्यक्तियो के साथ अन्याय होता है जो बडी दक्षता से साथ कार्य करते है।

(6) ज्येष्ठता का सिद्धान्त प्रशासन मे अयोग्यता, अकुशलता तथा उत्साह-हीनता को बढावा देता है और अन्त मे प्रशासन को ही असफल बना देता है। केवल इस सिद्धान्त का ही पालन करने से सफल प्रशासन की आशा नही की जा सकती।

(7) इस सिद्धान्त के समर्थक केवल वे ही व्यक्ति है जो स्वतन्त्र प्रतियोगिता म आने वाले नये विद्यार्थियो का मुकाबला नही कर सकते। वे व्यक्ति जो उदासीन है, कम बुद्धि के हैं, दकियानूसी हैं, वे इस सिद्धान्त के बडे समर्थक है। परन्तु उन लोगो के लिए यह सिद्धान्त निरर्थक है जिनके पास योग्यता, मानसिक सजीवता तथा जिनमे वातावरण के अनुकूल अपने को ढालने की क्षमता है। यदि कोई व्यक्ति किसी योग्य और प्रतिभावान व्यक्ति से पहले पैदा हुआ है, पहले नौकरी मे भर्ती हुआ है तो

इसका अर्थ यह नहीं कि वह अपने साथ योग्यता और बुद्धि को भी लाया है। केवल ज्येष्ठता को ही पदोन्नति का आधार मान लिया जाये तो यह खतरनाक सिद्ध होगा।

(8) ज्येष्ठता के सिद्धान्त को एकमात्र आधार मान लेने से लालफीताशाही को प्रोत्साहन मिलेगा, सरकारी कार्यों में बाधा के परिणामस्वरूप दूषित वातावरण पैदा हो जायेगा, और इससे जनता का विश्वास सरकार और प्रशासन में कम होने लगेगा।

(9) यह भी देखने में आया है कि ज्येष्ठता के आधार पर पदोन्नत कर्मचारी चिड़चिड़े और अजीब स्वभाव के होते हैं। वे अपने इर्द-गिर्द होने वाले वैज्ञानिक तथा प्रशासनिक परिवर्तनों तथा सामाजिक और राजनीतिक आवश्यकताओं का स्वागत नहीं करते और न ही उनमें सहयोग देते हैं। इससे सार्वजनिक कल्याण में बाधा उपस्थित हो सकती है।

(10) यह अप्रजातान्त्रिक है और प्रजातन्त्र के मूल मान्यताओं के विपरीत भी।

फिफनर महोदय (Pfiffner) ने इस सिद्धान्त की कटु आलोचना की है। उनके अनुसार—"ज्येष्ठता के आधार पर पदोन्नति के फलस्वरूप ऐसे परिणाम दृष्टिगोचर होंगे, जब कम स्वभाव वाले व्यक्ति पर्यवेक्षण और निर्देशन कार्य वाले पदों पर पहुँच जायेंगे। आयु बढ़ने के साथ-साथ मनुष्य जीवन की प्रतियोगिता से आदान-प्रदान के रंग से दूर चला जाता है और वह छोटी-छोटी बातों पर भी असहिष्णु हो जाता है, जिसके परिणाम से अधीनस्थ कर्मचारियों की कार्यक्षमता मारी जाती है। केवल ज्येष्ठता के कारण अयोग्य व्यक्ति ऊँचे पदों पर पहुँचने लगेंगे। इससे महत्वाकांक्षी लोग उत्साहहीन हो जायेंगे और व्यक्तित्व, साहस, आत्मविश्वास व प्रगतिशील दृष्टिकोण को प्रोत्साहन देने वाले तत्व मृतप्राय हो जायेंगे। यह प्रक्रिया मिथ्या प्राप्त लोग कार्य के मामूली स्तर और सुरक्षा 'जो है सो ठीक है' की भावना को जन्म देगी।"

ग्लैडन महोदय (Gladden) ने भी ज्येष्ठता के सिद्धान्त के अनुसार पदोन्नति के कई दोष बताये हैं। उनके द्वारा बताये गये मुख्य दोष निम्न हैं—

(1) इस पद्धति के अनुसार एक पद-क्रम समस्त कर्मचारियों को पदोन्नति के लिए उपयुक्त माना जाता है, जो उचित नहीं है।

(2) वरीयता सूची प्राय कर्मचारियों की आयु के साथ मेल खाती है। यह आशा की जाती है कि सभी कर्मचारी पदोन्नति पाने में सफल हो जायेंगे। परन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं होता।

(3) इसमें यह माना जाता है कि ऊपर के पदों की संख्या इतनी होती है कि निम्नतर कर्मचारी को पदोन्नति का अवसर मिल ही जायेगा। परन्तु अनुभव ने इस बात को असत्य सिद्ध कर दिया है।

अन्त मे कहा जा सकता है कि ज्येष्ठता के सिद्धान्त मे चाहे कितने ही गुण हो, लेकिन यह तो स्वीकार करना ही पडेगा कि प्रशासन का कार्य तथा उससे सम्बन्धित उत्तरदायित्व उतने कम महत्त्व के नही है कि उन्हे एक व्यक्ति को समर्पित इस आधार पर कर दिया जाये कि वह जेष्ठ है । जेष्ठता के साथ-साथ उत्तरदायित्वों को निबाह करने की योग्यता तथा क्षमता भी होनी चाहिए । अत उच्च पदो के लिए पदोन्नति का एक मात्र आधार ज्येष्ठता को स्वीकार नही किया जा सकता । उच्च पदो के लिए योग्यता को महत्त्व दिया जाना चाहिए । निम्न श्रेणी के पदो पर भले ही ज्येष्ठता के सिद्धान्त के आधार पर पदोन्नति व्यवस्था को स्वीकार किया जा सकता है लेकिन उच्च पदो के लिए योग्यता को भी पदोन्नति का आधार माना जाना चाहिए ।

योग्यता का सिद्धान्त
(Principle of Merit)

कर्मचारियो की पदोन्नति के सम्बन्ध मे दूसरा सिद्धान्त योग्यता का सिद्धान्त है । इसमे कर्मचारी की पदोन्नति उस समय योग्यता को महत्त्व दिया जाता है, न कि उस पद पर कार्य करने की अवधि को । इस सिद्धान्त के अपनाए जाने से प्रशासन मे योग्य, तथा दक्ष कार्य-कुशल लोग ही पदोन्नति के अधिकारी माने जाते है । इस सिद्धान्त से कर्मचारियो मे अच्छा कार्य करने की प्रतिस्पर्द्धा बनती है जो प्रशासन के लिए उपयोगी होती है । इसके विपरीत यदि कर्मचारी को यह विश्वास हो जाये कि कार्य-क्षमता और कार्य-कुशलता उनकी पदोन्नति के समय महत्त्व नही रखेगी तो वे ईमानदारी के साथ कठोर परिश्रम करना छोड देंगे । इस प्रकार योग्य और प्रतिभाशाली कर्मचारी निराश हो जायेंगे । अत प्रशासन मे पदोन्नति करते समय योग्यता को महत्त्व दिया जाना चाहिए । इस सिद्धान्त के लाभ तभी प्राप्त किय जा सकते है, जबकि पक्षपात रहित ढग से योग्यता निर्धारित की जाये । परन्तु योग्यता निर्धारित किस प्रकार की जाय—यह प्रश्न बडा जटिल है । विद्वानो ने योग्यता मापन के लिए निम्न सिद्धान्त बनाये हैं—

प्रतियोगिता परीक्षायें
(Competitive Examinations)

ये परीक्षाएँ तीन प्रकार की होती है—(1) खुली प्रतियोगिता परीक्षा, (2) सीमित प्रतियोगिता परीक्षा, तथा (3) उत्तीर्ण परीक्षा ।

पहले प्रकार की परीक्षाओ मे विभागीय कर्मचारियों को ही परीक्षा मे बैठने का अधिकार नही होता अपितु समस्त लोग जो पद की आवश्यकताओ को पूरा करते है, परीक्षा मे बैठ सकते है । परीक्षा मे सर्वाधिक अक प्राप्त करने वाले को उस स्थान पर नियुक्ति दी जाएगी ।

इस प्रकार की परीक्षा का सबसे बडा लाभ यह होता है कि चुनाव का क्षेत्र व्यापक हो जाता है तथा योग्य व्यक्ति प्रशासन को प्राप्त हो जाते है । परन्तु इसका सबसे बडा दोष यह है कि इससे पुराने कार्य करने वाले व्यक्तियो मे असन्तोष बढता

है। इस दोष को दूर करने के लिए यह सुझाव दिया जाता है कि परीक्षा केवल कार्य करने वाले कर्मचारियों की ही ली जाय और उसमें जो व्यक्ति सफल सिद्ध हो उन्हें उस स्थान पर लिया जाए। इस प्रकार की परीक्षाओं को सीमित प्रतियोगिता परीक्षा का नाम दिया जाता है। तीसरे प्रकार की परीक्षा जिसे उत्तीर्ण परीक्षा कहते हैं, इसमें सरकारी कर्मचारियों को विभागीय परीक्षाएँ पास करनी होती हैं। इनके अभाव में किसी की पदोन्नति नहीं की जाती है। इस प्रकार की परीक्षाओं को विभागीय परीक्षाएँ कहते हैं। जो व्यक्ति विभागीय परीक्षा को पास कर लेता है तो उसे उच्च पद प्राप्त करने के योग्य माना जाता है।

लिखित परीक्षा व अतिरिक्त योग्यता मापने के लिए मौखिक परीक्षाओं का भी आधार माना जाता है। कुछ आलोचनात्मक पदों के लिए लिखित तथा मौखिक दोनों प्रकार की परीक्षाएँ आवश्यक मानी गई हैं। यह तो स्वीकार किया जाता है कि परीक्षा प्रणाली में परिणामस्वरूप पक्षपात की सम्भावना निश्चित रूप से कम हो जाती है। ग्लैडन महोदय (Gladden) ने परीक्षा प्रणाली के महत्त्व के बारे में लिखा है कि "परीक्षा करने से सब प्रकार के पक्षपात का अन्त हो जाता है। इस प्रणाली में सभी परीक्षार्थी एक समान समझे जाते हैं और किसी प्रकार की कुछ रियायत का अवसर नहीं मिलता है। इससे निरीक्षण करने वाले कर्मचारी-वर्ग पर किसी प्रकार का आरोपयुक्त उत्तरदायित्व नहीं रहता है। लेकिन जहाँ तक नये कर्मचारी के भर्ती का प्रश्न है यह परीक्षा बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है। लेकिन पदोन्नति के लिए इसके पूर्ण प्रयोग करने की उपयोगिता और औचित्य के बारे में लोगों को शक है, क्योंकि सेवाओं में कार्य करने वाले कर्मचारियों की योग्यता एवं क्षमता का मूल्यांकन करने के इसमें भी अनावश्यक तरीके हो सकते हैं। और फिर यह नहीं कहा जा सकता कि लिखित परीक्षा कोई अन्तिम कसौटी है। हो सकता है लिखित परीक्षा में असफल होने वाले व्यक्ति में प्रबन्ध, संचालन और निरीक्षण की अद्भुत क्षमता हो। निष्कर्ष यह है कि लिखित परीक्षा द्वारा कर्मचारी के निजी गुणों का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त इस प्रणाली को अपनाने से नियुक्ति अधिकारी के हाथों में कोई शक्ति नहीं रह जाती है। इससे कर्मचारी अधिकारी की इज्जत नहीं करेगा और अनुशासन भंग करने से नहीं चूकेंगे।

विभागीय अध्यक्ष का व्यक्तिगत निर्णय
(Personal Judgement of the Head of the Department)

कभी-कभी पदोन्नति का कार्य विभागाध्यक्ष पर छोड़ दिया जाता है। इसका मुख्य कारण यह है कि परीक्षाओं के द्वारा कर्मचारियों की योग्यताओं की सही जाँच नहीं हो पाती। उनकी वास्तविक योग्यता का पता विभागाध्यक्ष को ही होता है। अतः विभागाध्यक्ष की सिफारिश पर ही पदोन्नति की जाती है। इस पद्धति में कई दोष पाए जाते हैं। इसका प्रथम दोष यह है कि विभागाध्यक्ष स्वेच्छाचारी बन जाता है। जिन कर्मचारियों से वह प्रसन्न होगा, उनकी पदोन्नति करेगा और जिनसे वह नाराज होगा उनकी उन्नति के मार्ग में बाधाएँ उत्पन्न करेगा।

उपर्युक्त दोषों को दूर करने के लिए विभिन्न देशों में निम्नलिखित उपाय काम में लाये जाते हैं—

(1) पदोन्नति मण्डल (Promotion Board).—कुछ देशों में कर्मचारियों की पदोन्नति के लिए विभागाध्यक्ष की सहायतार्थ पद-वृद्धि मण्डलों की व्यवस्था की जाती है। इन मण्डलों की रचना विभागाध्यक्ष द्वारा विभागीय कर्मचारियों में से की जाती है। यह मण्डल कर्मचारियों के कार्यों की सूचना, उनके सेवा-पत्रों से प्राप्त करता है और उन सेवा विवरणों के आधार पर पदोन्नति की सिफारिश करता है। भारत में उच्च पदों के सम्बन्ध में यह प्रणाली काम में लाई जाती है।

(2) अपील प्रणाली (Appeal) —कुछ देशों में जैसा कि कहा जा चुका है, पदोन्नति का अधिकार विभागाध्यक्ष को दिया जाता है परन्तु साथ ही कर्मचारियों को भी यह अधिकार दिया जाता है कि वह असन्तुष्ट होने पर विभागाध्यक्ष के विरुद्ध अपील कर सकता है। यह पद्धति सं० रा० अमेरिका के कुछ राज्यों में काम में लायी जाती है।

(3) विवरण प्रपत्र प्रणाली (System of Report Forms):—विभागीय अध्यक्षों के विवरणों को वस्तु-निष्ठता एवं वैयक्तिकता प्रदान करने के लिए कुछ देशों में निर्धारित प्रपत्रों की पद्धति कार्य में लाई जाती है। सर्वप्रथम इस पद्धति को सन् 1921 में इङ्गलैंड में प्रयोग में लाया गया था। इङ्गलैंड में विवरण प्रपत्रों में विभागीय ज्ञान, व्यक्तित्व एवं चरित्र, विवेक, उत्तरदायित्व ग्रहण करने की क्षमता, परिशुद्धता, चातुर्य, कर्मचारियों के निरीक्षण की क्षमता, उत्साह, व्यवहार तथा प्रयुतक्रमण आदि बातों का समावेश किया गया था। अक्टूबर 1946 में फ्रांस के चतुर्थ गणतन्त्र में इस प्रणाली का प्रारम्भ किया गया था।

सेवा अभिलेख अथवा कार्य कुशलता माप दर
(Service Record or Efficiency Ratings)

लोक-प्रशासन में कर्मचारियों की पदोन्नति के लिए एक और तरीका अपनाया जाता है जिसे सेवा अभिलेख अथवा कार्यकुशलता का सिद्धान्त कहते हैं। इसके अनुसार कर्मचारी की सेवा आरम्भ होते ही उसकी एक सेवा पुस्तक प्रारम्भ की जाती है। इस पुस्तक में कर्मचारी के विषय में सभी बातों का विवरण भरा जाता है। उदाहरण के लिए कर्मचारी ने कब सेवा प्रारम्भ की, उसकी योग्यता, उसके पद का विवरण, वेतन शृंखला कहाँ-कहाँ स्थानान्तर हुआ, वेतन-वृद्धि तथा पद-वृद्धि का उल्लेख इस पुस्तक में कर्मचारी के गुण तथा दोषों का भी विवरण अङ्कित किया जाता है। यह पुस्तक विभागाध्यक्ष के द्वारा भरी जाती है। इस प्रकार के विवरण कर्मचारी की पदोन्नति के समय बड़े महत्त्वपूर्ण सिद्ध होते हैं।

वैज्ञानिक व्यवस्था आन्दोलन के परिणामस्वरूप सं० रा० अमेरिका में कर्मचारियों की कार्य-कुशलता निर्धारित करने के लिए अनेक प्रकार के स्वचालित विशुद्ध गणितीय तरीकों को लागू किया गया है जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं:—

(1) उत्पादन अभिलेख (Production Records):—इसका अभिप्राय यह होता है कि प्रत्येक कर्मचारी का उत्पादन अभिलेख रखा जाता है। इस अभिलेख से कर्मचारी की कार्यक्षमता का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। यह पद्धति केवल टाइपिस्ट, शीघ्रलिपिक, फाइल लिपिक तथा यन्त्र चालक के कार्य करने वालों के लिए ही उपयुक्त हो सकती है, उच्च प्रशासकीय अधिकारियों के लिए इस पद्धति को नहीं अपनाया जाता।

(2) बिन्दुरेखीय दर माप-दण्ड पद्धति (Graphic Rating Scale System):—इस पद्धति में पहली पद्धति की अपेक्षा अधिक परिशुद्धता पाई जाती है। इस पद्धति में एक निर्धारित फार्म होता है जिसमें कर्मचारी के सेवा-सम्बन्धी विशेष गुणों का उल्लेख होता है। विभागीय अध्यक्ष के द्वारा प्रत्येक अधीनस्थ कर्मचारी के सम्बन्ध में उसके फार्म में उसके विशिष्ट गुणों पर निशान लगाया जाता है जो उसकी योग्यता को प्रदर्शित करते हैं। इन विशिष्टताओं के आधार पर कर्मचारियों के अंक बनाये जाते हैं तथा उनके तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर सापेक्षित योग्यताओं का निर्णय किया जाता है, और इसी के आधार पर कर्मचारी की पदोन्नति की जाती है।

बिन्दु रेखीय दर माप-दण्ड पद्धति के प्रपत्र में जो प्रमुख बातें अधिकारी रखता है, वे निम्नलिखित हैं—

कर्मचारी की परिशुद्धता, परिश्रम, कार्य की शुद्धता तथा सम-दक्षता, कर्तव्य-निष्ठा, कार्य करने की गति, विवेक तथा अनुभव से लाभ उठाने की क्षमता, कार्य सम्बन्धी ज्ञान, विनयशीलता, व्यवहार-कुशलता, सम्मान पाने के लिए योग्यता, भावनाओं पर नियन्त्रण रखने की क्षमता, नवीन बातों को ग्रहण करने की शक्ति, कार्य को प्रारम्भ करने की क्षमता, अन्य्यों की आज्ञा पालन भावना, संगठन करने की योग्यता, कार्य का निष्पादन, निर्णयात्मक शक्ति, आत्म-नियन्त्रण, योजना बनाने की क्षमता, व्यक्तित्व में विकास करने की क्षमता, आदि।

(3) व्यक्तित्व तालिका पद्धति (Personality Inventory).—कार्य-कुशलता को मापने के लिए सं० रा० अमेरिका में एक तीसरी प्रणाली काम में लाई जाती है जिसे व्यक्तित्व तालिका पद्धति कहते हैं। यह पद्धति बिन्दुरेखीय दर माप-दण्ड पद्धति से बिल्कुल विपरीत है। इसमें कुछ अवगुणों की तालिका बनाने का नियम है। प्रत्येक कर्मचारी का एक प्रपत्र तैयार किया जाता है जिसमें कर्मचारी के दोषों को अङ्कित कर दिया जाता है। पदोन्नति के समय यह प्रपत्र देखा जाता है। कम से कम चिह्न रखने वाला व्यक्ति योग्यतम कर्मचारी माना जाता है।

इस पद्धति का स्पष्टीकरण मेट्रो पाल सिविल सेवा ब्यूरो के भूतपूर्व मुख्य परीक्षक (J. B. Probst) द्वारा आविष्कृत तथा निर्मित (Probst Rating Scale) के द्वारा किया जाता है। J. B. Probst ने अपने Rating Scale में कर्मचारी के अनेक गुणों तथा अवगुणों का उल्लेख किया है, जैसे—(1) आलसी (2) धीरे कार्य करने वाला, (3) तेज तथा सक्रिय, (4) कार्य के लिए अधिक आयु वाला,

(5) मोटे-छोटे शारीरिक दोष वाला, (6) गम्भीर शारीरिक दोष वाला, (7) उदासीन रुचि न लेने वाला, (8) चातुर्य (9) अधिक स्पष्टवादी, (10) स्वयं को ही अधिक महत्त्व देने वाला, (11) वर्ग के रूप में अच्छा कार्य करने वाला, (12) वर्ग के रूप में अच्छा कार्य न करने वाला, (13) आलोचनाओं अथवा सुझावों से बाधित होने वाला, (14) अन्य लोगों से व्यवहार करने समय विरोध करने वाला, (15) प्राय अधिक विचारशील रहने वाला, (16) सामान्यतः प्रसन्न रहने वाला, (17) असामान्य रूप से विनयशील, (18) शिकायत करने वाला, (19) अच्छे स्वभाव वाला, (20) गलत निर्णय करने वाला, (21) प्राय असन्तुष्ट रहने वाला, (22) अच्छे निर्णय करने वाला आदि-आदि। इन गुणों अवगुणों के आधार पर कर्मचारी के कार्य का मूल्यांकन किया जाना चाहिए और कार्य-कुशलता दर-माप का निर्णय करना चाहिए।

कुछ विद्वानों ने इस पद्धति की आलोचना की है। उनका कहना है कि प्रत्येक कार्य-कुशलता माप चाहे कितना ही विस्तृत क्यों न हो, सदैव व्यक्तिनिष्ठ हो जाता है जिसके कारण उसमें व्यक्तिगत पक्षपात की सम्भावना का प्रश्न नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त इस बात को लेकर मतविरोध उत्पन्न हो सकता है कि किस विभाग के कर्मचारी में कौन-सा गुण विशेष रूप से होना चाहिए। आधुनिक काल में इस पद्धति को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। इस पद्धति के लाभों को तभी प्राप्त किया जा सकता है जबकि मापक अधिकारी निष्पक्षता से कर्मचारियों के गुणों अथवा अवगुणों को अंकित करे। इसके साथ में यह भी आवश्यक है कि मापक अधिकारी अपने कार्य में पूर्ण दक्ष हो। इन उपर्युक्त गुणों के अभाव में इस सिद्धान्त का महत्त्व कम हो जायेगा।

विभिन्न देशों में पदोन्नति के सम्बन्ध में चार प्रणालियाँ पाई जाती हैं जिनका वर्णन विस्तार से ऊपर किया गया है। प्रत्येक प्रणाली के कुछ गुण तथा कुछ दोष हैं फिर भी विभिन्न देशों ने अपनी परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न प्रणालियों को प्रशासन में स्थान दिया गया है। इसमें कोई दो मत नहीं हो सकते कि इनमें से किसी एक प्रणाली को पूर्ण रूप से पदोन्नति के आधार के रूप में नहीं अपनाया जा सकता। प्रशासन को उत्तम बनाने के लिए यह आवश्यक है कि सभी प्रणालियों को पदोन्नति के सम्बन्ध में आवश्यकतानुसार महत्त्व दिया जाय जिससे एक ऐसी वैज्ञानिक प्रणाली की स्थापना हो जो सभी प्रकार से न्याय सगत तथा उपयोगी हो। भारत में पदोन्नति के सम्बन्ध में साधारणतया सभी पद्धतियों को किसी न किसी रूप में अपनाया गया है। परन्तु पदोन्नति के समय ज्येष्ठता तथा योग्यता को अधिक महत्त्व दिया जाता है। नीचे हम संयुक्त राज्य अमरिका, ब्रिटेन तथा भारत में पदोन्नति के तरीकों का वर्णन करेंगे।

संयुक्त राज्य अमेरिका में पदोन्नति व्यवस्था
(Promotion in United States of America)

संयुक्त राज्य अमेरिका में पदोन्नति के सम्बन्ध में ज्येष्ठता परीक्षा तथा कार्य कुशलता सम्बन्धी अभिलेखों का प्रयोग किया जाता है। यहाँ दक्षता क्रम का

लेखा-जोखा व्यवस्थित रीति से रखा जाता है। कर्मचारियों ने इसे परिश्रमपूर्वक 'गणनीय' तथा 'भ्रात्मपूर्ण' बनाने के प्रयास किये है। वहाँ पदोन्नति के सम्बन्ध मे निम्नलिखित बातो का विशेष रूप से ध्यान रखा जाता है:—

(1) विभागाध्यक्ष या प्रशासकीय अधिकारी कर्मचारियों को पदोन्नति उपर्युक्त तीन प्रणालियों के आधार पर देते हैं।

(2) सं०रा० अमेरिका मे कार्य-कुशलता मापक दरो का प्रयोग बहुत अधिक होता है। इस व्यवस्था से वहाँ के कर्मचारी अधिक सन्तुष्ट नही हैं। हूवर आयोग ने अपनी रिपोर्ट मे 'कार्य-कुशलता माप' पद्धति को अत्यन्त जटिल तथा उलझन-पूर्ण बताया है। उन्होने आगे यह भी कहा है कि इस प्रणाली का प्रयोग कर्मचारियों को पुरस्कृत करने या दण्डित करने के लिए नही किया जा सकता। अतः आयोग ने इसके स्थान पर योग्यता एवं सेवा अभिलेख माप की सिफारिश की है।

(3) अमेरिका सिविल सर्विस आयोग (1938) ने पद-वृद्धि के लिए एक योजना तैयार की जिसके अनुसार विभागों को पद-वृद्धि परीक्षाओं को तीन शर्तों पर संचालित करने का उत्तरदायित्व होगा। ये शर्तें हैं—(1) परीक्षा की समुचित योजना, (2) परीक्षा का स्वभाव, तथा (3) अप्रतियोगी परीक्षा की शर्तें।

(4) परीक्षा के लिए सामान्य मापदण्ड लोक सेवा आयोग के द्वारा निर्धारित किये जाते हैं, परन्तु विभागों को उनका ब्योरा बनाने की पूर्ण छूट होती है।

(5) संयुक्त राज्य अमेरिका मे दक्षता तथा योग्यताक्रम का ब्योरेवार लेखा रखा जाता है। अब यह पदोन्नति की व्यवस्था इतनी जटिल नही है क्योंकि कर्मचारी इसकी सफलता मे स्वयं योगदान देते हैं।

(6) सं०रा० अमेरिका मे छोटे-छोटे पद वाले कर्मचारियों की पदोन्नति करने के अधिकार कुछ सीमा तक विभागाध्यक्ष को दिये गये हैं।

ब्रिटेन में पदोन्नति व्यवस्था
(Promotion System in U.K.)

ब्रिटेन में पदोन्नति की व्यवस्था सं०रा० अमेरिका से भिन्न है। ब्रिटेन में कर्मचारियों की पदोन्नति उनकी वार्षिक रिपोर्ट पर आधारित होती है। वहाँ प्रत्येक विभाग मे पदोन्नति मण्डल या आयोग बने हुये हैं। ये आयोग ही कर्मचारियों की वार्षिक रिपोर्ट तथा अन्य विवरणों का निरीक्षण करते हैं तथा पदोन्नति की सिफारिश करते हैं। ब्रिटेन मे पदोन्नति आयोग की एक आदर्श बात यह है कि आयोग में कर्मचारियों का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्ति रहते हैं, जो उनके अधिकारों की रक्षा करते हैं। वहाँ इस बात की भी व्यवस्था की गई है कि यदि आयोग चाहे तो साक्षात्कार के लिए उस कर्मचारी को बुला सकता है जिसके लिए पदोन्नति की सिफारिश की गई है। ब्रिटेन मे ये पदोन्नति मण्डल पदोन्नति के लिए कर्मचारियों के नामों को विभागाध्यक्ष के पास प्रस्तुत करते हैं। विभागाध्यक्ष का निर्णय अन्तिम होता है, परन्तु निर्णय देने से पूर्व वह पदोन्नति आयोग की सिफारिश को मद्देनजर

रखता है। यदि कोई कर्मचारी आयोग के निर्णय से असन्तुष्ट होता है तो उसे अपील करने का अधिकार दिया गया है। इस प्रकार इङ्गलैंड में पदोन्नति का अधिकार एक व्यक्ति के हाथ में नहीं है।

सन् 1921 ई० में इङ्गलैंड में पदोन्नति समिति (Committee of Promotions) ने विभागीय पदोन्नति के सम्बन्ध में एक रिपोर्ट तैयार की थी, जिसकी मुख्य सिफारिशें निम्न थीं—

"यदि किसी विभाग का स्टाफ इतना बड़ा हो कि उसका अध्यक्ष विभाग के प्रत्येक सदस्य के गुणों से परिचित नहीं हो सकता है, तो ऐसी स्थिति में, हमारे विचार से, सामान्यतया आवश्यकता इस बात की होगी कि विभागाध्यक्ष द्वारा सिफारिश करने वाले एक निकाय अथवा निकायों के रूप में एक पदोन्नति आयोग किसी भी स्थिति में जबकि विभागाध्यक्ष द्वारा ऐसे पदोन्नति मण्डल की स्थापना उस विभाग की परिस्थितियों की दृष्टि से अनुपयुक्त समझा जाये तो उपयुक्त ह्विटले निकाय को उस मामले पर पूर्ण वाद-विवाद करने का अवसर प्रदान किया जाना चाहिए। 900 पौंड वार्षिक से अधिक वेतन वाले स्थानों की पदोन्नतियाँ उस निकाय के कार्य-क्षेत्र की परिधि से बाहर समझी जानी चाहिए, जिसकी हमने सिफारिश की है।" इसके अतिरिक्त आयोग ने यह भी सुझाव दिया कि यदि आयोग चाहे तो वह कर्मचारी के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिए गवाही माँग सकता है तथा अन्य सहायक साधनों का उपयोग कर सकता है। पदोन्नति आयोग ने आगे कहा कि आयोग की सिफारिशें लिखित रूप में होनी चाहिए तथा पदोन्नति के लिए कौनसा यन्त्र अपनाया जाये, इसका उत्तरदायित्व विभागाध्यक्ष पर छोड़ दिया जाना चाहिए, लेकिन जो यन्त्र कार्य में लाया जाये उसका लिखित में वर्णन होना चाहिए। यदि किसी विभाग में पदोन्नति आयोग की स्थापना की जाये तो उसमें उस विभाग के कर्मचारियों का प्रतिनिधित्व होना आवश्यक है। उपरोक्त बातों के अतिरिक्त निम्न सुझाव दिये गये समिति ने यह भी स्वीकार किया कि कुछ अपवाद भूत मामलों (Exceptional Cases) में, जिनमें कि लोकहित की दृष्टि से ऐसा करना आवश्यक हो, विभागाध्यक्ष को यह शक्ति प्राप्त होनी चाहिए कि वह सामान्यकार्यविधि का पालन किये बिना ही, कोई पदोन्नति कर सके।

विभागीय ह्विटले परिषदों (Departmental Whitley Councils) के आदर्श संविधान में व्यवस्था की गई है कि "यह बात परिषद् के सामर्थ्य में होगी कि वह ऐसी किसी भी पदोन्नति के सम्बन्ध में विचार कर सके जिसके विषय में कि स्टाफ पक्ष की ओर से यह प्रतिवेदन किया गया है कि इसमें राष्ट्रीय परिषद् (National Concil) द्वारा स्वीकार या अनुमोदित पदोन्नति के सिद्धान्तों का उल्लंघन किया गया है।" इसके साथ ही साथ समिति ने यह भी सिफारिश की कि किसी भी अधिकारी अथवा अधिकारियों को छूट होनी चाहिए कि वे ऐसी किसी भी पदोन्नति

के सम्बन्ध में विभागाध्यक्ष के समक्ष आवेदन कर सकें जिनका कि उन पर प्रभाव पड़ता हो। ऐसे आवेदन अथवा प्रतिनिधित्व (Representation) पदोन्नति की घोषणा होने के पश्चात् एक निश्चित अवधि के अन्दर किये जाने चाहिए।

पदोन्नति मण्डल को ऐसे आवेदन अथवा प्रतिनिधित्व पर विचार करने वाले निकाय के प्रतिवेदन पर उस समय विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए जबकि वह उन जैसे ही किसी अन्य रिक्त स्थान (Vacancy) पर पदोन्नति की सिफारिश करे।

ऐसे आवेदन करने वाले अधिकारी को इस बात की आज्ञा मिलनी चाहिए कि वह उपयुक्त ह्विटले निकाय के स्टाफ पक्ष के एक प्रतिनिधि को अथवा स्टाफ के अन्य किसी सदस्य को अपने साथ ले सके। उसकी अपनी ही अपील पर प्रतिनिधित्व करने के लिए उपस्थित होने की स्थिति में उस व्यक्ति पाम से ही व्यय करना चाहिए।

जो भी नियुक्तियाँ की जाएँ उन सभी के सम्बन्ध में सम्बन्धित कर्मचारी वर्ग को शीघ्र सूचना दी जानी चाहिए।

अब यह कहा जा सकता है कि ब्रिटेन में पक्षपात रहित पदोन्नति करने के लिए विभाग में पदोन्नति आधार की स्थापना की जाती है। इसमें योग्य कर्मचारी को पदोन्नति का अवसर दिया जाता है जिससे प्रशासन की कुशलता में वृद्धि होती है। इंग्लैण्ड में यह व्यवस्था बहुत ही विकसित प्रकृति की है तथा अन्य देशों द्वारा अनुसरण करने योग्य है।

भारत में पदोन्नति व्यवस्था
(Promotion System in India)

भारत में पदोन्नति के लिए कोई एक पद्धति काम में नहीं लाई जाती। यहाँ ज्येष्ठता तथा योग्यता दोनों को ही पदोन्नति के सम्बन्ध में महत्त्व दिया जाता है। भारत में पदोन्नति के सम्बन्ध में केन्द्रीय वेतन आयोग (Central Pay Commission) ने कहा है कि—"उन बहुत से पदों के लिए विशेषतः उनमें जहाँ लम्बे समय तक कार्य की जानकारी एक महत्त्वपूर्ण गुण माना जाये ... पदोन्नति को ज्येष्ठता के सिद्धान्त पर आधारित करना चाहिए... परन्तु उच्चतर प्रशासकीय पदों के लिए पदोन्नति करते समय मुख्य ध्यान योग्यता के सिद्धान्त को भी देना आवश्यक है।"

भारत में विभिन्न सेवाओं में पदोन्नति के लिए विभिन्न आधार काम में लाये जाते हैं। उदाहरण के लिए भारत में प्रथम श्रेणी की सेवाओं में रिक्त स्थानों की भर्ती 55 प्रतिशत सीधी व्यवस्था द्वारा होती है। शेष 45 प्रतिशत स्थानों की भर्ती विभागीय कर्मचारियों की पदोन्नति द्वारा की जाती है। यह अनुपात विभिन्न सेवाओं में विभिन्न प्रकार का होता है। द्वितीय श्रेणी की राजपत्रित सेवाओं में रिक्त स्थानों की पूर्ति नीचे के श्रेणी वाले कर्मचारियों से भरी जाती है। द्वितीय श्रेणी में 65 प्रतिशत स्थान तृतीय श्रेणी के कर्मचारी की पदोन्नति से भरे जाते हैं। शेष स्थान सीधी प्रतियोगिता द्वारा भरे जाते हैं। द्वितीय श्रेणी के नवसीखी अधिकारियों …

रिक्त स्थानों में 50 प्रतिशत सीधी भर्ती होती है। जहाँ तक तृतीय श्रेणी की सेवाओं का प्रश्न है, इसमें अधिकांश भर्ती विभागीय कर्मचारियों को पदोन्नति देकर पूर्ण की जाती है। चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारियों को तृतीय श्रेणी में जाने का बहुत ही कम अवसर होता है। केवल रेल्व तथा डाक विभाग के कर्मचारियों को छोड़कर अन्य विभागों के कर्मचारियों को पदोन्नति का शायद ही अवसर प्राप्त होता है। इन कर्मचारियों में से उनको जो कि शैक्षणिक दृष्टि से, अथवा अन्य प्रकार से योग्यता प्राप्त होते हैं, आयु सम्बन्धी कुछ छूट दे दी जाती है जिससे कि वे बाहर के प्रत्याशियों (Candidates) के साथ प्रतियोगिता में बैठ सकें। हालांकि रेलवे तथा डाक-तार विभाग में, चतुर्थ श्रेणी कर्मचारियों के लिए पदोन्नति के नियमित मार्ग हैं। यह अनुमान लगाया गया है कि डाक व तार विभाग में तृतीय श्रेणी के लगभग 40 प्रतिशत पद पदोन्नति द्वारा भरे जाते हैं। इसी प्रकार रेलवे के सभी विभागों में तृतीय श्रेणी के निम्नतम पद-क्रम के कम से कम 10 प्रतिशत पद चतुर्थ श्रेणी के उपयुक्त कर्मचारियों की पदोन्नति के द्वारा भरे जाने आवश्यक होते हैं, कुछ विभागों में यह अनुपात अपेक्षाकृत ऊँचा है। रेलवे ने अनेक मामलों में पदोन्नति के इन निर्धारित अंशों (Quotas) में हाल में ही वृद्धि की है।

पदोन्नति की रीतियाँ तथा सिद्धान्त (Methods and Principles of Promotion) –

भारतीय संविधान में यह निर्दिष्ट कर दिया गया है कि पदोन्नति करने के लिए, तथा ऐसी पदोन्नतियों के लिए प्रत्याशियों की उपयुक्तता के सम्बन्ध में, अपनाये जाने वाले सिद्धान्तों के विषय में संघीय लोक सेवा आयोग (Union Public Service Commission) से परामर्श किया जायेगा। यद्यपि व्यवहार में, जब तक कि सम्बन्धित भर्ती नियमों के विपरीत कोई विशेष उपबन्ध (Special Provision) न हो, संविधान के अनुच्छेद 320 के खण्ड (3) के अन्तर्गत बनाये गये विनियमों के द्वारा तृतीय और चतुर्थ श्रेणी के अन्दर तथा इनमें से ऊपर को की जाने वाली पदोन्नतियों को आयोग के अधिकार क्षेत्र से बाहर कर दिया गया है। विभिन्न विभागों ने उस श्रेणी के कर्मचारियों की पदोन्नति के सम्बन्ध में अपने अलग-अलग नियम बनाये हैं। इनमें परस्पर काफी अन्तर पाया जाता है। वे सामान्यतः निम्न प्रकार से पदोन्नतियाँ करते हैं—

(i) योग्यता (Merit) के आधार पर पदोन्नति, या (ii) योग्यता व ज्येष्ठता (Merit cum Seniority) अथवा ज्येष्ठता व योग्यता (Seniority Cum Merit) के आधार पर पदोन्नति, (iii) ज्येष्ठता के आधार पर पदोन्नति।

साधारणतः, भारत में पदोन्नति के लिए 'योग्यता सिद्धान्त' या योग्यता बनाम ज्येष्ठता सिद्धान्त का प्रयोग किया जाता है तथा इस सम्बन्ध में प्रयुक्त किये जाने वाले सिद्धान्तों के सम्बन्ध में केवल वे ही आज्ञाएँ (Orders) लागू होंगी जो कि गृह मन्त्रालय (Ministry of Home) द्वारा मई 1957 में जारी की गई थीं।

परन्तु ये आज्ञाएँ केवल चुनाव पदों (Selection Posts) के ही सम्बन्ध में हैं। उनके अनुसार—

(1) चुनाव पदों तथा चुनाव पद-श्रेणी (Selection Grades) के लिए नियुक्तियाँ योग्यता के आधार पर की जानी चाहिए, ऐसा करते समय ज्येष्ठता का ध्यान केवल निम्न सीमा तक ही रखा जाना चाहिए।

(2) विभागीय पदोन्नति समिति (Departmental Promotion Committee) अथवा चुनाव करने वाली सत्ता (Selecting Authority) को सर्वप्रथम चुनाव क्षेत्र (Field of Choice) का निश्चय करना चाहिए।

(3) ऐसे अधिकारियों में उन व्यक्तियों को छोड़ दिया जाना चाहिए जिन्हें कि पदोन्नति के लिए अनुपयुक्त समझा जावे।

(4) शेष अधिकारियों को उनकी योग्यता के आधार पर, जो कि उनके अपने-अपने सेवा अभिलेखों द्वारा निश्चित की जायें,, उत्कृष्ट (Outstanding), बहुत श्रेष्ठ (Very Good), श्रेष्ठ (Good) के रूप में वर्गीकृत कर दिया जाना चाहिए।

(5) पदोन्नति सामान्यतः चुनाव सूची में से उस क्रम में की जानी चाहिए जिस क्रम में अन्तिम रूप से नाम व्यवस्थित किये गये हों।

(6) निश्चित अवधियों के बाद चुनाव सूची का पुनरावलोकन किया जाना चाहिए।

कर्मचारी वर्ग के प्रतिनिधि ने केन्द्रीय वेतन आयोग के समक्ष साक्ष्य देते हुए भारत में पदोन्नति प्रणाली की आलोचना की है, जिसके मुख्य आधार निम्न हैं—

(1) केन्द्रीय वेतन आयोग (Central Pay Commission) के समक्ष कर्मचारियों के प्रतिनिधियों ने यह शिकायत प्रस्तुत की कि पदोन्नति का अधिकार विभागाध्यक्ष को न दिया जाकर एक स्वतन्त्र अभिकरण को दिया जाना चाहिए। इस प्रकार की व्यवस्था से ही न्याय की आशा की जा सकती है।

(2) कर्मचारियों के सम्बन्धित अभिलेख ठीक प्रकार से नहीं रखे जाते हैं।

(3) कभी-कभी रिक्त स्थान की सूचना कर्मचारियों को नहीं दी जाती।

(4) पदोन्नति प्रणाली जो अपनाई जाती है वह वैज्ञानिक नहीं है।

(5) भारत में ज्येष्ठता के सिद्धान्त को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता है तथा योग्यता के सिद्धान्त को ध्यान में नहीं रखा जाता।

(6) कर्मचारियों को असन्तोष की स्थिति में अपील का अधिकार नहीं है जिससे कर्मचारी अपने हितों की रक्षा नहीं कर सकते।

उपर्युक्त दोषों के अतिरिक्त भी कई अन्य दोष पदोन्नति व्यवस्था में बताये गये हैं जो अग्रलिखित हैं।

(1) कुछ विभागो मे पदो के रिक्त होने की जानकारी कर्मचारियो को नहीं होने पाती, क्योंकि उन्हें बतलाया नही जाता।

(2) वरिष्ठता के कठोर नियम के कारण योग्यता के आधार पर पदोन्नतियाँ नही होती।

(3) पदोन्नति परिषद् (Promotion Committee) जैसी नियमित संस्था के अभाव मे पदोन्नति मनमाने ढग मे की जाने की सम्भावना रहती है।

(4) जिन कर्मचारियो को जबरन पदोन्नति से रोका जाता है, उनको अपील करने का कोई निश्चित नियम नही है। ऐसा प्रायः इसलिए होता है कि उच्चतर अधिकारी अपने नीचे के अधिकारी के निर्णय को प्राय बदलना नही चाहते हैं।

उपर्युक्त दोषो के होते हुए यह अबाध्य रूप से स्वीकार किया जाता है कि पदोन्नति व्यवस्था को सर्वथा दोषमुक्त बनाना कठिन ही नही अपितु असम्भव-सा प्रतीत होता है। इन दोषो को दूर करने के लिए ब्रिटेन की भाँति भारत मे भी प्रत्येक विभाग में पदोन्नति आयोग (Promotion Commission) की स्थापना होनी चाहिए। इन आयोगो मे विभागीय कर्मचारियो के प्रतिनिधियो को भी स्थान दिया जाना चाहिए। पदोन्नति के सम्बन्ध मे वेतन आयोग की सिफारिशो को लिखना यहाँ अनुचित नहीं होगा। उन्होने जो पदोन्नति के सम्बन्ध मे सिफारिशें की वे निम्न हैं—

(1) उच्च स्तर की प्रशासकीय सेवाओं के लिए पदोन्नति का आधार योग्यता माना जाना चाहिए परन्तु निम्न स्तर की सेवाओं के लिए ज्येष्ठता तथा योग्यता दोनों को महत्त्व दिया जाना चाहिए।

(2) विशिष्ट पदो पर पदोन्नति करते समय प्रतियोगिता परीक्षायें ली जानी चाहिए। परन्तु इस तरीके का सामान्य रूप से प्रयोग नही होना चाहिए।

(3) द्वितीय व तृतीय श्रेणी के योग्य कर्मचारी प्रथम श्रेणी मे पहुँच सकें, इस प्रकार की पदोन्नति की व्यवस्था की जानी चाहिए। इस सम्बन्ध मे सीमित प्रतियोगिता परीक्षा होनी चाहिए।

(4) कर्मचारी को उसके दोषो की सूचना देनी चाहिए।

(5) प्रत्येक उच्च सतह पर आई हुई नीचे की गोपनीय रिपोर्टों की तुरन्त जाच कर लेनी चाहिए।

(6) तत्कालीन अधिकारी को उसके अन्तर्गत कार्य करने वाले कर्मचारियों के सेवा अभिलेख (सर्विस बुक) मे अपनी सम्मति लिखने का अधिकार है। परन्तु उच्च अधिकारी को चाहिए कि जो राय तत्कालीन अधिकारी ने दी है, उसकी समीक्षा करे।

(7) गोपनीय विवरण रखने वाले प्रपत्र विशिष्ट वर्ग के कार्य की प्रकृति के अनुसार होने चाहिए।

परीक्षोपयोगी प्रश्न

(1) पदोन्नति के कौन-कौन से आधार होते हैं ? इनमें से आप किसे उचित समझते हैं और क्यों ?

What are the various basis of promotion making ? Which of these do you approve and why !

(2) योग्यता का मूल्यांकन किस प्रकार किया जाना चाहिए ? क्या आप गोपनीय प्रतिवेदन को योग्यता की परख के लिए समुचित समझते हैं ।

How should merit be evaluated ? Do you think confidential report is adequate to judgement ?

(3) सुव्यवस्थित कर्मचारी सम्बन्धी प्रशासन प्रणाली में पदोन्नति के महत्त्व का वर्णन कीजिए । पदोन्नति के क्या आधार होते हैं ?

Examine the significance of Promotion in a good system of personnel administration What are the basis of promotion ?

(4) भारत, इंग्लैण्ड तथा संयुक्त राज्य अमरिका में पदोन्नति की व्यवस्था का वर्णन कीजिए ।

Describe the system of promotion in India, England and United States of America.

12

लोक-कर्मचारियों का प्रशिक्षण

(TRAINING OF PUBLIC PERSONNEL)

पदाधिकारियों एवं कर्मचारियों की नियुक्ति के सिद्धान्तों को जान लेने के पश्चात् उनकी प्रशिक्षा या प्रशिक्षण के बारे में ज्ञान प्राप्त करना लोक-प्रशासन के विद्यार्थी के लिए आवश्यक हो जाता है। आधुनिक युग में प्रशासकीय अधिकारियों के प्रशिक्षण का प्रबन्ध करना लोक-प्रशासन की मुख्य समस्या है। जब तक लोक-प्रशासन का स्वरूप तथा कार्य सीधे और सरल रहे, कुछ विशेष पदाधिकारियों के अतिरिक्त अन्य पदाधिकारियों के प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं थी। लेकिन ज्यों-ज्यों लोक-प्रशासन का स्वरूप विस्तृत होता गया तथा उसके उत्तरदायित्वों में वृद्धि होती गई, प्रशिक्षण की व्यवस्था करना भी आवश्यक हो गया। आज का राज्य 'लोक-कल्याणकारी' राज्य है जिसमें लोक-प्रशासन को उसके अस्तित्व में सम्बन्धित कार्यों के अतिरिक्त अन्य कई कार्य करने होते हैं। उनमें मुख्य है—जनता के आर्थिक स्तर के उठाने के कार्य करना, उसके स्वास्थ्य को ठीक रखने के लिए चिकित्सालयों की स्थापना करना उनके रहने के लिए निवास की समस्या को हल करना, उनको नौकरी देने की व्यवस्था करना आदि-आदि। इन कार्यों को सफलतापूर्वक करने के लिए योग्य कर्मचारियों की आवश्यकता होती है। यह योग्यता कर्मचारियों में प्रशिक्षण से उत्पन्न की जा सकती है।

प्रशासन में प्रशिक्षण का महत्त्व स्पष्ट है यही कारण है कि आज विश्व के समस्त देशों में कर्मचारियों के प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाती है। अब सत्य तो यह है कि प्रशिक्षण प्रशासकीय सिद्धान्तों का एक अभिन्न अङ्ग बनता जा रहा है। केवल राष्ट्रीय स्तर पर ही प्रशिक्षण का महत्त्व है, ऐसी बात नहीं है। अब अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी इसके महत्त्व को समझा गया है। संयुक्त राष्ट्र संघ की सामान्य सभा (General Assembly of U.N) ने दिसम्बर 1948 में पारित अपने एक प्रस्ताव में कहा है—

"सामान्य सभा यह मानते हुए कि अन्तर्राष्ट्रीय सुविधाएँ जो ऐसे योग्य उम्मीदवारों की बढ़ती हुई संख्या के लिए उपयुक्त प्रशासकीय प्रशिक्षण प्रदान करेंगी, जो एक विस्तृत भौगोलिक आधार पर किन्तु मुख्यतः ऐसे देशों में से भर्ती किये जायेंगे,

जिन्हें आधुनिक प्रशासन के सिद्धान्तों, प्रक्रियाओं तथा रीतियों की सबसे बड़ी आवश्यकता है—आवश्यक है; सङ्कल्प करती है कि लोक-प्रशासन में प्रशिक्षण के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र संयुक्त राष्ट्र संघ के सचालन के अन्तर्गत स्थापित किया जायेगा।''

प्रशिक्षण का इतना महत्त्व होते हुए भी लोक-कर्मचारियों के प्रशिक्षण के प्रति कुछ समय पूर्व तक लापरवाही बरती जा रही थी। भारत भी इसका कोई अपवाद नहीं है। लेकिन कुछ वर्षों से लगभग सभी देशों में सरकारी प्रशासन ने प्रशिक्षण के महत्त्व और गुरुता को भली प्रकार अनुभव कर लिया है। भारत में भी आज लोक-प्रशासन से सम्बन्धित इस महत्त्वपूर्ण क्षेत्र में कर्मचारियों के लिए उचित और आवश्यक प्रशिक्षण की व्यवस्था पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है और इस दिशा में कई महत्त्वपूर्ण कदम भी उठाये जा चुके हैं।

प्रशिक्षण के उद्देश्य

(Object of Training)

प्रशिक्षण का मुख्य उद्देश्य होता है कर्मचारियों में कार्यकुशलता अथवा कार्य करने की योग्यता लाना। विलियम जी० टॉर्पी ने प्रशिक्षण के सम्बन्ध में लिखते हुए कहा है कि "यह कर्मचारियों में चतुरताएं, आदतें, ज्ञान तथा दृष्टिकोण विकसित करने की एक प्रक्रिया है जिससे कर्मचारियों की उनकी वर्तमान सरकारी स्थितियों में प्रभावशीलता बढ़ जाये और साथ ही कर्मचारी भावी सरकारी स्थितियों के लिए तैयार किये जा सकें।" ("The process of developing skills, habits, knowledge and attitudes in employees for the purpose of increasing the effectiveness of employee in their present government positions as well as preparing employees for future government positions.)" वास्तव में प्रशिक्षण लोक-कर्मचारियों में कुशलता लाने का प्रयास है। लोक-प्रशासन में कर्मचारियों को प्रशिक्षण देने का एक उद्देश्य यह भी होता है कि उनके मनोबल को ऊपर उठाया जाये। यह सत्य है कि कार्य में कुशलता की भाँति मनोबल कोई दिखाई देने वाली वस्तु नहीं है। उसका सम्बन्ध कर्मचारी के अपने कार्य के प्रति दृष्टिकोण से होता है। अतः यह स्पष्ट है कि यदि प्रशिक्षण के द्वारा कर्मचारी अपने कार्य के प्रति रुचि पैदा की जा सके तो प्रशासन निश्चयात्मक रूप से लाभान्वित हो सकता है। कुछ ऐसे कार्य ऐसे भी होते हैं जिनके सम्पादन के लिए प्रशिक्षण आवश्यक माना गया है, जिससे कि उनमें एकरूपता आ सके। सैनिक संस्थाओं में इस प्रकार का प्रशिक्षण दिया जाता है।

अतः प्रशिक्षण कर्मचारी में ऐसी क्षमता पैदा करता है जिसके द्वारा वह स्वयं को नई परिस्थितियों के अनुकूल बना सकता है। प्रशिक्षण कर्मचारी को इस योग्य बनाता है कि जिससे वह अपने संगठन को, जिसमें कि उसे काम करना होता है, भली

प्रकार समझ सके तथा उसकी महत्ताओं व लक्ष्यों को स्वीकार कर सके। यह आवश्यक है कि प्रशिक्षण के द्वारा कर्मचारियों में स्वतन्त्र निर्णय करने की क्षमता उत्पन्न की जाए, क्योंकि यदि कर्मचारी पग-पग पर अनुदेशों (Instructions) पर ही निर्भर रहे तो कोई भी संगठन सुचारु रूप से सचालन नहीं कर सकता।

ग्रेट ब्रिटेन में कर्मचारियों के प्रशिक्षण की समस्या को सुलझाने के लिए एक समिति का गठन हुआ। इस समिति को एशटन समिति (Assheton Committee) कहा जाता है। क्योंकि इस समिति के सभापति रॉल्फ एशटन थे। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट ब्रिटिश चान्सलर ऑफ एक्सचेकर के सम्मुख 1944 में प्रस्तुत की थी। रिपोर्ट में यह कहा गया कि—"सबसे पहले हम स्वयं से ही यह प्रश्न पूछें कि प्रशिक्षण का उद्देश्य क्या है? यदि इसका उत्तर यह है कि प्रशिक्षण का उद्देश्य अधिकतम सम्भव मात्रा में कार्यकुशलता प्राप्त करना है, तो आवश्यकता इस बात की है कि कार्यकुशलता शब्द की गहराई से व्याख्या की जाये। किसी भी बड़े पैमाने में कार्यकुशलता दो तत्त्वों पर निर्भर होती है। एक तो, व्यक्ति को सौंपे गये किसी विशिष्ट कार्य को कर सकने की तकनीकी कुशलता पर, और दूसरी निगम निकाय के रूप में संगठन की उस कम स्पष्ट कुशलता पर जो कि उन व्यक्तियों की सामूहिक भावना तथा दृष्टिकोण से प्राप्त होती है जिनसे कि इस निकाय या संगठन की रचना की जाती है। प्रशिक्षण में इन दोनों ही तत्त्वों का ध्यान रखा जाना चाहिए।"

उपर्युक्त विवेचन से पता चलता है कि एशटन समिति ने प्रशिक्षण के निम्न उद्देश्य माने हैं—

(1) कर्मचारियों में अपनी कार्यकुशलता के प्रति आत्मविश्वास उत्पन्न करना।

(2) लोक कर्मचारियों को इस योग्य बनाना कि बदलती परिस्थितियों में वे अपना कार्य कुशलतापूर्वक सम्पादित कर सकें। लोक सेवा के लिए आवश्यक है कि वह परिवर्तित समय तथा नवीन आवश्यकता के अनुरूप अपने दृष्टिकोण तथा तरीकों में निरन्तर दृढ़ता के साथ परिवर्तन करे।

(3) कर्मचारियों में सामुदायिक चेतना उत्पन्न कर उन्हें यन्त्रीकरण से बचाये रखना। दूसरे शब्दों में पदाधिकारियों में वैज्ञानिक और विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण उत्पन्न करना, उनमें मौलिकता पैदा करना और यह देखना कि कहीं कर्मचारी निर्जीव मशीन की भाँति, दैनिक कार्यों का बिना अपनी बुद्धि के प्रयोग किये, यथावत् पालन न करते रहें। भर्ती किये जाने वाले व्यक्ति को पहले से उसके कार्य के सम्बन्ध में बता देना चाहिए कि उसके कार्य के द्वारा उसका विभाग समाज की क्या सेवा करेगा। वह अपने विस्तृत संगठन में क्या सेवा सम्पन्न कर रहा है? इस बात को समझने की क्षमता उसके कार्य को विभाग के लिए उपयोगी और मूल्यवान ही नहीं बनायेगी, अपितु वह स्वयं उसके लिए भी अत्यधिक प्रेरणादायक होगी।

अतः दैनिक कार्यों के सुचारु रूप से संचालन के लिए उसे व्यावसायिक प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए, साथ ही अपने निजी शैक्षणिक विकास के लिए निरन्तर प्रयास करने हेतु व्यापक आधार पर अनुदेश तथा प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए।

(4) प्रशिक्षण का उद्देश्य केवल अपने पद से सम्बन्धित उत्तरदायित्वों को पूरा करने की क्षमता पैदा करना ही नहीं है, अपितु उसको अन्य कार्यों के लिए उपयुक्त बनाना, तथा जहाँ तक सम्भव हो, उसमें उच्चतर कार्य और उच्चतर उत्तरदायित्वों को वहन करने की क्षमता उत्पन्न करना भी है।

(5) कर्मचारियों के दृष्टिकोण को व्यापक बनाना, उनके मनोबल को बढ़ाना तथा उनमें जनता के सेवक बनने की भावना उत्पन्न करना।

लोक-प्रशासन के कर्मचारियों के प्रशिक्षण के उद्देश्य के बारे में थोड़ा विस्तार से वर्णन करना यहाँ उचित प्रतीत होता है। प्रशिक्षण के उद्देश्य निम्न हैं :

(1) प्रशिक्षण का उद्देश्य कर्मचारियों की चतुरता तथा ज्ञान की वृद्धि करना है जिससे सम्बन्धित विभाग के उद्देश्यों तथा लक्ष्यों को प्राप्त करने में सहायता मिल सके।

(2) कर्मचारियों के नैतिक स्तर को ऊँचा करना तथा उनका दृष्टिकोण विस्तृत करना प्रशिक्षण का उद्देश्य होता है। प्रशिक्षण से कर्मचारियों का दृष्टिकोण विस्तृत होने में सहायता मिलती है, क्योंकि प्रशिक्षण के समय अधिक विस्तृत राष्ट्रीय उद्देश्य तथा उन उद्देश्यों की प्राप्ति में उनका क्या योगदान है, यह निरन्तर उन्हें बताया जाता है। जैसे फिलिप्स ए० विथो का कथन है, "प्रशिक्षण का कार्य है कि यह कर्मचारियों को केवल यन्त्रवत् कुशलता के दृष्टिकोण से ही नहीं अपितु उस विशाल दृष्टिकोण के अर्थ में भी उन्नति करने में सहायता दे जिसकी आवश्यकता लोक कर्मचारियों को होती है।" ("The function of training is to help employees grow, not only from the standpoint of mechanical efficiency but also in terms of the broad outlook and prespective which public servants need.") "प्रशिक्षण का उद्देश्य मस्तिष्क को विस्तृत करना होना चाहिए।"

(3) प्रशिक्षण का उद्देश्य एक यह भी होना चाहिए कि कर्मचारियों में सामान्य जनता के प्रति सम्मान का भाव उत्पन्न हो। कर्मचारियों में जनता के साथ मिलने की भावना उत्पन्न होनी चाहिए। एशटन समिति (1944) ने अपनी रिपोर्ट में एक स्थान पर इस सम्बन्ध में कहा है कि, "इससे भी अधिक दुर्भाग्यपूर्ण बात और क्या होगी कि लोक-कर्मचारी तथा जनता अपने-आप को दो पृथक् शिविरों में बँटा हुआ समझें। अतः जनता के प्रति तथा अपने कार्य के प्रति लोक अभिवृत्ति का सुधार और सेवा प्रशिक्षण का एक प्रधान लक्ष्य होना चाहिए।"

(4) प्रशिक्षण का उद्देश्य कर्मचारियों में पद के अनुसार कार्य करने का आत्मविश्वास पैदा करना है जिससे कि वे अपने कार्य के उत्तरदायित्व को पूरा करने में सफल हो सकें।

(5) प्रशिक्षण से लोक सेवाओं में प्रविष्ट नये कर्मचारी को प्रशासकीय कार्यों का ज्ञान प्राप्त होता है। ऐसा करने से ही वे अपने पद के कर्तव्यों को पूरा कर सकने में सफल सिद्ध हो सकते हैं।

(6) प्रशिक्षण व्यक्ति को बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप अपने को ढालने की क्षमता उत्पन्न करता है। गम्भीर से गम्भीर परिस्थितियों में व्यक्ति स्थिर तथा शुद्ध बना रहे, अपने मस्तिष्क का सन्तुलन रखे तथा निर्णय देने में शीघ्रता का परिचय दे, यही प्रशिक्षण का उद्देश्य होना चाहिए।

(7) लोक-प्रशासन को मितव्ययी तथा सफल बनाना भी प्रशिक्षण का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य होता है।

(8) प्रशिक्षण का उद्देश्य कर्मचारी को चरित्रवान बनाना होता है। कर्मचारियों के नैतिक स्तर को ऊँचा बनाये रखने की कई बातें प्रशिक्षण में बतलाई जाती हैं। कर्मचारी अपने कर्तव्यों का पालन करते समय सदा इन बातों का ध्यान रखता है। इससे प्रशासन भ्रष्ट नहीं होने पाता।

(9) वर्तमान युग में जब कि ज्ञान के क्षेत्रों में अभूतपूर्व प्रगति हो रही है, प्रशिक्षण से कर्मचारी को उसके कार्य के सम्बन्ध में नवीनतम विकास सम्बन्धी सूचनायें प्राप्त होती हैं और इस प्रकार उसका ज्ञान आधुनिकतम बना रहता है।

(10) प्रशिक्षण द्वारा काफी समय से कार्य कर रहे पुराने सदस्यों को उच्चतर पदों तथा विस्तृत उत्तरदायित्वों के लिए शिक्षण दिया जाता है।

(11) प्रशिक्षण के द्वारा सन्तुष्टों की उत्कृष्टता तथा उनके स्तर में वृद्धि होती है। प्रशिक्षण से कर्मचारियों में कार्य के प्रति रुचि पैदा होती है तथा उनमें कार्य-कुशलता भी बढ़ती है, उसी के अनुपात में संगठन की कुशलता तथा प्रतिष्ठा बढ़ती जाती है। कार्य शीघ्रता से होता है एवं सन्तोष की भावना बढ़ती है।

(12) इससे कर्मचारियों के दृष्टिकोण की सम-रूपता तथा एकता की भावना में वृद्धि होती है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि प्रशिक्षण से प्रशासन ही कुशल नहीं होता वरन् प्रशासनिक कर्मचारियों को भी इससे लाभ होता है। वह पहले से अधिक कार्य-कुशल, योग्य तथा परिस्थितियों को समझने योग्य बन जाते हैं।

प्रशिक्षण के प्रकार
(Kinds of Training)

प्रशिक्षण की आवश्यकता तथा महत्त्व पर अभी तक हमने विचार किया। यहाँ प्रशिक्षण के विभिन्न प्रकार पर प्रकाश डाला जायेगा। प्रशिक्षण की रीति, अवधि आदि के आधार पर बहुत से भेद किये जा सकते हैं जिनमें मुख्य निम्न हैं—

1 अनौपचारिक तथा औपचारिक प्रशिक्षण;

(2) अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन प्रशिक्षण,

(3) पूर्व-प्रवेश तथा प्रवेशोत्तर प्रशिक्षण,

(4) विभागीय तथा केन्द्रीय प्रशिक्षण,

अनौपचारिक प्रशिक्षण (Informal Training):—अनौपचारिक प्रशिक्षण से हमारा अर्थ यह होता है कि वह प्रशिक्षण जो अनुभव के द्वारा प्राप्त किया जाये। इस प्रणाली का लोक-प्रशासन में प्रशिक्षण के हेतु परम्परागत रूप से पालन किया गया है। इस प्रकार के प्रशिक्षण में कर्मचारी अपने अधिकारी से कार्य सीखता है। कार्यालय का अधिकारी फाइलों तथा कागजों पर आदेश तथा आर्डर देता रहता है, इससे कर्मचारी को ज्ञान प्राप्त होता रहता है। इस प्रकार अनौपचारिक प्रशिक्षण अप्रत्यक्ष रूप से दिया जाता है। इसमें कर्मचारी अपने अभ्यास से कार्य सीखता है, क्योंकि इस प्रकार के प्रशिक्षण का सम्बन्ध दैनिक कार्यों से होता है, अतः वह अपने निजी अनुभव से लाभ उठा सकता है। यदि अधिकारी स्वयं अपने कार्य में ढील रखता है तो उसके अधीनस्थ कर्मचारी कुशलता तथा क्षमता प्राप्त नहीं कर सकते। यदि अधिकारी अपने कर्मचारियों के साथ सहानुभूति नहीं रखता है तथा डाँट-फटकार करता रहता है तो उसके अधीनस्थ उत्साहहीन तथा हताश हो जायेंगे। वे अधिकारी के पास जाने से घबरायेंगे तथा कार्य से जी चुरायेंगे। इस प्रकार अनौपचारिक प्रशिक्षण में कर्मचारी की योग्य तथा दक्ष बनाने का कार्य बहुत कुछ सीमा तक प्रशासकीय अधिकारी का होता है।

इस प्रकार यदि पर्यवेक्षक अधिकारी (Supervising Officer) नये भर्ती होने वाले कर्मचारियों में गहरी रुचि नहीं लेता है तो अनौपचारिक प्रशिक्षण सफल नहीं हो सकता। अधिकारी को कर्मचारी के कार्य में पाये जाने वाले दोषों से उन्हें अवगत कराना चाहिए और उन दोषों को दूर करने के सुझाव भी देने चाहिए। कुल मिलाकर अनौपचारिक प्रशिक्षण पर्यवेक्षक अधिकारी की रुचि पर निर्भर करता है। ब्रिटिश शासन काल में जिले के नये अधिकारी जिलाधीश (Collector) से बहुत कुछ सीखते थे। एक अच्छे जिलाधीश का घर एक युवा सहायक जिलाधीश के लिए प्रायः दूसरा घर होता है। उसे जिलाधीश के घर शाम व्यतीत करने का प्रोत्साहन दिया जाता था। शायद ही कोई जिलाधीश इतना व्यस्त रहता हो कि इन युवा अधिकारियों के साथ बातचीत करने का समय नहीं निकाल सके। लेकिन इसके अतिरिक्त, वह इन नये अधिकारियों से अपने घर चाय पर आने तथा सप्ताह में कम से कम एक शाम अपने यहाँ बिताने के लिए कहता था। फिर वे आपस में बातचीत करते और सहायक जिलाधीश अपनी समस्याओं को उसके समक्ष रखता। जिलाधीश उन समस्याओं पर विचार प्रकट करता जिससे सहायक जिलाधीश बहुत कुछ सीखते। इस प्रकार यह अनौपचारिक प्रशिक्षण सहायक अधिकारियों के लिए लाभदायक होता।

साप्ताहिक वाद-विवादों तथा प्रबन्धकों द्वारा की जाने वाली बातचीतों से भी कर्मचारियों को प्रशिक्षण दिया जा सकता है। इससे कर्मचारियों का दृष्टिकोण व्यापक बनता है।

(3) अतिरिक्त शिक्षा (Further Education) —कर्मचारी जो कार्य करता है उसके अतिरिक्त कार्यों की भी उसको शिक्षा दी जानी चाहिए। इस प्रकार की प्रशिक्षा से कर्मचारियों के ज्ञान में वृद्धि होती है। जैसे एक स्थानापन्न खाता के लेखक को लेखा कार्य, अंकन कार्य, टाइप कार्य आदि की प्रशिक्षा दी जानी चाहिए।

(4) गतिशीलता के लिए प्रशिक्षण (Training for Mobility) —अतिरिक्त शिक्षा से कर्मचारियों में गतिशीलता आती है। इसका अर्थ होता है एक कर्मचारी विभिन्न कार्य को कर सके। किसी एक स्थान पर से दूसरे स्थान पर स्थानान्तर हो जाने पर कर्मचारी को इससे कोई कठिनाई नहीं आती है। कर्मचारियों में विभिन्न कार्यों को करने का ज्ञान हो इसके लिए कर्मचारियों को समय-समय पर दूसरे कार्य करने का अवसर दिया जाना चाहिए।

(5) केन्द्रीयकृत प्रशिक्षण (Centralised Training) —उच्च कोटि का प्रशिक्षण देने के लिए केन्द्रीय सरकार व्यवस्था करती है। इस प्रकार के प्रशिक्षण को केन्द्रीयकृत प्रशिक्षण कहा जाता है। भारत की प्रशासनीय सेवाओं का प्रशिक्षण केन्द्रीय सरकार द्वारा व्यवस्थित किया जाता है। छोटे कर्मचारियों के प्रशिक्षण की व्यवस्था प्रत्येक विभाग पृथक् रूप से करता है।

(6) प्रारम्भिक प्रशिक्षण (Initial Training) —विभागों में नये भर्ती किये गये कर्मचारियों को कार्यालय के कार्यों के बारे में सामान्य जानकारी देने के लिए प्रारम्भिक प्रशिक्षण की व्यवस्था की जानी चाहिए। इससे कर्मचारी को अपने उत्तरदायित्व को पूरा करने में सहायता मिलती है। यह आवश्यक माना गया है कि सामान्य जानकारी के अभाव में नये कर्मचारी कार्य नहीं कर पायेंगे जिसका परिणाम यह होगा कि प्रशासन में शिथिलता आनी प्रारम्भ हो जाएगी। इस प्रकार नये कर्मचारियों को जो प्रशिक्षण दिया जाता है उसे प्रारम्भिक प्रशिक्षण कहा जाता है।

(7) पर्यवेक्षण के लिए प्रशिक्षण (Training for Supervisors) —कई कर्मचारियों को पर्यवेक्षण का कार्य सौंपा जाता है। अपने अधीन कर्मचारियों का ठीक प्रकार से निरीक्षण कर सकें यह कला उस कर्मचारी में होनी आवश्यक है। इस कला को प्राप्त करने के लिए पर्यवेक्षण के कार्य सम्बन्धी प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए।

(8) उच्च प्रशासकीय प्रशिक्षण (Training for Higher Administration):—लोक-प्रशासन में उच्च पदों पर कार्य करने वाले कर्मचारियों का उत्तर दायित्व बहुत अधिक होता है। इनका मुख्य कार्य सरकारी नीति निर्धारण, लोक कार्यों में सुधार तथा सामान्य नियन्त्रण होता है। सरकार की सफलता का आधार योग्य उच्च प्रशासकीय अधिकारी होते हैं। इस प्रकार के कर्मचारियों को प्राधिक तथा

राजनीतिक ज्ञान की शिक्षा भी दी जानी चाहिए। एक प्रशासकीय अधिकारी के लिए अर्थशास्त्र तथा मनोविज्ञान के ज्ञान की महत्वता बताते हुए ए० डी० गोरवाला ने कहा है कि "एक सामान्य प्रशासक को व्यावहारिक अर्थ-शास्त्र का ठोस ज्ञान होना चाहिए। उसमें यह समझने की योग्यता होनी चाहिए कि व्यावहारिक समस्याओं में आर्थिक सिद्धान्तों को किस प्रकार लागू किया जाए। उसको व्यावहारिक मनोविज्ञान का पर्याप्त प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए जिससे कि वह जनता के जिनके बीच में कि उसे प्रधिकतर कार्य करना होता है अपने नेतृत्व के समर्थन के उचित प्रत्युत्तर प्राप्त करने में सफल हो सके।"

(9) पदोन्नति के लिए प्रशिक्षण (Training for Promotion):—औपचारिक प्रशिक्षण, जो सेवा करते हुए लोक सेवकों को दिया जाता है जिसका मूल उद्देश्य होता है कर्मचारी को पदोन्नति के लिए तैयार करना। संगठन में महत्वाकांक्षी कठोर परिश्रम तथा लगन से कार्य करते हुए आगे बढ़ने वाले कर्मचारियों को ऐसे अवसर प्रदान किये जाने चाहिए कि वह अपने ऊँचे पद के उत्तरदायित्व को पूरा करने की योग्यता का अपने में विकास कर सकें। लोक सेवाओं में योग्य व्यक्तियों को आकृष्ट करने के लिए यह अवसर प्रदान करना अत्यन्त आवश्यक है।

(10) नेतृत्व के लिए प्रशिक्षण (Training for Le. de ship).—प्रारम्भ में प्रशिक्षण निम्न कर्मचारियों तक ही सीमित था। परन्तु अब बड़े बड़े अधिकारियों को प्रशिक्षित करने की महत्वता को स्वीकार किया गया है। प्रारम्भ में यह समझा जाता था कि उच्च पद पर आसीन अधिकारियों में विशिष्ट गुण होते हैं और वे अनुकरणीय भी है। परन्तु यह बात सत्य नहीं थी। आज सामान्य रूप से इस बात को माना जाता है कि यदि समस्त बड़े अधिकारियों को प्रशिक्षण दिया जाए तो उनमें पर्याप्त गुणों का विकास किया जा सकता है और संगठन के कार्यों में सुधार लाया जा सकता है। उनको प्रशिक्षित करने के भी सामान्य तरीके ही हैं जैसे-औपचारिक अध्ययन, सम्मेलन, विचार गोष्ठियाँ, कार्यों का परिवर्तन, बाहरी दौरे आदि। परन्तु इन सब का तब तक कोई अर्थ नहीं होगा जब तक कि ये उच्च अधिकारी (कार्यपालिका) इसमें रुचि न लें।

(11) कलात्मक एवं पृष्ठभूमि प्रशिक्षण (Skill and Background Training):—प्रशिक्षण का उद्देश्य जब किसी विशेष प्रकार के प्रशिक्षण की व्यवस्था करना हो जैसे पुलिस कर्मचारियों को अपराध पहचानने तथा उनको रोकने के सम्बन्ध में उपायों का प्रशिक्षण आदि। इस प्रकार के प्रशिक्षण को कलात्मक प्रशिक्षण कहा जाता है। इसके विपरीत यदि प्रशिक्षण का उद्देश्य सामान्य विषय के सम्बन्ध में शिक्षा प्रदान करना है जिसमें प्रशिक्षार्थी सामान्य समस्याओं को समझने का प्रयत्न कर सके तो उसे पृष्ठभूमि प्रशिक्षण कहा जाता है।

इसका अर्थ यह हुआ कि प्रशासकीय वर्ग को सेवा वर्गीकरण, परीक्षण, बजट निर्माण, कार्य-विधि के विश्लेषण, लोक-कल्याण, सार्वजनिक स्वास्थ्य, गृह निर्माण,

सड़को तथा राज-पथो से सम्बन्धित प्राथमिक सिद्धान्तो का ही नही वरन् राजवित्त, अर्थशास्त्र समाजशास्त्र, राजनैतिक संस्थाओ का इतिहास आदि का भी प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए।

प्रशिक्षण देने की रीतियाँ
(Methods of Training)

लोक-प्रशासन मे कर्मचारियो को प्रशिक्षण देने के लिए अनेक प्रकार की रीतियाँ कार्य मे लाई जाती हैं। ये रीतियाँ निम्नलिखित हैं—

(1) **अनुभव द्वारा प्रशिक्षण** (Training by Experience) —लोक सेवाओं मे सीधी भर्ती होने से विभागो मे नये कर्मचारी आते हैं। वे अपने कार्य के द्वारा अनुभव प्राप्त करते हैं, उन्हें सर्वप्रथम सरल कार्य दिया जाता है तथा जैसे-जैसे कार्य सीखते रहते हैं वैसे वैसे उनको उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य दिया जाता है। दूसरे शब्दो मे, कर्मचारियो को औपचारिक रूप से स्वत ही कार्य करने को छोड़ दिया जाता है और वे बहुत सी बातो का अनुभव स्वय ही परीक्षण तथा त्रुटि के सिद्धान्त के द्वारा सीखते हैं। विभाग मे उच्च कर्मचारियो से वह आदेश प्राप्त करता है। यह सिद्धान्त इस बात पर आधारित है कि प्रशासन एक कला है, जिसमें सम्बन्ध मे व्यावहारिक ज्ञान द्वारा अनुभव की यथेष्ट रूप मे पूर्ति की जा सकती है। इस प्रकार कर्मचारी स्वय ही प्रशिक्षण प्राप्त करता रहता है। इस प्रकार के प्रशिक्षण को अनुभव के द्वारा प्राप्त प्रशिक्षण का नाम दिया जाता है।

(2) **औपचारिक प्रशिक्षण** (Formal Training) —इसमे विभाग के वरिष्ठ अधिकारी या बाहर के योग्य, अनुभवी तथा चतुर व्यक्ति कर्मचारियो को कार्यों के बारे मे ज्ञान देते हैं। इस प्रकार का प्रशिक्षण व्याख्यानो तथा अनुदेशो के रूप मे दिया जा सकता है। यह प्रशिक्षण प्रशासकीय विद्यापीठो, प्रशिक्षण शालाओ अथवा विभागों द्वारा आयोजित प्रशिक्षण कैम्पो मे दिया जा सकता है। इसमे विद्यार्थी को प्रशासन से सम्बन्ध मे ज्ञान करवाया जाता है। राष्ट्रीय प्रशासकीय अकादमी, भारतीय सेवाओ को प्रशिक्षण करने की ऐसी ही एक संस्था है।

(3) **पत्र-व्यवहार द्वारा प्रशिक्षण** (Training by Communication).—प्रशिक्षण की अन्य विधि यह है कि 'पत्र-व्यवहार' के द्वारा कर्मचारियो को कार्य के स्वरूप तथा विभागीय नियमो के सम्बन्ध मे सूचना प्रदान की जाती है। इस प्रकार के प्रशिक्षण के अन्तर्गत कार्यालय बुलेटिन, नियमावली, सूचना सम्बन्धी पुस्तको का प्रकाशन तथा विभागीय पुस्तकालय आदि आते हैं।

(4) **सम्मेलन पद्धति द्वारा प्रशिक्षण** (Training by Conference).—एक अन्य तरीका लोक-कर्मचारियो के प्रशिक्षण [illegible] कार्य मे लाया जाता है जिसे सम्मेलन पद्धति के द्वारा प्रशिक्षण कहते हैं। इस प्रकार के प्रशिक्षण मे व्याख्यानो के अतिरिक्त वाद-विवाद की व्यवस्था भी होती है। इससे कर्मचारियो को अधिकारियो के निकट आने का अवसर प्राप्त होता है तथा साथ ही उनके दृष्टिकोण मे व्यापकता आती

है। इस प्रकार की पद्धति की सफलता के लिए दो बातों का होना आवश्यक माना गया है। प्रथम, प्रशिक्षण के लिए बुलाये गये कर्मचारियों को समान होना चाहिए। द्वितीय, उन्हें अपने दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

इस प्रकार की पद्धति का अधिक प्रयोग अमेरिका में बहुत प्रचलित है। वहाँ सम्मेलन की व्यवस्था गोलाकार मेज के इर्द-गिर्द होती है। मुख्य समस्याओं पर इस सम्मेलन में विचार-विमर्श होता है।

प्रशिक्षण की समस्याएँ
(The Problems of Training)

लोक-प्रशासकों को प्रशिक्षण देने में अनेक बाधाएँ उपस्थित होती हैं और जिनकी अवहेलना करने पर प्रशासन को क्षति हो सकती है। ये बाधाएँ निम्न हैं—

(1) योग्य एवं अनुभवशील प्रशिक्षक नहीं मिल पाते जो कर्मचारियों को नवीन ज्ञान प्रदान करने के साथ-साथ उनकी समस्याओं को सुलझाने में रुचि लें।

(2) दूसरी महत्त्वपूर्ण समस्या पाठ्यक्रम के सम्बन्ध की है। पाठ्यक्रम में कौन से विषय होने चाहिए ? यह निश्चित करना बड़ा कठिन कार्य है। कुछ विषय ऐसे होते हैं जिनको पढ़ाना आवश्यक हो जाता है परन्तु अन्य दृष्टियों से अनुपयोगी भी हो सकते हैं। आवश्यकताओं के आधार पर पाठ्यक्रम को निश्चित करना एक कठिन कार्य है। यदि यह कार्य सम्पन्न हो भी जाता है तो यह समस्या उठ खड़ी होती है कि पाठ्यक्रम को किस प्रकार प्रशिक्षणार्थियों के विचार और व्यवहार में समाविष्ट किया जावे जिससे वे संगठन के लिए उपयोगी बन सकें।

(3) एक और समस्या है कि प्रशिक्षण व्यक्तिगत आधार पर दिया जावे या सामूहिक आधार पर।

(4) प्रशिक्षण के सम्बन्ध की एक महत्त्वपूर्ण समस्या है—धन। प्रशिक्षण की व्यवस्था के लिए धन की आवश्यकता होती है। पर्याप्त धन के अभाव में प्रशिक्षण मात्र औपचारिकता बन कर रह जाता है। कभी-कभी तो यह देखने में आता है कि जब कभी सरकार खर्चों में कटौती करती है तो प्रशिक्षण पर धन में कटौती सबसे पहले की जाती है।

(5) जो प्रशिक्षण नवागन्तुकों को दिया जाता है उसमें यह कठिनाई दिखाई पड़ती है कि प्रशिक्षण उन्हें अपने पद के कार्यों में दक्ष बनाने के लिए दिया जा रहा है या उनकी पद-वृद्धि के लिए दिया जा रहा है। इस बात का ठीक प्रकार से निश्चय नहीं हो पाता है।

(6) प्रशिक्षण प्रणाली में पुराने विचार रखने वाले अधिकारियों तथा कर्मचारियों और नवीन प्रशिक्षण प्राप्त अधिकारियों तथा कर्मचारियों के बीच पारस्परिक संघर्ष उत्पन्न होता है। नवीन कर्मचारी नवीन प्रशिक्षण के अनुसार कार्य करना चाहते हैं और पुराने कर्मचारी पुराने विचारों के आधार पर, जिससे संघर्ष उत्पन्न होता है।

(7) प्रशिक्षण की एक समस्या समय भी है। कम समय के प्रशिक्षणो मे प्रशिक्षणार्थी अपने प्रशिक्षण का लक्ष्य, विषय, प्रक्रिया की जानकारी प्राप्त करने के पूर्व ही उनके प्रशिक्षण का समय समाप्त हो जाता है। ऐसे प्रशिक्षण को प्रशिक्षणार्थी व प्रशिक्षण देने वाला प्रशिक्षण को गम्भीरता से नही लेते जिससे समय व धन दोनो का अपव्यय होता है।

भारत में लोक-कर्मचारियो का प्रशिक्षण
(Training of Public Personnel in India)

भारत मे लोक-प्रशासन के कर्मचारियो के प्रशिक्षण का इतिहास अधिक प्राचीन नही है। इसका प्रारम्भ ब्रिटिश शासन काल में हुआ। पहले भारतीय सिविल सेवा के पदाधिकारियो के लिए प्रशिक्षण की व्यवस्था भारत मे नही होती थी। उन्हे प्रशिक्षण इङ्गलैण्ड मे दिया जाता था। अन्य सेवाओ के लिए पदाधिकारियो की सामान्य विद्यालय की शिक्षा को ही पर्याप्त समझा जाता था एव यह माना जाता था कि नियुक्ति के बाद अनुभव से वे अपने आप कार्य को सीख जाएँगे। परन्तु भारत स्वतन्त्र होने के पश्चात् प्रशिक्षण की समस्या का वैज्ञानिक ढग से अध्ययन करने का प्रयास किया गया। प्रशिक्षण के सम्बन्ध मे योजना आयोग ने अपने विचार प्रस्तुत करते हुए कहा कि—"भर्ती के बाद प्रशासकीय कुशलता पर कर्मचारियो के प्रशिक्षण का काफी प्रभाव पडता है। सरकार के कार्य के लिए प्रत्येक नमूने के लिए उसके अनुरूप ही प्रशिक्षण के कार्यक्रम की आवश्यकता होती है। सामान्यतः प्रशासन की सभी शाखाओ मे यह आवश्यक है कि कर्मचारी-वर्ग के प्रशिक्षण के लिए सेवा के आरम्भ मे ही प्रबन्ध कर दिया जाये, साथ ही बाद के वर्षों मे समुचित अन्तरालो के पश्चात् प्रशिक्षण हो जाया करे। इस सम्बन्ध मे हम बल देकर कहना चाहते हैं कि भारतीय प्रशासन सेवा या राज्य प्रशासन सेवाओ मे भर्ती होने वाले लोगो के लिए राजस्व तथा विकास प्रशासन की पृष्ठ-भूमि विशेष महत्त्व रखती है।"

इसी प्रकार सन् 1947 में भारत सरकार ने एक समिति की रचना की, जिसे पदाधिकारियो की न्यूनतम समिति के नाम से पुकारते हैं। इस समिति ने केन्द्रीय सरकार मे प्रणाली, सगठन तथा प्रशिक्षण के लिए एक सचालनालय की स्थापना की सिफारिश की। इस सगठन का उद्देश्य समिति ने विभिन्न विभागो के कर्मचारियो के कार्यक्रम को सचालित करना तथा उसका निरीक्षण करना बताया। समिति ने भारतीय प्रशासकीय सेवा के कर्मचारियो के लिए भी प्रशिक्षण सस्था की स्थापना की सिफारिश की। सन् 1951 मे इसी प्रकार का सुझाव ए० डी० गोरवाला ने अपनी रिपोर्ट मे दिया। श्री गोरवाला ने अपनी रिपोर्ट मे दो सचालनालयो का प्रस्ताव किया था। प्रथम, प्रणाली तथा सगठन के लिए तथा द्वितीय, प्रशिक्षण के लिए। सन् 1953 मे एपलबी महोदय ने अपनी रिपोर्ट में भी इसी प्रकार का सुझाव दिया था।

उपर्युक्त सिफारिशों में से केवल एक सिफारिश को ही अभी तक क्रियान्वित किया गया है। एक सम्भाग प्रणाली तथा संगठन के लिए निर्मित हो चुका है परन्तु प्रशिक्षण के लिए संचालनालय की रचना अभी तक नहीं हुई है। भारत में स्वतन्त्रता प्राप्ति के तुरन्त बाद प्रशिक्षण के महत्त्व पर ध्यान दिया गया है। इस सम्बन्ध में अलग-अलग सेवाओं के लिए अलग-अलग प्रशिक्षण संस्थानों की स्थापना की गई है। भारत में कुछ प्रमुख सरकारी सेवाओं के लिए दिये जाने वाले प्रशिक्षण का विस्तृत रूप से विवेचन हम नीचे करेंगे :

(1) भारतीय प्रशासन सेवा के लिए प्रशिक्षण (Training for Indian Administrative Services). भारतीय प्रशासनिक सेवाओं को अंग्रेजी शासन काल में भारतीय सिविल सेवा के नाम से पुकारा जाता था। इसमें किसी विश्व-विद्यालय का स्नातक जो 26 वर्ष की आयु से अधिक न हो तथा 21 वर्ष से कम न हो इस सेवा के लिए प्रतियोगी बन सकता है। इस सेवा में भर्ती योग्यता के आधार पर की जाती है। इन प्रशासकीय पदाधिकारियों के प्रशिक्षण के लिए सन् 1947 में एक प्रशिक्षण संस्था की दिल्ली में स्थापना की गई थी। इस संस्था का संचालन केन्द्रीय गृह-मन्त्रालय के द्वारा होता है। दिल्ली से अब इस प्रशिक्षण केन्द्र को उठा दिया गया है। इसके स्थान पर प्रशासन की राष्ट्रीय अकादमी का निर्माण किया गया जो मसूरी में है। इसमें भारतीय प्रशासकीय पदाधिकारियों के अतिरिक्त भारतीय ऑडिट एवं एकाउण्टिंग सेवा के लिए चुने गये अभ्यार्थियों को भी प्रशिक्षण दिया जाता है।

इस सेवा के लिए चुने गये अभ्यार्थियों को एक वर्ष के लिए प्रशिक्षण दिया जाता है। प्रशिक्षण काल में अधिकारियों को केवल प्रशासन सम्बन्धी ज्ञान ही नहीं कराया जाता अपितु कई अन्य विषयों से सम्बन्धित ज्ञान भी दिया जाता है। इस प्रकार के ज्ञान से उनके दृष्टिकोण के क्षेत्र में विस्तार होता है। ये विषय हैं –

(1) भारत का संविधान तथा पंचवर्षीय योजनाएँ,
(2) भारतीय दण्ड विधि या दण्ड प्रक्रिया,
(3) भारतीय इतिहास,
(4) अर्थशास्त्र के सामान्य सिद्धान्त,
(5) लोक-प्रशासन तथा अन्य सरकारी संस्थाओं का संगठन,
(6) जिले का प्रशासन,
(7) हिन्दी का प्रारम्भिक ज्ञान, तथा
(8) राइफल तथा मोटर या मशीन सम्बन्धी प्रशिक्षण।

अभ्यार्थियों को प्रशिक्षण के बाद एक परीक्षा होती है जिसका संचालन संघीय लोक-सेवा आयोग के द्वारा किया जाता है। इस परीक्षा में प्रशिक्षण के समय पढ़ाये गये विषयों में से प्रश्न पूछे जाते हैं। उत्तीर्ण हो जाने पर अभ्यार्थियों को सेवा में

* रयो कर दिया जाता है। जो अभ्यार्थी असफल हो जाता है तो गृह-मन्त्रालय यह निर्णय करता है कि उसको एक अवसर और दिया जाये या सेवा से अलग कर दिया जाये। ऐसा भी हो सकता है कि असफल अभ्यार्थी को पुनः एक वर्ष का प्रशिक्षण लेने का अवसर दिया जाये।

प्रशिक्षण काल मे, प्रशिक्षण संस्था अभ्यार्थियो को देश के विभिन्न भागो मे भ्रमण करने के लिए भेजती है जिससे कि वे देश की समस्याओ को समझ सकें। प्रशिक्षण मे उत्तीर्ण अभ्यार्थियो को राज्यो मे भेज दिया जाता है जहाँ उन्हे छह मास मे एक वर्ष का व्यावहारिक अनुभव दिया जाता है। यह अनुभव विभिन्न पदो पर रह कर लिया जाता है। इस प्रकार उन्हे प्रशासन के व्यावहारिक ज्ञान मे परिचित करवाया जाता है।

(2) भारतीय विदेश सेवा के लिए प्रशिक्षण (Training for I F S). — भारतीय विदेश सेवा का प्रशिक्षण भी भारतीय प्रशासनिक सेवा की भाँति ही होता है। परन्तु इस सेवा का प्रशिक्षण काल तीन वर्ष का होता है। इन दोनो सेवाओ के लिए प्रशिक्षण एक ही संस्था मे होता है। विदेश सेवा के अभ्यार्थियो को *अन्य विषयो के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय विधि, भूगोल, राजनीति तथा अन्य* सामाजिक शास्त्रो का अध्ययन भी विशेष रूप से कराया जाता है। इस सेवा के प्रशिक्षण कार्यक्रम मे अग्रेजी के अतिरिक्त हिन्दी तथा एक विदेशी भाषा के ज्ञान पर जोर दिया जाता है। भारतीय विदेश सेवा के अभ्यार्थियो को कुछ समय के लिए किसी जिले के कार्यालय मे कार्य करने हेतु भेज दिया जाता है जिससे वे व्यावहारिक कार्य के सम्पर्क मे आने योग्य हो जाये। इन अभ्यार्थियो को कुछ समय के लिए मन्त्रालय के कार्य का प्रशिक्षण प्राप्त करना होता है। इसके पश्चात् इनको विदेशो मे भारतीय दूतावासो मे भेज दिया जाता है या नियुक्त कर दिया जाता है जहाँ रह कर ये विदेश सेवा के कार्यों को सीखते हैं।

(3) भारतीय पुलिस सेवा के लिए प्रशिक्षण (Training for Indian Police Services) —भारतीय पुलिस सेवा मे भर्ती पाने वाले अभ्यार्थियो को केन्द्रीय पुलिस प्रशिक्षण कॉलेज, माउन्ट आबू मे प्रशिक्षण दिया जाता है। भारतीय प्रशासकीय सेवा की भाँति भारतीय पुलिस सेवा का प्रशिक्षण काल एक वर्ष रखा गया है। इस अवधि मे अभ्यार्थियो को भारतीय दण्ड विधि, दण्ड-प्रक्रिया, भारतीय साक्ष्य अधिनियम, भारतीय संविधान, भारतीय इतिहास, भारतीय प्रशासन आदि का अध्ययन कराया जाता है। परन्तु इनसे भी अधिक जोर शारीरिक प्रशिक्षण तथा अस्त्र-शस्त्र चलाने की विधि पर दिया जाता है। इस अवधि मे अभ्यार्थियो को अपराध मनोविज्ञान, अपराध का पता लगाने मे सहायक वैज्ञानिक उपकरणो, भ्रष्टाचार से मुकाबला करने की रीतियो, अग्नि तथा आपात से रक्षा आदि का ज्ञान भी दिया जाता है। प्रशिक्षण अवधि समाप्त होने पर अभ्यार्थियो को सहायक पुलिस अधीक्षक के पद पर किसी जिले मे नियुक्त कर दिया जाता है। वे जिले मे पुलिस अधीक्षक के अन्तर्गत कार्य करते हैं तथा अनुभव प्राप्त करते हैं।

(4) भारतीय लेखा परीक्षण व लेखा सेवा के लिए प्रशिक्षण (Training for Audit and Accounts Services)—जिन लोगों की इस सेवा के लिए भर्ती हो जाती है उन्हें एक वर्ष के लिए 'विभागीय प्रशिक्षण स्कूल' शिमला में प्रशिक्षण दिया जाता है। इस प्रशिक्षण की व्यवस्था लेखा-परीक्षण व लेखा विभाग के द्वारा होती है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए विभाग की तरफ से शिमला में एक प्रशिक्षण संस्था की स्थापना की गई है। प्रशिक्षण काल में अभ्यर्थियों को लेखा-परीक्षण, लेखांकन, दण्ड तथा स्थानीय विधियाँ, भारतीय संविधान, सामान्य वित्तीय नियन्त्रण, लेख संहिताएँ, वाणिज्य बहीखाता तथा प्रादेशिक भाषा का ज्ञान दिया जाता है। प्रशिक्षण काल में, अभ्यर्थियों को कार्य का प्रयोगात्मक प्रशिक्षण देने के लिए अनेक लेखा-कार्यालयों तथा जिला राजकोषों में सम्बन्ध कर दिया जाता है। इस प्रशिक्षण का उद्देश्य अभ्यर्थी को लेखांकन तथा लेखा-परीक्षण पद्धति की समस्याओं तथा कार्य-विधियों से पूर्ण परिचित कराना है।

एक वर्ष की अवधि के पश्चात् संघीय लोक-सेवा आयोग के द्वारा अभ्यर्थियों की एक परीक्षा ली जाती है। इसमें उत्तीर्ण लोगों को सहायक लेखा अधिकारी के पद पर नियुक्ति दी जाती है। अनुभव प्राप्त कर लेने के बाद इन्हें और अधिक उत्तर-दायित्वों के पदों पर भेजा जाता है।

(5) आय-कर सेवा के लिए प्रशिक्षण (Training for Income Tax Services).—आय कर सेवा में भर्ती लोगों को 18 मास का प्रशिक्षण दिया जाता है। यह प्रशिक्षण संस्था नागपुर में है। प्रशिक्षण काल में सिखलाये जाने वाले विषयों की प्रकृति सर्वथा प्रयोगात्मक होती है। इन अभ्यर्थियों को भी कुछ समय के लिए किसी अनुभवी पदाधिकारी के अधीनस्थ कार्य करने तथा कार्य सीखने के लिए भेजा जाता है। इससे अभ्यर्थी सेवा से सम्बन्धित व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त कर सके।

(6) रेलवे सेवा प्रशिक्षण (Training for Railway Officials):—रेलवे बोर्ड की ओर से रेलवे के विभिन्न प्रकार के कर्मचारियों के लिए एक प्रशिक्षण संस्था की स्थापना की गई है, जो बड़ौदा में है। इस संस्था में दी जाने वाली प्रक्रिया मुख्यतः व्यावहारिक होती है।

(7) केन्द्रीय सचिवालय सेवा का प्रशिक्षण (Training for Central Secretariat Services):—केन्द्रीय सचिवालय में भर्ती हुए लोगों को केन्द्रीय सचिवालय प्रशिक्षण स्कूल में प्रशिक्षण दिया जाता है। यह स्कूल दिल्ली में है। प्रशिक्षण के समय लोगों को संगठन तथा प्रणालियों, कार्यालय की कार्यविधियों, वित्तीय नियमों तथा विनियमों आदि का ज्ञान दिया जाता है। प्रशिक्षण समाप्त होने पर प्रशिक्षणार्थियों को कुछ समय के लिए व्यावहारिक अनुभव प्राप्त करने के लिए सहायकों के रूप में रखा जाता है और अनुभव प्राप्त होने के पश्चात् उनकी नियुक्ति अनुभाग अधिकारी के पद पर कर दी जाती है।

वर्तमान समय में अधिकारियों के सरकारी कार्यों में असाधारण वृद्धि के कारण वरिष्ठ अधिकारी अब इतने व्यस्त रहते हैं कि व्यावहारिक प्रशिक्षण हेतु उनके पास भेजे गये नवीन अधिकारी पर वे पर्याप्त ध्यान तथा समय नहीं दे पाते। इससे नये अधिकारी अपने वरिष्ठ साथियों के अनुभव का लाभ नहीं उठा सकते। यह स्थिति उत्साहवर्द्धक नहीं है। एन०टी० गोरवाला का भी यह सुझाव है कि कुछ वरिष्ठ अधिकारियों को कुछ जिलों में इसलिए भेजना चाहिए जिससे इन जिलों के नव अधिकारियों के लिए प्रशिक्षण क्षेत्र बनाया जा सके।

प्रशिक्षण की इस प्रणाली की प्रशंसा करते हुए ट्रेवेलियन महोदय ने जिनका नाम भारतीय लोक सेवा के उत्थान तथा विकास के साथ जुड़ा हुआ है, कहा है कि—

"(भारत में) असैनिक सेवक या लोक कर्मचारियों की वास्तविक शिक्षा उस उत्तरदायित्व में निहित है जो उस पर उस छोटी सी आयु में पड़ता है जब मनुष्य के अन्दर की जो कुछ भी अच्छाई है प्रकट हुए बिना नहीं रहती, साथ ही सेवा पर धब्बा लाने वाला कोई कार्य न करने के उसके दायित्व पर, उसके कर्तव्यों के विभिन्न तथा आकर्षक स्वरूप पर और उसके उन वरिष्ठों के उदाहरणों तथा उपदेशों में ही निहित है जो उसे एक अधीनस्थ अधिकारी की अपेक्षा एक छोटे भाई के रूप में अधिक मानते हैं।"

अतः अनौपचारिक प्रशिक्षण की वास्तविक सफलता उच्च अधिकारियों के अधीनस्थ कर्मचारियों के प्रति व्यवहार तथा सद्भाव पर आधारित होती है।

औपचारिक प्रशिक्षण (Formal Training)—इस प्रकार की व्यवस्था पहले से ही नियोजित होती है। औपचारिक प्रशिक्षण के लिए सरकार प्रशिक्षण संस्थाओं तथा केन्द्रों की व्यवस्था करती है, जहाँ पर नियमित रूप से निर्देशन दिये जाते हैं तथा इन नियमित निर्देशनों से कर्मचारी प्रशिक्षित होता है। इस प्रकार की प्रशिक्षण संस्थाओं में योग्य तथा अनुभवी व्यक्ति निर्देशन का कार्य करते हैं। भारत में ऐसे अनेक प्रशिक्षण संस्थान हैं, जैसे राजस्थान में राज्य स्तर की पुलिस सेवाओं के लिए किशनगढ़ (अजमेर) में, भारतीय प्रशासनिक सेवाओं के लिए मसूरी में प्रशिक्षण केन्द्र हैं। इसी प्रकार विकास अधिकारियों तथा पंचायत समिति के प्रधानों को अनुस्थापना व अध्ययन केन्द्रों में समाज शिक्षा आयोजकों को समाज शिक्षा आयोजक प्रशिक्षण केन्द्रों, ग्राम सेवकों को ग्राम-सेवक प्रशिक्षण केन्द्रों तथा पंचायत के कार्यकर्ताओं को पंचायतीराज प्रशिक्षण केन्द्रों में प्रशिक्षण दिया जाता है। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक प्रशिक्षण केन्द्र हैं जो सेवा की प्रकृति तथा आधार पर खोले गये हैं। इसके अतिरिक्त सेमिनार (Seminar), सम्मेलन (Conferences), भाषण (Lectures), वाद-विवाद (Discussions), क्षेत्रीय यात्राओं (Field Trips) तथा अन्य यात्राओं के द्वारा औपचारिक प्रशिक्षण प्रदान किया जा सकता है औपचारिक प्रशिक्षण दो प्रकार से दिया जा सकता है : प्रथम, लोक-प्रिय तरीका यह है कि कर्मचारियों को नियमानुसार पाठ्य (Courses) पढ़ाये जायें। उसे कक्षा और महाविद्यालयों में प्रशिक्षण

दिया जाये। दूसरा प्रशिक्षण का तरीका यह है कि उसे विशेष तकनीकी प्रशिक्षण दिया जाये। अर्थात् इंजीनियर को इंजीनियरिंग सम्बन्धी तथा चिकित्सक को चिकित्सा सम्बन्धी विशिष्ट प्रशिक्षण दिया जाये।

अल्पकालीन प्रशिक्षण (Short Term Training)—जो प्रशिक्षण छोटे या छोटी अवधि के लिए होते हैं उसे अल्पकालीन प्रशिक्षण कहते हैं। आजकल प्रशासन के कार्यों में जटिलता बढ़ती जा रही है। इस समस्या को हल करने के लिए अल्पकालीन प्रशिक्षणों की व्यवस्था की जाती है। इस प्रकार के प्रशिक्षण की अवधि साधारणतया दो सप्ताह से छह माह तक की होती है।

दीर्घकालीन प्रशिक्षण (Long Term Training)—जैसा कि नाम से ही प्रतीत होता है, इसमें प्रशासन की अवधि काफी बड़ी होती है। इस प्रकार का प्रशिक्षण उच्चकोटि का प्रशिक्षण माना जाता है। इसमें व्यय भी अधिक होता है। इस प्रकार के प्रशिक्षण की अवधि साधारणतया एक वर्ष या उससे अधिक हो सकती है। प्रशिक्षण की अवधि सामान्यतया पदाधिकारियों के उत्तरदायित्व तथा प्रशिक्षण की विषय-वस्तु पर आधारित होती है।

पूर्व-प्रवेश प्रशिक्षण (Pre-entry Training).—सेवा में भर्ती होने के पूर्व जो प्रशिक्षण दिया जाता है उसे पूर्व-प्रवेश प्रशिक्षण कहा जाता है। इस प्रशिक्षण का उद्देश्य व्यक्तियों को प्रतियोगी परीक्षा के लिए तैयार करना है तथा उसमें ऐसे गुणों की वृद्धि करना जिससे वह भविष्य में अपने जीवन-यापन के लिए योग्य हो सके। इस प्रकार का प्रशिक्षण विश्वविद्यालय, समाज, प्रशिक्षण संस्था तथा पुस्तकालय द्वारा प्रदान किया जाता है। इस प्रकार की शिक्षा का उद्देश्य छात्रों का बौद्धिक और मानसिक विकास करना तथा उसके ज्ञान के क्षेत्र को अधिकाधिक विस्तृत करना है। उनको ऐसी शिक्षा दी जाती है कि उनको नौकरी न मिलने पर भी वह अपने ज्ञान के बल पर अपनी जीविका कमा सकता है। दूसरे शब्दों में, कालिजों और विश्वविद्यालयों की शिक्षा का क्षेत्र और दृष्टिकोण संकुचित नहीं रहता और न उसका लक्ष्य किसी एक पेशे या क्षेत्र के सम्बन्ध में प्रशिक्षण प्रदान करने तक सीमित रहता है।

आधुनिक समय में व्यावसायिक और तकनीकी प्रशिक्षण पर अधिक बल दिया जाता है जिससे डॉक्टर, इन्जीनियर, वकील, समाजशास्त्री, अर्थशास्त्री आदि तैयार किये जाते हैं। स्कूल और कॉलेजों में भी कुछ विशिष्ट पाठ्यक्रम रखे जाते हैं जहाँ समाज-कल्याण, पुस्तकालय विज्ञान, कृषि विज्ञान, नगर-नियोजन, स्थानीय स्वशासन आदि सेवाओं का प्रशिक्षण प्रदान करके सेवाओं में आने से पूर्व ही लोगों को उसके लिए उपयुक्त बना दिया जाता है। इस सन्दर्भ में राजस्थान सरकार ने 1960 में यह निश्चय किया कि जो लोग जे०डी०सी० (Junior Diploma course) परीक्षा पास करेंगे उन्हें सेवाओं में सीधा उच्च लिपिक (Upper Division Cleerk) बनाया जायेगा। राजस्थान विश्वविद्यालय और बाद में जोधपुर विश्वविद्यालयों ने

इस प्रकार के पाठ्यक्रम को संचालित किया था। इसी प्रकार हाल ही में शिक्षा मन्त्रालय भारत सरकार ने 10 + 2 + 3 की शिक्षा योजना तैयार की है जो व्यावसायिक शिक्षा का एक उदाहरण है।

सारांश के रूप में यह कहा जा सकता है कि पूर्व-प्रवेश प्रशिक्षण सेवाओं में आने से पूर्व दिया जाता है और शिक्षण संस्थाएँ इस प्रकार का प्रशिक्षण देने में अत्यन्त सहायक होती हैं। इस प्रकार के प्रशिक्षण को अध्ययन की दृष्टि से दो भागों में बाँटा जा सकता है—

(1) शिल्प शिक्षणावस्था (Apprenticeship)—इस प्रकार की शिक्षा का सम्बन्ध व्यापार या शिल्प कौशल से है। इस प्रकार का प्रशिक्षण प्रायः वहाँ प्रदान किया जाता है जहाँ उद्योग से सम्बन्धित व्यापार की नई तकनीकें विकसित होती रहती है। यह प्रशिक्षण अनेक विषयों में दिया जाता है जैसे चित्रकला, औजार बनाने का कार्य, बिजली का कार्य, लकड़ी का कार्य, आदि आदि। जिन लोगों को शिल्प प्रशिक्षण के लिए चुना जाता है। उनमें एक विशेष प्रकार की कुशलता तथा क्षमता उत्पन्न की जाती है। प्रशिक्षण प्राप्त कर लेने के बाद व्यक्ति सम्बन्धित व्यवसाय में नौकरी पाने का हकदार बन जाता है। इस प्रशिक्षण के प्रायः दो पहलू होते हैं— प्रथम, व्यावसायिक तथा द्वितीय, सैद्धान्तिक। व्यावसायिक पहलू में प्रशिक्षणार्थी को कार्य कर के बताया जाता है और उसे अपने हाथों से कार्य कराया जाता है। सैद्धान्तिक पहलू में प्रशिक्षणार्थी को शिक्षा सम्बन्धी विषयों का अध्ययन कराया जाता है जिससे अर्जित ज्ञान उसके उद्योग की कुशलता के विकास में सहायता प्रदान करता है। उदाहरण के लिए ये विषय हैं—गणित, विज्ञान, व्यापार सिद्धान्त, प्रक्षेपण, सांख्यिकीय-इतिहास आदि। यह प्रशिक्षण दो से चार वर्ष तक का हो सकता है।

(2) विद्यालय सहवास प्रशिक्षण (Internship)—विद्यालय सहवास कार्यक्रम प्रशिक्षण देने का एक तरीका है जिसके द्वारा विशेषतौर से चुने गये तथा विशेष रूप से पर्यवेक्षित प्रशिक्षणार्थियों को लोक-प्रशासन में प्रशासकीय एवं नीति सम्बन्धी कार्यों के लिए तैयार किया जाता है। इस प्रकार का प्रशिक्षण केवल उन लोगों को दिया जाता है जो प्रशासनिक या व्यावसायिक कार्यों में रूचि तथा क्षमता रखते हैं। इस प्रकार के प्रशिक्षण का उद्देश्य प्रशिक्षणार्थियों के ज्ञान, कुशलता, क्षमता तथा समझ में विकास करना होता है। विद्यालय सहवास प्रणाली ने काफी अच्छी संख्या में उत्कृष्ट नवयुवकों को लोक सेवाओं में आकृष्ट किया है और इससे स्कूली संस्थाएँ तथा सरकार अधिक निकट आई हैं।

दोनों ही प्रकार के प्रशिक्षण में महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि विद्यालय सहवास प्रशिक्षण का सम्बन्ध प्रशासकीय या व्यावसायिक-कार्यों से है जबकि शिल्प शिक्षणावस्था का सम्बन्ध व्यापारिक या व्यावसायिक कुशलता से है।

पूर्व प्रवेश प्रशिक्षण का प्रचलन आज सं० रा० अमेरिका में काफी लोकप्रिय हो चुका है। वहाँ सेवाओं में प्रवेश पाने के पूर्व ही विभिन्न शिक्षण संस्थाएँ और

व्यावसायिक प्रशिक्षण केन्द्रों व विद्यार्थियों का चयन करके प्रशिक्षित किया जाता है। इस कार्य के लिए सन् 1934 में वाशिंगटन में लोक कार्य का राष्ट्रीय संस्थान (National Institute of Public Affairs, Washington) की स्थापना की गई। इस विद्यालय से प्रशिक्षण प्राप्त विद्यार्थी को कार्यालयों में प्रशासकों के पास रखा जाता है जहाँ वे वास्तविक प्रशासनिक कार्यों को देखते है तथा सीखते है। इस प्रणाली की लोकप्रियता सं०रा० अमरिका तक ही सीमित नहीं रही, अपितु भारत, इङ्गलैंड तथा फिलीपाइन्स आदि देशों में भी इसका अनुसरण किया गया। अमेरिका में कुछ प्रमुख विश्वविद्यालय तथा शिक्षण संस्थाएँ निम्न हैं जो लोक-प्रशासन से सम्बन्धित विद्यार्थियों को प्रशिक्षण देने का कार्य करती है जहाँ उन्हें लोक-प्रशासन के मूल-भूत सिद्धान्तों से परिचित कराया जाता है :

(1) शिकागो विश्वविद्यालय।

(2) लोक-प्रशासन का संस्थान, मिचिगन विश्व विद्यालय।

(3) लोक-प्रशासन का मैक्सवेल स्कूल, सैराक्यूज विश्वविद्यालय।

(4) लोक-प्रशासन का हार्वर्ड विद्यालय।

भारत में भी लोक-प्रशासन सम्बन्धी सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक प्रशिक्षण प्रारम्भ किया गया है। लोक-प्रशासन का व्यापक पाठ्यक्रम तैयार किया गया है। जिसके द्वारा लोक-प्रशासन का अध्ययन करवाया जाता है। इलाहाबाद, लखनऊ, पंजाब, राजस्थान आदि विश्वविद्यालयों में लोक-प्रशासन का डिप्लोमा तथा डिग्री कोर्स संचालित किया गया है। इसके अतिरिक्त लोक-प्रशासन संस्थान, दिल्ली (Institute of Public Administration, Delhi), गोखले इन्स्टीट्यूट ऑफ इकॉनोमिक्स तथा पॉलिटिक्स संस्थान, पूना आदि में प्रशिक्षण की व्यवस्था है।

प्रशिक्षण की एक महत्वपूर्ण समस्या है कि जिन व्यक्तियों ने किसी प्रकार का प्रशिक्षण प्राप्त कर लिया है, उनकी लोक सेवा में नियुक्तियाँ की जायें। अधिकांश देशों में आज लोक-सेवा के भर्ती लोक सेवा आयोगों (Public Service Commissions) के द्वारा आयोजित प्रतियोगी परीक्षा के द्वारा की जाती है। इन परीक्षाओं में उन उम्मीदवारों को कोई प्राथमिकता प्रदान नहीं की जाती जो अपने अध्ययन काल में प्रशासनिक अथवा व्यावसायिक प्रशिक्षण प्राप्त कर चुके है।। दूसरी ओर यह भी कहा जाता है कि यदि इस प्रकार के प्रशिक्षण को प्राथमिकता दी जाये तो उन लोगों के प्रति अन्याय होगा जो वैसे तो अधिक योग्य हैं परन्तु किसी कारणवश विशिष्ट प्रशिक्षण को प्राप्त नहीं कर सके। प्रशासनिक ज्ञान का प्रशिक्षण मात्र व्यक्ति को योग्य एवं कुशल प्रशासक नहीं बना देता। अतः उचित यह माना जाता है कि प्रतियोगी परीक्षा में लोक प्रशासन को एक विषय के रूप में स्वीकार किया जाये तथा विश्वविद्यालय में इसके अध्ययन पर ध्यान दिया जाये।

पूर्व-प्रवेश प्रशिक्षण में सामान्य रूप से सभी विषयों का अध्ययन कराया जाये जिससे विद्यार्थी में मानसिक स्तर का विकास हो सके। सामान्य ज्ञान के अभाव में

प्रशिक्षित व्यक्ति भी प्रशासन की सामान्य समस्याओं को नहीं सुलझा सकेगा। दूसरी ओर यह कहा जाता है कि विभिन्न विषयों के विशेष अध्ययन पर जोर दिया जाना चाहिए।

ब्रिटेन, भारत तथा कई यूरोपीय देशों में लोक सेवाओं को जीविकोपार्जन का स्थायी माध्यम माना जाता है जिसके कारण इन देशों में कर्मचारियों की भर्ती नवयुवकों में से की जाती है तथा भर्ती के समय अभ्यार्थी की सामान्य शिक्षा को महत्व दिया जाता है।

पूर्व-प्रवेश प्रशिक्षण में सामान्य शिक्षा के अनेकों लाभ हैं जिनमें से कुछ मुख्य इस प्रकार हैं—

(1) सामान्य शिक्षा से नवयुवकों का दृष्टिकोण व्यापक बन जाता है। भारत में अंग्रेजी भाषा की शिक्षा के जन्मदाता लॉर्ड मेकाले द्वारा करीब सौ वर्ष पूर्व कहे गये इस कथन की सत्यता आज भी प्रमाणित होती है कि "वे व्यक्ति जो अपनी युवावस्था में अपने समकालीनों की तुलना में अधिक विशिष्टता प्राप्त कर लेते हैं, जीवनपर्यन्त जीवन की दौड़ में आगे रहते हैं।" इस कथन का अर्थ यह है कि जो विद्यार्थी अपने स्कूल-कॉलेज स्तर पर सामान्य शिक्षा में अपने सहपाठियों से अधिक अंक प्राप्त करते हैं वे भविष्य में भी प्रत्येक क्षेत्र में अपने साथियों से आगे रहते हैं।

(2) विद्वानों का यह विचार है कि जिन लोगों ने प्रशासन की केवल तकनीकी शिक्षा प्राप्त की है वे लोक-प्रशासन की जटिल समस्याओं को अच्छी तरह से नहीं समझ सकते। इस सम्बन्ध में यह भी कहा जाता है कि यदि तकनीकी ज्ञान पर अधिक महत्त्व दिया जाये तो समाज में व्यर्थ ही कई कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जायेंगी क्योंकि स्वाभाविक तौर पर ही प्रत्येक शिक्षा-प्राप्त नवयुवक के लिए सरकारी पद प्राप्त करना सम्भव नहीं है। परिणामस्वरूप शिक्षित नवयुवकों में बेकारी अधिक फैल जायगी। परन्तु पूर्व प्रवेश प्रशिक्षण में सामान्य शिक्षा का अध्ययन करने पर नवयुवकों को सरकारी नौकरी न मिलने पर वे अन्य व्यवसायों में भी जा सकते हैं।

(3) लोक-प्रशासन से सम्बन्धित ज्ञान को प्राप्त करने के लिए सामान्य मानसिक योग्यताएँ आवश्यक हैं। स्पष्ट है कि इन योग्यताओं के लिए सामान्य प्रशिक्षण की आवश्यकता है।

कुछ विद्वानों का मत है कि लोक कर्मचारियों के लिए सामान्य प्रशिक्षण की कोई आवश्यकता नहीं है। इस बात का आधार यह है कि आज प्रशासकीय कार्य इतना तकनीकी हो गया है कि उसका सम्पादन सामान्य प्रशिक्षण के आधार पर नहीं हो सकता। अतः सेना में प्रवेश के पूर्व कर्मचारियों को सैनिक विद्यापीठों में शिक्षा दी जाती है, उसी प्रकार असैनिक सेवाओं के लिए भी असैनिक विद्यापीठ होनी चाहिए। सामान्य प्रशिक्षण के सम्बन्ध में विचारकों का यह भी मत है कि इससे धन का

असम्भव होता है। इस पद्धति के सम्बन्ध में यह भी कहा जाता है कि यदि इस प्रकार के प्रशिक्षण की व्यवस्था कर दी जाये तो शिक्षा प्रणाली प्रशासकीय आवश्यकताओं के अनुसार संचालित होगी, जिससे समाज में कई प्रकार की बुराइयाँ उत्पन्न हो जायेंगी।

उपर्युक्त आपत्तियों के समान इस आवश्यकता इस बात की है कि दोनों ही पद्धतियों के बीच मध्यम रास्ता अपनाया जाय। यदि सामान्य प्रशासन के साथ लोक-प्रशासन की भी शिक्षा दी जाये तो काफी लाभ प्राप्त किये जा सकते हैं। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि लोक-प्रशासन को एक अनिवार्य विषय बनाया जाय, इस वैकल्पिक विषय के रूप में रख कर भी आवश्यक उद्देश्य की प्राप्ति की जा सकती है। भारत में इस प्रकार के प्रशिक्षण की कुछ विश्वविद्यालयों में व्यवस्था है।

सेवाकालीन प्रशिक्षण (In-service Training)—जो कर्मचारी सरकारी सेवाओं में आ जाते हैं और उनके प्रशिक्षण की जब व्यवस्था की जाती है तो उसे सेवाकालीन प्रशिक्षण कहते हैं। वस्तुतः प्रशासन की कार्यकुशलता इस प्रकार के प्रशिक्षण की अनुपस्थिति में सम्भव नहीं है। नव-नियुक्त कर्मचारी अनुभव शून्य होते हैं उनको इस प्रकार का प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है कि जिससे वे अपना कार्य समुचित ढंग से सम्पन्न कर सकें। सेवाकालीन प्रशिक्षण के दो उद्देश्य होते हैं (1) कार्य के श्रेष्ठतर निष्पादन के लिए, (2) पदोन्नति के लिए।

जैसा कि कहा जा चुका है कि लोक-प्रशासन में अनुभवहीन व्यक्ति प्रतियोगिता परीक्षा पास करके भर्ती हो जाते हैं, उन्हें अपने कर्तव्यों से परिचित कराने के लिए सेवा में आने पर प्रशिक्षण दिया जाता है। परन्तु कुछ प्रशिक्षण पदोन्नति के लिए भी दिए जाते हैं। कई विभागीय कर्मचारी प्रशिक्षण के लिए भेजे जाते हैं और उनमें से जो प्रशिक्षण की परीक्षा पास कर लेता है, उसकी पदोन्नति कर दी जाती है। यह प्रशिक्षण सर्वप्रथम सरकारी देते हैं परन्तु कर्मचारियों की संख्या में वृद्धि होने के कारण अन्य संस्थाओं में भी कर्मचारियों को प्रशिक्षण हेतु भेजा जाता है। उदाहरण के लिए, सं० रा० अमरिका में नेशनल इन्स्टीट्यूट ऑफ पब्लिक एफेयर्स तथा भारत में इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन का नाम लिया जा सकता है।

इस प्रकार का प्रशिक्षण कर्मचारियों को कार्य की नई तकनीकी बातें सीखने में मदद करता है। इससे कर्मचारियों को नवीन ज्ञान प्राप्त होता है जिससे कि वे प्रशासकीय कार्य को करने की दौड़ में पीछे न रह जायें। प्रशिक्षण को केवल सेवा के प्रारम्भिक काल तक ही सीमित नहीं रखा जाता अपितु निरन्तर प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाती है।

सेवाकालीन प्रशिक्षण की मौलिकतायें

सेवाकालीन प्रशिक्षण की मुख्य निम्न मौलिकतायें हैं—

(1) लोक-प्रशासन में सभी कर्मचारी अपने दैनिक कार्य तथा अनुभव से कुछ न कुछ प्रतिदिन सीखता रहता है। इस प्रकार प्रशासन का प्रत्येक व्यक्ति प्रशिक्षित

होता है। क्योंकि सब ने किसी न किसी प्रकार का प्रशिक्षण प्राप्त किया है। फिर भी प्रशिक्षित उन्हीं को कहा जाता है जिनको संगठित, सार्थक, महत्वपूर्ण तथा कुशलता पूर्ण प्रशिक्षण प्रदान किया गया है।

(2) लोक-सेवा के कर्मचारियों को प्रशिक्षित करने के लिए उन्हें अलग-अलग तरह के कार्य सौंपते रहना चाहिए, जिससे वह नवीन अनुभव प्राप्त करता रहे। लेकिन इसका अर्थ कदापि यह नहीं लगाया जाना चाहिए कि प्रत्येक अधिकारी-कर्मचारी को एक निश्चित समय के बाद किसी पद का उत्तरदायित्व सौंपा जाये। इस प्रक्रिया को सामयिक रखा जाय तथा सब उत्तरदायित्व सौंप कर एक व्यक्ति में स्वयं की रुचियां पैदा की जाये जिससे कि वह संगठन के कार्यों को समन्वित रूप से पूरा करने में योगदान कर सके। यह पुनर्गठन की प्रक्रिया है जो संगठन में गतिशीलता बनाये रखती है।

(3) प्रशासन में प्रशिक्षण की प्रक्रिया स्वयं संचालित होती रहती है। इसमें संगठन के वरिष्ठ अधिकारी अपने अधीनस्थों को कार्यों तथा अधिकारों का प्रत्यायोजन (Delegation) करते हैं। इससे स्वाभाविक रूप से उन्हें प्रशिक्षण मिलता रहता है। स्टाल (Stahl) का विचार है कि "एक व्यक्ति जब उत्तरदायित्व सम्भालता है तो कुछ सीखता है और जब उससे उच्च अधिकारी कुछ विश्वास की भावना व्यक्त करते हैं तो वह और भी सीखता है।

(4) कर्मचारी के लिए यह जरूरी है कि उनमें परम्परागत विचार और तरीके को उखाड़ फेंकने के लिए नवीन विचारों से परिचय कराते रहना चाहिए। इसके लिए कभी कभी विद्वानों तथा नेताओं को आमंत्रित कर उनके भाषण करवाने चाहिए।

प्रवेशोत्तर प्रशिक्षण (Post-Entry Training).—इस प्रकार के प्रशिक्षण का अभिप्राय यह होता है कि जो कर्मचारी लोक-सेवा में आ गये हैं परन्तु बदलती हुई परिस्थितियों में कार्य के ढंग तथा नीतियों में परिवर्तन होता रहता है। बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार जब प्रशिक्षण दिया जाता है तो उसे प्रवेशोत्तर प्रशिक्षण की संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार के प्रशिक्षण के लिए 'रिफ्रेशर कोर्स' (Refresher Course) की व्यवस्था की जाती है जिसमें कर्मचारियों को नया अनुभव तथा ज्ञान प्राप्त होता है। इस प्रकार के प्रशिक्षणों का सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि कर्मचारियों को उनके दैनिक कार्यों से थोड़े दिनों के लिए मुक्ति मिल जाती है जो उनकी कुशलता को बढ़ाने के लिए नितान्त आवश्यक है। दूसरे से कर्मचारी को लोक प्रशासन की आधुनिकतम प्रवृत्ति की जानकारी इन पाठ्यक्रमों के द्वारा हो जाती है।

कभी कभी इस प्रकार के प्रशिक्षण हेतु कर्मचारियों को विदेशों में भी भेजा जाता है। इस सम्बन्ध में सरकार को चाहिए कि योग्य कर्मचारियों को छात्रवृत्तियाँ देकर या अन्य सुविधा देकर प्रशिक्षण हेतु भेजने की व्यवस्था करे। इससे

केवल कर्मचारियों को ज्ञान ही प्राप्त नहीं होता वरन् वे प्रशासन को भी नये ज्ञान से सामान्वित करेंगे।

विभागीय प्रशिक्षण (Departmental Training)—कुछ विभागों के द्वारा भी प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाती है, उसे विभागीय प्रशिक्षण कहते हैं। प्रत्येक विभाग की अलग-अलग आवश्यकता तथा उद्देश्य होते हैं। अपने उद्देश्यों को पूरा करने के लिए विभाग द्वारा प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाती है। साधारणतया विभाग के योग्य, कुशल तथा ज्येष्ठ कर्मचारियों को प्रशिक्षण देने का कार्य सौंप दिया जाता है। इस प्रकार के प्रशिक्षण से कर्मचारियों को विशिष्टीकृत शिक्षा दी जाती है। इससे विभागीय कार्य करने में तो सरलता तथा सुगमता आती है परन्तु इसके साथ ही साथ विभाग अपने उद्देश्यों की पूर्ति भी कर सकता है।

केन्द्रीय प्रशिक्षण (Central Training)—केन्द्रीय सरकार के द्वारा भी प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाती है। यह प्रशिक्षण केवल उच्च पदाधिकारियों को प्रशिक्षा देने के लिए होते हैं। उदाहरण के लिए भारतीय प्रशासनिक सेवा कॉलेज का नाम लिया जाता है जो मसूरी में है। इसकी व्यवस्था केन्द्रीय सरकार के द्वारा होती है। इसी प्रकार ब्रिटेन में भी सरकार के द्वारा एक केन्द्रीय प्रशिक्षण एवं शिक्षण संस्थान की स्थापना की गई है जिसमें उच्च प्रशासनीय पदों के पदाधिकारियों को प्रशिक्षण दिया जाता है।

प्रशिक्षण के अन्य प्रकार
(Other Kinds of Training)

उपर्युक्त प्रकार के प्रशिक्षणों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकार के प्रशिक्षण भी होते हैं। विभिन्न प्रकार के विभिन्न कार्य होते हैं। अतः प्रत्येक विभाग अपने ढंग का अलग प्रशिक्षण रखता है जो कि उनके कार्यों के अनुरूप होते हैं। अन्य प्रकार के प्रशिक्षण जो कार्य के अनुरूप होते हैं, उनका वर्णन नीचे किया जा रहा है—

(1) व्यावसायिक प्रशिक्षण (Vocational Training):—किसी व्यवसाय में कर्मचारी को विशेष योग्य या पटु बनाने के लिए इस प्रकार का प्रशिक्षण दिया जाता है। चिकित्सकों, अभियन्ताओं, शिल्पियों आदि को यही प्रशिक्षण दिया जाता है। इससे कर्मचारी को अपने व्यवसाय में विशेष ज्ञान प्राप्त होता है।

(2) पृष्ठ प्रदेशीय प्रशिक्षण (Background Training)—इस प्रकार के प्रशिक्षण का उद्देश्य तकनीकी ज्ञान या विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करना नहीं अपितु कर्मचारियों के दृष्टिकोण को व्यापक बनाना है। व्यापक दृष्टिकोण बनाने के लिए, इतिहास, राजनीति विज्ञान, अर्थशास्त्र आदि विषयों का ज्ञान होना आवश्यक होता है। इस प्रकार के ज्ञान से कर्मचारी दैनिक कार्य में आने वाली कठिनाइयों को हल करने में समर्थ हो सकेंगे। कर्मचारियों के ज्ञान को बढ़ाने के लिए अनेक प्रकार की विभागीय पत्रिकायें, मासिक पत्र तथा समाचार पत्र की व्यवस्था की जाती है। इसके अतिरिक्त

स्कूल के प्रधान अधिकारी को निर्देशक का नाम दिया गया है। इस अधिकारी की श्रेणी केन्द्रीय सरकार के सचिवालय में उप-सचिव के समान होती है।

इस प्रशिक्षण संस्था के अतिरिक्त कुछ उत्तर प्रदेश तथा बिहार की सरकारों ने भी अपने कर्मचारियों के लिए प्रशिक्षण संस्थाएँ स्थापित की हैं। शेष राज्यों में कर्मचारियों को प्रशिक्षण केवल अनुभव के माध्यम से ही दिया जाता है।

भारत में वर्तमान प्रशिक्षण के दोष
(Defects of Training System in India)

अखिल भारतीय सेवाओं के लिए जो प्रशिक्षण की व्यवस्था की है उसमे कई दोष पाये जाते हैं, जिनमे मुख्य निम्न हैं—

(1) अखिल भारतीय सेवाओं के अभ्यर्थियों को सैद्धान्तिक तथा उन विषयों का ज्ञान दिया जाता है जिनको उन्होंने विश्वविद्यालयों में पढ़ा है। इन अभ्यर्थियों को *प्रयोगात्मक प्रशिक्षण नहीं दिया जाता। आवश्यकता इस बात की है कि इन लोगों* को प्रयोगात्मक प्रशिक्षण की ओर ध्यान देना चाहिए।

(2) दूसरा जो दोष भारत में प्रशिक्षण व्यवस्था का बताया जाता है वह यह है कि यह प्रणाली पुराने ब्रिटिश शासन की नकल मात्र है। जनता से दूर रहने की भावना, अपने को साधारण नागरिक से पृथक् तथा उच्च रखने की भावना तथा अमानवीय मनोवृत्ति, अभी तक हमारे प्रशासन में पाई जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि प्रशासकीय अधिकारियों तथा जनता के सम्बन्धों में एक बड़ी खाई आ जाती है।

(3) प्रशिक्षण व्यवस्था का तीसरा दोष यह है कि इससे अभ्यर्थियों का व्यापक दृष्टिकोण नहीं बन पाता। इसका कारण यह है कि प्रशिक्षण में अभ्यर्थियों को वे ही विषय पढ़ाये जाते हैं जिनका अध्ययन उसने शिक्षण संस्थाओं में किया है। इससे सामाजिक ज्ञान के स्नातक को विज्ञान के विषय का कोई ज्ञान नहीं होता, दूसरी ओर शुद्ध *विज्ञान के स्नातक को सामाजिक विषयों का ज्ञान नहीं होगा।* आवश्यकता इस बात की है कि प्रशिक्षण काल में दोनों ही विषयों का प्रशिक्षणार्थियों को ज्ञान दिया जाना चाहिए। इससे इनका दृष्टिकोण तो व्यापक होगा ही तथा साथ में प्रशासन की कठिनाइयों को भी दूर करने की सामर्थ्य का विकास होगा।

(4) प्रशासनिक अधिकारियों को समय-समय पर प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए। एक बार प्रशिक्षण देने के बाद यह नहीं मान लिया जाना चाहिए कि वह प्रशिक्षण प्रशिक्षणार्थियों के लिए पर्याप्त है। आधुनिक युग 'विज्ञान का युग' है। *इसमें समय-समय पर परिवर्तन होते रहते हैं। प्रशासन भी इन परिवर्तनों से अछूता* नहीं रहता। अतः पदाधिकारियों को समय-समय पर प्रशिक्षण देने की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(5) **डॉ० महादेव प्रसाद शर्मा** (Dr. M. P. Sharma) ने प्रशिक्षण के इस दोष की ओर संकेत किया है कि कर्मचारियों और अधिकारियों को प्रशिक्षण देते समय

लोक-प्रशासन के सिद्धान्तों के अध्ययन पर महत्त्व नहीं दिया जाता। इससे उन्हें प्रशासन के सम्बन्ध की जानकारी नहीं मिल पाती।

(6) प्रशिक्षण का एक दोष यह भी बताया जाता है कि उसके पाठ्यक्रम में कुछ ऐसे विषय डाल दिये जाते हैं जिनका प्रशिक्षणार्थी के लिए कोई उपयोग नहीं होता। उदाहरण के लिए लेखा-परीक्षण व लेखा सेवा (Indian and Audit Accounts Services) के कर्मचारियों को भारतीय दण्ड विधान की शिक्षा दी जाती है जो न तो उनके लिए उपयोगी है और न ही आवश्यक और बुद्धिमत्तापूर्ण।

(7) भारतीय प्रशिक्षण व्यवस्था में छोटे पदों जैसे लिपिक, वरिष्ठ लिपिक, कार्यालय अध्यक्ष आदि के प्रशिक्षण पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। वास्तव में ये ही लोग नीतियों के निर्माण तथा लागू करने में महत्वपूर्ण भूमिका रखते हैं।

(8) प्रशिक्षण के समय प्रायः उन कमियों को दूर करने का प्रयत्न नहीं किया जाता जो विश्वविद्यालय में शिक्षण की कमी रहने के कारण उत्पन्न हो जाते हैं।

(9) राज्यों में लोक सेवाओं के कर्मचारियों के लिए समुचित प्रशिक्षण की व्यवस्था नहीं है।

(10) प्रशिक्षण प्रणाली का एक दोष यह भी है कि कर्मचारियों के अपने ज्ञान के नवीनीकरण करने हेतु बहुत ही कम अवसर उपलब्ध होते हैं। उनके लिए समय-समय पर प्रशिक्षण की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(11) यह बात भी विवेकहीन और अतार्किक लगती है कि पदाधिकारियों के प्रशिक्षण काल को परिवीक्षा काल में मान लिया जाता है। वास्तव में परिवीक्षा काल का सम्बन्ध किसी विशेष पद पर कार्य करने से होना चाहिए।

भारत में प्रशिक्षण कार्यक्रम में किये गये सुधार

(Reforms Undertaken in Training System in India)

भारत में प्रशिक्षण कार्यक्रम में कुछ आवश्यकता के आधार पर सुधार किये गये हैं। कुछ मुख्य सुधारों की विवेचना नीचे की जा रही है—

(1) भारतीय पुलिस सेवा के प्रशिक्षण के पाठ्यक्रम में कुछ नये विषय जोड़ दिये गये हैं; जैसे अपराध, अपराधियों को ठीक करने के ढंग, अपराधिक मनोविज्ञान, लोक-प्रशासन सम्बन्धी विषय, भीड़ को तितर बितर करने के उपाय, यातायात का नियमन, भ्रष्टाचार की रोकथाम, अग्नि-सेवा, संकटकाल में सहायता, नागरिक प्रतिरक्षा आदि।

(2) भारतीय प्रशासकीय सेवा के प्रशिक्षण हेतु जो संस्था पहले दिल्ली में थी तथा भारतीय लेखा-परीक्षा तथा लेखा सेवा स्टाफ कालिज, शिमला, दोनों संस्थाओं को अब एक कर दिया गया है। दोनों प्रकार के प्रशिक्षणार्थियों के लिए मसूरी में एक प्रशिक्षण संस्था की स्थापना 31 अगस्त, 1959 को की गई है जिसे प्रशासन की राष्ट्रीय अकादमी का नाम दिया गया है। इस अकादमी में एक वर्ष में चार प्रकार के पाठ्यक्रम के संचालन की व्यवस्था की गई है।

(3) विभिन्न सेवाओं में भर्ती किये गये अधिकारियों में एक विस्तृत सामान्य दृष्टिकोण तथा भावना का विकास करने का प्रयास किया गया है, जिससे वे सब एक सामान्य लोक-सेवा से सम्बन्ध रख सकें।

(4) प्रशिक्षण देते समय अब इस बात का मुख्य रूप से ध्यान रखा जाता है कि प्रशिक्षणार्थियों में एक ऐसी भावना का उदय किया जाये जिससे वे यह समझने लगें कि वे जनता के नौकर हैं। उनमें इस प्रकार का दृष्टिकोण प्रजातान्त्रिक राज्यों में आवश्यक माना गया है।

(5) समस्त प्रशिक्षण संस्थाओं को एक स्थान पर स्थापित किये जाने का प्रयत्न किया जा रहा है जिससे कि विभिन्न सेवाओं के लिए आये प्रशिक्षणार्थियों में समन्वय स्थापित किया जा सके।

(6) प्रशासन की राष्ट्रीय अकादमी ने एक त्रैमासिक पत्रिका निकालना भी आरम्भ किया है। इसका उद्देश्य "विभिन्न सेवाओं के सदस्यों के लिए केवल एक सूचना स्रोत के रूप में ही कार्य करना नहीं बल्कि विचार-विनिमय के एक केन्द्र स्थल के रूप में भी कार्य करना है।"

(7) केन्द्रीय सचिवालय के कर्मचारियों के लिए भी पाठ्यक्रम में परिवर्तन किया जा रहा है।

भारतीय सेवाओं में कुछ अन्य सुधार के सुझाव
(Some Suggestions to improve Indian Services)

भारतीय सेवाओं में अभी और सुधार की आवश्यकता है। जो कुछ सुधार किये गये हैं वे पर्याप्त नहीं हैं। अतः भारतीय सेवाओं में कुछ सुधार और किये जाने चाहिए। अन्य सुझाव निम्न हैं—

(1) अखिल भारतीय सेवाओं के लिए चुने गये लोगों को सैद्धान्तिक ज्ञान के साथ-साथ वास्तविक प्रयोगात्मक ज्ञान का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए। उन्हें प्रशिक्षण के लिए जिला, तहसीलों, ग्रामों आदि स्थानों पर भ्रमण करने की व्यवस्था करनी चाहिए।

(2) प्रशिक्षण के विषयों में विस्तार किया जाना चाहिए। प्रशिक्षणार्थियों को शुद्ध विज्ञान तथा सामाजिक विषयों का समान रूप से ज्ञान कराया जाना चाहिए। इससे उनका दृष्टिकोण व्यापक बनेगा।

(3) पुराने अधिकारियों के लिए भी प्रशिक्षण की व्यवस्था की जानी चाहिए जिससे वे प्रशासन में होने वाले परिवर्तन को सीख सकें। साथ ही नया ज्ञान प्राप्त करेंगे जिससे लोक-प्रशासन में दक्षता आयेगी।

(4) प्रशासनिक पदों के अतिरिक्त तकनीकी पदों के लिए चुने गये अधिकारियों के प्रशिक्षण की व्यवस्था की जानी चाहिए। अभी तक इस सम्बन्ध में ध्यान नहीं दिया गया है। तकनीकी अधिकारियों की समुचित प्रशिक्षण की व्यवस्था न

होने से इस प्रकार के ज्ञान में कोई वृद्धि नहीं हो पाती तथा धन का अपव्यय भी होने की सम्भावना रहती है।

(5) अन्त में, यह सुझाव दिया जाता है कि वर्तमान शिक्षा पद्धति में कुछ परिवर्तन किया जाना चाहिए, क्योंकि हमारी शिक्षा पद्धति प्रशासकीय आवश्यकता को पूरा नहीं करती। शिक्षा प्रणाली में प्रशासन के विषयों को भी आवश्यक स्थान दिया जाना चाहिए। इस प्रकार की व्यवस्था अब कुछ विश्वविद्यालयों में की जाने लगी है।

ब्रिटेन में लोक कर्मचारियों का प्रशिक्षण

ग्रेट ब्रिटेन में लोक-कर्मचारियों के प्रशिक्षण की व्यवस्था वहाँ के राजकोष के द्वारा की जाती है। सन् 1944 में एशटन समिति के सुझावों के आधार पर ब्रिटेन में राजकोष ने प्रशिक्षण की एक योजना आरम्भ की है। इसके सम्पादन के लिए एक शिक्षा तथा प्रशिक्षण निदेशक नियुक्त किया जाता है। प्रत्येक विभाग में प्रशिक्षण योजना का संचालन एक प्रशिक्षण अधिकारी द्वारा किया जाता है। नियुक्ति के पूर्व प्रशिक्षणार्थियों को सम्बन्धित पदों के लिए आवश्यक ज्ञान दिया जाता है। उन्हें प्रशिक्षण अवस्था में नीति शास्त्र तथा लोक सेवा के आचार व्यवहार सम्बन्धी नियमों का ज्ञान कराया जाता है। नवीन भर्ती करने के बाद लोक-प्रशासन के कर्मचारियों को स्वयं के ज्ञान के अनुसार प्रशिक्षण प्राप्त करने का अवसर दिया जाता है। ब्रिटेन में यह कहा जाता है कि प्रशासकीय कौशल सैद्धान्तिक या अन्य प्रकार के प्रशिक्षण से प्राप्त नहीं होता वह तो प्रयोगात्मक से ही प्राप्त होता है। ब्रिटेन में स्वयं के अनुभव से कार्य सीखने पर अधिक जोर दिया जाता है।

वरिष्ठ स्तर के पदाधिकारियों को प्रशिक्षण देने के लिए ग्रेट ब्रिटेन में प्रशिक्षण केन्द्र की 1945 में व्यवस्था की गई थी, किन्तु आर्थिक कारणों से उसे सन् 1951 से बन्द कर दिया गया। इस प्रकार उच्च स्तरीय प्रशासकों को प्रशिक्षित करने के लिए अब कोई वहाँ विशेष स्कूल नहीं है। इसके अतिरिक्त लोक-कर्मचारियों के प्रशिक्षण दिये जाने हेतु वहाँ विशेष ध्यान दिया जा रहा है।

ब्रिटेन में कुछ विश्वविद्यालयों में विशेष प्रकार के प्रशिक्षण की व्यवस्था की गई है। जैसे लन्दन विश्वविद्यालय में प्रशासन का एक डिप्लोमा कोर्स रखा गया है जिसको उत्तीर्ण करने पर प्रमाण पत्र दिया जाता है तथा सेवाओं में भर्ती कर ली जाती है। इसी प्रकार वार्मविल पुलिस कॉलेज में पुलिस अधिकारियों को प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है।

ब्रिटिश प्रशिक्षण व्यवस्था का उद्देश्य कर्मचारियों में ईमानदारी, निष्पक्षता तथा उत्तरदायित्व की भावना पैदा करना है। इस सम्बन्ध में हरमन फाइनर महोदय का मत उल्लेखनीय है। उनके अनुसार, "इन सब प्रशिक्षणों का उद्देश्य विभाग के कार्य में अधिक परिशुद्धता उत्पन्न करना, अधिकारियों को परिवर्तनीय आवश्यकताओं के अनुरूप बनाना, नैत्यक कार्य का अभ्यासी बनने से रोकना, यान्त्रिक कार्य पद्धति

के प्रभाव को रोकना, उनको अधिक उत्तरदायित्व के कार्यों के लिए तैयार करना तथा कर्मचारी वर्ग के मनोबल को पुष्ट करना है।"

सं०रा० अमेरिका में लोक कर्मचारियों का प्रशिक्षण

सं० रा० अमेरिका मे प्रशिक्षण की व्यवस्था भारत के प्रशिक्षण की व्यवस्था से बिल्कुल भिन्न है। सं० रा० अमेरिका मे लोक सेवा के लिए युवा व्यक्तियो को कालेजो तथा विश्वविद्यालयो मे सरकारी सेवा मे प्रवेश की तैयारी का प्रशिक्षण दिया जाता है। इस प्रकार पूर्व-प्रवेश प्रशिक्षण शिक्षा काल मे ही प्रारम्भ हो जाता है। वहाँ जो लोग सरकारी सेवा मे उच्च प्रशासनिक पद प्राप्त करना चाहते हैं वे स्नातक स्तर के आगे के स्तर पर एक, दो या तीन वर्ष का विशेष अध्ययन करते हैं। इस अध्ययन मे लोक-प्रशासन तथा राजनीति का गहराई से अध्ययन कराया जाता है। तत्पश्चात् उत्तीर्ण विद्यार्थियो को विशेष उपाधियाँ दी जाती हैं। संयुक्त राज्य मे विश्वविद्यालय तकनीकी पाठ्यक्रमो के प्रमाण पत्र देते हैं तथा सेवा-कालीन प्रशिक्षण भी देते हैं। कुछ विश्वविद्यालयो मे नगर नियोजन, बजट निर्माण, सार्वजनिक स्वास्थ्य, पुलिस तथा अग्नि सेवा का प्रशिक्षण भी दिया जाता है।

लोक-कर्मचारियो को कुछ विशिष्ट कार्य सम्पादित कराने के लिए प्रवेशोत्तर प्रशिक्षण की व्यवस्था स० रा० अमेरिका मे की गई है। इसका आधार सेवा मे मितव्ययिता तथा कार्यकुशलता बनाये रखना बताया गया है। सन् 1937 मे वाशिंगटन में एक सस्था की स्थापना की गई, जो लोक सेवाओ के लिए प्रशिक्षण देने का कार्य करती है। इस सस्था का नाम 'ब्रुकिंग्स संस्था' रखा गया है। यह सस्था स० रा० अमेरिका के संघीय सेवा के कर्मचारियो को प्रशिक्षण में सहायता देती है। यह सस्था केवल प्रशासनीय कार्यों की ही शिक्षा की व्यवस्था नही करती अपितु कर्मचारियो मे दूरदर्शिता तथा ऐसे गुणो का विकास करती है जो महत्वपूर्ण समस्याओ को हल करने मे सहायता देते हैं।

अन्त मे यह कहा जा सकता है कि स० रा० अमेरिका मे विभिन्न प्रकार की सेवाओ के लिए विश्वविद्यालयो मे प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाती है। इसका सबसे बडा महत्व यह है कि सरकार को प्रशिक्षण के लिए संस्थाएँ नही खोलनी होती हैं तथा धन भी बड़ी मात्रा मे बच जाता है।

परीक्षोपयोगी प्रश्न

1. लोक सेवाओ में प्रशिक्षण के महत्त्व को बताइए। प्रशिक्षण के विभिन्न प्रकारों का वर्णन कीजिए।

   Describe the importance of training in Public Services ?
   Discuss the various forms of training

2. पूर्व-प्रवेश प्रशिक्षण किसे कहते हैं ? प्रवेशोत्तर प्रशिक्षण से यह किस प्रकार भिन्न है ।

   What is pre-entry training ? In what respect does it differ *from post-entry training ?*

3. भारत में कर्मचारियों को प्रशिक्षण व्यवस्था पर एक संक्षिप्त लेख लिखिए ।

   Write a short note on the training system of Indian Administrative personnel

4. भारत में प्रशिक्षण व्यवस्था के दोषों को बताते हुए उसमें सुधार के सुझाव दीजिए ।

   Enlist the defect of training system in India and Sugest reform for the same

5. भारत और इङ्गलैंड में कर्मचारियों की प्रशिक्षण व्यवस्था का उल्लेख कीजिए ।

   Describe the training system for personnel in India and U. K.

6. भारतीय प्रशासनिक सेवाओं के सदस्यों को प्रशिक्षण कैसे दिया जाता है । व्याख्या कीजिये ।

   Discuss, how the training is imparted to the personnel of Indian Adminstative Services

13

भारत में लोक सेवा आयोग

(THE PUBLIC SERVICE COMMISSION IN INDIA)

प्रशासन की कुशलता तथा महत्ता एक बड़ी मात्रा में उस कर्मचारी तथा पदाधिकारी वर्ग की कार्यक्षमता पर निर्भर रहती है जो कि प्रशासन की व्यवस्था करता है। किसी भी देश का कुशल प्रशासन लोक-सेवा की क्षमता एवं समर्थता पर निर्भर होता है। यह बात सर्वविदित है कि सरकार के पास पर्याप्त शक्ति तथा साधनों की प्रचुरता रहती है, फिर भी कभी-कभी उसे अपने उद्देश्यों को पूरा करने में असफलता का मुँह देखना पड़ता है। इस असफलता का मुख्य कारण लोक-कर्मचारी गण होते हैं जिसमें अधिकारी वर्ग भी सम्मिलित हैं। सरकार की सफलता तथा असफलता उसके प्रशासन पर निर्भर करती है। "प्रशासन रूपी विशाल भवन का ढाँचा लोक कर्मचारी रूपी स्तम्भ पर टिका रहता है।" एडमण्ड बर्क (ब्रिटेन के बड़े राजनीतिज्ञ थे) ने इस सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि "राज्य की सकर्मक क्रियाएँ, व्यक्तियों का समुचित प्रबन्ध, विवेकशील प्रशासन के उद्देश्यों से सम्बद्ध होना तो अति दूर, बल्कि उनका सर्वप्रथम और सबसे अधिक प्रिय लक्ष्य होना चाहिए।"

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी राज्य के प्रशासन को सफलतापूर्वक चलाने के लिए योग्य कर्मचारियों की आवश्यकता है। लेकिन प्रश्न यह है कि ये योग्य व्यक्ति किस प्रकार प्राप्त किये जाय। यदि योग्य व्यक्तियों के चुनाव का कार्य सरकार या किसी एक अधिकारी को दे देते हैं तो उनसे यह आशा नहीं की जा सकती कि योग्य व्यक्तियों का चुनाव हो। इसका कारण यह है कि उन पर राजनीतिक प्रभाव तथा बाहरी दबाव पड़ सकता है। अतः बहुत पुराने समय से सभी देशों में इस बात की माँग बढ़ती गई कि इस कार्य के लिए एक स्वतन्त्र निकाय की व्यवस्था की जाये, जो योग्य, कर्मठ तथा सुचरित्र व्यक्तियों को लोक-सेवा के लिए प्राप्त कर सके। संयुक्त राज्य अमेरिका में पहले प्रशासन में लूट-प्रणाली को स्थान दिया गया था। परन्तु इस प्रणाली की कटु आलोचना की गई, तत्पश्चात् वहाँ भी लोक-कर्मचारियों की योग्यता के आधार पर सरकारी सेवा में लेने का कार्य एक स्वतन्त्र निकाय को दिया गया है। इस निकाय को लोक-सेवा आयोग का नाम दिया जाता है।

भारत में लोक सेवा आयोग

ब्रिटिश शासन काल में ही भारतीयों ने उच्च सरकारी सेवाओं में भारतीयों को अधिक से अधिक स्थान प्रदान करने की माँग जोर-शोर से करनी प्रारम्भ कर दी थी। इस बढ़ती हुई माँग के फलस्वरूप ही तत्कालीन सरकार ने 1926 में एक 'केन्द्रीय लोक सेवा आयोग' की स्थापना की थी। पहले भारतीय सिविल सर्विस के उच्च पदों पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के संचालकों द्वारा नियुक्तियाँ की जाती थी। ब्रिटिश सरकार द्वारा कम्पनी से सत्ता ले लेने पर ब्रिटिश संसद् ने एक अधिनियम पारित कर प्रतियोगिता द्वारा लोक-सेवा के पदों पर भर्ती करने की नीति अपनाई। परन्तु बहुत कम भारतीयों को प्रतियोगिता में सम्मिलित होने का मौका मिलता था क्योंकि उसमें सम्मिलित होने के लिए भारतीयों को बहुत अधिक शर्तें पूरी करनी आवश्यक होती थी। सन् 1870 में उक्त अधिनियम में संशोधन कर अधिक भारतीयों को सिविल सर्विस में स्थान देने का निश्चय किया। परन्तु उक्त अधिनियम 1879 के पूर्व प्रकाशित नहीं हुआ। इस अधिनियम के अनुसार स्थानीय या प्रान्तीय सरकारों को यह अधिकार दिया गया कि वह भारतीय सचिव व भारत सरकार की सहमति से लोक सेवा के पदों पर भारतीयों को मनोनीत कर सकती है। परन्तु यह योजना भी सफल नहीं हुई। सन् 1886 में भारत सरकार ने पंजाब के राज्यपाल की अध्यक्षता में एक लोक सेवा आयोग की स्थापना की। भारत सरकार की सेवाओं के लिए भर्ती करने के अतिरिक्त इस आयोग को भारत की सिविल सर्विस की त्रुटियों और उसके सम्बन्ध में भारतीयों में विद्यमान असन्तोष पर अपना प्रतिवेदन देने के लिए कहा गया।

सभी परिस्थितियों का अध्ययन करने के पश्चात् उक्त आयोग ने यह सिफारिश की कि भारतीय सिविल सर्विस अधिनियम 1861 के अन्तर्गत भारतीयों को केवल सीमित संख्या में ही नियुक्त करने का जो निर्देश दिया गया है, वह समाप्त कर दिया जाय, और 'प्रान्तीय सिविल सर्विस' के नाम से एक नई सेवा का गठन किया जाये, जिसमें अधिक से अधिक भारतीयों की नियुक्ति की जाये।

भारत सचिव व भारत सरकार ने आयोग की सिफारिशें स्वीकार कर ली और प्रान्तीय सरकारें भारत सरकार की स्वीकृति से प्रान्तीय सिविल सर्विस में भर्ती के नियम व शर्तें निर्धारित करने लगी।

सन् 1912 में लोक सेवाओं की समस्या का अध्ययन करने के लिए एक शाही आयोग (Royal Commission) की स्थापना की गई। इस आयोग ने यह सिफारिश की कि लोक-सेवाओं के तीन-चौथाई उच्च पदों की भर्ती अंग्रेजी लोगों से हो तथा शेष एक-चौथाई पदों पर भारतीयों की नियुक्ति की जाये। लेकिन उक्त रिपोर्ट प्रकाशित होने के पूर्व ही भारत में ब्रिटिश सरकार की नीति में परिवर्तन हुआ और सन् 1917 में भारत सचिव (Secretary of State for India) ने ब्रिटिश संसद् में एक घोषणा की। इस घोषणा को अगस्त घोषणा के नाम से पुकारा जाता है।

इसके अनुसार, 'भारत में ब्रिटिश सरकार की नीति भारतीयों को शनैः शनैः स्वशासन के पथ पर अग्रसर करने की है और वह वहाँ से शासन संचालन में भारतीयों का अधिकाधिक सहयोग चाहती है।" इस घोषणा के आधार पर भारतीय अधिनियम 1919 का एक प्रपत्र बनाया गया। इस प्रपत्र में लोक सेवा आयोग की स्थापना का सुझाव देते हुए कहा गया था कि—

"अधिकांश अधिराज्यों में, जहाँ कि उत्तरदायी सरकार की स्थापना हो गई है, इस बात की आवश्यकता अनुभव की जा रही है कि कुछ स्थायी कार्यालयों की स्थापना करके राजनीतिक प्रभाव से लोक-सेवाओं को सुरक्षित बनाया जाये, इन कार्यालयों का मुख्य कार्य सेवा के मामलों में विनियम बनाना हो। वर्तमान समय में हम अभी इस स्थिति में तो नहीं हैं कि भारत में एक लोक सेवा आयोग के मामले को पूर्णतया आगे बढ़ायें, परन्तु हम यह अनुभव करते हैं कि यह सम्भावना अथवा आशा कि सेवाएँ अधिकाधिक मन्त्रीय नियन्त्रण में आ सकती हैं, एक ऐसे निकाय की स्थापना का दृढ़ आधार प्रस्तुत करती है।"

उपर्युक्त सुझाव के अनुसार जब "भारत सरकार अधिनियम 1919" पारित हुआ तो उसमें लोक-सेवा आयोग की स्थापना की व्यवस्था की गई थी। मोन्टेग्यू चेम्सफोर्ड की संवैधानिक सुधार सम्बन्धी रिपोर्ट के अनुसार सिविल सेवा के उच्च पदों में भारतीयों को 33 प्रतिशत स्थान देने का निश्चय किया गया। यह भी निश्चय किया गया कि प्रतिवर्ष इसमें वृद्धि होती रहे। परन्तु भारतीय इस व्यवस्था से सन्तुष्ट नहीं हुए, अतः एक शाही आयोग (1923) की स्थापना की गई, जिसके अध्यक्ष फर्नहम के विस्काउन्ट ली (Viscount Lee) थे। अतः इस शाही आयोग को ली आयोग के नाम से पुकारा जाता है। इस आयोग ने सन् 1924 में अपने प्रतिवेदन में निष्पक्ष लोक सेवा आयोग की स्थापना की सिफारिश की। आयोग के अनुसार—

"जहाँ कहीं लोकतन्त्रीय सरकारें विद्यमान हैं, अनुभव से यही पता चलता है कि कुशल सेवा की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि जहाँ तक सम्भव हो सके उसको (सिविल सेवा) राजनीतिक प्रभाव से अथवा वैयक्तिक प्रभावों से बचाये रखा जाये और स्थिरता व सुरक्षा की वह स्थिति प्रदान की जाये जो कि ऐसे निष्पक्ष तथा कुशल साधन के रूप में इसके सफल कार्य संचालन के लिए अनिवार्य होती है, जिसके द्वारा कि सरकार चाहे वह कैसी भी राजनीतिक विचारधारा की क्यों न हो, अपनी नीतियों को क्रियान्वित करती है। उन देशों में जहाँ कि इस सिद्धान्त की उपेक्षा कर दी गई है और जहाँ इसके स्थान पर लूट-खसोट प्रणाली लागू है, इसका अनिवार्य परिणाम एक अकुशल तथा असंगठित सिविल सेवा के रूप में सामने आया है और भ्रष्टाचार अनियन्त्रित रूप से बढ़ा है। स० रा० अमेरिका में, सेवाओं में भर्ती पर नियन्त्रण लागू करने के लिए एक 'लोक सेवा आयोग' का गठन किया गया है। भारत के लिए, ब्रिटिश साम्राज्य के अधिराज्यों में शायद उपयुक्त एवं लाभदायक निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। कनाडा, आस्ट्रेलिया तथा दक्षिणी अफ्रीका में अब

सरकारी सिविल सेवा अधिनियम बने हुए हैं जो कि सरकारी सेवाओं की स्थिति तथा नियन्त्रण का नियमन करते हैं और उन सब का एक सामान्य उद्देश्य है एक लोक सेवा आयोग का गठन जिसे कि अधिनियमों के प्रबन्ध का कार्य सौंपा गया है। सन् 1919 के भारत सरकार अधिनियम का निर्माण करने वालों ने एक लोक सेवा आयोग की स्थापना के लिए इस अधिनियम में धारा 96 (ग) की व्यवस्था की थी जो इसी उपर्युक्त आवश्यकता को दृष्टिगत रखा गया था। इस लोक सेवा आयोग को निम्न कार्य सम्पन्न करने थे 'भारत में सरकारी सेवाओं की भर्ती तथा नियन्त्रण से सम्बन्धित ऐसे कार्य जो परिषद् के राज्यमन्त्री के द्वारा बनाए गए नियमों के द्वारा इसे सौंपे जायेंगे।'

भारत सरकार अधिनियम 1919 तथा ली आयोग की सिफारिशों को ध्यान में रखते हुए 1926 में तत्कालीन सरकार ने लोक सेवा आयोग स्थापित कर दिया। इस आयोग में अध्यक्ष के अतिरिक्त चार अन्य सदस्य थे। भारत सरकार अधिनियम, 1935 लागू हुआ तो इसका नाम बदल कर संघीय लोक सेवा आयोग कर दिया गया।

स्वतन्त्र भारत के नए संविधान में इस बात की व्यवस्था की गई कि संघ तथा राज्यों के लिए अलग-अलग लोक सेवा आयोग की व्यवस्था की गई है। इसके अतिरिक्त संयुक्त लोक सेवा आयोग भी हो सकते हैं। संयुक्त लोक सेवा आयोग का अर्थ यह है कि यदि दो या दो से अधिक राज्य इस बात के लिए राजी हो जायें कि उनके राज्यों के भर्ती का कार्य एक ही लोक सेवा आयोग करे तो उसे संयुक्त लोक सेवा आयोग कहते हैं। केन्द्रीय सेवाओं की भर्ती करने के लिए जिस आयोग की व्यवस्था की गई है उसे संघीय लोक-सेवा आयोग कहते हैं। जो आयोग राज्यों में कार्य करते हैं उन्हें राज्य लोक-सेवा आयोग कहते हैं। यदि एक या एक से अधिक राज्य चाहें तो संघीय लोक सेवा आयोग को अपने राज्य में सरकारी कर्मचारियों की भर्ती का अधिकार दे दें पर ऐसा करने से पूर्व उसे या उन्हें राष्ट्रपति की स्वीकृति लेनी होगी।

लोक सेवा आयोग का संगठन

(*Composition of Public Service Commission*)

(1) **लोक सेवा आयोग के सदस्यों की नियुक्ति** :—प्रत्येक लोक सेवा आयोग का एक अध्यक्ष होता है तथा कुछ सदस्य होते हैं। संघीय लोक सेवा आयोग के सदस्यों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है तथा राज्य लोक सेवा आयोग के सदस्यों की नियुक्ति राज्य के राज्यपाल द्वारा की जाती है। आयोग के कितने सदस्य होंगे, इस प्रश्न को राष्ट्रपति तथा राज्य के राज्यपाल पर छोड़ दिया गया है। वर्तमान में संघीय लोक सेवा आयोग में एक अध्यक्ष तथा आठ सदस्य हैं। इसी प्रकार राज्यों में भी एक अध्यक्ष तथा अन्य चार सदस्य हैं।

(2) सदस्यों की योग्यताएँ (Qualifications) —जैसा कि कहा जा चुका है कि योग्य, ईमानदार तथा समर्थ व्यक्तियों का चुनाव करने के लिए लोक सेवा आयोग की स्थापना केन्द्र तथा राज्यों में की गई है। इस कार्य को सम्पादित करने के लिए यह आवश्यक माना गया है कि लोक सेवा आयोगों के सदस्य स्वयं बड़े योग्य तथा अनुभवी हों। अतः ऐसी व्यवस्था की गई है कि प्रत्येक आयोग के कम से कम आधे सदस्य ऐसे होने चाहिए जो अपनी नियुक्ति के समय तक केन्द्रीय तथा राज्य की सेवा में 10 वर्ष तक उच्च पदों पर कार्य कर चुके हों।

(3) कार्य अवधि (Tenure) —लोक-सेवा आयोगों के सदस्यों का कार्यकाल छह वर्ष निश्चित किया गया है। परन्तु सदस्यों की अधिकतम आयु सीमा संघीय लोक सेवा आयोग के लिए 65 वर्ष तक, राज्यों के लोक सेवा आयोग के लिए 60 वर्ष निश्चित की गई है। परन्तु इससे पूर्व भी कोई भी सदस्य त्याग-पत्र देकर कार्यमुक्त होना चाहे तो हो सकता है। कोई भी सदस्य एक से अधिक आयोगों के लिए मनोनीत नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त इस बात को भी स्वीकार कर लिया गया है कि वह व्यक्ति जो लोक सेवा आयोग का अध्यक्ष या सदस्य रह चुका है वह उन प्रशासकीय पदों पर कार्य नहीं कर सकता जिनकी पूर्ति लोकसेवा आयोग के द्वारा की जाती है।

(4) वेतन तथा भत्ते (Pay and Allowances) —संविधान में लोक सेवा आयोगों के अध्यक्ष तथा सदस्यों के वेतन तथा भत्ते के बारे में कोई उल्लेख नहीं किया गया है। इनके वेतन, भत्ते तथा नौकरी की शर्तों का निर्धारण कानून द्वारा किया जाता है। एक बार वेतन, भत्ता, कार्यकाल तथा सेवा की शर्तें निश्चित हो जाने पर सदस्यों के कार्यकाल में ऐसा परिवर्तन नहीं किया जायगा जिससे कि सदस्यों को कोई हानि हो। आयोगों के अध्यक्ष तथा सदस्यों को वेतन एवं भत्ता, संघ व राज्यों की संचित निधि से चुकाया जायेगा। इसमें न संसद न विधान मण्डल कोई संशोधन करने का अधिकार रखता है।

(5) पदच्युति (Removal) - अपनी निश्चित अवधि के पूर्व लोक सेवा आयोगों के अध्यक्ष तथा सदस्यों को कुछ विशेष परिस्थितियों को छोड़कर पदच्युत नहीं किया जा सकता। पदच्युति राष्ट्रपति (President) के आदेश द्वारा की जाती है। राष्ट्रपति निम्नलिखित परिस्थितियों में उन्हें पदच्युत कर सकता है

(i) किसी सदस्य का यदि सर्वोच्च न्यायालय कदाचार (Misbehaviour) रखने वाला सिद्ध कर दे तो राष्ट्रपति उसे पदच्युत करने का अधिकार रखता है।

(ii) दिवालिया होने की स्थिति में।

(iii) यदि वह अपने कार्य के अतिरिक्त कोई दूसरा कार्य वैतनिक रूप से करता हो।

(iv) मानसिक अथवा शारीरिक रुग्णता के कारण कार्य करने में असमर्थ हो।

(५) यदि किसी आयोग का सदस्य किसी ऐसे ठेके से सम्बन्ध रखता है जिससे उसे लाभ प्राप्त होता है, तो वह सदस्य भी सदाचारी माना जायेगा और उसे भी सदस्यता से हटा दिया जायेगा।

यहाँ इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि राज्यों में राज्यपाल को लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्यों को नियुक्ति करने का अधिकार है परन्तु उनको हटाने का अधिकार उनके पास नहीं है। यह अधिकार तो राष्ट्रपति के पास है।

लोक-सेवा आयोग के कार्य
(Functions of Public Service Commission)

लोक सेवा आयोगों का मुख्य कार्य कर्मचारियों की भर्ती करना है। इस भर्ती के लिए योग्य व्यक्तियों की व्यवस्था करने के लिए लिखित तथा मौखिक परीक्षा की व्यवस्था करना भी आयोगों का कार्य है। भारतीय संविधान के अन्तर्गत संघीय एवं राज्यीय लोक सेवा आयोगों के कार्य निम्नलिखित निश्चित किये गये हैं—

(1) आयोग भर्ती के तरीके, असैनिक सेवाओं अथवा पदों पर नियुक्ति के मामलों अथवा पदोन्नति के मामलों पर सरकार को परामर्श देना।

(2) सेवाओं में कर्मचारियों की भर्ती के लिये लिखित तथा मौखिक परीक्षाओं की व्यवस्था करना।

(3) असैनिक सेवाओं से सम्बन्धित अनुशासन सम्बन्धी मामलों पर सरकार को परामर्श देना।

(4) असैनिक पदाधिकारियों द्वारा कर्तव्य पालन करते समय चोट लग जाने अथवा घायल हो जाने से उत्पन्न शारीरिक असमर्थता के कारण किये गये पेन्शन के दावों पर सरकार को परामर्श देना।

(5) सरकारी कर्मचारियों के हितों एवं अधिकारों की रक्षा सम्बन्धी अपीलों पर विचार करना तथा इस सम्बन्ध में सरकार को उन शिकायतों को दूर करने का परामर्श देना।

(6) अन्य कोई ऐसा मामला जो राष्ट्रपति या राज्यपाल द्वारा विशेष रूप से उनको सौंपा जाये।

(7) ये आयोग सरकारी सेवाओं के लिए ही नहीं अपितु अन्य स्थानीय अथवा सार्वजनिक सेवाओं के लिए भी, संसद् अथवा विधान सभा कानून पास कर उन्हें अधिकार देवें, तो उपर्युक्त कार्य कर सकते हैं।

यहाँ यह बताया जाना आवश्यक है कि कुछ ऐसी भी सेवायें हैं जिनमें सरकार आयोग के परामर्श के बिना भी नियुक्तियाँ कर सकती है। पिछड़े वर्ग के लोगों के लिए सुरक्षित स्थान पर नियुक्तियाँ करने के सम्बन्ध में भी आयोग के परामर्श की आवश्यकता नहीं है।

लोक सेवा आयोगों के कार्यों का अध्ययन करने से यह निर्णय निकलता है कि ये आयोग केवल सरकार को नियुक्तियों के लिए सिफारिश करते हैं। इनमें नियुक्ति के अधिकार निहित नहीं हैं। उच्च पदों पर नियुक्ति करने का अधिकार मुख्य कार्यपालिका के पास होता है। साधारणतया लोक सेवा आयोग के द्वारा प्रस्तुत अभ्यर्थियों की सूची में से ही नियुक्तियाँ की जाती हैं, परन्तु मुख्य कार्यपालिका यदि चाहे तो लोक सेवा आयोग की सिफारिश को ठुकरा सकती है। स० रा० अमेरिका में इस सम्बन्ध में यह व्यवस्था है कि आयोग एक पद के लिए तीन उम्मीदवारों का नाम कार्यपालिका को प्रस्तुत करता है और वह उनमें से एक को नियुक्त करता है।

लोक सेवा आयोग के प्रतिवेदन

(Reports of the Commission)

भारतीय संविधान में इस बात की व्यवस्था की गई है कि लोक सेवा आयोग अपने कार्य की वार्षिक रिपोर्ट राष्ट्रपति को प्रस्तुत करेगा। रिपोर्ट के मिलने पर, राष्ट्रपति ऐसे मामलों के बारे में यदि कोई हो, जिसमें कि आयोग का परामर्श स्वीकार नहीं किया कारणों को स्पष्ट करने वाले ज्ञापन के सहित उस रिपोर्ट की प्रतिलिपि को संसद के प्रत्येक सदन के सम्मुख प्रस्तुत करेगा। इसी प्रकार की व्यवस्था राज्यों में की गई है। इस प्रकार की व्यवस्था करने का मुख्य आधार यह है कि मुख्य कार्यपालिका अपनी शक्ति का दुरुपयोग नहीं कर सके। जिन देशों में संसदात्मक शासन व्यवस्था अपनाई गई है। वहाँ मुख्य कार्यपालिका के लिए आयोग की सिफारिश को न मानना आसान बात नहीं है।

कुछ भी हो, यह समझ लेना चाहिए कि आयोग केवल एक मन्त्रणा निकाय है। इस सम्बन्ध में भारत के राज्य मन्त्री (Secretary of State for India) सर सैमूल होअर (Sir Samuel Hoare) ने सन् 1935 के भारत सरकार विधेयक के पास होते समय ब्रिटिश संसद् में यह बात कही—

"संयुक्त प्रवर समिति का यह निश्चित मत था और यहाँ तथा भारत में मेरे सलाहकारों का भी यही निश्चित मत है कि लोक सेवा आयोग परामर्शदाता के रूप में ही अधिक अच्छी प्रकार कार्य कर सकता है। अनुभव से यही पता चला है कि यदि आयोग को परामर्शदाता के रूप में रखा जाये तभी उनका अधिक प्रभाव पड़ने की सम्भावना है, बजाय इसके कि उन्हें आदेशात्मक शक्तियाँ दी जायें। खतरा यह है कि उन्हें आदेशात्मक दे दें तब हम एक प्रान्त में दो सरकारें तथा केन्द्र में दो सरकारें स्थापित कर देंगे और फिर इस प्रकार की कार्यविधि के विरोध में बहुत कुछ कहा जा सकता है। अनेक दृष्टिकोण से अधिक अच्छी बात यह है कि वे परामर्शदाता हों।"

आयोग की स्वतन्त्रता

(Independence of the Commission)

जिस प्रकार यह कहा जाता है कि किसी देश की न्यायपालिका को स्वतन्त्र रखा जाना चाहिए जिससे नागरिकों के अधिकारों की सुरक्षा अधिक से अधिक रह

सकें। इसी प्रकार यह भी कहा जाता है कि लोक सेवा आयोगों को भी स्वतन्त्र रखा जाना चाहिए जिससे कि वे योग्य व्यक्तियों का चुनाव करने में सफल हो सकें। सुकुमार वसु महोदय ने इस सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करते हुए कहा कि-- "आयोग को इन योग्य बनाये रखना चाहिए जिससे वे अपने निर्धारित कर्त्तव्यों को निष्पक्षता, सत्यनिष्ठा तथा बिना भय या पक्षपात के, स्वतन्त्रतापूर्वक पूरा कर सकें।"

यही कारण है कि आयोगों का निर्माण संविधान के द्वारा किया गया है। इस बात की भी व्यवस्था की गई है जिससे कि वे सभी प्रकार के अनुचित प्रभावों से दूर रखे जा सकें। ब्रिटेन में लोक सेवा आयोग के सदस्यों को जिन्हें आयुक्त कहा जाता है अपने कार्य को करने में पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है। ब्रिटेन में लोक सेवा आयोग की स्वतन्त्रता के बारे में लिखते हुए ए० पी० सिनक्लर महोदय ने कहा है कि— "प्रत्येक स्थिति में आयुक्तों की स्वतन्त्रता की स्थिति का वास्तविक आधार यह है कि राजनीतिक दलों में यह मौन तथा अलिखित पक्का समझौता है, जिसको संसदीय तथा जनता का सबल मत भी प्राप्त है कि आयुक्त अपने कार्यों को पूर्ण तथा स्वतन्त्र तथा निष्पक्ष रीति से सम्पन्न करें।

इङ्गलैंड में लोक सेवा आयोग के द्वारा दिए गये नियुक्तियों के सम्बन्ध में परामर्श का अनुपालन किया जाता है। इङ्गलैंड में आयुक्तों ने अपने प्रथम प्रतिवेदन (1856) में कहा कि, "जहां तक हमारे अधीन व्यक्तिगत मामलों की परीक्षाओं का प्रश्न है, किसी भी प्रकार का बाह्य हस्तक्षेप नहीं हुआ है और आपकी सरकार (महारानी की) द्वारा हमारे कार्यों के न्यायिक स्वभाव को पूर्ण मान्यता दी गई है।" अतः यह कहा जा सकता है कि आयोग पर वहां किसी प्रकार का अनुचित प्रभाव नहीं डाला जाता है।

भारत में भी लोक सेवा आयोग को पूर्ण स्वतन्त्र बनाये रखने का प्रयत्न किया गया है। अभी तक हमारे यहाँ ऐसे अभिसमयों का विकास नहीं हो पाया है जिससे यह आशा की जाये कि आयोगों पर कोई भी राजनीतिक दल प्रभाव नहीं डालेगा तथा उनके द्वारा दिये गये परामर्शों का अनुपालन किया जायेगा। भारत में लोक सेवा आयोगों की स्थापना के पश्चात् के अनुभव से हम यह कह सकते हैं कि उन पर मन्त्रियों तथा सरकार के उच्च पदाधिकारियों का प्रभाव पड़ता रहता है। यहां तक कहा जाता है कि सरकार लोक सेवा आयोग के सदस्य की नियुक्ति करते समय ऐसे व्यक्तियों के नाम मुख्य कार्यपालिका के पास प्रस्तुत करती है जिन पर उनका प्रभाव पड़ सके। इसका लोक प्रशासन पर भयंकर प्रभाव पड़ता है क्योंकि उसमें अयोग्य व्यक्ति भी चुने जा सकते हैं। भारत के कुछ राज्यों में एक और प्रवृत्ति पाई जाती है यह यह है कि वहाँ कुछ पदों को लोक सेवा आयोग के अधिकार क्षेत्र से बाहर रखे जाने का प्रयत्न किया गया है। इसके अतिरिक्त अनेक बार लोक सेवा आयोग के द्वारा नियुक्तियों के मामले में आयोग की सलाह को स्वीकार नहीं किया

गया है। यह एक दुर्भाग्यपूर्ण बात है। यदि यही प्रवृत्ति बढ़ती गई तो प्रशासन में कई दोष उत्पन्न हो जायेंगे।

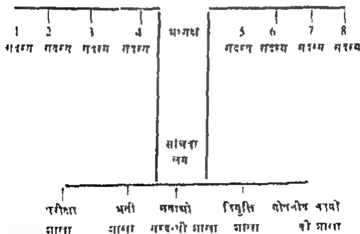
संघीय लोक सेवा आयोग का सचिवालय
(Secretariat of U.P.S.C.)

लोक सेवा आयोगों के कार्यों का संचालन करने के लिए सचिवालयों की व्यवस्था की गई है। लोक सेवा आयोग के सचिवालय में एक सचिव, 6 उपसचिव, 15 छोटे उप-सचिव तथा 40 विभाग अधिकारी होते हैं। इनके अतिरिक्त वरिष्ठ लिपिक, उच्च लिपिक तथा चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी होते हैं। इन कर्मचारियों के द्वारा ही लोक सेवा आयोग अपने उत्तरदायित्व को पूरा करती है। आयोग का सीधा सम्पर्क गृह मन्त्रालय से होता है। कार्य की सुगमता की दृष्टि से लोक सेवा आयोगों में कई शाखायें होती हैं जिनमें मुख्य निम्नलिखित हैं

(1) परीक्षा शाखा
(2) भर्ती शाखा,
(3) सेवाओं सम्बन्धी शाखा
(4) नियुक्ति शाखा, तथा
(5) गोपनीय कार्यों सम्बन्धी शाखा।

आयोग के संगठन को समझने के लिए निम्न चार्ट विद्यार्थियों के लिए उपयोगी होगा

लोक सेवा आयोग



प्रमाणन (Certification)

लोक सेवा आयोग परीक्षा लेने के पश्चात् सफल परीक्षार्थियों की एक अनुक्रमिक सूची (Merit List) नियुक्ति अधिकारी के पास भेज देता है, जहाँ से नियु

स्थानों की पूर्ति की माँग प्राप्त हुई थी। नियुक्ति अधिकारी उसी क्रम (Order) के अनुसार नियुक्तियाँ प्रदान करता है। सरकार के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह उसी क्रम के आधार पर नियुक्तियाँ दे जिस क्रम में योग्यता के आधार पर आयोग ने सफल उम्मीदवारों के नाम प्रस्तुत किये हैं। लेकिन प्रजातान्त्रिक देशों में सरकार के इस प्रकार के कार्यों की तीव्र आलोचना हो सकती है और सरकार पर पक्षपात करने का आरोप लगाया जा सकता है। संसद में जब आयोग का प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जाता है उस समय विरोधी दल (Opposition Party) सरकार को आड़े-हाथों लेता है जिससे उसकी साख कम हो सकती है। यह लोक-सेवा आयोग द्वारा प्रस्तुत अनुक्रमिक सूची में परिवर्तन करने का साहस साधारणतया सरकार या नियुक्ति अधिकारी के द्वारा नहीं किया जाता है। स०रा० अमेरिका में आयोग द्वारा नियुक्ति अधिकारी के पास एक पद के लिए तीन उम्मीदवारों के नाम भेजे जाते हैं। नियुक्ति अधिकारी इन तीन नामों में से एक को नियुक्ति प्रदान करता है। परन्तु किसी भी आधार पर इस व्यवस्था को उचित नहीं माना जा सकता क्योंकि नियुक्ति अधिकारी अपनी मनमानी कर सकता है या नियुक्ति करते समय नियुक्ति अधिकारी पर बाहरी या राजनीतिक प्रभाव पड़ सकता है। इस प्रकार योग्य व्यक्ति नियुक्ति से वंचित रखा जा सकता है। आज स० रा० अमेरिका में इस प्रथा का तीव्र विरोध किया जाता है। इस प्रकार प्रमाणन का अर्थ सफल प्रत्याशी के नाम नियुक्ति के लिए नियुक्ति अधिकारी के पास प्रस्तुत करना है।

नियुक्ति एवं परिवीक्षा (Appointment and Probation)—

जब प्रमाणीकरण की कार्यवाही पूरी हो जाती है तब नियुक्ति अधिकारी आयोग की क्रमसूची के आधार पर सफल परीक्षार्थियों को नियुक्ति पत्र देता है। नियुक्ति पत्र प्राप्त होने पर यह व्यक्ति निर्दिष्ट स्थान पर पद भार (Duty charge) को ग्रहण कर कार्य आरम्भ कर देता है। इस प्रकार लोक सेवा में नियुक्ति हो जाती है। नियुक्ति के बाद परिवीक्षा काल आरम्भ होता है जो नियुक्ति क्रिया का अन्तिम चरण होता है। परिवीक्षा काल की समाप्ति होने पर स्थाई नियुक्ति मान ली जाती है। परिवीक्षा काल में नव-नियुक्त कर्मचारी के कार्य, क्षमता, लगन, ईमानदारी आदि की पूरी जाँच विभागाध्यक्ष या जिस अधिकारी के नीचे उसका कार्य करने का आदेश दिया गया, द्वारा की जाती है। यदि उसका कार्य सन्तोषजनक होता है तो उसे सेवा में स्थाई कर दिया जाता है। यह परिवीक्षा काल साधारणतया एक वर्ष से दो वर्ष होता है। जिन कर्मचारियों का कार्य परिवीक्षा काल में सन्तोषजनक नहीं होता है उनके परिवीक्षा काल को कुछ समय के लिए बढ़ाया जा सकता है और कभी कभी उस सेवा से मुक्त भी कर दिया जाता है।

इस पद्धति को अपनाये जाने का कारण इस विचार में निहित है कि नियुक्ति अधिकारी ने कर्मचारी को नियुक्त करने में चाहे जितनी सतर्कता व सावधानी बरती हो, अथवा अपनी बुद्धि तथा विवेक द्वारा व्यक्तिगत न्याय का प्रयोग क्यों न किया

हो, उसके त्रुटि की सम्भावना हो सकती है, जिससे अयोग्य या कम कुशल व्यक्ति नियुक्त हो सकता है। परिवीक्षा काल में पदाधिकारियों की आवश्यकताओं का पता लगाया जा सकता है। यह भी सम्भव है कि एक नवनियुक्त कर्मचारी में वे सब सैद्धान्तिक गुण मौजूद हों जो एक उम्मीदवार (Candidate) में होने चाहिए, लेकिन उसमें व्यावहारिक गुणों का अभाव हो। अतः परिवीक्षा काल में कर्मचारी की व्यावहारिक योग्यता का पता लगाया जा सकता है।

आज सभी देशों में परिवीक्षा पद्धति को अपनाया गया है। विलोबी (Willoughby) भी परिवीक्षा काल के समर्थक हैं।

परीक्षोपयोगी प्रश्न

1. भारत में लोक सेवा आयोग के संगठन तथा कार्यों की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए। क्या आपकी राय में आयोग को जो अधिकार दिये गये हैं वे ठीक हैं? यदि नहीं, तो आयोग को आपकी राय में कौन से अधिकार और दिये जाने चाहिए?

   Examine critically the composition and working of the Public Service Commission in India. Do you feel that the powers of the Commission are sufficient? If not, what other powers should be given to them?

2. लोक सेवा आयोग के सदस्यों की नियुक्ति कैसे होती है तथा उनको पद से हटाने के तरीके का वर्णन कीजिए। आयोगों को स्वतन्त्र बनाने के लिए आप क्या सुझाव देंगे?

   How the members of the Public Service Commission are appointed and removed. What suggestions can you give to make the Commission more independent?



14

वित्तीय प्रशासन

(FINANCIAL ADMINISTRATION)

वित्त का महत्त्व (Importance of Finance):—जिस प्रकार व्यक्ति बिना धन के अपना जीवन निर्वाह नहीं कर सकता उसी प्रकार लोक-प्रशासन का अस्तित्व भी बिना धन के असम्भव है। वास्तव में लोक-प्रशासन अधिकांशतः और वित्त का उपयोग और प्रबन्ध ही है। जैसे कि लॉयड जॉर्ज (Loeyd George) ने एक बार कहा था कि 'जिसको शासन कहते हैं वह वास्तव में वित्त है।' सरकार का प्रत्येक कार्य धन पर अवलम्बित होता है। धन के अभाव में सरकार जन-कल्याण के कार्य नहीं कर सकेगी। प्रत्येक योजना के लिए धन चाहिए। सरकार चाहे अच्छी से अच्छी योजना और नीति का निर्माण क्यों न कर ले लेकिन वित्त या धन के अभाव में वे असफल हो जाती है। इस प्रकार वित्तीय प्रशासन सार्वजनिक प्रशासन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। डॉ० ह्वाइट (L. D. White) का कथन है कि प्रशासन के प्रत्येक कार्य का वित्तीय पहलू रहता है। या तो उसके फलस्वरूप प्रशासन को आय होती है या कुछ न कुछ व्यय करना पड़ता है। बिना धन के प्रशासन का कोई कार्य नहीं हो सकता। वित्तीय साधनों की दृष्टि से सम्पूर्ण प्रशासन व्यवस्था का ढाँचा तैयार किया जाता है और प्रशासन का प्रत्येक भाग इसी सीमा तक अपना कार्य ठीक निश्चित रूप से कर सकता है, जहाँ तक वह उसके लिए वित्तीय साधन सुलभ कर पाता है। अतः वित्त लोक-प्रशासन का जीवनाधार है। यह लोक-प्रशासन रूपी नैया की पतवार है, जो उसे मझधार से पार ले आती है। जिस प्रकार चालक-शक्ति (Motive-Power) के बिना जहाज एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता ठीक उसी प्रकार लोक-प्रशासन रूपी जहाज वित्त रूपी चालक शक्ति के बिना एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता।

प्राचीन तथा मध्य युग में भी राज्य का शासक, राज्य कार्यों के लिए धन की व्यवस्था अवश्य करता था। उन युगों में कृषि उपज का निश्चित भाग राजकोष में पहुँचता था। राज्य के व्यापारियों और व्यवसायियों को भी निश्चित रूप से शासक को कर (Tax) प्रदान करना पड़ता था। दण्ड-शुल्क भी राज्य कोष का भाग समझा जाता था। शासक इस धन को राज्य कार्य एवं अपने हित में व्यय करता

था। प्रथा एवं परम्परा के अनुसार उस समय शासक को राज्य कोष का एक मात्र अधिकारी समझा जाता था। वह जिस प्रकार चाहता कर-संग्रह कर सकता था और अपनी इच्छानुसार उसे व्यय भी कर सकता था। बहुत कम ऐसे शासक हुए हैं जिन्होंने राज-कोष की पूँजी को सदैव जनता का धन समझा और उसे प्रजा के हित में प्रयोग किया। इसके विपरीत ऐसे शासकों की संख्या अधिक रही है जिन्होंने इस धन का उपयोग निजी सुख और स्वार्थ के लिए किया।

लेकिन आधुनिक युग में लोक-कल्याणकारी राज्य (Welfare state) की भावना के उदय के साथ राज्य का यह उत्तरदायित्व और कर्तव्य हो गया है कि वह जनता जनार्दन के राजनैतिक सामाजिक, आर्थिक और सभी क्षेत्रों में विकास करे। अब राज्य का कार्य केवल उसकी बाहरी आक्रमण से रक्षा और आन्तरिक व्यवस्था करना ही नहीं है अपितु व्यक्ति का बहुँमुखी विकास करना है। आज प्रशासन को बेकारी, दरिद्रता तथा अशिक्षा आदि को दूर करने तथा जनता की सामाजिक एवं आर्थिक उन्नति करने के लिए योजना का निर्माण करना तथा उसके लिए साधन उपलब्ध कराना है। जिन देशों में समाजवादी शासन-व्यवस्था की स्थापना हुई है, वहाँ वस्तुओं के उत्पादन एवं वितरण का पूर्ण उत्तरदायित्व शासन पर ही होता है। इन विभिन्न प्रकार के कार्यों के सम्पादन के लिए लोक-प्रशासन को अपने साधनों की उचित व्यवस्था करनी पड़ती है तथा सचित आय को विभिन्न कार्यों में, उनके महत्त्व के अनुपात में वितरण करना पड़ता है।

उपर्युक्त विवरण से लोक-प्रशासन में वित्त या धन के महत्त्व का अनुमान सहज में ही लगाया जा सकता है। जैसा कि कहा जा चुका है, कोई भी प्रशासकीय क्रिया वित्त के अभाव में सम्पादित नहीं की जा सकती। अच्छी से अच्छी प्रशासकीय नीतियाँ तथा योजनाएँ अपने-आप में कोई महत्त्व नहीं रखती हैं जब तक कि उन्हें कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक धन उपलब्ध नहीं है। वास्तव में वित्त सरकार के जीवन-रक्त (Life-blood) के समान होता है। वह प्रशासकीय मशीनरी के लिए ईंधन (Fuel) के समान है, क्योंकि जिस प्रकार ईंधन के बिना कोई भी मशीन अपना कार्य नहीं कर सकती उसी प्रकार धन के बिना सरकार की कोई भी क्रिया सम्पन्न नहीं हो सकती है। डॉ० व्हाइट (White) का कथन इस दृष्टि से सर्वथा उचित है कि 'वित्त की व्यवस्था करना लोक-प्रशासकों के लिए प्रथम महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व है। ("The management of finance is one of the first inescapable responsibilities of the administrators") । विद्वान लेखक डिमोक (Dimock) ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि "संगठन और लोक-सेवकों की भाँति प्रशासन में वित्त इस प्रकार सार्वलौकिक रूप से व्याप्त हो गया है जिस प्रकार वातावरण में ऑक्सीजन वायु।" (Like organisation and personnel, finance is as universally involved in administration as oxygen in the atmosphere.") ।

अन्त में कहा जा सकता है कि कोई भी सरकार धन के अभाव में किसी कार्य को सम्पन्न नहीं कर सकती। वास्तव में वित्त और प्रशासन को पृथक् नहीं किया जा सकता। प्रशासन और वित्त शरीर और उसकी छाया की भाँति अभिन्न हैं। यही कारण है कि सं० रा० अमेरिका में हूवर आयोग (Hoover Commission) द्वारा वित्तीय प्रशासन को सरकार का हृदय बताया गया है। हूवर आयोग के शब्दों में "वित्तीय प्रशासन, ऐसी व्यवस्था तथा रीतियों का निर्माण करता है जिनके द्वारा लोक-सेवाओं के संचालन के लिए धन प्राप्त किया जाता है, खर्च किया जाता है तथा उसका लेखा रखा जाता है, आधुनिक सरकार के लिए हृदय के समान है।" ("Financial administration, involving the machinery and methods by which funds for the support of public servicesare raised, spent and accounted for, is at the very core of modern government.")

वित्तीय प्रशासन का अर्थ
(Meaning of Financial Administration)

वित्तीय प्रशासन शब्द का प्रयोग सामान्यतया व्यापक अर्थ में किया जाता है। इसमें वे सब प्रक्रियाएँ सम्मिलित की जाती हैं जो प्रायः निम्न कार्यों को सम्पन्न करने में उत्पन्न होती हैं:—सरकारी धन के संग्रह, बजट निर्माण, विनियोजन (Appropriations) तथा व्यय करने में, आय तथा व्यय और प्राप्तियां (Reciepts) एवं वितरणों (Disbursements) का लेखा परीक्षण करने में, परि-सम्पत्तियों (Assets) एवं भारों (Liabilities) और सरकार के वित्तीय सौदों का हिसाब-किताब रखने में और आमदनियों व खर्चों, प्राप्तियों व वितरणों तथा निधियों (Funds) एवं विनियोजन की दशा के सम्बन्ध में प्रतिवेदन देने (Reporting) में।" ("The term 'financial administration' is used in a broad sense to include all the processes involved in collecting, budgeting, appropriating and expending public moneys; in auditing incomes and expenditures and receipts and disbursements; in accounting for assets and liabilities and for the financial transactions of the government; and in reporting upon income and expenditures, receipts and disbursements and the condition of funds and appropriations.)" डॉ. ह्वाइट (White) के मतानुसार, "वित्तीय प्रशासन के मुख्य अंगों में इस प्रकार के कार्य आ जाते हैं—बजट निर्माण तथा उसके पश्चात् बजट सम्बन्धी औपचारिक विनियोजन कानून, खर्च पर कार्यकारिणी का निरीक्षण (अर्थात् बजट की क्रियान्विति), लेखों पर नियन्त्रण तथा रिपोर्ट पद्धति, राजकोष प्रबन्ध एवं आमदनी का संग्रह और लेखा परीक्षण।" [Fiscal manogment includes as its Principal subdivisions—budget making followed by formal act of

appropriations, executive Supervision of expenditures (budget execution), the control of the accounting and reporting system, treasury management and revenue collection and audit.') वित्तीय प्रशासन सम्बन्धी इसी परिभाषा को विस्तार से समझाते हुए विद्वान लेखक विलोबी (Willoughby) ने अपना यह मत प्रकट किया है कि सरकार की अन्य अनेक समस्याओं की भाँति हमें वित्तीय प्रशासन पर भी दो पहलुओं से विचार करना चाहिए—राजनैतिक (Political), और तकनीकी (Technical)। राजनैतिक दृष्टि से वित्तीय प्रशासन के अन्तर्गत चार प्रकार की बातें आती हैं—योजना निर्माण करना (Planning), वित्तीय नीति को निर्धारित करना (Determining), नीति के अनुसार योजना को कार्यान्वित करना, (Executing), और वित्तीय अभिकर्त्ताओं पर नियन्त्रण रखना (Controlling)। उनके अनुसार तकनीकी दृष्टि से वित्तीय प्रशासन में हम व्यावहारिक रूप में इस समस्या पर विचार करते हैं कि वित्तीय योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए किस प्रकार के संगठन, ढाँचा आदि का प्रयोग किया जाये ताकि ये योजनाएँ कुशलतापूर्वक सम्पादित की जा सकें।

फिफनर, डिमॉक आदि विद्वानों के मतानुसार वित्तीय प्रशासन (Financial Administration) एक गतिशील प्रक्रिया (Dynamic process) है जिसमें निम्न सक्रियाओं (Operations) की एक सतत् शृंखला (Continuous chain) का निर्माण होता है :

(1) आय तथा व्यय की आवश्यकताओं का अनुमान लगाना अर्थात् 'बजट निर्माण' (Preparation of the Budget)।

(2) इन अनुमानों के लिए जनता के प्रतिनिधियों की अनुमति प्राप्त करना अर्थात् 'बजट पर व्यवस्थापिका की अनुमति' (Legislative approval of the Budget)।

(3) आय तथा व्यय की क्रियाओं को कार्यान्वित करना (Execution of the Budget)।

(4) वित्तीय व्यवस्थाओं का राजकोषीय प्रबन्ध (Treasury management of the Finances)।

(5) इन सक्रियाओं का व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायित्व (Legislative accountability) अर्थात् समुचित रूप से हिसाब-किताब रखना तथा उनका लेखा परीक्षण करवाना।

सर ए० डब्ल्यू० हार्ट (Sir A. W. Hart) का सुझाव है कि उक्त पाँचों के अतिरिक्त एक छठा उप विभाग आर्थिक काट-छाँट के लिए होना चाहिए जो यह देखे और सुझाव दे सके कि कहाँ कमी की जा सकती है। इसकी बारम्बार आवश्यकता पड़ती है, अतः इस उप विभाग को स्थाई बना देना हितकर होगा।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर संक्षिप्त रूप से यह कहा जा सकता है कि वित्तीय प्रशासन के अन्तर्गत वे समस्त क्रियाएँ आती हैं जिनका उद्देश्य सरकार के कार्यों के लिए आवश्यक धन को जुटाना है तथा यह देखना है कि उस धन का समुचित व्यय हो रहा है। प्रजातान्त्रिक व्यवस्था में व्यवस्थापिका (Legislature) के द्वारा ही कर लगाये जाते हैं तथा व्यवस्थापिका ही व्यय के लिए अनुमति प्रदान करती है। वित्तीय प्रशासन का यह कार्य है कि वह यह ध्यान रखे कि व्यवस्थापिका द्वारा जनता पर आवश्यकता से अधिक कर न लगाये जायें तथा व्यवस्थापिका द्वारा व्यय के लिए स्वीकृत धन का प्रयोग भी मितव्ययिता एवं कुशलता के साथ किया जाये। अतः इसी आधार पर यह कहा जाता है कि जो सरकार वित्तीय प्रशासन की एक सन्तोषजनक व्यवस्था का निर्माण कर लेती है वह अपने कार्यों का प्रबन्ध कुशलता के साथ करने की दिशा में काफी आगे बढ़ जाती है। इसके विपरीत जो सरकार ऐसा करने में असमर्थ होती है वह अपने कार्यों को मितव्ययिता और सक्रियता से नहीं कर सकती।

वित्तीय प्रशासन के अभिकरण

(The Agencies of Financial Administration)

वित्तीय प्रशासन की उपर्युक्त सक्रियाओं (Operations) को लागू करने के लिए कई अभिकरण होते हैं जिनमें मुख्य हैं—

(1) विधानमण्डल या व्यवस्थापिका सभा (The Legislature)

(2) कार्यपालिका विभाग (Executive Department)

(3) वित्त विभाग या राजकोष (Treasury)

(4) लेखा परीक्षण विभाग (Audit Department)

वित्तीय प्रशासन का संचालन तथा नियन्त्रण इन्हीं अभिकरणों के द्वारा किया जाता है। नीचे हम इन अभिकरणों का संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत करेंगे.

(1) विधानमण्डल या व्यवस्थापिका (Legislature) :

प्रजातन्त्र में व्यवस्थापिका वित्तीय प्रशासन पर पूर्ण नियन्त्रण रखती है। व्यवस्थापिका ही धन को प्राप्त करने तथा उसे खर्च करने की अनुमति देती है। व्यवस्थापिका को यह अधिकार प्राप्त होता है कि वह नये कर लगा सकती है, पुराने करों को समाप्त कर सकती है, उनमें कमी या वृद्धि कर सकती है। यही धन को खर्च करने की स्वीकृति देने वाली अन्तिम सत्ता होती है। प्रजातन्त्र में व्यवस्थापिका की अनुमति के बिना सरकार न तो धन संग्रह कर सकती है और न ही धन का व्यय। एक लोकप्रिय सरकार में न केवल आर्थिक नीति बल्कि शासन की सब नीतियों को निर्धारित करने का कार्य व्यवस्थापिका सभा का ही होता है। व्यवस्थापिका के इस महत्त्वपूर्ण अधिकार का यह सिद्धान्त है कि 'बिना प्रतिनिधित्व के कर' (No Taxation without representation) नहीं लगाया जा सकता। व्यवस्थापिका के कार्यों में जनता द्वारा निर्वाचित व्यक्ति ही भाग लेते हैं। जनता का प्रतिनिधित्व

करने के कारण शासन की नीति निर्धारण का कार्य संविधान द्वारा व्यवस्थापिका को सौंपा जाता है। अधिकतर संविधानों में इस बात का उपबन्ध (Provision) होता है कि व्यवस्थापिका के निम्न सदन (Lower House) में ही धन सम्बन्धी विधेयक पेश किए जाएँ क्योंकि निम्न सदन ही जनता का प्रतिनिधित्व करता है। कभी-कभी संविधान द्वारा या तो संवैधानिक प्रथाओं द्वारा (Constitutional Conventions) अथवा नागरीय अधिनियम द्वारा उच्च सदन (Upper House) को धन सम्बन्धी विधेयक पर केवल अनुमति देने का अधिकार दिया जाता है। वह उन विधेयकों को किसी प्रकार अस्वीकृत नहीं कर सकते।

ब्रिटिश संसद तथा भारतीय संसद की वित्तीय कार्यवाहियाँ एक दूसरे से बहुत कुछ समान हैं, क्योंकि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत में इंग्लैण्ड की भाँति संसदीय प्रजातन्त्र को अपनाया गया है। इस सम्बन्ध में सर थॉमस एर्सकीन मे (Sir Thomas Erskine May) ने लिखा है कि "सम्राट जो कि प्रधान उत्तरदायी मन्त्रियों की परामर्श से कार्य करता है और कार्यपालिका का प्रधान होता है, उस को पूरी आय-व्यय तथा लोक सेवा के लिए किए जाने वाले सब भुगतानों के प्रबन्ध का उत्तरदायित्व सौंप दिया जाता है। सम्राट् धन की माँग करता है, लोकसभा (House of Commons) उसकी स्वीकृति देती है और लार्डसभा (House of Lords) उस स्वीकृति पर अपनी सहमति देती है।'

इसी प्रकार भारत में भी यह स्थिति है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 112 के अन्तर्गत राष्ट्रपति लोकसभा (Lok Sabha) में वित्तीय वर्ष के लिए भारत सरकार के व्यय तथा अनुमानित आय का एक विवरण प्रस्तुत करता है। इसे 'वार्षिक वित्तीय विवरण' कहते हैं। इसमें भारत की संचित निधि पर व्यय भार वाली धनराशियों तथा अन्य व्ययों के हेतु आवश्यक धनराशियों का उल्लेख होता है। संचित निधि पर व्यय भार मतदान से परे होते हैं किन्तु अन्य व्ययों पर मतदान होता है। मतदान वाले अनुमानों (Estimates) को लोकसभा में प्रस्तुत किया जाता है। लोकसभा को अनुदान की अनुमति और उन्हें अस्वीकार या कम करने का अधिकार है। परन्तु संसदीय व्यवस्था में सरकार उसी राजनैतिक दल की बनती है जिसका लोकसभा में बहुमत होता है। अतः बहुमत के आधार पर व सभी अनुदानों की स्वीकृति प्राप्त हो जाती है। लोकसभा में अनुदानों की अनुमति प्राप्त हो जाने पर उसे राज्यसभा (Coucil of states) अर्थात् द्वितीय सदन के सम्मुख उन माँगों के ब्यौरे को रखा जाता है। राज्यसभा को वित्तीय क्षेत्र में कोई महत्वपूर्ण अधिकार प्राप्त नहीं है। राज्य सभा द्वारा पारित धन विधेयकों (Money Bills) को अधिक से अधिक 14 दिन तक रोक सकती है। राज्य सभा 14 दिन के भीतर किसी धन विधेयक को अपनी सिफारिशों के साथ लोकसभा को लौटा सकती है। लोकसभा को यह अधिकार प्राप्त है कि वह उन सिफारिशों को स्वीकार करे या न करे। यदि लोकसभा उन सिफारिशों को स्वीकार नहीं करती है तो वह विधेयक उन सिफारिशों

के बिना संसद द्वारा पास समझा जायेगा। यदि राज्य सभा धन विधेयक पाने की तिथि से 14 दिन के अन्दर उसे वापिस नहीं करती तो उस अवधि के समाप्त होने पर स्वयमेव विधेयक पारित समझा जायेगा और राष्ट्रपति के पास उसके हस्ताक्षर के लिए भेज दिया जायेगा। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि अनुदानों तथा प्रस्तावों के सम्बन्ध में सभी मांगें कार्यपालिका प्रस्तुत करती है और उनकी स्वीकृति संसद के द्वारा की जाती है। व्यवस्थापिका कार्यपालिका के नेतृत्व में कार्य करती है। अनुदानों (Grants) की सभी मांगें और कर लगाने के सभी प्रस्ताव कार्यपालिका की ओर से रखे जाते हैं और व्यवस्थापिका इन प्रस्तावों एवं मांगों पर अपनी स्वीकृति प्रदान करती है।

अध्यक्षात्मक व्यवस्था (Presidential system) में व्यवस्थापिका का अधिकार इससे कुछ भिन्न होता है। यह ठीक है कि सं० रा० अमेरिका में भी बजट का निर्माण कार्यपालिका के नियन्त्रण में होता है तथा उसी की ओर से उसे प्रस्तुत किया जाता है। पर व्यवस्थापिका को यह अधिकार प्राप्त है कि वह बजट के किसी प्रस्ताव को स्वीकार या अस्वीकार कर दे अथवा उसमें कमी या वृद्धि कर सकती है। यहाँ यह बता देना विद्यार्थियों के लिए लाभप्रद होगा कि संयुक्त राज्य अमेरिका में धन विधेयकों तथा अन्य विधेयकों पर सीनेट (द्वितीय सदन—Upper House) को प्रतिनिधि सदन (निम्न सदन) की अपेक्षा अधिक अधिकार प्रदान किये गये हैं। यद्यपि संविधान में इस बात का उल्लेख किया गया है कि धन विधेयक प्रतिनिधि सदन (House of Representatives) में ही प्रस्तुत किये जा सकेंगे तथापि सीनेट (Senate) को धन विधेयकों पर विस्तृत अधिकार संविधान द्वारा दिये गये हैं। प्रतिनिधि सदन द्वारा पारित किसी भी धन विधेयक पर सीनेट को संशोधन करने का अधिकार प्राप्त है। वह उस विधेयक में सीनेट या अतिरिक्त सम्पूर्ण विधेयक में परिवर्तन कर सकती है। सीनेट द्वारा पारित किया गया धन विधेयक बिना सीनेट की राय के पारित नहीं किया जा सकता। सं० रा० अमेरिका को छोड़कर अन्य देशों में निम्न सदन को ही राजकोष पर नियन्त्रण रखने का अधिकार प्राप्त होता है।

कार्यपालिका (Executive)

वित्तीय प्रशासन तथा नियन्त्रण से सम्बन्धित सरकार का दूसरा मुख्य अभिकरण कार्यपालिका है। प्रजातन्त्रीय व्यवस्था में कार्यपालिका का अपना अलग महत्त्व है, विशेषकर वित्तीय प्रशासन में इसका अपना महत्त्व। व्यय नीति (Policy of Expenditure) का निर्धारण होता है। सरकारी अधिकारियों और कर्मचारियों के वेतन, पेन्शन तथा भविष्य निधि (Provident Fund) आदि से सम्बन्धित सभी प्रश्नों का निपटारा भी कार्यपालिका के द्वारा ही किया जाता है। कार्यपालिका की देखरेख में ही राजकोष में समस्त धन का संग्रह (Collection) तथा वितरण (Distribution) किया जाता है। सामान्य तौर पर कहा जा सकता है कि वित्त

से सम्बन्धित नीति निर्माण के प्रत्येक कार्य को सम्पन्न करने का उत्तरदायित्व एक प्रकार से कार्यपालिका ही है।

राजकोष या वित्त विभाग (The Treasury or Finance Department).—

मुख्य कार्यपालिका (Chief Executive) की ओर से राजकोष अथवा वित्त विभाग राज्य के सम्पूर्ण वित्तीय प्रशासन के लिए उत्तरदायी होता है। यह विभाग देश की वित्तीय व्यवस्थाओं से सम्बन्धित अनेक प्रकार के कार्य सम्पन्न करता है। यह धन के व्यय पर नियन्त्रण लगाता है। यह सरकार के विभिन्न धन व्यय करने वाले विभागों पर नियन्त्रण रखता है और उनमें परस्पर समन्वय स्थापित करता है। बजट का निर्माण इसी विभाग द्वारा किया जाता है। यही विभाग करों (Taxes) के संग्रह के लिए उत्तरदायी होता है। यही कारण है कि वित्तीय प्रशासन का सम्पूर्ण ताना-बाना इसी मंत्रालय के चारों ओर बुना हुआ है। यही कारण है कि प्रशासन में समस्त विभागों में यही विभाग सर्वाधिक महत्त्व का माना जाता है। वित्त मन्त्रालय सरकार के व्यय का नियन्त्रण व पर्यवेक्षण करता है। विद्यार्थियों की सुविधा की दृष्टि से वित्त विभाग के प्रमुख कार्यों का विवरण नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है—

(1) वित्त विभाग देश के वित्तीय प्रशासन के लिए उत्तरदायी होता है।
(2) इस विभाग के द्वारा वित्तीय व्यवस्थाओं से सम्बन्धित कार्यों को सम्पन्न किया जाता है।
(3) वित्त विभाग धन के प्रत्येक व्यय पर अपना नियन्त्रण रखता है।
(4) वित्त विभाग विभिन्न विभागों के बीच समन्वय स्थापित करता है।
(5) वित्त विभाग द्वारा ही विभिन्न प्रकार के करों का संग्रह होता है।
(6) यह सरकार के आय तथा व्यय के पूर्ण अनुमानों का ब्यौरा बनाता है तथा उसको बजट का रूप देता है।
(7) वित्त सम्बन्धित कार्यों का प्रबन्ध वित्त विभाग द्वारा ही किया जाता है।
(8) वित्त विभाग द्वारा ही सरकार के व्यय का पूर्ण नियन्त्रण किया जाता है तथा उसके पर्यवेक्षण का उत्तरदायित्व भी इसी विभाग पर है।

लेखा परीक्षण विभाग (Audit Department) —

लेखा परीक्षण विभाग भी वित्तीय नियन्त्रण का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अभिकरण है। इस विभाग के प्रधान को नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक (Comptroller and Auditor General) कहा जाता है। यह अधिकारी इस बात की जाँच करता है कि प्रशासनिक विभागों द्वारा धन का खर्च व्यवस्थापिका द्वारा प्रदत्त स्वीकृति के अनुसार एवं मितव्ययतापूर्वक किया गया है अथवा नहीं। वित्तीय प्रशासन में लेखा परीक्षण का अत्यधिक महत्त्व है। लेखा परीक्षण का तात्पर्य वित्तीय सौदों की सत्यता, वैधता एवं कार्यकुशलता की जाँच करना है। यह विभागों के हिसाब-किताब देखता है और व्यवस्थापिका को बजट के अनुसार न होने वाले व्ययों

का ब्योरा देता है। भारत में परीक्षण तथा लेखा दोनों कार्य एक ही अधिकारी के हाथ में है, अर्थात् संस्था एक ही है और उसमें दोनों प्रकार के कार्य होते हैं। लेखा परीक्षण यह देखने के लिए किया जाता है कि सार्वजनिक धन का दुरुपयोग तो नहीं किया गया है, धन व्यय करते समय मितव्ययिता बरती गई है या नहीं, स्वीकृत धन से अधिक धन तो खर्च नहीं किया है, धन का गबन या व्यय में अनियमितताएँ तो नहीं बरती गई है।

नियन्त्रक तथा महालेखा परीक्षक अपने प्रतिवेदन (Report) को राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत करता है, जो उस प्रतिवेदन को संसद के दोनों सदनों के सम्मुख रखने के लिए उत्तरदायी होता है। संसद को अधिकार होता है कि वह रिपोर्ट पर टिप्पणी करे तथा वह किसी ऐसे मामले की जाँच के लिए सरकार पर दबाव डाल सकती है जिसमें सर्वाधिक धन का गबन, दुरुपयोग तथा अनियमितता बरती गई है तथा उत्तरदायी व्यक्ति को दण्डित करने का आग्रह कर सकती है।

संसदीय समितियाँ (Parliamentary Committees) —

समयाभाव के कारण संसद केन्द्रीय सरकार के सभी हिसाबों की जटिलता को समझने, उनके विषय में महालेखा परीक्षक की टिप्पणियों पर ध्यान देने तथा नीतियों के क्रियान्वयन के दौरान सरकार द्वारा प्रयुक्त मितव्ययता तथा कार्यकुशलता पर समुचित ध्यान देने में असमर्थ रहती है। अतः संसद ने दो समितियों का निर्माण किया है, जो प्रभावपूर्ण तरीके से धन के खर्च की जाँच पड़ताल कर सकें तथा संसद को आवश्यक कार्यवाही के लिए सुझाव दे सकें। ये समितियाँ हैं—

(1) अनुमान समिति (Estimate Committee)

(2) सार्वजनिक लेखा समिति (Public Accounts Committee)

अनुमान समिति (Estimate Committee) का मुख्य उद्देश्य सरकार के विभागों के व्यय के सम्बन्ध में मितव्ययिता (Economy) आदि के लिए सुझाव देना है और सार्वजनिक लेखा समिति नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक के लेखापरीक्षण के प्रतिवेदन को दृष्टिगत रखते हुए विनियोजन लेखों (Appropriation Accounts) की जाँच करती है और उसमें पाई जाने वाली वित्तीय अनियमितताओं की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित करती है तथा भविष्य में उनकी रोक थाम के लिए सुझाव देती है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त अभिकरण प्रजातान्त्रिक व्यवस्था में वित्तीय क्रियाओं के सम्पादन में मुख्य रूप से भाग लेते हैं। सभी अभिकरणों का उद्देश्य सार्वजनिक खर्चों में ईमानदारी तथा मितव्ययिता लाना है। सरकारी धन जनता का धन है जो टैक्स के रूप में प्राप्त किया जाता है। यह धन सार्वजनिक धन है तथा कर-दाताओं (Tax-Payer) की धरोहर (Trust) है, अतः इसका समुचित उपयोग होना चाहिए। वित्तीय प्रशासन को यह देखना होता है कि जहां एक पैसे से

जाता है, जिसे आधार बनाकर राज्य के सम्पूर्ण वित्तीय मामलों पर प्रभावशाली नियन्त्रण स्थापित किया जाता है।

बजट का अर्थ और परिभाषा (Meaning and Definition of Budget):—

आधुनिक प्रचलित अर्थ में बजट का अभिप्राय सरकार के आय और व्यय के लेखे से है जिसमें दोनों यथासम्भव सन्तुलित होते हैं। समाज के निजी आय और व्यय से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। वैसे निजी संगठन और परिवार भी अपना आय-व्यय का विवरण बनाते हैं जो साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक या वार्षिक हो सकता है। परन्तु 'बजट' का विशिष्ट अर्थ राजकोष बजट ही है जो प्रायः पूरे वर्ष में एक बार ही तैयार किया जाता है तथा व्यवस्थापिका (Legislature) की स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया जाता है।

अनेक देशों की राजकीय भाषाओं में 'बजट' शब्द के कुछ और भी अर्थ निकाले जाते हैं आय-व्यय का अनुमान जो प्रस्ताव के रूप में विधानसभा में प्रस्तुत किया जाता है, यह भी बजट कहलाता है और उसके द्वारा स्वीकृत लेखों को भी 'बजट' ही कहा जाता है। भारत में भी कभी-कभी बजट 'शब्द' का प्रयोग अनुमानित व्यय लेखा के रूप में किया जाता है। कभी कभी विभाग के आय-व्यय के विवरण को भी 'बजट' कहा जाता है। इसके विपरीत इंग्लैंड में 'बजट' प्रायः अनुमानित कर-आय ही होता है। सं० रा० अमेरिका में इसका व्यापक अर्थ प्रस्ताव के स्तर से लेकर कार्यान्वित होने एवं परीक्षित होने तक लिया जाता है।

कुछ विद्वानों ने बजट की परिभाषा दी है। आधुनिक युग में लोक-प्रशासन में 'बजट' शब्द का प्रयोग एक ऐसे प्रलेख (Document) के लिए किया जाता है जिसमें निश्चित समय (प्राय: एक वर्ष) की आय और व्यय का विवरण होता है। कुछ लेखकों ने बजट शब्द को राजस्व तथा विनियोजन अधिनियमों (Revenue and Appropriation Acts) का पर्यायवाची कहा है। बजट की परिभाषा देते हुए विद्वान् लेरॉय Leroy Beaulieu लिखते हैं कि—"बजट एक निश्चित अवधि में होने वाली अनुमानित प्राप्तियों एवं खर्चों का विवरण है; यह एक तुलनात्मक तालिका है जिसमें उगाही जाने वाली आमदनियों तथा किये जाने वाले व्यय की धनराशियाँ दी हुई होती है, इसके भी अतिरिक्त यह आय का संग्रह करने तथा खर्च करने के लिए उपयुक्त अधिकारियों द्वारा दिया गया एक आदेश अथवा अधिकार है।"

[*"A Budget is a statement of the estimated receipts and expenses during a fixed period, it is a comparative table giving the amounts of the receipts to be realised and of the expenses to be incurred; it is further more, an authorisation or a command given by the proper authorities to incur the expenses and to collect the revenue."

—Leroy Beaulieu).

रेनस्टाउर्म (Rene Stourm) ने बजट के सम्बन्ध में बताया है कि "यह एक लेख-पत्र है जिसमें सरकारी आय तथा व्यय की एक प्रारम्भिक अनुमोदित योजना स्पष्ट रूप से दी जाती है।" ("It is a document containing a preliminary approved plan of public revenue and expenditures.") जी. जेज (G. Jeze) ने बजट का अर्थ बताते हुए लिखा है कि "यह सम्पूर्ण सरकारी प्राप्तियों (Receipts) तथा खर्चों का एक पूर्वानुमान (Forecast) तथा अनुमान (Estimate) है और कुछ प्राप्तियों का संग्रह करने तथा कुछ खर्च को करने का एक आदेश है।" ("Budget is a forecast and an estimate of all the public receipts and expenses and for certain expenses and receipts an authorisation to incur them and to collect them") । उपर्युक्त परिभाषाएँ पूर्ण नहीं हैं। इनमें मुख्य दो दोष देखने को मिलते हैं। प्रथम, इनमें यह नहीं कहा गया है बजट में विगत क्रियाओं (Operations), वर्तमान दशाओं तथा साथ ही साथ, भविष्य के प्रस्तावों से सम्बन्धित तथ्यों का उल्लेख होना चाहिए। दूसरा, इन परिभाषाओं में 'बजट और राजस्व व विनियोजन अधिनियमों' के बीच कोई भेद नहीं किया गया है। वास्तव में इन दोनों में भेद है। बजट तो प्रशासन के कार्य का प्रतिनिधित्व करता है और राजस्व व विनियोजन अधिनियम व्यवस्थापिका या विधानमण्डल (Legislature) के कार्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं। बजट में व्यापक रूप से, उन सभी तथ्यों का समावेश होना चाहिए जो कि सरकार के विगत और भावी व्यय तथा राजकोष (Treasury) की आय तथा वित्तीय स्थिति से सम्बन्ध रखते हों।

डब्लू० एफ० विलोबी (W. F. Willoughby) का मत है कि—"बजट सरकार की आय तथा व्यय का केवल एक अनुमान मात्र ही नहीं है बल्कि इससे भी अधिक कुछ है। वह (बजट) एक ही साथ रिपोर्ट, अनुमान तथा प्रस्ताव है या उसे ऐसा होना चाहिए। यह एक ऐसा लेख पत्र (Document) है या होना चाहिए जिसके द्वारा मुख्य कार्यपालिका धन प्राप्त करने वाला और व्यय की स्वीकृति देने वाली सत्ता के सामने इस बात का प्रतिवेदन करती है कि उसने और उसके अधीनस्थ कर्मचारियों ने गत वर्ष प्रशासन का संचालन किस प्रकार किया, लोक-कोषागार की वर्तमान स्थिति क्या है, और इन सूचनाओं के आधार पर वह आगामी वर्ष के लिए अपने कार्यक्रमों की घोषणा करती है और यह बतलाती है कि उस कार्यक्रम के निष्पादन के लिए धन की व्यवस्था किस प्रकार होगी।"

("The Budget is something much more than a mere estimate of revenues and expenditures. It is, or should be atonce a report, an estimate and a proposal It is or should be, the documents through which the chief executive comes before the fund-raising and fund-granting authority and makes full report regarding the manner in which he and his sub-ordinates have administered

affairs during the last completed year, in which he exhibits the present condition of public treasury, and on the basis of such information, sets forth his programme of work for the year to come and the manner in which he proposes that such work should be financed.")

बजट क्या है ? एक प्राधिकारी के अनुसार—"बजट निर्माण साधारणतया उस प्रक्रिया की ओर संकेत करता है जिसके द्वारा एक सरकारी अभिकरण की वित्तीय नीति का निर्माण किया जाता है, विधानीकरण (Enactment) किया जाता है, और उसको कार्यान्वित किया जाता है।" (Budgetting generally denotes that process by which the financial policy of a public agency is formulated, enacted and carried out.") इस प्रकार बजट, वित्तीय कार्यों की एक योजना है। एक अन्य विद्वान ने बजट पद्धति का वर्णन इस प्रकार किया है—"बजट पद्धति एक ऐसी व्यवस्थित रीति है जिसके द्वारा भूत तथा वर्तमान की सूचनाएं एकत्रित की जाती हैं, उसके आधार पर भविष्य के लिए वित्तीय योजना का निर्माण किया जाता है और इसके बाद यह रिपोर्ट दी जाती है कि योजनाएं किस प्रकार कार्यान्वित की गई।" ("Budget system is a systematic method of gathering information from the past and present, of formulating plans for the future on the basis of this and of reporting subsequently how these plans have been carried out.")

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि बजट केवल निश्चित अवधि के लिए आय और व्यय का सन्तुलित विवरण मात्र ही नहीं है। अपितु एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा सरकार की वित्तीय नीति का न केवल निर्माण किया जाता है बल्कि उसे कार्यान्वित भी किया जाता है। वास्तव में बजट उस शीशे के समान है जिसमें किसी राष्ट्र की आर्थिक दशा का सही प्रतिबिम्ब मिलता है। इस सन्दर्भ में डॉ० ह्वाइट (Dr. White) का यह कथन सर्वथा उचित है कि "संक्षेप में, बजट एक सम्पूर्ण तथा विस्तृत वित्तीय योजना एवं कार्यक्रम है जिसमें सरकारी एवं वर्तमान वित्तीय योजनाओं और कार्यक्रमों की तुलना सुविधापूर्वक की जा सकती है।" ("The budget is, in short, a complete and detailed financial plan, and work programme, so arranged as to facilitate comparison with the current fiscal plan and programme.")

बजट का महत्व (Importance of Budget)—

बजट प्रशासकीय व्यवस्था का हृदय या प्राण है। यह समन्वय के एक शक्तिशाली उपकरण के रूप में कार्य करता है। नकारात्मक रूप से यह अपव्यय किफायत को कम करने की एक प्रभावशाली युक्ति है। आधुनिक युग में बजट राष्ट्र के सामाजिक और आर्थिक जीवन में अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका रखता है।

लोक-हितकारी राज्य के सिद्धान्त को अपनाने के परिणामस्वरूप आधुनिक राज्यों के कार्यों में तेजी से वृद्धि हुई है तथा सामाजिक जीवन के लगभग सभी पहलुओं में भी उसका विस्तार हो गया है। आज सरकार एक ऐसे अभिकरण (Agency) के समान है जिसका लक्ष्य ठोस एवं निश्चयात्मक क्रियाओं द्वारा नागरिकों के सामान्य कल्याण में वृद्धि करना है। अतः आधुनिक बजट सरकार की नीति महत्त्वपूर्ण वक्तव्य तथा सरकार के उन कार्यक्रमों के स्पष्टीकरण का एक प्रमुख अस्त्र बन गया है। आधुनिक काल में बजट की कराधान नीति (Taxation Policy) द्वारा ही सरकार वर्गीय विभिन्नताओं (Class Distinction) तथा असमानताओं को दूर करने का प्रयत्न करती है। उसी प्रकार प्रायः बजट की उत्पादन नीति (Production Policy) द्वारा सरकार का लक्ष्य देश में निर्धनता, गरीबी, बेरोजगारी आदि का अन्त करना होता है। यही कारण है कि आज एक सामान्य नागरिक भी इस बात को जानने का इच्छुक है कि बजट में सरकार द्वारा किस प्रकार की योजनाएँ तथा कार्यक्रम रखे गये हैं। संक्षेप में, उपर्युक्त विवरण राष्ट्र के जीवन में बजट का महत्त्व भलीभाँति स्पष्ट कर देता है।

बजट का स्वरूप (Form of the proposed Budget) —

साधारणतया प्रस्तावित बजट के दो भाग होते हैं। यह केवल इसलिए है जिससे कि बजट जो इतना महत्त्वपूर्ण आय-व्यय का विवरण है, सुचारु रूप से बन सके और उसमें सरकार की प्रत्येक वित्त सम्बन्धी नीति का समावेश हो सके।

प्रथम भाग (Part I) —

(1) इसमें सरकार के उन सभी खर्चों का वर्णन होता है जो विभिन्न अभिकरणों और सभी विभागों के प्रशासन और संचालन व परिपालन के लिये आवश्यक समझे जाते हैं।

(2) पूँजीगत प्रयोजनाओं (Capital Projects) पर किये जाने वाले सभी खर्चों का समावेश किया जाता है।

द्वितीय भाग (Part II) —

(1) इसमें सभी आय के स्रोतों (Sources of Income) का पूर्ण विवरण होता है। आय के साधनों में—करारोपण (Taxation) उधार (Borrowing), घाटे की वित्त-व्यवस्था (Deficit Financing) आदि मुख्य हैं।

इस प्रकार बजट का एक भाग व्यय का विवरण देता है तो दूसरा आय के साधनों को बताता है। बजट बनाते समय इस बात का पूरा ध्यान रखा जाना चाहिए कि उसमें कोई ऐसी आय और व्यय की बात तो नहीं छूट गई है जिससे कि बजट के स्वरूप में कोई कमी प्रतीत हो।

बजट के सामाजिक तथा आर्थिक परिणाम (Social and Economic Implications of Budget) —

प्राचीन काल में सरकार के केवल दो ही उद्देश्य थे—प्रथम सरकार को यह

निश्चित करना होता था कि कार्यकुशलता के एक उपयुक्त स्तर पर अपनी आवश्यक क्रियाओं का संचालन करने के लिए उसे जो धन की आवश्यकता है उस धन को कर दाताओं से कैसे प्राप्त करें। दूसरे, सरकार के व्यय में मितव्ययिता इस प्रकार रखी जाये क्योंकि व्यय की अनुमति व्यवस्थापिका से प्राप्त की जाती है, अतः वह यह देखती है कि सरकार धन का समुचित प्रयोग करे।

वर्तमान में सरकार के कार्य क्षेत्र में अत्यधिक वृद्धि हुई है। आज सरकार केवल एक मूक-दर्शक नहीं है अपितु उसका उत्तरदायित्व है कि समाज के समस्त लोगों की उन्नति और विकास हेतु कार्य करे। प्रारम्भ में जब अबन्ध नीति (Laissez Faire) की नीति थी तब व्यक्तियों को अपनी उन्नति और विकास के लिए प्रतियोगिता करनी पड़ती थी। वे जितना धन चाहते उतना कर सकते थे, व्यय कर सकते थे और संचित भी कर सकते थे। लेकिन आधुनिक राज्य लोक-कल्याणकारी राज्य है और उसका यह कर्तव्य हो गया है कि वह सम्पूर्ण देश की प्रगति करे। बजट आर्थिक उन्नति तथा सामाजिक उत्थान का साधन समझा जाने लगा है।

अब सरकार का मुख्य ध्यान-केन्द्र अपने नागरिकों के सामान्य कल्याण और प्रगति की ओर लगा है। बजट सरकार की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण क्रियाओं में से एक है। सरकार बजट के द्वारा सार्वजनिक साधनों के उपयोग की योजना तैयार करती है। बजट सरकार की नीति का एक महत्त्वपूर्ण वक्तव्य है जो राष्ट्र की अर्थव्यवस्था की पूरी कसौटी है। साधारण से साधारण नागरिक भी बजट की रूपरेखा जानना चाहता है और एक कल्याणकारी राज्य का नागरिक होने के नाते अपने राज्य के बजट के सम्बन्ध में पूरी जानकारी रखना चाहता है तथा इसको अपना कर्तव्य समझ कर बजट का पूर्ण अध्ययन करना चाहता है। बजट के द्वारा सरकार की क्रियाओं और विभिन्न कार्यक्रमों की जानकारी हो सकती है साथ ही यह भी पता लग सकता है कि वह कैसे विकास तथा उत्पादन को, आय की मात्रा तथा वितरण को, शक्ति तथा सामग्री की उपलब्धता को प्रभावित करता है। बजट से नागरिक यह जान सकते हैं कि सरकार की अनेक योजनाओं तथा कार्यक्रमों से उन्हें क्या-क्या लाभ हो सकते हैं तथा उन्हें कितना कर देना पड़ेगा। बजट के द्वारा नागरिकों की विभिन्न रुचियों, उद्देश्यों, पूर्वताओं तथा आवश्यकताओं का एक कार्यक्रम के रूप में एकीकरण किया जाता है जिससे कि नागरिक सुख व सुविधा से अपना जीवन व्यतीत कर सकें।

बजट में जब किसी योजना का समावेश किया जाता है तो उसका उद्देश्य यह होता है कि राष्ट्र की बढ़ती हुई असमानता, निर्धनता, बेरोजगारी आदि समस्याओं का समाधान हो। अतः प्रत्येक वर्ष में जब बजट तैयार किया जाता है तो उन वस्तुओं पर कर बढ़ा दिया जाता है जो मात्र कुछ लोगों के द्वारा उपयोग में लाई जाती है अर्थात् विलासिता की वस्तुओं पर कर बढ़ा दिया जाता है और उन वस्तुओं पर कर कम किये जाने का प्रयास किया जाता है जिनका उपयोग आम

नागरिक करता है। आवश्यक वस्तुओं पर कर कम करके तथा योजनाओं का समावेश करके राष्ट्र की अधिकतर जनता को सुख व सुविधा प्रदान करने के लिए ही वित्तीय प्रशासन में बजट का आयोजन किया गया है।

उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बजट-रचना में बड़े कौशल की आवश्यकता होगी। वे लोग इस कार्य को अच्छी तरह से सम्पादित कर सकते हैं जिनको इसका प्रत्यक्ष अनुभव है और जो आर्थिक समस्याओं और मसलों को समझते हैं। इस सन्दर्भ में यह भी आवश्यक है कि राष्ट्र की सम्पूर्ण वित्तीय व्यवस्था का सर्वेक्षण करना पड़ेगा एवं सरकारी तथा गैर-सरकारी सभी प्रकार की निजी आयों को देखना पड़ेगा और सही आँकड़े एकत्रित करने पड़ेंगे, तभी जाकर आय-व्यय ब्यौरे में शुद्धता आ सकती है।

बजट-निर्माण के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त (Important Principles of Budget) —

बजट राष्ट्र की आर्थिक व्यवस्था का दिग्दर्शक व दर्पण होता है। परन्तु कोई भी बजट सही रूप में राष्ट्र का दिग्दर्शन कर सके उसके लिए यह आवश्यक है कि वह कुछ सिद्धान्तों पर आधारित होना चाहिए। लोक-प्रशासन के विद्वानों के अनुसार एक अच्छा बजट निम्नलिखित सिद्धान्तों पर आधारित होना चाहिए।

(1) प्रचार या प्रकाशन (Publicity) —

बजट का निर्माण जनता के लिए किया जाता है और उसमें जनता के सुख और साधन का ध्यान रखा जाता है। बजट का मुख्य स्रोत जनता का धन है जो करों (Taxes) के रूप में इकट्ठा किया जाता है। इसलिए लोक-प्रशासन के कुछ विद्वानों का मत है कि बजट को गुप्त नहीं रखा जाना चाहिए, उसका जनता में प्रचार होना चाहिए। ऐसा होने पर जनता भी नई योजनाओं तथा करों सम्बन्धी अपने विचार व्यक्त कर सकती है।

बजट को कई चरणों (Stages) में से होकर गुजर पड़ता है जैसे कार्यपालिका (Executive) व्यवस्थापिका के समक्ष बजट की सिफारिश प्रस्तुत करती है, व्यवस्थापिका उस पर विचार-विमर्श करती है। उसकी स्वीकृति मिल जाने पर उसका क्रिया-न्वयन प्रारम्भ होता है। जनता को भी इस बहस में सम्मिलित कर लिया जाये तो लाभप्रद रहता। लेकिन यदि जनता को बजट निर्माण के साथ जोड़ दिया जाये तो एक महत्त्वपूर्ण खतरा रहता है। वह खतरा यह है कि सरकार बजट में नये करों का प्रावधान करती है, उसका जनता को विदित होने पर बेईमानी का भय रहता है। फिर भी इस तथ्य को ठुकराया नहीं जाया जा सकता कि बजट का व्यापक प्रचार—रेडियो, समाचार-पत्रों, राजनैतिक दलों, टेलिविजन आदि के द्वारा किया जाना चाहिए तथा जनता को भी अपने विचार इन माध्यमों के द्वारा प्रकट करने चाहिए।

(2) स्पष्टता (Clarity) —

एक अच्छे बजट की यह महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है वह पूर्णतया स्पष्ट होना चाहिए ताकि देश का सामान्य नागरिक भी उसे सरलता व सुगमता से समझ सके।

जिस देश में नागरिक इतने शिक्षित न हों कि वे अपनी वित्तीय व्यवस्था को समझ सकें, वहाँ पर बजट की स्पष्टता का महत्त्व और भी बढ़ जाती है।

(3) व्यापकता (Comprehensiveness):—

बजट व्यापक होना चाहिए अर्थात् उसमें सम्पूर्ण आर्थिक कार्यक्रमों का प्रतिबिम्ब होना चाहिए। उसमें विस्तार से आय के साधनों तथा व्यय का विवरण होना चाहिए। इसमें इस बात का भी पूर्ण विवरण होना चाहिए कि सरकार अपने खर्चों के लिए धन कहाँ से और कैसे प्राप्त करेगी—उधार लेकर, टैक्स लगा कर या कोई अन्य साधन से तथा उसका खर्चा किस प्रकार करेगी। बजट की व्यापकता का यह लाभ होता है कि कोई भी व्यक्ति सरकार के आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति के सम्बन्ध में जानकारी हासिल कर सकता है।

(4) एकता (Unity).—

सभी खर्चों की वित्तीय व्यवस्था के लिए सभी प्राप्तियों (Receipts) को एक सामान्य निधि (Fund) में जमा कर लिया जाना चाहिए। यह सिद्धान्त विशेष उद्देश्यों के खर्चों के लिए राजस्व को निर्दर्शित करने के विरुद्ध है। व्यय लेने या आय एवं व्यय के विशेष एवं सीधे मामले उसका अपवाद माने जा सकते हैं।

(5) नियतकालीनता (Periodicity) —

बजट का निर्माण सदैव एक निश्चित काल (Period) के लिए होना चाहिए। अर्थात् सरकार को विनियोजन एवं खर्च का प्राधिकार (Authority) एक नियत समय (Fixed period) के लिए ही दिया जाना चाहिए। यदि उस समय में बजट के धन का उपयोग नहीं हो पाता है तो उस धन के खर्च करने का प्राधिकार या तो समाप्त हो जाना चाहिए या उसका पुनर्विनियोजन (Re-appropriation) होना चाहिए। साधारणतया बजट की अवधि एक वर्ष की होती है, इसलिए बजट का निश्चित समय पूरा होने से पहले ही सरकार को दूसरे बजट का निर्माण कर देना चाहिए। भारत में बजट अप्रैल से दूसरे वर्ष के 31 मार्च तक के लिए होता है। इसलिए सुविधा के लिए बजट मार्च की समाप्ति के पहले ही स्वीकृत किया जाना चाहिए, जिससे कि नये वित्तीय वर्ष के प्रारम्भ होने से इससे सम्बन्धी क्रियाओं में कोई बाधा उपस्थित न हो। व्यवस्थापिका को यह अधिकार है कि वह वित्तीय वर्ष के प्रारम्भ होने से पूर्व उस वर्ष के बजट को स्वीकार कर दे।

(6) परिशुद्धता (Accuracy):—

परिशुद्धता तथा विश्वसनीयता बजट की आधारशिला है। अतः राष्ट्र की शुद्ध वित्तीय व्यवस्था के लिए बजट अनुमान सही और सत्य होने चाहिए। बजट का निर्माण करते समय बजट के अनुमान, जहाँ तक सम्भव हो, पूर्ण शुद्ध (Accurate) होने चाहिए तथा आय के अनुमानों (Estimates) को जान-बूझ कर कम बताने या उनको छिपाने का प्रयत्न नहीं किया जाना चाहिए। भारत में, अनुमानों को तैयार

करते समय यह प्रवृत्ति पाई जाती है कि राजस्व की प्राप्तियों अर्थात् आय के साधनों (Revenue Receipts) का तो न्यूनाकन (Under-Estimation) किया जाता है, व्यय के अनुमानों को अधिक अकन (Over-Estimation) बताया जाता है। इससे बजट का स्वरूप ही बिगड़ जाता है।

(7) सत्यशीलता (Integrity) —

जिस प्रकार परिशुद्धता बजट के लिए आवश्यक है, उसी प्रकार बजट के लिए सत्यशीलता का होना भी जरूरी है। इसका अर्थ है कि स्वीकृत कार्यक्रमों तथा धन का उपयोग उसी प्रकार होना चाहिए जिस रूप में उन्हें स्वीकृत किया गया है। यदि बजट का क्रियान्वयन ठीक प्रकार से नहीं किया जाता है तो बजट का कोई महत्व ही नहीं रह जाता है।

(8) सन्तुलित बजट (Balanced Budgets) —

बजट का एक और महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि बजट सदैव सन्तुलित होना चाहिए अर्थात् उसमें आय और व्यय के अनुमानों में सन्तुलन होना चाहिए। इसका अर्थ कदापि यह नहीं कि सरकार को कभी घाटे का बजट नहीं बनाना चाहिए। यद्यपि पुरातन अर्थशास्त्री (Arthodox Economists) सदैव अतिरिक्त बजट (Surplus Budget) का ही समर्थन करते आये हैं, परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार कुछ परिस्थितियों में घाटे का बजट (Deficit Budget) न केवल क्षम्य (Tolerable) है अपितु आवश्यक भी।

(9) कार्यपालिका की विवेक शक्ति (Executive Discretion)—

आधुनिक समय में बजट का एक यह भी सिद्धान्त माना जाता है कि कार्यपालिका को बजट के तैयार करने में अपनी विवेक शक्ति का प्रयोग करने की पूरी छूट होनी चाहिए। यह भी सत्य है कि कार्यपालिका विभागों के कार्यों की देख-भाल अच्छी तरह से तब तक नहीं कर सकती जब तक कि धन के विनियोग (Appropriation) पर उसका पूर्ण नियन्त्रण न हो। अत कार्यपालिका को विभागीय विनियोगों में से धन को एक मद (Head) से हटाकर दूसरे मद में स्थानान्तरित करने का अधिकार होना चाहिए। साथ ही संकटकालीन अवस्थाओं का सामना करने के लिए आवश्यक खर्च करने का अधिकार भी मुख्य कार्यपालिका (Chief Executive) को प्राप्त होना चाहिए। इतना ही नहीं, बजट के निर्माण और उसको व्यवस्थापिका में प्रस्तुत करने का अधिकार कार्यपालिका में केन्द्रित होना सदा श्रेयस्कर होता है।

अत यह स्पष्ट है कि यदि बजट के द्वारा उन उद्देश्यों को प्राप्त करना है, जिनके लिए उसका निर्माण किया गया है तो सत्यनिष्ठ एवं कुशल वित्तीय प्रशासन के लिए उक्त सिद्धान्तों का पालन किया जाना चाहिए। इन सिद्धान्तों पर बना बजट निश्चित रूप से सफल और लाभदायक होगा।

बजट के विभिन्न प्रकार
(Various Types of Budget)

साधारणतया विद्वानों ने तीन प्रकार के बजटों का उल्लेख किया है, जो निम्न है—

(1) व्यवस्थापिका प्रणाली का बजट (Legislative Type Budget)—

जब व्यवस्थापिका को कार्यपालिका के अनुरोध पर बजट बनाना पड़ता है तो उस प्रकार से बने बजट को व्यवस्थापिका प्रणाली का बजट कहते हैं। इसमें बजट बनाने के उपरान्त व्यवस्थापिका स्वयं उस पर स्वीकृति प्रदान करती है। इस व्यवस्थापिका का महत्त्व कार्यपालिका की अपेक्षा कहीं अधिक बढ़ जाता है। साधारणतया व्यवस्थापिका के द्वारा बजट तब बनाया जाता है जब कार्यपालिका किसी कारणवश महत्त्वपूर्ण कार्यों में व्यस्त होती है और उसके पास समयाभाव भी होता है। परन्तु यह बात बड़ी सन्देहास्पद लगती है कि व्यवस्थापिका बजट-निर्माण करने में पर्याप्त समर्थ भी होती है अथवा नहीं, क्योंकि कार्यपालिका को ही विभिन्न विभागों की आवश्यकताओं का ज्ञान होता है उसी के आधार पर वे बजट का निर्माण करते हैं। इसके विपरीत व्यवस्थापिका को विभागों की आवश्यकताओं का ज्ञान नहीं होगा और बजट आवश्यकतानुरूप नहीं बन पायेगा। इतनी महत्त्वपूर्ण वित्त-व्यवस्था में यदि कोई दोष रह जाता है, तो सम्पूर्ण राष्ट्र के प्रशासन पर प्रभाव पड़ सकता है।

(2) कार्यपालिका प्रणाली का बजट (Executive Type Budget).—

जैसा कि ऊपर बताया गया है, कार्यपालिका जो कि प्रशासन को संचालित करने का कार्य करती है, अतः उसे अपने प्रत्येक विभाग की आवश्यकताओं का ज्ञान होता है। जब बजट का निर्माण कार्यपालिका के द्वारा किया जाता है तथा जिसका अनुमोदन व्यवस्थापिका के द्वारा किया जाता है तो उस प्रकार के बजट को कार्यपालिका प्रणाली का बजट कहा जाता है। बजट को व्यवस्थापिका से स्वीकृति मिल जाने के बाद उसके क्रियान्वयन का कार्य भी कार्यपालिका को ही करना होता है। आधुनिक युग में कार्यपालिका प्रणाली के ही बजट को पसंद किया जाता है, क्योंकि इसमें समस्त विभागों की आवश्यकतानुसार धनराशि का समावेश किया जाता है। इसके साथ ही कार्यपालिका को भी प्रत्येक विभाग की योजनाओं तथा उनमें व्यय होने वाले धन का पूर्ण ज्ञान होता है।

(3) मंडल अथवा आयोग प्रणाली का बजट (Board or Commission Type Budget):—

जब बजट का निर्माण किसी मंडल अथवा आयोग के द्वारा किया जाता है जिसमें या तो पूर्णतया प्रशासकीय अधिकारी होते है अथवा प्रशासकीय और विधायी अधिकारी संयुक्त रूप से होते है तो इस प्रकार के बजट को मंडल अथवा आयोग प्रणाली का बजट कहते हैं। इस प्रणाली का प्रचलन अमेरिका के कुछ राज्यों में तथा म्युनिसिपल सरकारों में देखने को मिलता है। इस प्रकार के बजट-निर्माण,

के दो उद्देश्य होते हैं। प्रथम तो यह कि बजट बनाने में कार्यपालिका के साथ कुछ महत्त्वपूर्ण तथा विशेष जानकारी रखने वाले स्वतन्त्र प्रशासकीय अधिकारी लगा दिये जाते है जिससे कि एक अच्छे बजट का निर्माण किया जा सके। दूसरा प्रमुख उद्देश्य यह हो सकता है कि वित्तीय नियोजन पर कार्यपालिका का प्रभाव सीमित अथवा कम कर दिया जाये। इस प्रकार कार्यपालिका अपने ऊपर भी किसी और शक्ति का अनुभव कर सके।

उपर्युक्त तीनों प्रकार की प्रणालियों में सबसे अधिक कार्यपालिका प्रणाली का बजट ही आधुनिक समय में प्रचलित है। यह उचित भी है कि विभिन्न व्यय-कारक अभिकरणों की आवश्यकताओं की जाँच कार्यपालिका ही अच्छी प्रकार से कर सकती है, फलत इसे ही आय तथा व्यय के अनुमान (Estimates) तैयार करने चाहिए तथा अपनी वित्तीय योजना व्यवस्थापिका के सामने प्रस्तुत करनी चाहिए। कार्यपालिका का बजट ऐसे अधिकारियों के द्वारा बनाया जाता है जो विशेषज्ञ होते है। आज संसार के सभी देशों में मुख्य कार्यपालिका की सहायता करने के लिए किसी न किसी विशिष्ट अभिकरण की व्यवस्था की जाती है जैसे ब्रिटेन में राजकोष (Treasury), अमेरिका में ब्यूरो ऑफ बजट (Bureau of Budget), तथा भारत में वित्त-विभाग (Finance Department) आदि। यह विभाग कार्यपालिका के उत्तरदायित्व पर बजट तैयार करते हैं।

बजट तथा बजट पद्धति
(Budget and Budget System)

बजट एक प्रलेख अथवा लेखपत्र (Document) होता है, किन्तु बजट-पद्धति एक ऐसी प्रणाली होती है जिसके द्वारा बजट का उपयोग वित्तीय प्रशासन के मुख्य अस्त्र के रूप में किया जाता है। बजट-पद्धति के तीन चरण होते हैं—

(1) बजट के निर्माण के लिए सत्ता का निर्धारण और बजट का निर्माण।

(2) बजट पर विधायी कार्यवाही।

(3) बजट का कार्यान्वयन अर्थात् राजस्व के विनियोजन अधिनियमों (Revenue and Appropriation Acts) के उपबन्धों को क्रियान्वित करना।

बजट पद्धति के कुछ आवश्यक तत्व (Essentials of the Budget System):—

मुख्य कार्यपालिका का यह उत्तरदायित्व होता है कि वह बजट का निर्माण करे। इस कार्य में सहायता के लिए मुख्य कार्यपालिका के पास एक विशिष्ट अभिकरण होता है—जैसे, बजट विभाग अथवा राजकोष। बजट निर्माण के पश्चात् उसे व्यवस्थापिका के समक्ष स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया जाता है। बजट स्पष्ट तथा शुद्धता के साथ तैयार किया जाना चाहिए और इसमें सभी तथ्यों का ब्यौरेवार वर्णन किया जाना चाहिए। बजट ऐसा होना चाहिए जो सरकार की वित्तीय नीति का पूर्ण चित्र प्रस्तुत कर सके; साथ ही इसके ढाँचे की रचना इस प्रकार से की जानी

चाहिए कि जिससे नागरिक तथा करदाता प्रत्येक बात को आसानी से समझ सकें। बजट के सम्बन्ध में जो वाद-विवाद व्यवस्थापिका के द्वारा हो उसे गुप्त नहीं रखा जाना चाहिए अर्थात् उसके सम्बन्ध में देश के नागरिकों के विचारों को भी सम्मिलित करना चाहिए जिससे बजट और स्पष्ट हो सकता है। जब बजट संसद अथवा व्यवस्थापिका में पारित हो जाये तो उसका क्रियान्वयन समुचित रूप से किया जाना चाहिए। साथ ही उसका दृढ़ता के साथ पालन किया जाना चाहिए। किसी भी प्रकार का परिवर्तन किन्हीं विशेष परिस्थितियों के अतिरिक्त नहीं किया जाना चाहिए। यदि बजट में परिवर्तन इच्छानुसार होने लगे तो बजट का महत्त्व तथा उद्देश्य भी समाप्त हो जायेगा।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि बजट का किसी राष्ट्र के लिए बड़ा महत्त्व होता है, अतः उसकी तरफ अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए। बजट के निर्माण के समय केवल मुख्य योजनाओं का संक्षिप्त विवरण ही नहीं दिया जाना चाहिए अपितु यह आवश्यक है कि प्रत्येक विभाग के सम्बन्ध में इतना वर्णन आवश्यक रूप से होना चाहिए कि साधारण नागरिक भी उसे देखकर किसी विभाग अथवा योजना के सम्बन्ध का पूर्ण चित्र अपने मन में बना सके। यदि ऐसा नहीं किया जाता है तो बजट उपहास-मात्र बन कर रह जायेगा।

बजट सम्बन्धी कार्यविधियाँ एवं समस्याएँ (Budgetary Procedures and Problems).—

बजट-पद्धति के आवश्यक तत्त्वों का विवेचन करने के पश्चात् अब हम बजट पद्धति के विभिन्न चरणों का अध्ययन करते हैं जिनमें से बजट को गुजरना होता है—

(1) अनुमान तैयार करना (Preparation of Estimates):— सर्वप्रथम कार्यपालिका अपनी वित्तीय नीति का निर्धारण करती है। तत्पश्चात् उसी के आधार पर अनुमान तैयार किये जाते हैं। बजट-निर्माण का कार्य निम्नतम इकाई से प्रारम्भ होता है। कार्यपालिका के आदेश तथा निर्देश के आधार पर विभिन्न विभाग अपने अपने सम्भावित आय का विवरण तैयार करके सरकार के पास (वित्त विभाग) प्रस्तुत करते हैं। यहाँ पर प्रत्येक विभाग के आय-व्यय के अनुमानों का सूक्ष्म निरीक्षण किया जाता है। तत्पश्चात् प्रस्तावित व्यय को एक लेख पत्र के रूप में एकीकृत कर लिया जाता है जिस पर वित्त विभाग तथा मुख्य कार्यपालिका द्वारा पुन वाद-विवाद किया जा सकता है। साधारणतया देखा जाता है कि अनुमानों को तैयार करने की अवधि में, विभिन्न विभागों के बीच एक प्रतियोगिता सी होती रहती है; क्योंकि प्रत्येक विभाग अपने अनुमानों को अधिक से अधिक स्वीकृत कराना चाहता है। बजट कार्यपालिका को सौंप दिये जाने के पश्चात् इसे विभिन्न विभाग जैसे वित्त विभाग अथवा राजकोष इन विभागों की पूर्णतया जाँच करते हैं और इन

विभिन्न अनुमानों को जो विभागों में अपनी इच्छानुसार तथा आवश्यकतानुसार प्रस्तुत किए हैं, उनके औचित्य की वैधानिक ढंग से जाँच की जाती है।

(2) **बजट पर व्यवस्थापिका की स्वीकृति (Legislative Approval of the Budget)** — जब कार्यपालिका बजट को तैयार कर लेती है तब उसे व्यवस्थापिका के समक्ष स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया जाता है। प्रजातन्त्रीय व्यवस्था में व्यवस्थापिकाएँ विशिष्ट महत्त्व रखती हैं। व्यवस्थापिका की बिना स्वीकृति के एक कौड़ी भी न तो उगाई जा सकती है, न ही खर्च। अतः कार्यपालिका धन की स्वीकृति प्राप्त करने के लिए अपने आय व्यय के लेख को व्यवस्थापिका के सामने स्वीकृति के लिए प्रस्तुत करती है। बिना व्यवस्थापिका की स्वीकृति के बजट मात्र एक विवरण होता है। व्यवस्थापिका में बजट पर विचार दो भागों में होता है। प्रथम, व्यय पक्ष पर (Expenditure side) विचार किया जाता है तथा द्वितीय भाग में आय पक्ष पर विचार किया जाता है। व्यवस्थापिकाएँ चूँकि बजट जैसे तकनीकी कार्य को करने की स्वयं क्षमता एवं योग्यता नहीं रखती हैं, अतः वह अनुमानों की जाँच पड़ताल करने के लिए समितियों का विस्तृत उपयोग करती हैं। व्यवस्थापिका ही एक मात्र वित्त से सम्बन्धित मामलों (चाहे वे धन के उगाने से सम्बन्धित हों या व्यय करने से) पर स्वीकृति देने वाली अन्तिम संस्था है। व्यवस्थापिका में बजट पर विचार विमर्श तथा वाद-विवाद पूर्ण हो जाने पर दो पृथक विधेयक पारित किये जाते हैं— (1) विनियोजन विधेयक (Appropriation Bill) जिसके द्वारा कार्यपालिका को धन खर्च करने का वैधानिक अधिकार या आदेश दिया जाता है। (2) दूसरा राजस्व विधेयक (Revenue Bill) होता है जो करों के लगाने तथा उन्हें उगाने का अधिकार कार्यपालिका को देता है।

व्यवस्थापिका में इन दोनों विधेयकों के पारित हो जाने के बाद मुख्य कार्यपालिका के पास स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया जाता है। कार्यपालिका की स्वीकृति के मिलने के साथ ही बजट का यह चरण अर्थात् व्यवस्थापिका का अनुमोदन पूरा हो जाता है। मुख्य कार्यपालिका की स्वीकृति के साथ ही कार्यपालिका को यह अधिकार प्राप्त हो जाता है कि वह व्यवस्थापिका के द्वारा उल्लेखित रूप में धन का व्यय कर सके।

भारतीय बजट
(Indian Budget)

सबसे पहले मुख्य कार्यपालिका सरकार के मासिक क्रियाकलापों का गम्भीरता पूर्वक अध्ययन करती है और गम्भीर विचार-विमर्श के बाद यह निर्णय करती है कि नये बजट वर्ष में किन क्षेत्रों में सरकार के क्रियाकलापों में विस्तार की आवश्यकता है तथा किन क्षेत्रों में वह उसके क्रियाकलाप को अधिक सीमित या कम कर

सकती है। उदाहरण के लिए, परिस्थितियों को दृष्टि में रखकर यह निर्णय लिया जाता है कि सेना में वृद्धि का नहीं करनी है अथवा कोई मंहगी निर्माण योजना तो शुरू नहीं करनी है। राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखकर सब दोनों की अनिवार्य आवश्यकताओं का सही अनुमान लगाकर व अपनी नीति की घोषणा करती है। बजट प्रक्रिया में तीन प्रकार की विभिन्न क्रियाएँ सम्मिलित होती हैं—

(1) बजट अनुमानों को तैयार करना।

(2) बजट पर व्यवस्थापिका की स्वीकृति।

(3) कार्यपालिका द्वारा बजट का क्रियान्वित किया जाना।

(1) बजट अनुमानों को तैयार करना (Preparation of the Budget):—बजट अनुमानों को तैयार करने का उत्तरदायित्व प्रायः समस्त देशों में कार्यपालिका का माना गया है। कार्यपालिका प्रशासन को सञ्चालित करने का उत्तर दायित्व रखती है। सरकार का यही अंग इस बात का निर्णय कर सकता है कि उसे विभिन्न प्रशासकीय क्रियाओं के लिए अगले वर्ष कितने धन की आवश्यकता है। इस आधार पर कि कार्यपालिका को विभिन्न विभागों से आवश्यकताओं का ज्ञान होता है। अत: यही उनसे सम्बन्धित आय-व्यय के अनुमानों को सर्वश्रेष्ठ तरीके से तैयार कर सकती है। बजट अनुमान तैयार करने का कार्य अगले वित्तीय वर्ष (Financial year) के प्रारम्भ होने से छः मास पूर्व ही शुरू हो जाता है। भारतीय वित्तीय वर्ष 1 अप्रैल से प्रारम्भ होता है, इसलिए जुलाई या अगस्त से ही आय-व्यय के अनुमानों के निर्माण का कार्य प्रारम्भ हो जाता है। बजट का निर्माण विभाग की निम्नतम इकाई से प्रारम्भ होता है। सम्भवतः जुलाई अगस्त में वित्त मन्त्रालय प्रशासकीय मन्त्रालय तथा विभागाध्यक्षों को उनके व्यय की आवश्यकताओं के अनुमान तैयार करने के लिए प्रपत्र (Forms) भेज देता है। विभाग अपने स्थानीय कार्यालय को यह प्रपत्र भेज देते हैं, जिससे कि वह अनुमान तैयार कर उनको वापिस निश्चित समय में भेज दें। अनुमान तैयार करते समय प्रपत्र में मुख्य रूप से तीन बातों का समावेश आवश्यक किया जाता है—(1) गत वर्ष की वास्तविक आय तथा व्यय, (2) चालू वर्ष के स्वीकृत अनुमान, (3) चालू वर्ष के संशोधित अनुमान और आगामी वर्ष के लिए बजट अनुमान। अनुमानों में प्रस्तावित-वृद्धि या कमी के कारण बताने के सम्बन्ध में भी प्रपत्र में एक खाना होता है।

अनुमान प्रपत्र की प्रतिलिपि पृष्ठ 385 पर दी गई है।

स्थानीय कार्यालय के द्वारा प्रस्तुत अनुमानों की जाँच विभागाध्यक्षों के द्वारा की जाती है, तत्पश्चात् प्रशासकीय मन्त्रालय अपने-अपने मंत्रालयों के सभी अनुमानों को एकत्रित करके लगभग नवम्बर के मध्य तक वित्त मन्त्रालय को प्रस्तुत कर देते हैं। इन अनुमानों की एक प्रतिलिपि महालेखापाल (Accountant General) को भी प्रस्तुत की जाती है, जो उनकी जाँच करने के बाद अपनी टिप्पणियों सहित वित्त मन्त्रालय के सम्मुख रखता है।

द्वारा इसके धन विधेयक (Money Bill) होने का प्रमाण-पत्र देता है और उसके पश्चात् इसे राज्यसभा में भेज दिया जाता है। राज्यसभा को इस विधेयक में कोई संशोधन करने या इसे अस्वीकार करने का अधिकार नहीं है। राज्यसभा में तो केवल विचार विमर्श तथा वाद-विवाद ही होता है। राज्यसभा 14 दिन की अवधि के अन्दर अन्दर इस विधेयक को अपनी सिफारिशों सहित लोकसभा को भेज सकती है। लोकसभा उन सिफारिशों को मानने अथवा न मानने को पूर्ण स्वतन्त्र है। राज्यसभा 14 दिन के भीतर इस विधेयक को लोकसभा को वापिस करने के लिए बाध्य है। यदि राज्यसभा चौदह दिन के भीतर विधेयक को वापिस न करे, तो भी लोकसभा का अध्यक्ष इसको बिना भी राष्ट्रपति के पास स्वीकृति के लिए भेज देता है। राष्ट्रपति धन विधेयक को पुनर्विचार के लिए नहीं लौटा सकता उसे हर हालत में उस पर हस्ताक्षर करने होते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि विनियोग विधेयक पर केवल औपचारिकता मात्र है।

लोकसभा में कर सम्बन्धी वित्त विधेयक पारित होना
(Enactment of Finance Bill Relating to Taxes in the Lok Sabha)

लोकसभा में विनियोजन विधेयक (Appropriation Bill) पारित हो जाने के पश्चात् बजट का यह भाग पूर्ण हो जाता है जिसका सम्बन्ध व्यय के साथ होता है। परन्तु व्यय के लिए धन की आवश्यकता होती है अतः उसकी पूर्ति के लिए सरकार को उपायों व साधनों की भी व्यवस्था करनी होती है। अतः व्यय की पूर्ति के लिए विभिन्न प्रकार के करों के लगान की व्यवस्था की जाती है। सरकार के प्रत्येक वित्तीय वर्ष के सभी कर सम्बन्धी प्रस्ताव एक वित्त विधेयक में सम्मिलित कर लिए जाते हैं। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि सभी करों पर प्रतिवर्ष मतदान नहीं लिया जाता और न प्रत्येक वर्ष इस सम्बन्ध में विचार ही किया जाता है। प्रायः कुछ कर स्थायी होते हैं ऐसे करों के कानून के उपबन्धों के अन्तर्गत कार्यपालिका उनकी दरों में समय समय पर परिवर्तन कर सकती है। परन्तु आयकर (Income-Tax), सीमा शुल्क (Customs Duty), आदि करों की दरों का निर्धारण प्रतिवर्ष व्यवस्थापिका या विधान मण्डल (Legislature) द्वारा किया जाता है। वित्त विधेयक पर सामान्य वाद-विवाद का प्रारम्भ वित्त मन्त्री द्वारा रखे गए इस प्रस्ताव से होता है कि विधेयक को विचारार्थ लिया जाना चाहिए। इस प्रस्ताव के आधार पर सरकार की करारोपण नीति (Taxation Policy) पर सामान्य वाद-विवाद किया जाता है। इसके बाद विधेयक सदन के प्रवर समिति को सौंप दिया जाता है। प्रवर समिति (Select-Committee) अपनी आलोचनाओं व प्रस्तावों के साथ विधेयक सदन को लौटाती है। अब सदन में इस विधेयक पर विस्तार से प्रत्येक धारा पर वाद-विवाद होता है। विनियोजन विधेयक के विपरीत इस सदन में संशोधन प्रस्ताव भी रखे जा सकते हैं परन्तु संशोधन प्रस्तावों के सम्बन्ध में याद रखने योग्य बात यह है कि उनके द्वारा या तो करों में कटौती करने अथवा उन्हें अस्वीकार करने का प्रस्ताव

किया जा सकता है अर्थात् उसमें किसी प्रकार की वृद्धि करने अथवा नये कर लगाने का प्रस्ताव सदन के किसी सदस्य को करने का अधिकार नहीं है। विधेयक तथा संशोधनों पर विस्तार से वाद-विवाद हो जाने के पश्चात् वित्त मन्त्री द्वारा यह प्रस्ताव रखा जाता है कि सदन द्वारा प्रस्ताव पारित कर दिया जाये। अन्त में, मतदान होता है और बहुमत द्वारा विधेयक के पारित होने पर लोकसभा का अध्यक्ष, उसके धन विधेयक होने का प्रमाण-पत्र देता है और विधेयक को राज्य सभा अर्थात् द्वितीय सदन को प्रस्तुत कर दिया जाता है।

राज्य सभा को वित्त विधेयक में संशोधन करने अथवा अस्वीकार करने का अधिकार प्राप्त नहीं है। वह विधेयक पर केवल वाद-विवाद कर सकती है और 14 दिन की अवधि के अन्दर-अन्दर अपनी सिफारिशें लोकसभा को भेज सकती है। इन सिफारिशों को लोकसभा स्वीकार अथवा अस्वीकार कर सकती है। राज्यसभा के लिए यह अनिवार्य है कि वह हर हालत में 14 दिन के भीतर विधेयक को वापस कर दे। यदि राज्यसभा 14 दिन में विधेयक वापिस न करे तो प्रत्येक स्थिति में लोकसभा का अध्यक्ष राष्ट्रपति के पास उसकी स्वीकृति के लिए भेज देता है। संविधान की धारा 111 के अनुसार राष्ट्रपति धन विधेयकों को पुनर्विचार के लिए वापस नहीं लौटा सकता। अतः विनियोजन विधेयक पर राष्ट्रपति की स्वीकृति मात्र औपचारिक ही मानी जाती है।

ब्रिटेन में बजट पारित होने की विधि (Budget Procedure in Britain) —

सैद्धान्तिक रूप से, ब्रिटेन में भी वार्षिक बजट प्रायः भारत की तरह ही किया जाता है लेकिन दोनों ही देशों की बजट निर्माण सम्बन्धी कुछ बातों में अन्तर है जो मुख्य है—

(1) ब्रिटेन में भारत की भाँति दो बजट न होकर केवल एक बजट ही होता है।

(2) इंग्लैंड में अनुदानों पर विचार करते समय वहाँ का निम्न सदन अर्थात् कॉमन सभा (House of Commons) सम्पूर्ण सदन की समिति (Committee of the Whole House) में परिवर्तित हो जाती है तथा सदन व्यय (Expenditure) के सम्बन्ध में विचार करते समय पूर्ति समिति (Committee of Supply) तथा आय के सम्बन्ध में विचार करते समय उपाय तथा साधन समिति (Committee of Ways & Means) के अलग अलग रूप धारण करती है।

(3) ब्रिटेन में वित्त मन्त्री अपना भाषण बजट को संसद में प्रस्तुत करते समय नहीं देता अपितु बाद में उस समय देता है जबकि सदन द्वारा उपाय और साधन समिति के रूप में कर सम्बन्धी प्रस्तावों पर विचार किया जाता है।

उपर्युक्त विभिन्नताओं के अतिरिक्त बजट के निर्माण तथा उसके पारित करने की विधि दोनों देशों में समान है।

संयुक्त राज्य अमेरिका में बजट पारित करने की विधि
(Budget Procedure in U.S A)

संयुक्त राज्य अमेरिका में बजट पारित करने की प्रक्रिया ब्रिटेन तथा भारत से भिन्न है। भारत तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के शासन व्यवस्थाओं में भेद के परिणामस्वरूप बजट निर्माण की व्यवस्था में भी भेद है। भारत संसदीय व्यवस्था वाला राज्य है जहाँ कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। इस व्यवस्था में कार्यपालिका व्यवस्थापिका की सदस्य होती है और बहुमत में होने के परिणामस्वरूप अपने सभी प्रकार के विधेयक सदन से पारित करवा लेती है। अमान्य होने पर कार्यपालिका को त्याग-पत्र देना पड़ता है। इसके विपरीत स० रा० अमेरिका अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था वाला राज्य है जहाँ पर सरकार के तीनों अंग (कार्यपालिका व्यवस्थापिका, तथा न्यायपालिका) अलग-अलग और स्वतन्त्र रह करके कार्य करते है। साथ ही कार्यपालिका व्यवस्थापिका के विश्वास तक ही अपने पद पर नहीं बनी रहती। ऐसी स्थिति में संयुक्त राज्य अमेरिका में कार्यपालिका द्वारा प्रस्तुत बजट में हेर-फेर करने का अधिकार वहाँ की कांग्रेस (Congress) विशेषतौर से उसके द्वितीय सदन सिनेट को प्राप्त है। यहाँ हम संयुक्त राज्य अमेरिका में बजट निर्माण की प्रक्रिया को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं।

संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रपति का यह कर्तव्य है कि वह प्रत्येक नियमित सत्र (Session) के प्रारम्भ में निम्नलिखित सूचनाएँ भेजे —

(1) सरकार की सहायता के लिए आगामी वित्तीय वर्ष के लिए आवश्यक व्यय का अनुमान।

(2) प्रचलित राजस्व विधियों तथा ऐसे राजस्व प्रस्तावों के अन्तर्गत, जिन्हें कि वह प्रस्तावित करे आगामी वित्तीय वर्ष के हेतु सरकार के लिए प्राप्तियों के अनुमान।

(3) विगत वित्तीय वर्ष की अवधि की सरकार की प्राप्तियाँ तथा व्ययों की एक सूची।

(4) चालू वित्तीय वर्ष की अवधि के लिए सरकार की प्राप्तियाँ तथा व्ययों के अनुमान।

(5) संयुक्त राज्य अमेरिका की ऋणग्रस्तता (Indebtedness), से सम्बन्धित तथ्य।

(6) अन्य वित्तीय विवरण-पत्र जो सरकार की वित्तीय स्थिति के सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान कराने में सहायक हो।

स० रा० अमेरिका में वित्तीय वर्ष 1 जुलाई से 30 जून तक का होता है। ग्रीष्मकाल में बजट विभाग अपने बजट ब्यूरो के विभिन्न व्यय कारक अभिकरणों से यह प्रार्थना करता है कि वे वर्ष भर के लिए आवश्यक विनियोजन (Appropriation) के अपने अपने अनुमान प्रस्तुत करें। ब्यूरो को लगभग सितम्बर के मध्य में ये

विभागीय अनुमान प्राप्त हो जाते हैं। विभिन्न विभागों द्वारा इस प्रकार एकत्रित किए गए अनुमानों की सूचनाओं का ब्यूरो के बजट परीक्षकों द्वारा, आलोचनात्मक अध्ययन तथा सूक्ष्म परीक्षण किया जाता है। ब्यूरो द्वारा अनुमानों के अध्ययन का यह कार्य कई माह तक चलता रहता है। इसके बाद राष्ट्रपति तथा विभागीय अध्यक्षों, निर्देशकों के बीच विचार-विमर्श होता है जिसमें भी कई माह लग जाते हैं विभागों, ब्यूरो तथा राष्ट्रपति द्वारा अनुमानों का पूर्ण पर्यालोचन होने के पश्चात् राष्ट्रपति दिसम्बर के अन्त में अथवा जनवरी के प्रथम माह में उसे कांग्रेस के सम्मुख प्रस्तुत करता है। इस प्रकार अमेरिका में राष्ट्रपति अपनी वित्तीय नीति का निर्धारण करता है और बजट विभाग या बजट ब्यूरो की सहायता से व्यय के अनुमानों को अनुमोदन करवाने हेतु कांग्रेस को प्रस्तुत करता है।

राष्ट्रपति के द्वारा बजट सर्वप्रथम कांग्रेस के प्रथम सदन प्रतिनिधि सभा को भेजा जाता है जो तुरन्त ही अपनी विनियोजन समिति (Committee on Appropriations) को सुपुर्द कर देती है। यह समिति सरकार की अनेक क्रियाओं के विनियोजनाओं के लिए व्यय को अनेक उपसमितियों में बाँट देती है। समितियाँ गवाही के लिए विभिन्न सम्बन्धित विभागों के अध्यक्ष तथा अधिकारियों को बुला सकती हैं। विभिन्न उपसमितियाँ अनुमानों में परिवर्तन भी कर सकती हैं। ये उपसमितियाँ विनियोजन विधेयकों के रूप में निम्न सदन के सामने अपने-अपने प्रतिवेदन रखती हैं। निम्न सदन अर्थात् प्रतिनिधि सभा इन विधेयकों पर वाद-विवाद करती है। तथा अनुमानों के कोई भी परिवर्तन कर सकती है। प्रतिनिधि सभा जब इन अनुमानों को अनुमोदित कर देती है तब उन्हें कांग्रेस के द्वितीय सदन सिनेट में भेजा जाता है विनियोजन समितियों के भेजा जाता है जिन्हें अनुमानों में परिवर्तन करने का अथवा कम करने का अधिकार होता है। सम्भवतः सं० रा० अमेरिका की सिनेट एकमात्र उच्च सदन है जिसे वित्त विधेयकों पर असाधारण अधिकार प्राप्त है। सीनेट वित्त विधेयक को के शीर्षक छोड़कर बाकी सम्पूर्ण परिवर्तन कर सकती है। विनियोजन समितियाँ अपना प्रतिवेदन सिनेट को प्रस्तुत करती हैं। सिनेट को यह अधिकार प्राप्त है कि वह उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन कर सके। सिनेट में विनियोजन विधेयक पारित हो जाने पर उसे राष्ट्रपति के पास हस्ताक्षर के लिए भेज दिया जाता है जो उस पर अपने हस्ताक्षर कर स्वीकृति प्रदान करता है। यदि दोनों सदनों में अनुमानों के अनुमोदन के सम्बन्ध में कोई मतभेद उत्पन्न हो जाए तो समझौता कराने के लिए एक "सम्मेलन समिति" (Conference Committee) की आवश्यकता होती है।

"Pork-Barrel", and "Log Rolling"

संयुक्त राज्य अमेरिका की कांग्रेस जब वित्तीय मामलों पर विचार करती है तो उसे बाहरी दबावों के अन्तर्गत कार्य करना पड़ता है जो कि "Pork-Barrel," and "Log Rolling" के नाम से प्रसिद्ध हैं। वहाँ पर संघीय राजकोष के धन को "सुअर के मांस का रस पीपा" (Barrel of Cork) कहा जाता था और कांग्रेस

का प्रत्येक सदस्य अपने निर्वाचन क्षेत्र के लिए उससे अधिक से अधिक भाग प्राप्त करने की कोशिश करता था कि जिससे वह अपने चुनाव क्षेत्र को अधिक से अधिक सुविधाएँ प्रदान कर सके। चूँकि कांग्रेस का प्रत्येक सदस्य अपने क्षेत्र के लिए अधिकतम धन प्राप्त करना चाहता था अतः वे परस्पर सहयोग करते थे तथा एक दूसरे का समर्थन करते थे। इस पारस्परिक समर्थन को "लट्ठा लुढ़काना (Log Rolling) कहा जाता था। अतः इसके द्वारा तैयार किए गए अनुमान भी" लूट के धन की तरह हो गए।

राजस्व के उपाय (Revenue Measures)—

खर्च के लिए धन की अनुमति देने के पश्चात् कांग्रेस राजस्व के सम्बन्ध में विधि (Law) का निर्माण करती है। *स० रा० अमेरिका में कांग्रेस वर्ष भर के लिए* राजस्व के उपायों से सम्बन्धित विधि का उपाय नहीं करती, अपितु लगभग प्रत्येक अधिवेशन में राजस्व विधियों में संशोधन भी करती है। प्रतिनिधि सभा में उपाय और साधन समिति (Committee of Ways & Means) तथा सिनेट की वित्त समिति (Finance Committee), पर सभी राजस्व विधेयकों को तैयार करने का कार्यभार होता है। उपाय और साधन समिति प्रायः बैठकों का आयोजन करती है, वाद-विवाद करती है, राष्ट्रपति राजकोष के सचिव तथा सिनेट की वित्त समिति से भी राजस्व के मामलों के सम्बन्ध में सुझाव प्राप्त करती है तत्पश्चात इसी समिति का अध्यक्ष सदन के सम्मुख राजस्व विधेयक प्रस्तुत करता है। सदन में विधेयक पर वाद-विवाद होता है, उसमें संशोधन किया जाता है और तत्पश्चात उसे स्वीकार कर दिया जाता है। प्रतिनिधि सभा में पास हो जाने पर राजस्व विधेयक को सिनेट के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है, जहाँ पहले उसे सिनेट की वित्त समिति को दिया जाता है। वित्त समिति अपने प्रतिवेदन को सिनेट के सम्मुख रखती है। सिनेट को यह अधिकार प्राप्त है कि वह उसमें परिवर्तन कर सकती है। यदि दोनों सदनों में कोई *मतभेद हो जाता है तो उसे सम्मेलन समिति (Conference Committee) के द्वारा* दूर किया जाता है अन्त में दोनों सदनों से राजस्व विधेयक पारित हो जाने पर राष्ट्रपति के पास हस्ताक्षर के लिए भी भेज दिया जाता है जो बिना किसी हेर-फेर के उस पर हस्ताक्षर कर अपनी स्वीकृति प्रदान करता है।

3 भारत में बजट की क्रियान्विति
(Execution of Budget in India)

बजट प्रक्रिया में तीसरी और अन्तिम क्रिया बजट की क्रियान्विति सम्बन्धी आती है बजट की क्रियान्विति में मुख्यतया दो सिद्धान्तों का ज्ञान रखना आवश्यक है—

(1) *प्रथम तो यह है कि कार्यपालिका द्वारा उसको उसी प्रकार व्यय किया* जाए जिस प्रकार संसद में उसको स्वीकृति प्रदान की है, तथा

(2) कार्यपालिका द्वारा धन का व्यय ईमानदारी व मितव्ययता के साथ होना चाहिए।

व्यवस्थापिका के सामने यह अधिकार है कि वह यह देखे कि कार्यपालिका स्वीकृत धनराशि का दुरुपयोग तो नहीं कर रहा है। उसकी स्वीकृति के बिना कोई भी धन खर्च नहीं किया जा सकता।

सामान्य रूप से बजट की क्रियान्विति में निम्न तीन प्रकार की क्रियाएँ आती हैं—

(1) धन का संग्रह (Collection of Revenue),

(2) संग्रह किए हुए धन की समुचित रक्षा (Proper Custody of Collected Revenue), और

(3) धन का संवितरण (Disbursement)।

इन तीनों क्रियाओं का संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जा रहा है

(1) धन का संग्रह (Collection of Revenue)—

बजट की क्रियान्विति की दशा में धन का संग्रह करना सर्वप्रथम कदम है। व्यवस्थापिका द्वारा कर लगाए जाते हैं तथा कार्यपालिका उन करों का प्रबन्ध करने के लिए उपयुक्त यन्त्र तथा कार्यविधि के नियमों की व्यवस्था करती है। इस कार्य में भी दो प्रकार की क्रियाएं सम्मिलित हैं—(i) करों का निर्धारण (Assessment), और (ii) वास्तविक संग्रह (Actual Collection)। करों के निर्धारण का अर्थ है इस बात का निर्णय करना कि कौन व्यक्ति कितना कर अदा करेगा। इस कार्य के सम्पूर्ण होने पर ही कर संग्रह का वास्तविक कार्य सम्पन्न हो सकता है। यद्यपि यह कार्य भी मतभेद का है कि क्या दोनों कार्य एक ही अभिकरण में निहित होने चाहिए या अलग अलग अभिकरणों में। भारत में इस सम्बन्ध में व्यवस्था यह है कि दोनों कार्य एक ही अभिकरण में केन्द्रित किए गये हैं तथा इनके सम्पादन के लिए इस अभिकरण को उपविभागों में विभाजित कर दिया जाता है।

भारत में यह कार्य केन्द्र व राज्यों में राजस्व विभाग करता है जो प्रायः वित्त अथवा राजस्व मंत्री के अधीन होता है। मन्त्री के नीचे सामान्य रूप से एक केन्द्रीय राजस्व मण्डल (Central Board of Revenue) होता है जो कर संग्रह के कार्य पर निगरानी रखता है। भारत में, केन्द्रीय सरकार में अब तक एक राजस्व मण्डल था लेकिन अब उसका विभाजन कर दो राजस्व मण्डल बना दिए गये हैं—एक प्रत्यक्ष करों के लिए, दूसरा अप्रत्यक्ष करों के लिए। राजस्व मण्डल की देखरेख में ही कर संग्रह करने वाले प्रशासकीय अधिकारी अपना कार्य करते हैं।

राज्य सरकारों में कर संग्रह का कार्य राजस्व विभाग में निहित है जिसके अन्तर्गत भू राजस्व (Land Revenue), उत्पादन, बिक्रीकर, कृषि आयकर, आदि के विभाग व उनके कर संग्रहकर्ता अधिकारी होते हैं। राज्यों में भू राजस्व का कर बड़ा महत्वपूर्ण होता है जिसकी वसूली जिला स्तर पर जिलाधीश की देखरेख में की जाती है तथा राज्य स्तर पर राजस्व मण्डल उसकी निगरानी रखता है।

(2) संग्रह किए हुए धन की समुचित रक्षा (Proper custody of Collected Revenue)—

करो के संग्रह के उपरान्त बजट की क्रियान्विति म दूसरा महत्वपूर्ण कार्य निधि (Fund) की अभिरक्षा है। इस कार्य मे दो बातो का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है—एक तो यह कि निधि की अभिरक्षा म गबन तथा धन का दुर्योजन (Mis appropriation) आदि नही होना चाहिए। और दूसरी यह है कि धन के लेनदेन का कार्य शीघ्रता से होना चाहिए जिससे किसी को असुविधा अनुभव न हो। भारत मे इस कार्य के सम्पादन हेतु प्रत्येक जिले मे एक राजकोष (District Treasury) की व्यवस्था की गई है। प्रत्येक जिला राजकोष के अधीन एक या एक स अधिक उप-राजकोष (Sub-Treasury) होते है, जो जिले की प्रत्येक तहसील म स्थित होते है। इन राजकोषो एवम् उपराजकोषो मे सघ एव राज्य दोनो की सरकारो के सौदे अथवा लेनदेन के सम्बन्ध मे प्रतिदिन की प्राप्तियाँ (Reciepts) तथा उनके सवितरण (Disbursement) का कार्य किया जाता है तथा दोनो ही सरकारो के खाते अलग-अलग रखे जाते हैं। उप-राजकोष राजकोषो के समक्ष दैनिक लेखा (Daily Accounts) प्रस्तुत करते है, जहाँ उन्हे वर्गीकृत तथा सूचीबद्ध करके राजकोष के लेखो सहित माह मे दो बार राज्य के महालेखापाल (Accountant General) को प्रेषित कर दिए जाते है। इस प्रकार ये राजकोष और उप-राजकोष भारत जैसे विशाल देश जैसे वित्तीय-प्रशासन की महत्वपूर्ण इकाइयाँ कहे जा सकती है। अभी तक इनमे प्रतिदिन बडे पैमाने पर रुपयो की वास्तविक लेनदेन हुआ करती थी परन्तु धीरे-धीरे बैंको का विकास और विस्तार होने के कारण अब रुपयो की वास्तविक लेनदेन का अधिकाश कार्य बैंकों मे होता है। आजकल जब किसी व्यक्ति को सरकार मे कर के रकम की अदायगी करनी होती है तब वह पहले राजकोष से चालान फार्म लेकर बैंक मे रकम जमा कराता है। इसी प्रकार सरकार से भुगतान लेते समय भी हमे राजकोष से अपने नाम का बिल या चैक लेना पडता है तब बैंक द्वारा भुगतान किया जाता है।

(3) सवितरण (Disbursement) —

बजट की क्रियान्विति मे अन्तिम कार्य सग्रहित धन के वितरण सम्बन्धी है। व्यय के नियत्रण का प्रारम्भिक उत्तरदायित्व उन अनेक विभागीय नियत्रणकारी सत्ताओ का होता है जिनके अधिकार मे अनुदान और विनियोजन रखे जाते है। धन के सवितरण की सामान्य प्रक्रिया यह है कि विपत्र अथवा बिल केवल सवितरण अधिकारियो (Disbursing-Officers) द्वारा ही लिखे जा सकते है जो कि अदायगियो की शुद्धता के लिए मुख्यत उत्तरदायी होते हैं। साथ ही नियत्रण अधिकारियो (Controlling-Officers) द्वारा भी प्रति हस्ताक्षर किये जाते है जिन्हे भी गलत भुगतान के लिए उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। वितरण के सम्बन्ध मे राजकोष अधिकारियो (Treasury-Officers) का यह कार्य है कि वे विपत्रो की अदायगी

का अधिकृत करने से पूर्व योगों (Totals) की गणितीय शुद्धता की जाँच करे। उसे सवितरण अधिकारियों के हस्ताक्षरों को प्रमाणित करना होता है और आवश्यकता होने पर यह भी देखे कि महालेखापाल से इस सम्बन्ध में अधिकार प्राप्त हैं अथवा नहीं। इस प्रकार धन की अदायगियाँ उस समय तक नहीं की जा सकती जब तक कि इसके लिए किसी को उत्तरदायी न बना दिया जाय। भुगतान का उत्तरदायित्व तीन व्यक्तियों पर होता है—(i) सवितरण अधिकारी, (ii) नियन्त्रण अधिकारी, तथा (iii) राजकोष अधिकारी।

उपर्युक्त विवरण से बजट का निर्माण तथा उसकी क्रियान्विति का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है।

भारत में वित्तीय प्रशासन में नवीन सुधार

(Recent Reforms in Financial Administration)

सन 1920 से पूर्व से ब्रिटिश राजकोष की तरह, वित्त मन्त्रालय बजट तथा व्यय पर कड़ा नियन्त्रण रखता था, परिणाम यह होता था कि प्रायोजनाओं के क्रियान्वयन में देरी होती थी। कभी कभी तो धनराशियों का निर्धारित समय में उपयोग भी नहीं हो पाता था। प्रशासनिक सुधार आयोग (Administrative Reform Commission) ने "वित्त, लेखे तथा लेखा परीक्षण से सम्बन्धित अपनी रिपोर्ट" (जनवरी 1968) में इस समस्या की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित किया और कहा कि—

'सरकारी व्यय पर वित्त मन्त्रालय का नियन्त्रण मुख्यतः तीन चरणों में सम्पन्न होता है—(1) कार्यक्रमों अथवा नीतियों का सिद्धान्त रूप में अनुमोदन, (2) बजट अनुमानों में उपबन्ध की स्वीकृति, और (3) प्रशासकीय मन्त्रालयों को हस्तान्तरित शक्तियों के अधीन रहते हुए व्यय करने की पूर्वानुमति प्रदान करना, इनमें प्रथम एवं तृतीय चरणों का नियन्त्रण ही ऐसा है जिसमें वित्त मन्त्रालय का काफी समय लग जाता है और जो कि उसे प्रशासकीय मन्त्रालयों के दिन प्रतिदिन के कामों में उलझाये रखता है। इन चरणों में किया जाने वाला नियन्त्रण यदि अत्यधिक कड़ा और व्यापक होता है तो उसमें काफी समय और शक्ति लग जाती है तथा यह भी सम्भव है कि उनके कार्य की गति मन्द पड़ जाये और प्रायोजनाओं—विशेष रूप से विकास, वाणिज्यिक तथा औद्योगिक प्रायोजनाओं के क्रियान्वयन में देरी हो और उसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय प्रयत्नों एवं राष्ट्रीय आय को क्षति पहुँचे। इस बात से कोई इन्कार नहीं करता कि नियन्त्रण तथा सूक्ष्म परीक्षण की आवश्यकता है, परन्तु यह नियन्त्रण ठोस, रचनात्मक, उद्देश्यपूर्ण तथा विचारपूर्ण होना चाहिए। नियन्त्रण का दृष्टिकोण संकुचित नहीं होना चाहिए और न ही वह प्रभाव की दृष्टि से हीन होना चाहिए।" इस स्थिति में सुधार लाने के लिए कुछ कदम उठाए गए हैं।

Budget Estimates for the Year 19 ...

Minor head and Sub-heads of Appropriations.	Actuals for the last year	Budget Estimates as sanctioned for the current year	Revised Estimates for the current year		Budget Estimates for the next year		Explanation of increase [illegible] decrease
			Disbursing officer	Head of the Department	Disbursing officer	Head of the Department	
.							

अनुमानों की वित्त मंत्रालय द्वारा छानबीन (Scrutiny & Review by the Finance Ministry) —वित्त मंत्रालय में विभिन्न प्रशासकीय मंत्रालयों द्वारा प्रस्तुत अनुमानों का सूक्ष्म परीक्षण किया जाता है। परीक्षण के समय वित्त मंत्रालय महालेखापाल की टिप्पणियों को ध्यान में रखता है। वित्त मंत्रालय प्रशासकीय विभागों के बजट अनुमानों को मोटे रूप में तीन भागों में बाँट देता है—(1) स्थायी प्रभार अथवा व्यय (Permanent Establishment), (2) प्रचलित योजनाएँ अथवा कार्यक्रम (Current Plans) और (3) नवीन योजनाएँ अथवा कार्यक्रम (New Plans)।

(1) स्थायी प्रभार अथवा व्यय (Permanent Establishment) —

इसमें स्थायी कार्यालयों के वेतन-भत्ते (Pay & Allowances), कार्यालय के प्रासंगिक व्यय (Office Contingencies) सम्मिलित होते हैं। इस प्रकार के व्यय से सम्बन्धित विभागीय अनुमान प्रशासकीय मंत्रालयों के द्वारा छानबीन के लिए, सीधे वित्त मंत्रालय के आर्थिक मामलों के विभाग (Department of Economic Affairs) के बजट सम्भाग (Budget Division) को भेजे जाते हैं।

(2) प्रचलित योजनाएँ अथवा कार्यक्रम (Current Plans) —

प्रशासकीय मंत्रालयों द्वारा तैयार की गई योजनाओं तथा कार्यक्रमों का सूक्ष्म परीक्षण वित्त मंत्रालय के व्यय विभाग (Department of Expenditure) द्वारा किया जाता है।

(3) नवीन योजनाएँ अथवा कार्यक्रम (New Plans).—

प्रशासकीय मन्त्रालय जिन नवीन योजनाओं और कार्यक्रमों को आगामी वर्ष के लिए प्रस्तावित करते हैं उनके अनुमानों का वास्तविक परीक्षण नयी योजनाओं के प्रस्तावित व्ययों के सम्बन्ध में होता है। बजट में आवश्यक व्यवस्था करने से पूर्व, व्यय की नई मदों की जाँच विभिन्न प्रशासकीय मन्त्रालयों से सम्बन्धित वित्तीय सलाहकारों द्वारा की जाती है। पूँजीगत व्यय (Capital Expenditure) के अनुमानों की जाँच भी वित्तीय सलाहकारों के द्वारा की जाती है और फिर इन अनुमानों पर योजना आयोग (Planning Commission) के परामर्श से आर्थिक मामलों के विभाग द्वारा विचार किया जाता है। वित्तीय साधनों की उपलब्धता के आधार पर तथा बजट में सम्मिलित करने के लिए प्रतियोगी माँगों की प्रत्येक मद की प्राथमिकता (Priority) के सम्बन्ध में किया जाता है। वित्त मन्त्रालय द्वारा बजट में नये मदों की पूर्ण जाँच की जाती है। नई योजनाओं पर व्यय के सम्बन्ध में वित्त मन्त्रालय द्वारा जिस प्रकार के प्रश्न पूछे जाते हैं वे ये हैं—नये व्यय की क्या आवश्यकता है? पिछले वर्षों में कार्य किस प्रकार चल रहा था? इस नये व्यय से भिन्न-भिन्न लाभों की आशा की जा सकती है? धन कहाँ से आयेगा? कहाँ से कटौती की जायेगी कि इसके लिए धन उपलब्ध हो सके? क्या यह सम्भव नहीं है कि आगे चलकर इसकी आवश्यकता ही न रह जाये? आदि।

वित्त मन्त्रालय द्वारा अनुमानों के नियन्त्रण की आलोचना —

पूर्व बजट सूक्ष्म परीक्षण की आलोचना करते हुए यह कहा जाता है कि भारी व्यय से सम्बन्धित योजनाओं के लिए सूक्ष्म परीक्षण अपूर्ण समझा जाता है, क्योंकि योजना की वास्तविक आवश्यकताओं के स्पष्ट ज्ञान के न होते हुए भी बजट में धन राशि की व्यवस्था हो जाती है। इस असन्तोषजनक सूक्ष्म परीक्षण का कारण यह है कि प्रशासकीय मन्त्रालय बहुधा ऐसी योजनाएँ बजट में सम्मिलित करने के लिए ले आते हैं जो कि केवल सैद्धान्तिक या विचार मात्र होती है और इसके अतिरिक्त अधिकांश योजनाएँ भी मन्त्रालय को ठीक बजट की तैयारी के समय प्राप्त होती है। ऐसी योजनाओं को बजट में सम्मिलित करने पर बजटोत्तर सूक्ष्म परीक्षण आवश्यक हो जाता है, जिसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि व्यय की स्वीकृतियाँ प्रदान करने में देरी होती है। अतः यह आवश्यक है कि मन्त्रालय बजट में उन्हीं योजनाओं को सम्मिलित करे जिनके सम्बन्ध में समस्त विवरण तैयार हो चुके हों।

बहुधा ऐसा भी देखने को मिलता है कि वित्त मन्त्रालय के अधिकारी दूर-दर्शिता नहीं बरतते और आज की छोटी सी बचत के लिए कल के बड़े लाभ को छोड़ देते हैं। वे परम्परागत बड़े व्ययों को पास कर देते हैं, परन्तु किसी छोटे से नये प्रस्ताव पर अड़ जाते हैं।

यह भी आलोचना की जाती है कि राजकोष से कुछ हजार पौंड माँगे जाते हैं तो वह इनकार कर देता है, परन्तु लाखों की माँग की जाये तो वह स्वीकार कर ली जाती है। इसी प्रकार अनुमान समिति के प्रतिवेदन में कहा गया है कि "समिति इस स्थिति को बड़ी असन्तापजनक समझती है कि वित्त मन्त्रालय बजट में सम्मिलित करने के लिए अपूर्ण तथा अविचारपूर्ण योजनाओं को स्वीकार करने में इस प्रकार जल्दबाजी करता है। स्पष्टतः ही, इस कार्यविधि का यह परिणाम होता है कि संसद में ऐसे अपूर्ण अनुमान उपस्थित कर दिए जाते हैं जो गलत सिद्ध हो सकते है और जिनके कारण योजनाओं के वित्तीय पहलुओं व नियन्त्रण में शिथिलता हो सकती है तथा योजनाओं के कार्यान्वयन में देरी हो सकती है। समिति का यह मत है कि वित्त मन्त्रालय का यह कर्तव्य तथा उत्तरदायित्व है कि वह यह देखे कि ऐसी कोई भी योजना बजट में सम्मिलित न की जाये जिसका सूक्ष्म परीक्षण न हुआ हो। किन्तु यदि ऐसी योजनाएँ एक वर्ष में पूर्ण तथा परिपक्व हो जायें और यदि उनका शीघ्र क्रियान्वयन आवश्यक हो, तो उस स्थिति में अनुपूरक माँगे प्रस्तुत की जानी चाहिए।'

इस प्रकार नई योजनाएँ तथा व्यय के नये मदों का सूक्ष्म परीक्षण होना चाहिए। यदि किसी महत्त्वपूर्ण बात पर वित्त मन्त्रालय तथा प्रशासकीय मन्त्रालय में मतभेद हो जाये तो उसे मन्त्रिमण्डल के सम्मुख ले जाया जाना चाहिए। यदि मन्त्रि मण्डल में भी कोई मतभेद हो तो वित्त मन्त्रालय की बात को ही महत्त्व दिया जाता है।

सरकारी आय के अनुमान

(Estimates of Revenue)

व्यय के अनुमानों का कार्य पूरा हो जाने के पश्चात् सरकारी आय या राजस्व के अनुमान तैयार करने का कार्य प्रारम्भ किया जाता है। यह कार्य वित्त मन्त्रालय के द्वारा किया जाता है। ऐसे विभाग जिनसे आय अर्जित होती है, पिछले विगत वर्ष से प्राप्त आय के आँकड़ों के आधार पर आगामी वित्तीय वर्ष के लिए सम्भावित सरकारी आय का अनुमान तैयार करते हैं। ये विभाग हैं आय-कर विभाग (Income-Tax Department), केन्द्रीय उत्पादन कर विभाग (Central Excise Department) तथा सीमा शुल्क विभाग (Customs Department), आय का पता लगाने के बाद वित्त मन्त्रालय व्यय की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए करों (Taxes) की दरों में हेरफेर करता है। इस स्थिति में यह भी सम्भव है कि नये कर लगाये जायें, पुराने कर समाप्त कर दिए जायें या बढ़ा दिए जायें अथवा घटा दिए जायें।

वित्त मन्त्रालय जब आय-व्यय के अनुमान तैयार कर लेता है तो संसद में प्रस्तुत करने के लिए दो विवरण-पत्र (Statements) तैयार किए जाते हैं—(1) वार्षिक वित्तीय विवरण-पत्र (Annual Financial Statement) और (2) अनुदानों की माँगें (Demands for Grants), प्रथम विवरण पत्र के दो भाग होते हैं—एक, वित्तमन्त्री का बजट-भाषण जिसमें देश की आर्थिक स्थिति के विवरण के साथ सरकार की वित्तीय नीति तथा नवीन कर प्रस्तावों का भी विवरण होता है तथा दूसरा, बजट अनुमान जिनमें सार्वजनिक लेखे (Public Accounts) तथा संचित निधि (Consolidated Funds), दोनों के ही अन्तर्गत सरकार की कुल प्राप्तियाँ (Gross Receipts) तथा व्यय (Expenditures) अलग-अलग रूप से दिखाए जाते हैं। दूसरे विवरण पत्र अर्थात् अनुदानों की माँगों के अन्तर्गत वे समस्त व्यय दिखाए जाते हैं जिनकी पूर्ति संचित निधि में से की जाती है। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि संविधान की धारा 112 के अन्तर्गत दोनों ही प्रकार के खर्चे को अलग-अलग बताना अनिवार्य माना गया है। संविधान की इस धारा में निम्न प्रकार के खर्चे भारत की संचित निधि पर भारित व्यय (Expenditure charged upon the Consolidated Fund of India) के रूप में वर्णित हैं, इन पर व्यवस्थापिका विचार तो कर सकती है पर मतदान करने का अधिकार नहीं है—

(1) राष्ट्रपति का वेतन, भत्ते, एवम् उनके पद से सम्बन्धित अन्य व्यय,

(2) राज्य सभा के सभापति एवं उप-सभापति तथा लोकसभा के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष के वेतन तथा भत्ते,

(3) ऐसे ऋण-भार (Debt-Charges) जिनका दायित्व भारत सरकार पर है,

(4) सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को दिए जाने वाले वेतन, भत्ते और पेंशनें तथा संघीय न्यायालय (Federal courts) के न्यायाधीशों को दिए जाने वाले निवृत्ति वेतन अथवा पेंशनें।

(5) भारत के नियन्त्रक एवं महा-लेखापरीक्षक के वेतन, भत्ते तथा पेंशनें,

(6) किसी न्यायालय या मध्यस्थ न्यायाधिकरण (Arbitral Tribunal) के निर्णय, आज्ञप्ति (decree) अथवा पंचाट (Award) के भुगतान के लिए अपेक्षित कोई धनराशि, और

(7) इस संविधान द्वारा अथवा संसद के किसी कानून द्वारा इस प्रकार भारित घोषित किया गया अन्य कोई व्यय।

व्यवस्थापिका के लिए बजट (Budget for the Legislature)—

उपर्युक्त दो महत्त्वपूर्ण प्रकार पत्र तैयार हो जाने पर इन्हें व्यवस्थापिका में प्रस्तुत किया जाता है।

इस प्रकार उपरोक्त तरीके से कार्यपालिका द्वारा बजट तैयार किया जाता है तथा विचार और अनुमोदन के लिए व्यवस्थापिका के सम्मुख प्रस्तुत किए जाते हैं। प्रत्येक वित्तीय वर्ष के सम्बन्ध में संसद के दोनों सदनों के सम्मुख राष्ट्रपति भारत सरकार से (वित्त मंत्री से) उस वर्ष के लिए अनुमानित प्राप्तियों तथा व्यय का विवरण रखवायेगा जिसे संविधान में 'वार्षिक वित्त विवरण' के नाम से बताया गया है।

2. भारतीय व्यवस्थापिका में बजट

(Budget in Indian Legislature—Parliament)

प्रजातांत्रिक व्यवस्था में राजकीय वित्त पर सम्पूर्ण अधिकार जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों में ही निहित होना चाहिए, यही कारण है कि प्रजातांत्रिक देशों में बजट पर स्वीकृति प्रदान करने का एकमात्र अधिकार व्यवस्थापिका को ही प्राप्त होता है। अतः कार्यपालिका के द्वारा जब बजट का निर्माण हो जाता है तब व्यवस्थापिका के सम्मुख उसकी स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया जाता है।

वित्त पर संसद की शक्ति सम्बन्धी वैधानिक उपबन्ध—

भारतीय संविधान में यह व्यवस्था है कि प्रत्येक वित्तीय वर्ष के बारे में संसद के दोनों सदनों के समक्ष राष्ट्रपति भारत सरकार की उस वर्ष के लिए अनुमानित प्राप्तियों और व्यय का विवरण रखवायेगा, जिसे वार्षिक वित्तीय विवरण कहा जायेगा। वार्षिक वित्तीय विवरण में दिए हुए व्यय के अनुमानों में—

(1) भारत की संचित निधि पर भारित व्यय की पूर्ति के लिए अपेक्षित धनराशियाँ, तथा

(2) भारत की संचित निधि से किए जाने वाले अन्य प्रस्तावित व्यय की पूर्ति के लिए अपेक्षित धनराशियाँ, अलग अलग दिखायी जायेंगी तथा राजस्व लेखे पर होने वाले व्यय का अन्य व्यय से भेद किया जाएगा।

बजट का प्रस्तुतीकरण (Presentation of the Budget)

व्यवस्थापिका में बजट पर स्वीकृति के कार्य की शुरुआत बजट के प्रस्तुतीकरण से होती है। व्यवस्थापिका में बजट के प्रस्तुतीकरण का कार्य ब्रिटेन, भारत, संयुक्त राज्य अमेरिका आदि देशों में जनरल मैनेजर की हैसियत से कार्यपालिका ही करती है, भारत में संघ सरकार का सामान्य बजट वित्त मंत्री द्वारा फरवरी माह के अन्तिम दिन शाम के पाँच बजे लोकसभा में प्रस्तुत किया जाता है। यहाँ यह बता देना लाभप्रद होगा कि भारत में दो बजट बनाये जाते हैं। एक सामान्य बजट तथा द्वितीय रेल्वे बजट। सामान्य बजट लोकसभा में प्रस्तुत करते समय वित्त मंत्री सरकार की वित्तीय नीति के बारे में अपना बजट भाषण देता है जिसकी छपी हुई प्रतियाँ सभी सदस्यों को बाँट दी जाती हैं जिससे कि सदस्य वाद-विवाद के समय अपने को पूरी तरह तैयार कर सकें। जिस दिन सदन में बजट प्रस्तुत किया जाता है उस दिन बजट पर किसी प्रकार का वाद विवाद नहीं होता है।

बजट पर सामान्य वाद-विवाद— बजट प्रस्तुत होने के कुछ दिनों बाद उस पर सदन में वाद-विवाद का कार्य प्रारम्भ होता है। सामान्यतया वाद-विवाद के लिए दो तीन दिन निर्धारित किए जाते हैं। संसदीय नियम संख्या 207 (1) (2) के अनुसार सामान्य विवाद के समय सदन को इस बात की छूट होती है कि वह सम्पूर्ण बजट अथवा इसमें उलझे सिद्धान्त के किसी प्रश्न के बारे में वाद-विवाद कर सके परन्तु इस समय सदन में न तो कोई प्रस्ताव ही प्रस्तुत किया जा सकता है न ही बजट पर मतदान किया जा सकता है। सामान्य वाद-विवाद के अन्त में वित्त-मंत्री विवाद का एक सामान्य उत्तर देते हैं।

यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि बजट पर सामान्य वाद-विवाद करने की परिपाटी ब्रिटिश व्यवस्था का अवशेष है। उस समय व्यवस्थापिका को कोई वित्तीय अधिकार प्राप्त नहीं था और उसमें केवल वाद-विवाद ही होता था। इसकी उपयोगिता केवल यह है कि वाद विवाद के अवसर पर सदस्य सरकारी वित्तीय नीति के गुण-दोष का विवेचन करते हैं तथा जो धनराशियाँ पूर्व वर्ष में खर्च हो चुकी हैं उनकी जानकारी प्राप्त करते हैं।

माँगों पर मतदान (Voting on the [illegible]).—

बजट पर सामान्य वाद-विवाद समाप्त हो जाने पर लोक सभा में अनुदानों की माँगों पर अर्थात् बजट के व्यय भाग पर मतदान (Voting of Supplies) कार्य आरम्भ होता है, मतदान एक-एक माँग पर अलग-अलग होता है। यहाँ यह बात याद रखने योग्य है कि भारत में बजट की माँगों पर मतदान का अधिकार केवल लोकसभा को ही प्राप्त है अतः यह कार्य लोक सभा में ही सम्पन्न होता है, यद्यपि औपचारिक रूप से बजट का प्रस्तुतीकरण और उस पर सामान्य वाद-विवाद दोनों ही सदनों में होता है। इसके अतिरिक्त ब्रिटेन की भाँति भारत में बजट की माँगों पर

मतदान करते समय लोकसभा सम्पूर्ण सदन की समिति (Committee of the Whole House) की हैसियत से नही बैठती बल्कि वह सदन के रूप मे ही अपना कार्य करती है। ब्रिटेन की भांति भारत मे भी लोकसभा को बजट की अनुदान मागो को अस्वीकार करने अथवा उनमे कटौती करने का तो अधिकार प्राप्त है किन्तु उस किसी व्यय मे वृद्धि करने या नये व्यय को प्रस्तावित करने का अधिकार प्राप्त नही है जैसा कि संयुक्त राज्य अमेरिका की अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था म वहा की काग्रेस को प्राप्त है।

लोकसभा म अनुदानो की मागो पर मतदान क सम्बन्ध म इस प्रकार का नियम है कि प्रत्येक मत्रालय की मागो क लिए दिन नियत कर दिए जाते है और नियत अवधि के अन्तिम दिन सायकाल 5 बजे अध्यक्ष द्वारा उस पर मत ले लिए जाते हैं। लोकसभा मे अनुदान की प्रत्येक मांग इस प्रकार क प्रस्ताव क रूप मे रखी जाती है कि 'अमुक-अमुक मांगो क सम्बन्ध के 31 मार्च 19 को समाप्त होने वाले वर्ष की अवधि मे व्ययो की अदायगी क लिए, एक धनराशि जो रुपए (इतने) म अधिक न हो, राष्ट्रपति के लिए स्वीकृत की जानी चाहिए।' विधिवत् मतदान होने के पश्चात ही माग (Demand) अनुदान (Grant) बनती है।

कटौती प्रस्ताव (Cut-Motions)—

मांगो के सम्बन्ध मे सदस्यों द्वारा कटौती प्रस्ताव भी प्रस्तुत किए जा सकते है। लोकसभा में प्रायः तीन प्रकार के कटौती प्रस्ताव प्रस्तुत किए जाते है।

(1) नीति सम्बन्धी कटौती प्रस्ताव (Policy Cut Motion) -

इस कटौती के अन्तर्गत सम्पूर्ण माग की धनराशि को प्राय समाप्त मात्र करने के पक्ष मे होती है। यह प्रस्ताव मांग म अन्तर्निहित नीति क प्रति अस्वीकृति का सूचक है ऐसे प्रस्ताव को 'नीति का अस्वीकृति का कटौती प्रस्ताव' भी कहा जाता है। ऐसे प्रस्ताव की सूचना देने वाला सदस्य नीति की बातों का यथार्थ रूप में उल्लेख करेगा जिन पर कि वह वाद-विवाद का प्रस्ताव कर रहा है। विवाद सूचना मे उल्लेख की गई विशिष्ट बात अथवा बातों तक ही सीमित रहता और सदस्यो को इस बात की स्वतन्त्रता होगी कि वे वैकल्पिक नीति का पक्ष समर्थन कर सके।

(2) मितव्ययता कटौती प्रस्ताव (Economy Cut-Motion)—

इसमे यह माग की जाती है कि सम्पूर्ण धन मे से विशिष्ट धनराशि काट दी जानी चाहिए। यह माग या तो किसी विशिष्ट कार्य पर व्यय करने वाली धनराशि को कम करने के लिए की जाती है अथवा किसी एक मद मे कमी या समाप्ति के रूप मे हो सकती है। इस सम्बन्ध मे जो भाषण होगे वे इस विवाद तक ही सीमित होगे कि मितव्ययता किस प्रकार लाई जा सके।

(3) प्रतीक कटौती (Token Cut) —

इसमे माग की धनराशि मे से एक निश्चित धनराशि (जैसे एक सौ रुपय की कमी की जानी चाहिए) की कटौती का प्रस्ताव प्रस्तुत किया जाता है जिसे प्रतीक

कटौती कहा जाता है। यह प्रस्ताव उस विशिष्ट शिकायत प्रस्तुत करने के लिए किया जाता है जो कि भारत सरकार के उत्तरदायित्व की परिधि के अन्तर्गत आता है। ऐसे प्रस्ताव से सम्बन्धी वाद-विवाद प्रस्ताव में उल्लिखित विशिष्ट शिकायत तक ही सीमित रहता है।

लोकसभा के सदस्य बजट में प्रस्तावित व्यय की किसी मद को बढ़ा नहीं सकते अर्थात् किसी में वृद्धि नहीं कर सकते। वे किसी भी मद के व्यय की धनराशि को पूर्णतः या तो अस्वीकार कर सकते हैं अथवा उसमें कमी कर सकते हैं। व्यवहार में वस्तुस्थिति यह है कि ऐसा करना भी सम्भव नहीं होता। संसदीय व्यवस्था में बहुमत के आधार पर संसद का कार्य संचालित होता है। मन्त्रिमण्डल अपने बहुमत के बल पर किसी भी कटौती प्रस्ताव को गिरा सकता है। इस प्रकार बजट का वाद-विवाद कुछ विशिष्ट विभागों के प्रशासन के विरुद्ध शिकायतों का सामान्य प्रदर्शन मात्र है। बजट का प्रस्तुतीकरण तथा वाद विवाद बड़ा ही महत्त्वपूर्ण अवसर है जबकि मांगों पर मतदान किए जाने से पूर्व शिकायतें व्यक्त की जा सकती हैं। कटौती प्रस्ताव का प्रस्तुतकर्ता व उसके समर्थक इस प्रकार के प्रस्ताव के माध्यम से सरकार अथवा किसी विशिष्ट मन्त्रालय की नीतियों तथा कार्यक्रमों का विरोध करते हैं और अन्त में विभागीय मन्त्री के द्वारा उसका उत्तर दिए जाने के पश्चात् अध्यक्ष द्वारा मांग पर मतदान लिया जाता है जिसमें सदैव ही मांग स्वीकार कर ली जाती है। यदि कभी लोकसभा मांग को अस्वीकार कर दे अथवा उसमें कटौती के प्रस्ताव को स्वीकार कर ले तो इसका तात्पर्य यह होगा कि मन्त्रिमण्डल संसद का विश्वास खो चुका है। ऐसी स्थिति में मन्त्रिमण्डल त्याग पत्र देने के लिए बाध्य है। परन्तु मन्त्रिमण्डल का बहुमत होने के कारण सामान्यतया ऐसी स्थिति पैदा होने की सम्भावना कदापि नहीं होती। इसके विपरीत अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था में संसद को अनुदानों की किसी मांग को अस्वीकार करने, उसमें कम-अधिक करने का पूर्ण अधिकार होता है। लेकिन कार्यपालिका को त्याग पत्र देने की आवश्यकता नहीं होती।

विनियोग विधेयक
(Appropriation Bill)

लोकसभा में समस्त मांगों पर मतदान समाप्त होने के पश्चात् पूर्तियों के लिए मतदान का अन्तिम चरण विनियोजन या विनियोग विधेयक का अनुमोदन (Approval) है। विनियोग विधेयक सदन द्वारा मतदान की हुई मांगों को कानूनी रूप देता है और उन कार्यों के लिए भारत की संचित निधि से धन निकालने का अधिकार प्रदान करता है। लोकसभा में इसके पारित होने की प्रक्रिया वही है जो किसी दूसरे विधेयक की होती है, लेकिन उसमें एक अन्तर है कि इस विधेयक को पारित करते समय सदन द्वारा पूर्व पारित अनुदानों में अथवा संचित निधि के प्रभारों में कोई संशोधन नहीं किया जा सकता। लोकसभा में इस विधेयक पर तीन-चार घण्टे तक वाद-विवाद के पश्चात् स्वीकार कर लिया जाता है। तत्पश्चात् अध्यक्ष

(1) सरकार के विभिन्न मंत्रालयों में वित्तीय सलाहकार नियुक्त किये गए हैं। इन्हें वित्तीय सलाहकार, उप वित्तीय सलाहकार, या सहायक वित्तीय सलाहकार कहा जाता है। इनका मुख्य कार्य नियोजन के आधार पर व्यय के नियन्त्रण के बारे में प्रशासकीय मंत्रालयों की सहायता करना है। यह सलाहकार एक कड़ी के समान वित्त मंत्रालय और व्यय करने वाले मंत्रालयों के बीच में अपना कार्य करते हैं। इनकी सहायता से दोनों विभागों को काफी सहायता मिल जाती है, क्योंकि बहुत सा समय जो ये विभाग व्यवस्था तथा योजना के सम्बन्ध में लगाते जो अब सलाहकारों की सहायता से प्राप्त होने के कारण बच जाता है दूसरे एक विशेषज्ञ के रूप में भी इनका महत्वपूर्ण स्थान होता है।

(2) अगस्त 1958 में, बजट निर्माण की व्यवस्थाओं के सम्बन्ध में तथा अर्नैतिक व्यय पर वित्तीय नियंत्रण के सम्बन्ध में कुछ परिवर्तन किया गया। वित्त मंत्रालय द्वारा की जाने वाली मुख्य जाँच बजट बनने से पूर्व की जाने लगी। साथ ही साथ प्रशासकीय मंत्रालयों को यह स्वतन्त्रता दी गई कि वे 50 लाख रुपये तक की लागत वाली योजनाओं के सम्बन्ध में व्यय के आदेश जारी कर सकें। इन मंत्रालयों को कुछ और भी अधिकार प्रदान कर दिये गये।

(3) सितम्बर 1961 में कुछ मंत्रालयों को और अधिक वित्तीय अधिकार प्रदान किए गए। इन मंत्रालयों में मुख्य हैं—वाणिज्य और उद्योग मंत्रालय, सामुदायिक विकास तथा सहकारिता मंत्रालय, सूचना तथा प्रसारण मंत्रालय तथा खाद्य मंत्रालय हैं। ये अधिकार पदों के निर्माण, धनराशियों के पुनर्नियोजन के सम्बन्ध में तथा अनुमोदित प्रयोजनाओं की अग्रभूत इकाइयों के लिए व्यय के आदेश देने के सम्बन्ध में थे। इन मंत्रालयों को और अधिक स्वतंत्रता तथा अधिकार मिल जाने से इनके कार्यक्रम में और कार्यकुशलता बढ़ जाने की सम्भावना बन गई।

(4) बजट के निर्माण के पश्चात् की जाने वाली छानबीन एवं जाँच पड़ताल को समाप्त करने की दृष्टि से यह आवश्यक समझा गया कि विस्तृत बजट तैयार किए जायें। क्योंकि इस जाँच पड़ताल में समय के साथ-साथ धन का भी अपव्यय होता है। फिर यदि विस्तृत बजट तैयार हो जाये तो धन तथा समय दोनों की बचत हो सकती है। इस योजना का विस्तार अन्य मंत्रालयों तक किया गया। जून 1962 में यह आय नियंत्रण का एक स्थायी लक्षण बन गई।

प्रशासकीय मंत्रालयों को वित्तीय अधिकार दिए जाने और उपर्युक्त सुधार किए जाने के बाद भी मंत्रालयों की वित्तीय मुक्ति का लक्ष्य अभी अपूरा ही है। परन्तु कुछ और आवश्यक व्यवस्था करने के उपरान्त ही लक्ष्य की पूर्ण प्राप्ति सम्भव हो सकती है। समय-समय पर सुधार किए जा रहे हैं तथा मंत्रालयों को अधिकारों के साथ उत्तरदायित्व में बाँधा जा रहा है।

संसदीय वित्तीय समितियाँ
(Parliamentary Financial Committees)

संसद में बजट तथा वित्त विधेयक के पारित हो जाने के पश्चात् यह समझ लेना कि उसका उत्तरदायित्व समाप्त हो गया है, गलत होगा। संसद वित्तीय विधेयकों

के पारित करने के पश्चात् भी उनके क्रियान्वयन पर निगरानी रखती है। इसके पीछे यह धारणा है कि संसद जिस धन के खर्च की स्वीकृति देती है वह जन-धन होता है और उसका समुचित उपयोग होना चाहिए। संसद, स्वयं के द्वारा वित्त पर नियन्त्रण रखना कठिन कार्य है। अतः अपने इस उत्तरदायित्व के निर्वाह के लिए समितियों की रचना करती है जो विभागों के कार्य संचालन तथा उनके वित्तीय प्रशासन की गहराई के साथ जाँच करवाती है। विभिन्न विभागों के लिए स्वीकृत की गई राशि के हिसाब-किताब की जाँच करने के उद्देश्य से संसद वित्तीय समितियों का निर्माण करती है जिनमें मुख्य हैं—लोक लेखा समिति, अनुमान समिति। इन समितियों के कार्यों का संक्षिप्त वर्णन नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है।

सार्वजनिक या लोक लेखा समिति
(Public Accounts Committee)

सर्वप्रथम भारत में केन्द्र में लोक लेखा समिति की स्थापना सन् 1921 में मॉन्टेग्यू-चैम्सफोर्ड सुधारों के फलस्वरूप 1923 में की गई। अपने प्रारंभ से ही लोक लेखा समिति सार्वजनिक व्यय के विधायी नियन्त्रण की एक बड़ी शक्ति बन गई थी। इसके संगठन सम्बन्धी तथा इसकी सत्ता की सीमाओं के बावजूद भी इसने सरकार पर सार्वजनिक धन के व्यय में मितव्ययता बरतने के सम्बन्ध में दबाव डालकर बहुत प्रभाव डाला है। सन् 1950 में नए संविधान के लागू होने के साथ ही इस समिति में से सरकारी तत्वों को हटा दिया गया और अब इसमें केवल संसद के सदस्य ही होते हैं। अब यह समिति सभी संसदीय समिति बन गई है। प्रारम्भ में इसमें 15 सदस्य थे जो सभी लोक सभा के सदस्य होते थे। सन् 1953 में इसके सदस्यों की संख्या बढ़ाकर 22 कर दी गई। यह वृद्धि राज्य सभा को प्रतिनिधित्व देने के लिए की गई। लोक लेखा समिति संसद का ऐसा निकाय है जो प्रतिवर्ष निर्वाचित किया जाता है। इसका निर्वाचन एकल संक्रमणीय मत द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर होता है। इस प्रकार के निर्वाचन व्यवस्था का उद्देश्य यह है कि समिति में मुख्य राजनैतिक दलों को प्रतिनिधित्व प्राप्त हो सके और उसके सदस्यों की संख्या संसद में उनकी अपनी राजनैतिक दलीय शक्ति के अनुपात में होनी चाहिए। साधारणतया इस समिति का अध्यक्ष शासक दल का ही व्यक्ति होता था, जो ब्रिटिश प्रणाली के बिल्कुल विरुद्ध था। ब्रिटेन में विरोधी दल के महत्त्वपूर्ण व्यक्ति को इस समिति का अध्यक्ष बनाया जाता है। भारत में 1969 से यह परम्परा डालने का प्रयत्न किया गया है कि विरोधी दल का कोई नेता इसका अध्यक्ष हो। श्री एम० आर० मसानी विरोधी दल के प्रथम नेता थे जो लोक लेखा समिति के सभापति मनोनीत किए गए थे।

समिति के अग्रलिखित कार्य हैं जिनके सम्बन्ध में उसे अपने को संतुष्ट कर लेना चाहिए—

(1) लेखा या खातो में धनराशियों के जो भुगतान दिखाए गए है, क्या वे धनराशियाँ उस सेवा अथवा कार्य के लिए वैधानिक रूप से उपलब्ध थी अथवा उस पर लागू होती थी जिस पर कि वे लागू या भारित की गई थी।

(2) क्या व्यय उस प्राधिकार के अनुरूप है जो उसका नियन्त्रण करती है।

(3) क्या प्रत्येक पुनर्विनियोजन (Re-appropriation) समर्थ अधिकारी द्वारा बनाए गए नियमो के अन्तर्गत इस सम्बन्ध मे किए गए उपबन्ध के अनुसार किया गया है।

लोक लेखा समिति के निम्न कर्तव्य हैं—

(1) नियन्त्रक तथा महालेखा परीक्षक के प्रतिवेदन के आधार पर उन सभी लेखाओ के वितरण का परीक्षण करना जिनमे कि राज्य निगमो एव व्यापार तथा निर्माण करने वाली योजनाओ और परियोजनाओ की आय तथा व्यय का उल्लेख किया गया हो। इन विवरणो के साथ-साथ लेखा समिति उन विवरणो की भी जाँच करती है जिन्हें कि किन्ही विशेष नियम, व्यापारिक सस्था या प्रायोजना की वित्तीय व्यवस्था का नियमन करने वाले वैधानिक नियमो के उपबन्ध के अनुसार तैयार किया गया हो या जिनको तैयार करवाना राष्ट्रपति आवश्यक समझता हो।

(2) उन स्वायत्त सस्थाओं तथा अर्द्ध स्वायत्त सस्थाओ के आय तथा व्यय के लेखा विवरणो की परीक्षा करना जिनका लेखा परीक्षण भारत के लेखा नियन्त्रक तथा महालेखापरीक्षक द्वारा या राष्ट्रपति के निर्देशो के अनुसार अथवा ससद की सविधि (Statute) के अन्तर्गत किया गया हो।

(3) नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक के उन मामलो से सम्बन्धित प्रतिवेदन पर विचार करना जिनके विषय मे राष्ट्रपति उससे किसी भी आय अथवा प्राप्ति का लेखा परीक्षण करने या भडारो (Stores) तथा शेष माल (Stocks) के खातो की की जाँच की माँग करे।

(4) इस विषय की जाँच करना कि धनराशियाँ जिन मदो मे प्रदर्शित की गई हैं क्या वे वैधानिक रूप से उन्ही कार्यों के हेतु प्रदान की गई हैं।

समिति की कार्य-पद्धति

नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक अपनी जाँच का प्रतिवेदन सघ मे राष्ट्रपति तथा राज्यो मे राज्यपाल के समक्ष प्रस्तुत करता है। राष्ट्रपति इन्हें व्यवस्थापिका के सम्मुख प्रस्तुत करवाता है। ससद इन प्रतिवेदनो को विस्तृत एव सूक्ष्म अध्ययन के लिए लोक लेखा समिति को सौप देती है। राज्यो मे नियन्त्रक एव महालेखा परीक्षक के स्थान पर महालेखापाल इस कार्य को सम्पादित करते हैं। प्रत्येक विभाग के लेखो का परीक्षण व्यापक एव पृथक रूप से होता है। समिति को यह अधिकार प्राप्त होता है कि वह अधिकारियो को बुलवा सके तथा कागजातों तथा अभिलेखो की माँग कर सके। यह अपने विचाराधीन लेखो मे उल्लिखित व्यय के सम्बन्ध मे विभागीय अधिकारियो से प्रश्न पूछ सकती है। जब मन्त्रालयो या विभागो के लेखो

की जाँच की जाती है तब उस सम्बन्धित मन्त्रालय के सचिव समिति के समक्ष उपस्थित होते हैं। समिति को यह भी अधिकार प्राप्त है कि किसी मन्त्रालय अथवा विभाग में अनियमितता या अनुचित लेनदेन की शिकायत पायी जाये तो वह उनसे लिखित स्पष्टीकरण भी माँग सकती है। समिति अपनी रिपोर्ट अपने अध्यक्ष को प्रस्तुत करती है तत्पश्चात् अध्यक्ष उस रिपोर्ट को विधान मण्डल अथवा लोकसभा के अध्यक्ष के पास भिजवा देता है। समिति द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदनों की प्रतिलिपियाँ विभागीय अध्यक्षों को भी भेजी जाती हैं। समिति द्वारा विभागों को हिसाब-किताब सम्बन्धी सशोधनात्मक सुझाव भी दिए जाते हैं। यदि सरकार समिति की किसी सिफारिश के अनुसार कार्य न करना चाहे या सिफारिश से सहमत न हो तो उसे उसके सम्बन्ध में कारण प्रस्तुत करना पड़ता है। समिति की रिपोर्ट पर लोकसभा विचार-विमर्श कर सकती है।

समिति की उपयोगिता (Utility of the Committee) :

लोक लेखा समिति के कारण सार्वजनिक धन का अपव्यय नहीं हो पाता है। अधिकारियों व कर्मचारियों को सदा यह भय बना रहता है कि लेखों की जाँच की जायेगी और यदि अनियमितताएँ पाई गई तो उसका दुष्परिणाम भी उन्हें भुगतना पड़ेगा अतः निरीक्षण के भय से कर्मचारी अपने कर्तव्यों के प्रति सजग रहता है। प्रायः सार्वजनिक लेखा समिति के विरुद्ध यह कहा जाता है कि यह तो लेखाओं का पोस्टमार्टम करती है। मूल कार्य तो नियन्त्रक एवं महालेखापरीक्षक के द्वारा किया जाता है, शेष करने को कुछ भी नहीं रह जाता। परन्तु यह आक्षेप उचित नहीं है। *वास्तव में समिति कई महत्त्वपूर्ण कार्यों को करती है। समिति ने कई बार धन सम्बन्धी* दुरुपयोग के मामलों को पकड़ा है तथा प्रशासन में मितव्ययता लाने के लिए कई महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए गए हैं। इसके महत्त्व को बताते हुए श्री चन्दा ने कहा है कि "वर्षों तक समिति ने यह आशा पूर्ण की है कि इसे सरकारी व्यय के नियन्त्रण में सरकारी माध्यम के रूप में विकसित होना चाहिए।" साधारणतः समिति दलगत राजनीति से स्वयं को पृथक करके निष्पक्ष दृष्टि से कार्य करती है। अपने इन्हीं गुणों के कारण सार्वजनिक लेखा समिति ने सफलता पाई है। लेखा समिति को विशेषज्ञ तथा दक्ष होना चाहिए क्योंकि उसे अनेक जटिल तथा तकनीकी समस्याओं का सामना करना होता है तथा विशेषज्ञों से वाद-विवाद करना पड़ता है। अतः समिति की उपयोगिता से इन्कार नहीं किया जा सकता।

अनुमान समिति
(Estimates Committee)

धन के विनियोजनों पर नियन्त्रण स्थापित करने के लिए संसद द्वारा अनुमान समिति की स्थापना की जाती है। इस प्रकार की समिति की स्थापना सर्वप्रथम सन् 1912 में इंग्लैण्ड में हुई थी। इसका गठन सरकारी व्यय में मितव्ययता लाने की दृष्टि से किया गया था। भारत में इस समिति की स्थापना 1938 में हुई थी जबकि

यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया गया था कि सरकारी व्यय में कैसे 10% कटौती की जाय। अंग्रेजी शासनकाल में इस प्रकार की समिति प्रभावशील न रह सकी क्योंकि ब्रिटिश शासक नहीं चाहते थे कि उनकी नीतियों की आलोचना की जाये। भारत के भूतपूर्व वित्तमन्त्री डा० जानमथाई के परामर्श पर सन् 1950 में अनुमान समिति की पुनर्स्थापना की गई। यह समिति प्रशासकीय विभागों के अनुमानों की जाँच करती है तथा मितव्ययता लाने के सुझाव देती है।

संगठन (Composition) :

अनुमान समिति एक स्थायी समिति है और इसके सदस्यों का निर्वाचन लोक सभा के सदस्यों द्वारा अपने में से किया जाता है। इसमें 30 सदस्य होते हैं। इनका निर्वाचन एकल संक्रमणीय मत द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के अनुसार होता है। प्रारम्भ में इसके सदस्यों की संख्या 25 थी। लोकसभा का अध्यक्ष समिति के सदस्यों में से एक को अध्यक्ष नियुक्त करता है। यदि लोकसभा का उपाध्यक्ष इस समिति का सदस्य होता है तो वही इसका अध्यक्ष पद ग्रहण करता है। मन्त्रीगण अनुमान समिति के सदस्य नियुक्त नहीं किए जाते हैं।

कार्य (Functions):—

अनुमान समिति को निम्न कार्य करने होते है—

(1) प्रशासन में मितव्ययता, कुशलता तथा सुधार लाने के सम्बन्ध में लोक-सभा को सुझाव देना।

(2) प्रशासन में मितव्ययिता तथा कार्यकुशलता लाने के लिए वैकल्पिक नीतियों का सुझाव देना।

(3) प्रशासकीय क्रियाओं के सम्पादन में लगे हुए धन के औचित्य-अनौचित्य की जाँच करना।

(4) अनुमान संसद के समक्ष किस रूप में प्रस्तुत किए जायें, इस सम्बन्ध में सुझाव देना।

प्रत्येक वर्ष एक या दो मन्त्रालयों के हिसाब-किताबों का परीक्षण अनुमान समिति के द्वारा किया जाता है। अनुमानों के सम्बन्धित सामग्री इस समिति के द्वारा एकत्रित की जाती है। मन्त्रालय से प्राप्त अनुमान सम्बन्धी सामग्री समिति के अन्य सदस्यों के पास भेजी जाती है। जिस समय समिति की बैठक होती है उस समय भी समिति अनुमानों से सम्बन्धित बहुत सी बातों के सम्बन्ध में विचार करती है। समिति को अधिकार प्राप्त है कि मन्त्रालयों के सदस्यों को बुलाकर अभिलेखों के सम्बन्ध में बहुत सी उलझी हुई और महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर सूचना प्राप्त कर सकती है। तत्पश्चात् समिति अपना प्रतिवेदन तैयार कर अपनी सिफारिशों सहित लोक-सभा के सामने प्रस्तुत करती है। यदि सरकार समिति के द्वारा प्रस्तुत सुझावों को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं होती है तो उसे पुनः समिति के पास पुनर्विचार के लिए लौटाती है। यदि समिति उस पर पुनर्विचार करने के लिए तैयार नहीं होती है तो

अन्तिम निर्णय संसद के पास सुरक्षित रहता है। यह सर्वविदित है समय-समय पर संसद को अनुमान समिति से मूल्यवान तथा महत्त्वपूर्ण सुझाव प्राप्त होते रहे हैं।

1950 में लोकसभा के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री मावलंकर ने समिति के अनुमान पर प्रकाश डालते हुए चार उद्देश्य बताए हैं, जो निम्न हैं—

(1) जनसाधारण तथा सरकार के बीच सम्पर्क स्थापित करना।
(2) सरकार की नीतियों को प्रभावित करना।
(3) कार्यपालिका पर स्वस्थ नियन्त्रण रखना जिससे वह निरंकुश न बन पाये।
(4) सदस्यों को प्रशासन की गतिविधियों के सम्बन्ध में तथा उनकी समस्याओं से सम्बन्ध में सूचित करें।

अनुमान समिति की उपयोगिता (Utility of Estimates Committee)

अनुमान समिति के कार्यों का यदि परीक्षण किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि यह लाभदायक कार्य कर रही है। इसकी अधिकांश सिफारिशें सरकार द्वारा स्वीकार की गई हैं। अनुमान समिति के संचालन के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि समिति एक बार जिस विभाग का परीक्षण कर लेती है वह कुछ वर्षों के लिए मुक्ति पा लेता है। इससे वह विभाग असावधान हो सकता है। अतः इस बात पर बल दिया जाता है कि पूर्ण सरकारी व्यय की जाँच पाँच वर्ष के भीतर अर्थात् संसद की अवधि काल में, समिति द्वारा जाँच कर लेनी चाहिए, जिससे अकुशलता तथा अप-व्यय को रोका जा सके। समिति के विरुद्ध यह कहा जाता है कि यह विशेषज्ञों की सहायता से ही कार्य करती है। यह बात सत्य भी है। इसमें विशेषज्ञों के समिति पर हावी होने की संभावना बनी रहती है। इस सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि समिति जन-साधारण की समिति है और यह विषयों का परीक्षण साधारण दृष्टिकोण से ही करती है। समिति पर यह भी आरोप लगाया जाता है कि यह संसद के अधिकार क्षेत्र में अनुचित प्रभाव जमाने का प्रयत्न करती है, परन्तु यह आरोप गलत है। यह तो मात्र सूचना प्राप्त करने तथा कुछ विषयों की जाँच करने वाला एक परामर्श-दात्री निकाय है।

समिति के विरुद्ध उपर्युक्त शिकायतों के बावजूद इसका महत्त्व बहुत अधिक है। अनुमान समिति भारत में प्रशासन की योग्यता तथा उसके स्तर को उन्नत करने में लाभकारी कार्य सम्पन्न कर रही है। इस समिति के परिणामस्वरूप निश्चित रूप से मंत्रालयों व विभागों के खर्चे में मितव्ययिता रखी जाती है। इस समिति के परिणामस्वरूप ही सार्वजनिक धन के अपव्यय को रोका जा सकता है।

वित्त मंत्रालय
(Ministry of Finance)

मंत्रालयों में वित्त मंत्रालय का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। सरकार की आर्थिक एवं वित्तीय नीतियों का निर्धारण वित्त विभाग के परामर्श से होता है। संसद द्वारा

स्वीकृत की गई अनुमानो से सम्बन्धित व्यय की मदो पर नियंत्रण वित्त विभाग द्वारा किया जाता है। वित्त मत्रालय का यह महत्त्वपूर्ण कार्य होता है कि वह व्ययकारक विभागो पर नियत्रण रखे तथा उनमे परस्पर समन्वय स्थापित करे वित्त विभाग द्वारा ही आय-व्यय के अनुमान तैयार किए जाते हैं तथा स्वीकृति के लिए ससद के समक्ष प्रस्तुत किए जाते हैं।

वित्त मत्रालय के सगठन तथा कार्यों के सम्बन्ध मे पिछले अध्याय (विभाग—Department) मे विस्तार से वर्णन किया जा चुका है।

परीक्षोपयोगी प्रश्न

(1) वित्तीय प्रशासन से आप क्या समझते हैं ? वित्तीय प्रशासन के अभिकरणो का उल्लेख कीजिए।

What do you understand by financial administration ? Explain the Agencies of Financial administration.

(2) राजकीय बजट के आर्थिक एवं सामाजिक परिणाम क्या हैं ? बजट के बनाने एव अनुमति प्राप्त करने की प्रक्रिया मे कितने चरण होते हैं ?

What are the economic and social implications of a Government Budget ? What are the various steps involved in the preparation and approval of the Budget.

(3) भारत मे बजट का निर्माण किस प्रकार किया जाता है, व्याख्या कीजिए।

How the Budget is formulated in India, Explain

(4) अच्छे बजट के सिद्धान्तो की व्याख्या कीजिए, आपके देश मे अच्छे बजट के सिद्धान्त का किस सीमा तक पालन किया जाता है।

Explain the principles of a good Budget How far are the principles of good Budgeting observed in your country

(5) बजट को प्रशासन का यन्त्र क्यो कहते है ? बजट निर्माण की प्रक्रिया का वर्णन कीजिए।

Why is Budget called a tool of administration ? Describe the process involved in the making of Budget.

(6) 'वित्त पर ससद का नियत्रण ढीला एव अप्रभावी है।' क्या आप इससे सहमत हैं ?

'Parliamentary Control over Finance is lax and ineffective'. Do you agree ?

(7) भारतीय संसद तथा राज्य विधान मंडलों की लोक लेखा समिति के संगठन, कार्यों तथा उपयोगिता का उल्लेख कीजिए।

Discuss the composition, functions and Utility of the Public Accounts Committee of the Indian Parliament and the State Legislatures.

(8) वित्तीय प्रशासन में वित्त मन्त्रालय की भूमिका का परीक्षण कीजिए।

Examine the roll of Ministry of finance in matters of financial administration

(9) टिप्पणियाँ लिखिये :

(i) अनुमान समिति (Estimates Committee),

(ii) कटौती प्रस्ताव (Cut Motions),

(iii) वित्त विधेयक तथा धन विधेयक (Finance Bill & Money Bill)

15

राजस्थान राज्य में प्राशासनिक व्यवस्था

(ADMINISTRATIVE SET-UP IN RAJASTHAN STATE)

राजस्थान राज्य का परिचय
(Introduction of Rajasthan State)

वीरता, शौर्य, त्याग, उत्सर्ग और बलिदान के प्रतीक राजस्थान से भारत के प्रायः सभी लोग परिचित हैं। रियासतो के विलीनीकरण से पूर्व राजस्थान अनेक छोटी-बड़ी रियासतो मे विभक्त था। इन रियासतो के समूह की राजनैतिक इकाई को राजपूताने के नाम से सम्बोधित किया जाता था। राजपूताने के नाम से सम्बोधित किया जाने वाला राजस्थान वही राजस्थान है जिसका गौरवपूर्ण इतिहास भारत के इतिहास के साथ गुंथा हुआ है और जिसने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप मे सारे भारत के जीवन पर अपना प्रभाव डाला है।

बासवाड़ा, बूंदी, डूंगरपुर, झालावाड़, किशनगढ़, कोटा, प्रतापगढ़, शाहपुरा, टोंक, उदयपुर, बीकानेर, जयपुर, जोधपुर, जैसलमेर, अलवर, करौली, धौलपुर, भरतपुर एवं सिरोही का कुछ भाग राजस्थान कहलाता है। सन् 1956 में राज्य पुनर्गठन आयोग की सिफारिशो के अनुसार राजस्थान की सीमा मे कुछ परिवर्तन हुआ। परिणामस्वरूप अजमेर और सिरोही का बचा हुआ भाग भी राजस्थान मे आ गया।

भौगोलिक स्थिति : 1,32,147 वर्ग मील क्षेत्र मे फैला हुआ राजस्थान राज्य 22.3 डिग्री और 30.12 अक्षांश एवं 69.30 और 78.12 डिग्री देशान्तर रेखाओ के बीच में आया हुआ है। यदि लम्बी रेखा खीची जाय तो पूर्व से पश्चिम तक 540 मील और उत्तर से दक्षिण तक 510 मील होगी।

सीमा : राजस्थान राज्य के उत्तर मे दिल्ली, पजाब और पाकिस्तान के पश्चिमी पंजाब का भाग आया हुआ है। पूर्व मे उत्तर प्रदेश एव मध्य प्रदेश हैं। दक्षिण मे मध्यप्रदेश, बम्बई एव सौराष्ट्र है, पश्चिम मे सिंध तथा पश्चिमी पाकिस्तान के साथ 730 मील लम्बी सीमा है। परिणामस्वरूप राजस्थान का राजनैतिक एव आधुनिक सामरिक महत्त्व काफी बढ़ गया है। इसका आकार विषमकोण चतुर्भुज पतंग के समान है।

राजस्थान की प्राकृतिक भौगोलिक स्थिति के अन्दर दक्षिण-पश्चिम से उत्तर-पूर्व तक लगभग 430 मील की लम्बाई में फैली हुई अरावली श्रेणी का बड़ा महत्त्व है। राजस्थान के कुल क्षेत्र का $\frac{3}{5}$ भाग इस श्रेणी के उत्तर-पश्चिम में और शेष $\frac{2}{5}$ भाग पूर्व-दक्षिण में है।

मुख्य नदियाँ : राजस्थान में मुख्यतः 5 नदियाँ हैं—चम्बल, बनास, लूणी, माही तथा बाणगंगा। उक्त नदियों के अतिरिक्त बीकानेर में घग्घर, कोटा की *कालीसिंध और जयपुर की साबी, उदयपुर की साबी, कोठारी, गम्भीरी, मानसी और* विडच नदियाँ मुख्य मानी जाती हैं।

इन नदियों के अलावा राजस्थान में मीठे तथा खारे पानी की झीलें भी हैं। साँभर और डीडवाना की झीलें मुख्यतः खारे पानी की झीलों में आती हैं। इन दिनों लूणकरणसर झील से भी नमक बनाने लगे हैं। मीठे पानी की झीलों में जयसमन्द झील की गणना प्रधान झील के रूप में की जाती है। जयसमन्द झील के पानी से सिंचाई कर गेहूँ, चना तथा गन्ना आदि का उत्पादन किया जाता है। उदयपुर, कोटा, जोधपुर आदि जिलों में मीठे पानी की कृत्रिम झीलों से सिंचाई भी की जाती है। जवाई बाँध तथा राणा प्रताप सागर बाँध के अतिरिक्त राजस्थान के बड़े-बड़े नगरों के निकट पानी रोक कर झीलें बनाई जा रही हैं जिनका पानी पीने के कार्य में लिया जायेगा।

जलवायु और कृषि : राजस्थान की जलवायु गर्म और शुष्क है। यहाँ के लोगों का मुख्य व्यवसाय कृषि है। यहाँ की मुख्य फसलें ज्वार, बाजरा, मक्का, जौ और चना हैं। राजस्थान में कहीं-कहीं पर कपास भी होती है।

राजस्थान का निर्माण
(Formation of Rajasthan State)

अनेकों कष्ट सहने पर, अनगिनती जीवन आहुतियाँ देने पर 15 अगस्त, 1947 को भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। इसके साथ ही देशी रियासतों को भी स्वतन्त्र बना दिया गया और यह कहा गया कि ये रियासतें स्वतन्त्र अथवा भारत या पाकिस्तान के साथ विलय हो सकती हैं। उधर सरदार वल्लभभाई पटेल ने 15 अगस्त, 1947 से पूर्व ही भारत की समस्त देशी रियासतों को भारतीय संघ में सम्मिलित घोषित कर दिया।

भारत के स्वतन्त्र होते ही *भारत तथा पाकिस्तान में दंगे प्रारम्भ हो गये और* इनसे कोई भी भाग अछूता न रह सका। सर्व प्रथम राजस्थान की अलवर और भरतपुर रियासतों में दंगों ने जोर पकड़ा। केन्द्रीय सरकार ने अलवर तथा भरतपुर का प्रशासन अपने हाथ में ले लिया। तत्पश्चात् यह अनुभव किया गया कि धौलपुर एवं करौली को अलवर-भरतपुर में मिला लिया जाय।

27 फरवरी, 1948 को इन चारों रियासतों के नरेशों ने सम्मुख दिल्ली में

कन्हैयालाल माणक्यलाल मुन्शी द्वारा इनका मिला जुला नाम "मत्स्य" रखा गया जो सर्व सम्मति से स्वीकार कर लिया गया। इस संघ का उद्घाटन 18 मार्च, 1948 को श्री एन० वी० गेडगिल ने किया और राजधानी अलवर रखी गई।

मत्स्य संघ के निर्माण के साथ ही राजस्थान की जनता मे एक नया जोश एव समृद्धि की भावना जाग्रत हुई। बाँसवाड़ा, डूंगरपुर, बू दी, झालावाड, किशनगढ, प्रतापगढ, शाहपुरा एव टोक रियासतो के नरेशों ने भी एक संघ बनाने के विषय मे निश्चय किया और कोटा, झालावाड तथा डूंगरपुर के नरेशो ने अपना प्रस्ताव 3 मार्च, 1948 को प्रस्तुत किया। स्टेट विभाग ने सलाह दी कि इस संघ में उदयपुर को भी सम्मिलित किया जाय। 25 मार्च, 1948 को संघ का उद्घाटन तय हो गया। कोटा को राजधानी रखा गया तथा वहा के नरेश को राजप्रमुख बनाया गया।

संघ के उद्घाटन के तीसरे दिन ही उदयपुर के महाराणा ने संघ में सम्मिलित होने हेतु स्टेट विभाग को पत्र लिखा। उदयपुर संघ मे सम्मिलित कर लिया गया। महाराणा के संघ मे सम्मिलित होते ही राजधानी तथा राजप्रमुख पद का प्रश्न सामने आया। दोनो ही बातो के लिए उदयपुर उपयुक्त था। लेकिन कोटा नरेश के कार्यों व उत्साह को देखते हुए कोटा को भी महत्व देना आवश्यक था। अत. यह तय किया गया कि दोनो स्थानो को महत्व दिया जाय। परिणामस्वरूप उदयपुर के राणा को राजप्रमुख तथा कोटा नरेश को उप राजप्रमुख बनाया गया। साथ मे यह भी तय किया गया कि कुछ महत्वपूर्ण कार्यालय कोटा मे भी रखे जायें।

उदयपुर के राजस्थान संघ मे विलीन होते ही सब रियासतें विलीनीकरण के लिए तत्पर होने लगी। 15 अप्रेल, 1948 को समस्त सम्बन्धित नरेशों ने समझौते पर स्वीकृति दे दी। इस संघ का राजनैतिक महत्व बढ गया। इस संघ का उद्घाटन भारत के प्रधान मत्री स्वर्गीय प० जवाहरलाल नेहरू ने 18 अप्रेल, 1948 को किया।

इस समय राजस्थान की रियासतो मे बीकानेर, जैसलमेर, जयपुर, जोधपुर और सिरोही ऐसी रियासतें बच गई थी जो एकीकरण मे सम्मिलित नही हुई थी। जयपुर, जोधपुर तथा बीकानेर नरेश अपनी रियासतो को स्वतन्त्र बनाये रखना चाहते थे परन्तु एकीकरण की योजना लागू हो जाने पर यह सम्भव नहीं था। सरदार वल्लभभाई पटेल ने रियासती मत्रालय के समक्ष महा राजस्थान बनाये जाने का प्रस्ताव रखा जिसके अनुसार इन चारो रियासतो को भी राजस्थान मे सम्मिलित कर एक बडा राज्य बनाने की योजना बनी। जयपुर के महाराजा ने अपनी रियासत को विलीन करने के सम्बन्ध में दो शर्तें रखीं। प्रथम यह कि जयपुर को राजधानी बनाया जाय, द्वितीय यह है कि उनके वशज—वशानुगत राजप्रमुख रहें। दोनों प्रश्नों

के उत्तर भविष्य में तय करने का आश्वासन दिया गया और तत्काल बाद ही जोधपुर तथा बीकानेर नरेशों को योजना भेजी तथा उसी दिन शाम तक उनकी स्वीकृति प्राप्त कर ली गई। तत्पश्चात् महाराणा उदयपुर के पास महा-राजस्थान का मसविदा रखा गया। इन्होंने भी इसे स्वीकार कर लिया। परिणामस्वरूप 14 जनवरी, 1949 को सरदार पटेल ने उदयपुर की सार्वजनिक सभा के जयपुर, जोधपुर, जैसलमेर और बीकानेर के सैद्धान्तिक रूप से सम्मिलित होने की घोषणा की। इस तरह राजस्थान राज्य का निर्माण हुआ। सन् 1956 में राज्य पुनर्गठन आयोग की सिफारिशों के आधार पर राजस्थान के राज्य की सीमाओं में पुनः कुछ परिवर्तन हुआ जिसके आधार पर अजमेर, आबू तथा सिरोही का कुछ भाग इसमें सम्मिलित किया गया। विलीनीकरण के चरणों को निम्न तालिका से समझाया जा सकता है—

नाम स्वीकृत इकाई	निर्माण तिथि	सम्मिलित होने वाले राज्यों के नाम
1. मत्स्य	17–3–48	अलवर, भरतपुर; धौलपुर व करौली
2. राजस्थान (पूर्वी)	25–3–48	बाँसवाड़ा, डूंगरपुर, बूंदी, झालावाड़, किशनगढ़, कोटा, प्रतापगढ़, शाहपुरा व टोंक, (कुशलगढ़ और लावा)
3. संयुक्त राजस्थान (2+3)	14–8–48	उदयपुर
4. वृहत्तर राजस्थान या संयुक्त राजस्थान (2+3+4)	20–3–49	बीकानेर, जयपुर, जैसलमेर और जोधपुर
5. वृहत्तर राजस्थान (संयुक्त राज्य) (1+2+3+4)	15–5–49	मत्स्य
6. राजस्थान (1+2+3+4+5+6)	26–1–50	सिरोही
7. राजस्थान (पुनर्गठित) (1+2+3+4+5+6+7)	1–11–56	अजमेर, आबू, सुनेलटप्पा एवं सीरोंज (हस्तान्तरित मध्य प्रदेश)

राजस्थान की स्थापना के बाद इस राज्य में अनेक क्षेत्रों में समस्यायें उत्पन्न हुईं। इसमें सम्मिलित देशी रियासतों का आकार, जनसंख्या, विकास, सामाजिक व सांस्कृतिक परम्परा तथा कार्यपालिका एवं न्यायपालिका प्रशासन की दृष्टि से अनेक विभिन्नताएँ रखती थी। इन सब में केवल यही समानता थी कि इनमें सारी शक्तियों का केन्द्र प्रशासक होता था। इनमें समानता कम और असमानताएँ अनेकों थी। कुछ रियासतों में आधुनिक सरकार के पश्चिमी मापदण्डों का प्रभाव था। यहाँ उत्तरदायी सरकार की दृष्टि से कुछ कार्य आरम्भ भी किये जा चुके थे। यहाँ लोक सेवाओं में भर्ती लोक सेवा आयोग द्वारा होने लगी थी और नियुक्ति और पदोन्नति के लिए सुपरिभाषित नियम और कार्य प्रक्रिया अपनाई जाने लगी थी। कुछ रियासतों में कार्यपालिका को न्यायपालिका से पृथक रखा गया और उसे स्वतन्त्र बनाने के पूरे प्रयास किये गये। यहाँ तक कि प्रशासनों में रिश्वतखोरी एवं भ्रष्टाचार पर रोक लगाने के लिए भ्रष्टाचार निरोधक विभाग (Anti-Corruption Department) भी संगठित किया गया। दूसरी ओर ऐसी रियासतें भी थी जहाँ कानूनहीनता की स्थिति थी और प्रशासन अभी 'ABC' सीख रहा था। यहाँ प्रशासन का संचालन सुपरिभाषित कानूनों की अपेक्षा व्यक्तिगत इच्छा पर आधारित था। शासक और उनके परामर्शदाता स्वेच्छाचारी थे जिनके आतंक के नीचे दबी जनता अपनी प्यास भी अपने शासक को पूछ कर लेती थी। इन विरोधपूर्ण विभिन्नताओं में एकरूपता स्थापित करना कठिन समस्या थी। राजस्थान में प्रारम्भिक समस्याओं से निपटने के लिए अनेक ठोस कदम उठाये गये, लुटेरों और डाकुओं का दमन किया गया, प्रजातान्त्रिक एवं लोक-कल्याणकारी आदर्शों को प्राप्त करने के लिए नये कानून एवं नियम बनाये गये, राज्य के नियोजित विकास की प्रक्रिया प्रारम्भ की गई तदनुसार प्रशासन को ढाला गया। नई सेवाओं और सेवा नियमों का विकास किया गया। इतना ही नहीं, प्रशासनीय एवं अन्य चुनौतियों एवं समस्याओं से निपटने के लिए समय-समय पर प्रशासन में सुधार किये गये, और उसे उपयोगी, सार्थक, तथा प्रभावशाली बनाने का भरसक प्रयत्न किया जाता रहा है। राज्य प्रशासन को छूने वाले अनेक प्रश्नों पर विचार करने के लिए राज्य सरकार ने समय-समय पर अनेक समितियों की रचना भी की है।

राजस्थान राज्य की कार्यपालिका

राजस्थान राज्य की कार्यपालिका से हमारा अर्थ राज्यपाल तथा मन्त्रि-मण्डल है। भारत के नये संविधान के अनुसार राज्य की कार्यपालिका शक्ति राज्यपाल में निहित होगी। राज्य के सभी महत्वपूर्ण कार्य उसके नाम से किये जायेंगे। राज्यपाल अपने राज्य में शान्ति तथा सुव्यवस्था बनाये रखने का उत्तरदायी होता है। परन्तु व्यवहार में राज्य की कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग मन्त्रि-मण्डल के द्वारा किया जाता है। हमने संसदीय शासन व्यवस्था अपनाई है। इस प्रकार की शासन व्यवस्था का सबसे महत्वपूर्ण गुण यह होता है कि इसमें मुख्य

कार्यपालिका एक संवैधानिक शासक होता है और मन्त्रि-मण्डल के पास वास्तविक शक्तियाँ होती हैं जो कि व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होता है। अतः राज्यपाल की राज्य में वही स्थिति है जो संघ में राष्ट्रपति की। संविधान की धारा 154 (1) के अनुसार, राज्य की समस्त कार्यपालिका शक्तियाँ राज्यपाल में निहित की गई हैं। इसमें उल्लेख है कि राज्यपाल अपनी इन शक्तियों का प्रयोग संविधान के अनुसार या तो स्वयं करेगा अथवा अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के माध्यम से करेगा। राज्यपालों की समिति (1971) के प्रतिवेदन में कहा गया है कि "राज्य की कार्यपालिका शक्तियाँ राज्यपाल में निहित हैं, किन्तु इनका प्रयोग कानूनों तथा वास्तविक दृष्टि से व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी मन्त्रिपरिषद् द्वारा किया जाता है। राज्य के अध्यक्ष के रूप में राज्यपाल का यह कर्तव्य है कि इस उत्तरदायित्व की वास्तविकता का ध्यान रखे।"

राज्यपाल की नियुक्ति (Appointment) : राज्य के राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति स्वयं अपने हस्ताक्षर तथा मुद्रा लगाकर करता है। प्रस्तावित संविधान में निर्वाचित राज्यपाल की व्यवस्था की गई थी, परन्तु इस व्यवस्था की कड़ी आलोचना की गई। आलोचकों का कहना था कि मन्त्री तथा राज्यपाल दोनों ही जनता द्वारा सीधे चुने जायेंगे तब प्रत्येक राज्य में संवैधानिक गतिरोध की दशा उत्पन्न होने की सम्भावना बनी रहेगी। कारण कि राज्यपाल और मन्त्री दोनों ही जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व करेंगे तथा राज्यपाल और मन्त्री दोनों में से कोई भी किसी प्रश्न पर आत्म-समर्पण करने को तैयार न होगा। प्रारूप समिति ने राज्यपालों की नियुक्ति का एक और मार्ग सुझाया, जिसके अनुसार "किसी राज्य का विधान मण्डल चार व्यक्तियों के नाम की सूची तैयार करे (जिनके लिए उसी राज्य के निवासी होने की शर्त नहीं होगी) और उन चारों नामों में से भारत का राष्ट्रपति किसी एक को राज्य के राज्यपाल के लिए नामांकित कर दे।" परन्तु इस प्रस्ताव को भी अस्वीकृत कर दिया गया। अन्त में यह निर्णय किया गया कि राज्यपाल राष्ट्रपति द्वारा नामांकित हो।

राज्यपाल की नियुक्ति के सम्बन्ध में कुछ अभिसमय (Convention) विकसित हुए हैं जैसे—यह प्रायः अन्य राज्य का निवासी होता है। फलतः वह गुटबन्दी से अलग रहता है और राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा देता है। राज्यपाल की नियुक्ति से पूर्व सम्बन्धित राज्य के मन्त्रिमण्डल से प्रायः परामर्श कर लिया जाता है, किन्तु प्रत्येक स्थिति में संघ राज्य सरकार की बात मानने के लिए बाध्य नहीं है। 1967 में बंगाल में श्री धर्मवीर तथा बिहार में श्री नित्यानन्द कानूनगो की नियुक्तियाँ सम्बन्धित राज्य मन्त्रिमण्डलों की राय के विरुद्ध की गई थीं। राज्यपाल की नियुक्ति के सम्बन्ध में यह एक गलत परम्परा विकसित हुई है कि निर्वाचन में हारे हुए या असफल राजनीतिज्ञ सत्तारूढ़ दल द्वारा राज्यपाल बना दिये जाते हैं। जैसे के० सन्थानम, हाफिज

मोहम्मद, इब्राहीम, अजीत प्रसाद जैन, डॉ० सम्पूर्णानन्द, मोहनलाल सुखाड़िया आदि। एक अन्य अस्वस्थ परम्परा यह विकसित हुई है कि अवकाश प्राप्त लोक-सेवकों को राज्यपाल बना दिया जाता है जैसे पंजाब में श्री धर्मवीर तथा उड़ीसा में श्री नागेश नियुक्त किये गए। इस प्रकार की नियुक्ति के विरुद्ध यह तर्क दिया जाता है कि लोक सेवक मन्त्रालय के अधीन रहकर कार्य करते हैं अतः उनमें अधीनस्थ की मनोभावना उत्पन्न हो जाती है। वह राज्यपाल के रूप में मन्त्रिमण्डल को परामर्श, निर्देशन एवं चेतावनी देने में अक्षम रहता है।

पद की अवधि (Tenure):—साधारणतया राज्यपाल पाँच वर्ष की अवधि के लिए राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जाता है। कार्यकाल की समाप्ति के पूर्व राज्यपाल अपने पद से हटने के लिए *त्यागपत्र* दे सकता है। दूसरी ओर राष्ट्रपति चाहे तो उसे कार्यकाल के पूर्व भी हटा सकता है। अतः यह कहा जाता है कि राज्यपाल राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त अपने पद पर रहता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में राज्यपाल जनता के द्वारा निर्वाचित व्यक्ति होते हैं और उनको केवल राज्य के विधान-मण्डल द्वारा सफल महाभियोग के द्वारा ही पद से हटाया जा सकता है।

पद के लिए योग्यताएँ (Qualifications):—भारतीय संविधान की धारा 157 के अनुसार कोई भी व्यक्ति उस समय तक राज्यपाल नहीं बन सकता जब तक वह भारत का नागरिक न हो और उसकी आयु कम से कम 35 वर्ष की हो। इसके अतिरिक्त धारा 158 के अनुसार राज्यपाल संसद् या विधान-मण्डल के किसी सदन का सदस्य नहीं होना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति जो संसद् या विधान-मंडल का सदस्य हो और उसकी *नियुक्ति राज्यपाल* के पद पर की जाती है तो उसे पद ग्रहण करने के समय सदन की सदस्यता से त्यागपत्र देना होगा। इसके अतिरिक्त राज्यपाल अन्य कोई लाभ का पद ग्रहण नहीं कर सकता है। इन योग्यताओं के अतिरिक्त व्यवहार में कुछ अन्य बातें भी देखी जा सकती हैं। राज्यपाल का पद निष्पक्ष कार्य की मांग करता है अतः वह न केवल राजनीतिक लगावों से अलग हो अपितु उसकी राजनीतिक महत्त्वकांक्षाएँ भी न हों। प्रशासनिक सुधार आयोग के अध्ययन दल ने इस सम्बन्ध में यह सुझाव दिये हैं कि "राज्यपाल पद पर नियुक्त किया जाने वाला व्यक्ति 60 वर्ष की आयु वाला होना चाहिए, उसे सार्वजनिक जीवन का पर्याप्त अनुभव हो और वह सभी राजनीतिक लगावों से स्वतन्त्र हो। यह उसका अन्तिम पद होना चाहिए इसके पश्चात् वह केवल उपराष्ट्रपति या राष्ट्रपति के पद को छोड़ कर किसी अन्य पद को उसे नहीं दिया जाना चाहिए।"

वेतन तथा भत्ते (Pay and Allowances):—राज्यपाल के वेतन, भत्ता तथा विशेषाधिकार आदि संसद् कानून के द्वारा निर्धारित करती है। जब तक संसद् कानून द्वारा अन्यथा निर्णय न करे, राज्यपाल को *5,500 रुपए मासिक वेतन तथा* अन्य भत्ते दिये जाएँगे। राज्यपाल का वेतन तथा भत्ते उसके कार्यकाल में कम नहीं किये जा सकते हैं। राज्यपाल को रहने के लिए किराया रहित निवास स्थान दिया

जाता है, जिसमें सभी आवश्यक सुविधाएं होती हैं। इस निवास स्थान को राज-भवन कहा जाता है।

पद की शपथ (Oath of Office).—राज्यपाल को अपने पद ग्रहण करने से पूर्व उस राज्य के उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के सम्मुख शपथ या प्रतिज्ञा निम्नलिखित शब्दों में लेनी होती है तथा उस पर हस्ताक्षर करने होते हैं—

मैं (नाम) $\frac{\text{ईश्वर की शपथ लेता हूँ}}{\text{सत्यनिष्ठा से प्रतिज्ञा करता हूँ}}$ कि मैं श्रद्धापूर्वक (राज्य का नाम) राज्यपाल के कार्यों का पालन करूंगा तथा अपनी सम्पूर्ण योग्यता से संविधान और विधि की परीक्षण, संरक्षण तथा प्रतिरक्षण करूंगा और मैं (राज्य का नाम) जनता की सेवा और कल्याण में निरत रहूँगा।"

राज्यपाल अपने पद के निर्वहन में जो कार्य करता है और उससे प्राप्त अधिकारों का उपयोग करता है इसके लिए वह किसी भी न्यायालय के प्रति उत्तर-दायी नहीं होता। उसकी पदावधि में उसे बन्दी या कारावासी करने के लिए किसी भी न्यायालय से कोई आदेशिका नहीं निकाली जा सकती।

राज्यपाल की शक्तियाँ (Powers of the Governor).— संविधान ने राज्यपाल को अपने उत्तरदायित्व को पूरा करने के लिए अनेक प्रकार की शक्तियाँ दी हैं। अध्ययन की दृष्टि से इन्हें मुख्य रूप से चार भागों में बाटा जा सकता है—(1) कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियाँ, (2) विधायिनी शक्तियाँ, (3) न्यायिक शक्तियाँ तथा (4) वित्तीय शक्तियाँ।

कार्यपालिका शक्तियाँ (Executive Powers):—संविधान की धारा 154 नियुक्त करती है कि राज्य की कार्यपालिका शक्ति राज्यपाल में निहित होगी तथा वह इसका प्रयोग इस संविधान के अनुसार या तो अपने आप या अपने अधीनस्थ अधि-कारियों के द्वारा करेगा। राज्य के समस्त कार्यपालिका सम्बन्धी कार्य राज्यपाल के नाम से किये जाते हैं। वह उन सब विषयों का प्रशासन चलाता है जिनके सम्बन्ध में राज्य के विधान-मण्डल को कानून बनाने का अधिकार प्राप्त है।

राज्यपाल के कार्यों [redacted] मन्त्रणा देने के लिए राज्य में मन्त्रि-मण्डल की व्यवस्था की जाती है, इसका प्रधान मुख्य मन्त्री कहलाता है। मुख्य मन्त्री की नियुक्ति राज्य-पाल के द्वारा की जाती है तथा अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति वह मुख्य मन्त्री की सलाह पर करता है, मन्त्री अपने पद पर राज्यपाल के प्रसाद पर्यन्त ही रहते हैं। राज्य की सरकार का कार्य सुविधाजनक चलाने तथा मन्त्रियों में इसका विभाजन करने के लिए वह नियम बना सकता है। संविधान में राज्यपाल को अपने विवेक से कार्य करने की अनुमति दी गई है। कौन सा कार्य वह अपने विवेक से करेगा यह भी उसके विवेक पर ही निर्भर करता है। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि हमने संसदात्मक शासन पद्धति को अपनाया है जिसके अनुसार वास्तविक कार्यपालिका शक्ति मन्त्रि-मण्डल में निवास करती है और शासनाध्यक्ष केवल नाममात्र का अध्यक्ष होता है। वास्तव में

मन्त्रि अपने पद पर उस समय तक बने रहेंगे जब तक कि उनको *विधान-मण्डल का* विश्वास प्राप्त हो। वह राज्य के महाधिवक्ता को नियुक्त करता है। उसको राज्य के लोक-सेवा आयोग के सभापति तथा अन्य सदस्यों को नियुक्त करने का भी अधिकार है। इसके अतिरिक्त आंग्ल भारतीय समुदाय के एक प्रतिनिधि को विधान सभा में नियुक्त करने का अधिकार है, यदि उनको चुनाव में उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त न हो।

धारा 167 व्यवस्था करती है कि प्रत्येक राज्य के मुख्य मन्त्री को, राज्य-कार्यों के बारे में मन्त्रि-परिषद् के सारे निश्चय और कानून बनाने के लिए प्रस्तावों को राज्यपाल को पहुँचाने का, राज्य कार्यों के प्रशासन के बारे में तथा कानून बनाने के प्रस्तावों के बारे में, जिस जानकारी को राज्यपाल मंगवाये, उसको देने का तथा किसी विषय को, जिस पर अलग-अलग मन्त्रियों ने निश्चय कर लिया हो, किन्तु मन्त्रि परिषद् ने विचार नहीं किया हो, राज्यपाल के चाहने पर परिषद् के सामने विचार के लिए रखने का कर्तव्य होगा।

धारा 166 के अनुसार, राज्य सरकार की समस्त कार्यपालिका कार्यवाही राज्यपाल के नाम से की हुई कही जाएगी। राज्यपाल के नाम से दी गई आज्ञायें और दूसरे लेखों को उसी तरह से सही किया जायेगा जो राज्यपाल द्वारा बनाये जाने वाले नियमों में कहे गए हों तथा इस तरह सही किये गये आदेश या लिखित पर सन्देह इस बात पर न किया जायेगा कि वह राज्यपाल द्वारा दिया गया आदेश या लिखित नहीं है।

विधायिनी शक्तियाँ (Legislative Powers)—संविधान में राज्यपाल को बहुत सी विधायिनी शक्तियाँ दी गई है। धारा 174 के अनुसार, राज्यपाल विधान-मण्डल सदन या सदनों का अधिवेशन बुला सकता है। उसे यह भी अधिकार है कि वह किसी समय और किसी स्थान पर विधान-मण्डल का अधिवेशन बुला सकता है। परन्तु संविधान की धारा में यह स्पष्ट किया गया है कि विधान-मण्डल के दो अधिवेशनों के बीच छः मास से अधिक का समय नहीं होना चाहिए। राज्यपाल विधान-मण्डल को या उसके एक सदन को स्थगित कर सकता है और वह विधान सभा को विघटित भी कर सकता है। वह विधान-मण्डल के किसी एक सदन को या दोनों सदनों को एक साथ सम्बोधित कर सकता है। वह धन विधेयकों के अतिरिक्त अन्य विधेयकों को पुनर्विचार के लिए विधान मण्डल के पास भेज सकता है। राज्यपाल विधान-मण्डल के किसी सदन को सन्देश भेज सकता है तथा सम्बन्धित सदन उस पर शीघ्रातिशीघ्र विचार करेगा। राज्यपाल के लिए यह आवश्यक है कि वह प्रत्येक आम चुनाव के पश्चात् और प्रति वर्ष के प्रथम अधिवेशन में विधान सभा को (जहाँ दो सदन हो वहाँ दोनों सदनों को एक साथ) सम्बोधित करे। पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल, बम्बई, मैसूर, मद्रास और मध्य प्रदेश में द्वि-सदनात्मक विधान-मण्डल हैं तथा शेष राज्यों में एक सदन वाले विधान मण्डल हैं।

राज्यपाल की अनुमति के बिना कोई भी विधेयक कानून नहीं बन सकता। इसलिए जब कोई विधेयक विधान-मण्डल से पारित हो जाता है तो उसे राज्यपाल के पास हस्ताक्षर के लिए भेजा जाता है। राज्यपाल चाहे तो विधान-मण्डल के द्वारा पारित विधेयक को उसके पुनः विचार के लिए भेज सकता है या वह किसी विधेयक को राष्ट्रपति की अनुमति के लिए रक्षित कर सकता है। यदि किसी विधेयक को राज्य विधान-मण्डल राज्यपाल द्वारा दिये गये सुझावों सहित या उनके बिना दुबारा पास कर दे तो राज्यपाल को अपनी अनुमति देनी पड़ेगी अर्थात् अपने हस्ताक्षर करने होंगे। परन्तु इस प्रकार की व्यवस्था वित्त विधेयक पर लागू नहीं होगी। वह इस प्रकार के विधेयक को पुनर्विचार के लिए नहीं भेज सकता।

राज्यपाल को अध्यादेश जारी करने का भी अधिकार प्राप्त है। अध्यादेश उस समय जारी किये जाते हैं जबकि विधानसभा का अधिवेशन नहीं हो रहा हो। राज्यपाल केवल उन विषयों पर अध्यादेश बना सकता है जिन विषयों पर विधान सभा को कानून बनाने के अधिकार प्राप्त हैं। ऐसे किसी अध्यादेश का वही प्रभाव होता है जो राज्य की विधान सभा द्वारा बनाये गये किसी कानून का। परन्तु ये अध्यादेश विधान सभा के अधिवेशन प्रारम्भ होने के तुरन्त पश्चात् उसके विचारार्थ पेश किये जाते हैं और अधिवेशन प्रारम्भ होने के छः सप्ताह बाद लागू नहीं रहते हैं जब तक कि इसके पहले विधान सभा इसे स्वीकृत घोषित न कर दे। विधान सभा इसके पहले भी उसे रद्द घोषित कर सकती है तथा राज्यपाल भी उन्हें किसी समय वापिस ले सकता है। कुछ ऐसे विषय भी होते हैं जिन पर राज्यपाल को अध्यादेश जारी करने से पूर्व राष्ट्रपति की अनुमति लेनी आवश्यक होती है। कुछ ऐसे विषय भी हैं जिन पर कानून बनाने से पूर्व भी राष्ट्रपति की पूर्व-अनुमति या बाद में स्वीकृति आवश्यक होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राज्यपाल विधान-मण्डल का एक अंग है जिस प्रकार कि राष्ट्रपति संसद् का।

न्यायिक शक्तियाँ (Judicial Powers) :—राज्यपाल को अनेक प्रकार की न्याय सम्बन्धी शक्तियाँ भी प्राप्त हैं। उसे यह अधिकार प्राप्त है कि राज्य के किसी कानून के विरुद्ध किसी अपराध के लिए दण्डित व्यक्ति के दण्ड को क्षमा कर सकता है, कम कर सकता है, कुछ समय के लिए स्थगित कर सकता है। राज्यपाल के इस शक्ति के सम्बन्ध में कमाण्डर नानावटी के मामले में बम्बई उच्च न्यायालय ने विचार किया था। उसका मत था कि राज्यपाल की शक्ति इंग्लैण्ड के सम्राट तथा सं० रा० अमेरिका के राष्ट्रपति के समान है। राज्यपाल इस शक्ति का प्रयोग मुकदमों के पहले, बीच में और बाद में कर सकता है। यद्यपि, राज्यपाल की यह शक्ति बहुत व्यापक है और उसे इसका प्रयोग जहाँ तक हो, कम ही करना चाहिए। परन्तु राज्यपाल संघ के कानूनों को तोड़ने वाले तथा मृत्यु दण्ड पाये हुए व्यक्तियों को क्षमा प्रदान नहीं कर सकता क्योंकि वे राष्ट्रपति के अधिकार क्षेत्र में आते हैं।

इसके अतिरिक्त राज्य के उच्च न्यायालय में न्यायाधीशो की नियुक्ति में उसकी सलाह ली जाती है तथा उस सलाह पर गहराई से विचार भी किया जाता है। जिला न्यायाधीशो की नियुक्ति तथा पदोन्नति भी राज्यपाल के द्वारा की जाती है। राष्ट्रपति की तरह राज्यपाल के विरुद्ध किसी प्रकार की फौजदारी कार्यवाही नही की जा सकती है तथा दीवानी कार्यवाही के लिए दो माह का नोटिस आवश्यक है। राज्यपाल के विरुद्ध किसी प्रकार का अभियोग नही चलाया जा सकता जब तक कि वह अपने पद पर आरूढ हो।

वित्तीय शक्तियाँ (Financial Powers) —संविधान की धारा 202 के अनुसार राज्यपाल वित्तीय वर्ष प्रारम्भ होने के पूर्व वित्त मन्त्री द्वारा राज्य के विधान मण्डल के सम्मुख वार्षिक वित्त वितरण (बजट) रखता है। इसमे आगामी वर्ष के आय व्यय का विवरण होता है। कोई भी अनुदानो की माँग राज्यपाल की सिफारिशो के अतिरिक्त नही की जायेगी। धारा 205 के अन्तर्गत राज्यपाल पूरक, अतिरिक्त या अधिक अनुदानो की माँग राज्य विधान मण्डल से कर सकता है।

चौथे आम चुनाव के बाद राज्यपाल की भूमिका.—राज्यपाल की स्थिति के सम्बन्ध मे चौथे आम चुनावो के पश्चात् कई प्रकार के मतभेद बढ़ गये हैं। इसका कारण यह है कि इस आमचुनाव के पश्चात् आधे से अधिक राज्यो मे गैर-कांग्रेसी सरकारें बनी जिनसे मुख्य मन्त्री तथा राज्यपाल के अधिकारो को लेकर कई प्रकार के मतभेद हमारे सामने आये है। वास्तव मे राज्यपाल एक संवैधानिक प्रमुख होगा अथवा नही—इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट नही है। संविधान की धारा 163 (1) मे लिखा है जिन बातो मे राज्यपाल के लिए आवश्यक है कि वह स्वविवेक से कार्य करे, उन सब कार्यों को छोड़कर राज्यपाल की सहायता व मन्त्रणा के लिए एक मन्त्रि-मण्डल होगा जिसका अध्यक्ष मुख्य मन्त्री होगा। इसके अतिरिक्त संविधान मे यह भी लिखा है कि मन्त्री-मण्डल सामूहिक रूप से विधान सभा के प्रति उत्तरदायी होगा। इन सब बातो पर विचार करके हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि कुछ विशेष परिस्थितियो को छोड कर राज्यपाल अपने मन्त्रि-मण्डल की मन्त्रणा से बाध्य होगा। सन् 1935 के भारतीय अधिनियम के अनुसार राज्यपाल को अनेक प्रकार की स्वविवेक अथवा स्वेच्छाचारी शक्तियाँ दी गई थी, परन्तु नये संविधान मे ये सब शक्तियाँ राज्यपाल से ले ली गई हैं। राज्यपाल को अब केवल संवैधानिक प्रमुख बना दिया गया है और राज्यो मे उत्तरदायी सरकार की स्थापना कर दी गई है। इसलिए राज्यपाल बहुमत दल के नेता को मन्त्रि-मण्डल के निर्माण के लिए बुलाता है और उसे मुख्य मन्त्री नियुक्त करता है। राज्यपाल मुख्य मन्त्री की सलाह पर अन्य मन्त्रियो की नियुक्ति करेगा तथा समस्त प्रशासकीय कार्य उन्ही की मन्त्रणा तथा सलाह के अनुसार चलायेगा। दूसरे शब्दो मे हम कह सकते हैं कि राज्यपाल की सारी शक्तियों का प्रयोग मुख्य-मन्त्री करेगा और राज्यपाल के नाम पर सारा प्रशासन चलायेगा। राज्यपाल को केवल अपने मन्त्रियो को मन्त्रणा, चेतावनी, और प्रोत्साहन देने का

अधिकार होगा। दूसरी ओर मुख्य मन्त्री का यह कर्तव्य होगा कि वह राज्यपाल को मन्त्रि-मण्डल के निर्णयों से पूरी तरह सूचित रखे और राज्यपाल को प्रशासन सम्बन्धी पूर्ण जानकारी प्रस्तुत करे।

चौथे आम चुनावों के बाद राज्यपालों की भूमिका —1967 में चौथे आम चुनावों के बाद राज्यपाल की भूमिका बड़ी विवादास्पद रही है। उन्होंने कई अवसर पर अपने स्वविवेक का प्रयोग किया। इस चुनाव से राज्यों की राजनीति में मौलिक परिवर्तन हुआ, सत्ता पर कांग्रेस का एकाधिकार टूटा, अनेक राज्यों में गैर-कांग्रेसी सरकारों का निर्माण हुआ और कांग्रेस को विरोध पक्ष में बैठना पड़ा। राज्यों की राजनीतिक अस्थिरता ने, विधानसभा में किसी दल के स्पष्ट बहुमत के अभाव ने, दल-बदलुओं की राजनीति ने, सत्तारूढ़ दल या दलों की फूट ने और प्रचलित सिद्धान्त-हीन राजनीति ने राज्यों के राज्यपालों को अनेक अवसर प्रदान किये जिनमें वे अपने स्वविवेक (Discretion) के अधिकारों का प्रयोग स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकते थे। अतः राज्यपाल के जिस पद को विनयी, निष्क्रिय, संवैधानिक, "अतिथियों का सत्कार करने वाला" समझा जाता था वही राज्यपाल का पद अकस्मात उभर कर सामने आया और उसकी वास्तविकता, सक्रियता और महत्त्व को परिलक्षित करना शुरू कर दिया। यह स्पष्ट होने लगा कि राज्यपाल संवैधानिक अध्यक्ष होते हुए भी, केवल नाम-मात्र का अधिकारी नहीं, अपितु ऐसा पदाधिकारी है जो राज्य के प्रशासन में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है।

राज्यपालों के स्वविवेक के बढ़ने का एक कारण यह भी था कि राज्यों में जिन संयुक्त मोर्चे की सरकारों का निर्माण किया गया उनमें 'वैचारिक साम्यता का अभाव' था; उनमें सिद्धान्तों और आदर्शों की एकता नहीं थी, वे तो कांग्रेस विरोध-वाद अर्थात् कांग्रेस हटाओ की नकारात्मक विचारधारा पर संयुक्त हुए थे और जैसे ही पद और लाभ के अवसर समाप्त हुए संयुक्त सरकारों के साझेदारों ने अपने समर्थन को वापस ले लिया और संयुक्त सरकारों का पतन हुआ। मार्च 1967 से लेकर मार्च 1972 तक देश के विभिन्न भागों में 24 बार सरकारों का पतन हुआ तथा 15 बार राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। इन अवसरों पर राज्यपालों को स्वविवेक से द्वारा कार्य करने का अवसर प्राप्त हुआ। राज्यपालों को ऐसे निर्णय लेने पड़े जो कभी-कभी न्यायोचित प्रतीत होते थे, कभी-कभी राजनीतिक विचारों से प्रभावित प्रतीत होते थे और कभी-कभी केन्द्र द्वारा निर्देशित प्रतीत होते थे। राज्यपालों के इन्हीं निर्णयों ने उग्र संवैधानिक विवाद को जन्म दिया और राज्यपालों के आचरण पर क्रिया-प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई। यहाँ कुछ ऐसे ही उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

(1) विधानसभा में बहुमत के दावे का निर्णय :—जब तक विधानसभा में किसी एक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त था और उसमें अपने नेता को चुनने की क्षमता

नहीं उठता। परन्तु जैसे ही दो या तीन दल या उनका गठबन्धन बहुमत का दावा करता है और अपने को मन्त्रिमण्डल के निर्माण का अधिकारी मानता है तो उस समय राज्यपाल का यह कार्य हो जाता है कि वह निश्चित करे कि किस दल का बहुमत है और किसे मुख्य मन्त्री बनाने के लिए आमन्त्रित किया जाना चाहिए। सन् 1967 के आम चुनावों के बाद ऐसे कई मामले पैदा हुए।

(2) **व्यवस्थापिका का अधिवेशन बुलाना, स्थगित करना तथा भंग करना**—जब राज्यों में स्थायित्व पाया जाता है तो इस सन्दर्भ में राज्यपाल किसी भी अधिकार का प्रयोग नहीं कर सकता और अपने दायित्वों को मुख्यमन्त्री की राय से पूरा करता है। परन्तु संयुक्त विधायक दलों के मन्त्रिमण्डलों के युग में जब कोई मुख्यमन्त्री विधानसभा में बहुमत का समर्थन अपने दल के सदस्यों में दल बदल के कारण अथवा संयुक्त मोर्चे के किसी घटक के उसमें हट जाने के कारण खो देता था, तो उसे यह प्रलोभन होता था कि वह कुछ दिनों अपने पद पर बना रहे ताकि विरोधी सदस्यों को लालच देकर वह अपने साथ ले सके और विधानसभा में अपने बहुमत को दुबारा कायम कर सके। यदि मुख्यमन्त्री ने बहुमत का समर्थन विधानसभा के अधिवेशन के समापन के फौरन बाद खोया है तो वह संविधान की 174 (1) वीं धारा के अनुसार छः महीने तक विधानसभा का अधिवेशन बुलाये बिना अपने पद पर बना रह सकता है। कुछ मामलों में राज्यपालों ने मुख्यमन्त्री से कहा कि वे विधानसभा के अधिवेशन को बुला कर यह पता लगायें कि उन्हें बहुमत का समर्थन प्राप्त है। यदि मुख्यमन्त्री ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया तो राज्यपाल ने अपना विवेक का प्रयोग करके उन्हें पदच्युत कर दिया। इस प्रकार की घटना सर्व प्रथम प० बंगाल में घटी। वहाँ डॉ० पी० सी० घोष के नेतृत्व में 17 विधायकों ने श्री अजय मुखर्जी के नेतृत्व में गठित संयुक्त मोर्चे की सरकार से अपना समर्थन वापिस ले लिया। राज्यपाल श्री धर्मवीर ने मुख्यमन्त्री से कहा कि 23 नवम्बर, 1967 तक विधानसभा का अधिवेशन बुला कर अपनी स्थिति का परीक्षण करें। मुख्यमन्त्री ने राज्यपाल का परामर्श यह कह कर अस्वीकार कर दिया कि विधानसभा का अधिवेशन छः महीने की अवधि में कभी भी बुलाया जा सकता है तथा वह राज्यपाल के परामर्श को मानने के लिए बाध्य नहीं है। इस पर राज्यपाल ने मुख्यमन्त्री को पदच्युत कर दिया और उसके स्थान पर डॉ० पी० सी० घोष को नियुक्त कर दिया गया। यदि अन्य राज्यों में समान परिस्थितियों में यही कदम उठाया जाता है तो सम्भवतः पश्चिमी बंगाल के राज्यपाल के कार्यों की इतनी तीव्र आलोचना न की जाती। बिहार, उत्तर प्रदेश आदि अन्य राज्यों में राज्यपालों ने समान समस्या होते हुए भी अलग अलग कदम उठाये। इतना ही नहीं कई राज्यपालों ने बहुमत खोये हुए मुख्यमन्त्रियों के परामर्श पर विधान मंडल भंग कर दिया जबकि गैर-कांग्रेसी राज्यों में ऐसा होने पर राज्यपाल ने उनके परामर्श को स्वीकार नहीं किया। इतना ही नहीं ऐसे भी मुख्य मन्त्रियों का उदाहरण है जिन्होंने अपने मन्त्रिमण्डल के लिए संकट उपस्थित होने पर स्पीकार (Speaker) के

द्वारा विधान सभा के अधिवेशन का स्थगन करवा दिया और फिर राज्यपाल के द्वारा उसका समापन करवा दिया।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि राज्यपालों ने अपनी इन संवैधानिक शक्तियों का प्रयोग इस प्रकार से नहीं किया जिससे उनकी राजनीतिक निष्पक्षता की अभिव्यक्ति होती हो। अतः यह स्वाभाविक ही था कि गैर-कांग्रेसी नेता और सार्वजनिक लोग राज्यपालों के कार्यों की आलोचना करते। यह भी सुझाव दिया गया कि राज्यपालों द्वारा अपनी शक्ति के दुरुपयोग को रोकने के लिए कुछ निर्देश (Guidelines) होनी चाहिए। परन्तु इनसे समस्या का समाधान हो सकेगा; यह बात सन्देहपूर्ण है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि राजनीतिक दलों में अनुशासन को व्यावहारिक रूप दिया जाय, संसदीय शासन व्यवस्था के नियमों का ईमानदारी के साथ पालन किया जाये।

राज्यपाल की स्थिति के सम्बन्ध में कई व्यक्तियों ने (जिनमें कुछ राज्यपाल रह चुके हैं) अपने विचार व्यक्त किये हैं। कुछ विचार नीचे प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

श्री एच० पी० मोदी, जो उत्तर प्रदेश के राज्यपाल थे, ने अपनी स्थिति को बताते हुए कहा है कि—"यह बताये जाने पर कि मुझे वैधानिक स्थिति के अनुसार कार्य करना है, राज्यपाल को बहुत ही कम काम करना पड़ता है। इसलिए इस तरह का कार्य मेरी ज़िन्दगी में, जैसी कि मैं बिता चुका हूँ, पूरी तरह से मुश्किल से ही होता। इसलिए मैंने कार्य पैदा करने की कोशिश की। ऐसा हो सकता है कि मैं आडम्बर से घुसा था परन्तु किसी भी तरह मैंने अपने लिए तथा अपने कर्मचारियों के लिए बहुत सा काम पैदा किया।"

उन्होंने आगे कहा—"मैंने किसी भी फाइल को बिना पढ़े हस्ताक्षर नहीं किए। अगर मैं किसी मामले को समझ नहीं पाता था किसी मामले पर व्याख्या की आवश्यकता होती, तब पन्तजी के सौजन्य से मैं सदैव ही विभागीय सचिव को बुलाने में समर्थ होता था, कभी मुख्य सचिव, कभी विभागों के सचिव और कभी-कभी विभागों के अध्यक्षों को। मैं इस बात को जानता हूँ कि दूसरे राज्यों में न तो यह प्रथा लागू है और न मान्य ही। किन्तु मैं इसके लिए, यह बहुत से कार्यों में से एक है, पन्तजी का आभारी हूँ। उन्होंने कभी आपत्ति या सन्देह नहीं किया। मैंने व्यापारी होने के नाते, व्यापारी ढंग से सोचा कि मन्त्रियों को परेशान करना ठीक नहीं था जो पहले ही अधिक कार्यों में दबे हुए हैं और मेरे पास बुलाने पर इसलिए आते हैं कि मैं राज्यपाल हूँ। इसलिए व्यक्तिगत सचिवों व विभागीय अध्यक्षों को बुलाते समय मैंने कहा—क्यों न मैं ऐसे मामलों में उनसे अपने आप पूछ-ताछ करूँ जो मुझे सीधे बता सकते हैं।"

श्रीपट्टाभी सीतारमैया, जो मध्य प्रदेश के राज्यपाल रह चुके थे, के अनुसार—"राज्यपाल का कार्य मेहमानों की इज्जत करना, उनको चाय, भोजन तथा दावत

कार्य मेहमानो और बुलाये गये लोगो की सूची ठीक करना है। कभी कभी वे पाते है कि पति पत्नियो को अलग-अलग बुलाया गया है। यदि पति और पत्नी को बुलाया गया तो बच्चो को शरारत करने के कारण छोड दिया गया। भोजन तथा दावत के मेहमानो मे भी फर्क रहता है। यह कहा गया कि पाक्षिक रिपोर्ट राष्ट्रपति को भेजनी होती है किन्तु इसके अतिरिक्त और कुछ रिपोर्ट मे था ही नही।" ("The duties of a Governor lay more invisitors and in vitees to lunch and dinner. Some times, he found that either the husband or the wife were separately invited. If both the husband and wife came, the children were kept out for their nuisance value. He pointed out that he was supposed to send a fortnightly report is the President of India, but from the entertainment, he did not know, what to report.")

श्री श्रीप्रकाश, राज्यपाल, मद्रास ने अपनी स्थिति का वर्णन करते हुए कहा है—"मुझे पूरा विश्वास है कि मुझे बिन्दुओ मे चिन्हित लाइन पर हस्ताक्षर केवल वैधानिक राज्यपाल के नाते करने हैं। किन्तु मैंने अपने आपको 'तिरकुश' पाया क्योकि घटना ऐसी हुई कि कार्य मुक्त होकर जाने वाले मुख्य मन्त्री ने मुझे कोई परामर्श नहीं दिया और नये मुख्यमन्त्री ने अपना स्थान ग्रहण नही किया था। मैं नही जानता कि श्री अय्यर ने ऐसी हालत का कभी सोचा भी हो। किन्तु इससे मुझे बहुत आराम मिलेगा कि यदि वह मुझे यकीन दिला सके कि जो कुछ मैंने किया ठीक था।" ("I am fully assured that I will have nothing to do, but to act as constitutional Governor, signing on the dotted lines ... . .")

डॉ० पी० के० सेन, ने राज्यपाल की स्थिति बताते हुए कहा कि—"राज्य पाल का मुख्य कार्य यह है कि वह देखे कि सरकार का कार्य ठीक चल रहा है या नही। उसका कार्य हस्तक्षेप करना नही अपितु अपना सहयोग देना है जिससे कि सरकार का कार्य ठीक चल सके।" ("The functions of the Governor shall be to lubricate the machine of the Government, to see that the wheels are going on well be reason not of his interference, but of friendly cooperation.")

श्री एम० आर० पालण्डे के अनुसार—"राज्यपाल राज्य का सवैधानिक प्रधान है और वास्तव मे उसके पास कोई अधिकार नही है। वह अपना कार्य मन्त्रि-मण्डल के परामर्श पर करता है। उसका कार्य इसके अतिरिक्त कुछ भी नही कि वह एक *सम्मानित व्यक्ति होता है जिसका किसी के साथ भी भेद भाव नहीं होता है।* वह राज्य के राजनीतिक दलो और गति-विधियो मे ऊपर होता है और नेताओ को आवश्यकता पडने पर वे उनसे विचार विमर्श कर सकते हैं, उनसे राय ले सकते हैं। वह राज्य के नेताओ को हमेशा ही उपलब्ध होता है।" ("He is merely

constitutional and symbolic head, possessing practically no powers in reality and acting always on the advice of his Ministers The role which he is called upon to play cannot be any other than the role of a respectable and impartial dignitary, standing above the vortex of party-politics and always available to the State Government for consultation and guidance whenever the leaders of the Government are inclined to seek them .. .. ")

उपर्युक्त विचार जो राज्यपाल के कार्यालय के सम्बन्ध में दिये गये हैं उनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि राज्यपाल एक रबर स्टाम्प की तरह है या एक संवैधानिक अध्यक्ष है जिसके पास किसी भी प्रकार के अधिकार नहीं हैं। श्री एच० वी० कामथ ने राज्यपाल के कार्यालय पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा कि "राज्यपाल एक कठपुतली की तरह होता है जो एक ओर राज्य के मुख्य मन्त्रियों, दूसरी ओर राष्ट्रपति अर्थात् वास्तव में प्रधान मन्त्री के द्वारा नियन्त्रित रखा जाता है।" ("The Governor is little more than a puppet controlled by the Chief Minister, on the one hand, and by the President, that is to say virtually by the Prime-Minister, on the other.") लेकिन वास्तव में ऐसी बात नहीं है। राज्यपाल न तो एक रबड़ स्टाम्प की तरह है और न ही यह एक अधिकार रहित राज्य का प्रधान है अपितु यह राज्य के प्रशासनिक कार्यों में अपना प्रभाव रखता है। कई ऐसी स्थितियाँ आती हैं जहाँ राज्यपाल ही उनको सम्पादित करता है और उसमें स्वविवेक काम में ले सकता है। निम्न कुछ ऐसे कार्य हैं जिनमें राज्यपाल अपने स्वविवेक को काम में लेकर स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करता है—

(क) मुख्य मन्त्री की नियुक्ति,

(ख) मन्त्रि-मण्डल को बर्खास्त करना,

(ग) राज्य की विधान सभा को भंग करना,

(घ) राष्ट्रपति को संकटकालीन स्थिति लागू करने की सलाह देना,

(ङ) मुख्य मन्त्री को कह कर किसी प्रश्न को मन्त्रि-मण्डल में रखवाना।

मलरजेण्ड्रो विच के मतानुसार, "राज्यपाल के अधिकारों के विषय में संविधान की व्यवस्था को निम्नलिखित विशेषताओं के साथ पढ़ना होगा तभी जाकर उसकी स्थिति के सम्बन्ध में सही निर्णय लिया जा सकता है। एक ओर राज्यपाल स्थानीय राज्य का प्रमुख है और दूसरी ओर वह केन्द्र का प्रतिनिधि है जिसे सब के विशाल दृष्टिकोण से केन्द्र की नीति का पालन करना होता है। उसके प्रादेशिक अधिकार, धारा 164 के अनुसार प्रादेशिक मन्त्रिमण्डल की नियुक्ति के साथ-साथ, प्रादेशिक विधान मण्डल को बुलाने, बन्द करने और भंग करने (धारा 174) तथा

विधेयकों को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित (धारा 213) तक पहुँचे हुए हैं। धारा 163 के अनुसार, अधिकांश मामलों में, वह अपना कार्य स्वेच्छा से कर सकता है। सैद्धान्तिक रूप से वह स्वयं इसका निर्णय करता है कि किन मामलों में वह अपनी स्वेच्छा से कार्य कर सकता है परन्तु स्वाधिकार का प्रयोग दो प्रकार से सीमित है। प्रादेशिक राजनीतिक क्षेत्र में उसकी स्वेच्छा कम हो जाती है और वहाँ उसे अपने मंत्रिमण्डल की सलाह पर ही कार्य करना होता है। मन्त्रि-मण्डल की नियुक्ति के सम्बन्ध में उसका निर्णय विधान मण्डल के बहुमत दल और अन्य दलों की स्थिति पर निर्भर रहता है। केन्द्रीय मामलों में उसके अधिकार, केन्द्र से प्राप्त आदेशों पर निर्भर हैं।"

क्या राज्यपाल निरंकुश बन सकता है ?—

राज्यपाल के स्वविवेक के अधिकारों पर दृष्टिपात करने से स्वतः ही एक प्रश्न मस्तिष्क में उठता है कि क्या राज्यपाल निरंकुश बन सकता है ? क्या वह अपने स्वविवेक अधिकारों का दुरुपयोग कर सकता है ? इन प्रश्नों का उत्तर सरल है। किसी भी स्थिति में राज्यपाल न तो निरंकुश बन सकता है और न ही वह अपने अधिकारों का दुरुपयोग कर सकता है जब तक कि वह संविधान की धाराओं के अनुसार कार्य करता है। जहाँ तक उसके स्वविवेक अधिकारों का प्रश्न है न तो मन्त्रि-मण्डल उसे नियन्त्रित कर सकता है और न ही राज्य विधान मण्डल परन्तु ऐसा करने पर राष्ट्रपति उसे अपने पद से हटा सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि राज्यपाल अपने स्वविवेक अधिकारों का स्वतंत्र होकर उपयोग नहीं कर सकता। उस पर हमेशा ही राष्ट्रपति अर्थात् केन्द्र की नजर होती है। अतः साधारण तथा असाधारण दोनों ही स्थितियों में वह स्वतंत्र होकर कार्य नहीं कर सकता है। वास्तव में, जब साधारण स्थिति होती है तब वह मन्त्रि-मण्डल की सलाह पर कार्य करता है। यदि वह ऐसा नहीं करता है तो राज्य में गतिरोध उत्पन्न हो जायेगा, जिसका उत्तरदायित्व राज्यपाल पर होगा। दूसरी ओर असाधारण स्थिति में (जो कि संकट के द्वारा उत्पन्न होती है—ये संकट तीन प्रकार के हो सकते हैं—(1) देश या उसके किसी भाग पर बाहरी आक्रमण का खतरा हो अथवा आन्तरिक अव्यवस्था, (2) राज्य का शासन संविधान के अनुसार न चल सके और राष्ट्रपति उस राज्य के शासन को सम्भाल ले तथा (3) जब भारत की साख अथवा आर्थिक दशा को खतरा हो) वह राष्ट्रपति के अभिकर्ता के रूप में कार्य करता है। इस समय राज्यपाल के अधिकारों में वृद्धि हो जाती है, उस समय वह अपने विवेक से कार्य करता है तथा स्थिति को सम्भालता है।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि राज्यपाल के पास कुछ अधिकार हैं। वह रबड़ स्टाम्प तथा संवैधानिक अध्यक्ष से कुछ और भी है। उसका प्रभाव राज्य के प्रशासन में देखा जा सकता है। यह सब उसके व्यक्तित्व पर निर्भर करता है। राष्ट्रपति पहले से ही ऐसे व्यक्तियों को ही इस पद के लिए चुनते हैं जो प्रशासन में

ख्याति प्राप्त हो, या सामाजिक अथवा राजनीतिक सेवा में जिनका गहन अनुदान हो। ऐसे व्यक्तियों को भले ही अधिकार नहीं दिए जाय फिर भी वे अपना राज्य के कार्यों में अनुदान देते हैं जिसको आसानी से देखा जा सकता है। संघ के राष्ट्रपति की भांति उसे भी प्रोत्साहन देने, चेतावनी देने तथा अन्य विकल्प बताने का अधिकार है। श्री बी० जी० खेर, भूतपूर्व मुख्य-मन्त्री, बम्बई के शब्दों को यहाँ लिखना उचित होगा। उनके अनुसार, राज्यपाल के पास बहुत कम अधिकार होते हुए भी यदि वह अच्छा राज्यपाल है तो अच्छे कार्य करेगा और यदि वह खराब राज्यपाल है तो कई प्रकार की अव्यवस्थायें उत्पन्न करेगा।"

श्री अल्लादी कृष्णस्वामी अय्यर ने यह कल्पना की थी कि राज्यपाल संवैधानिक प्रधान होगा। लेकिन, राज्यपाल का दुहरा व्यक्तित्व है और उसे दो प्रकार के कार्य करने पड़ते हैं। संविधान ने उसे स्वविवेक के अधिकार दिये हैं जिनके प्रयोग में वह अपनी उत्तरदायी मन्त्रियों के निर्णयों की अवहेलना कर सकता है। स्वविवेक के अनुसार कार्य करने का अर्थ मनमाने तरीके से कार्य करना नहीं है। इसका अर्थ है मर्जी के अनुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता। लेकिन, "सार्वजनिक प्रशासन में इसका अभिप्राय कतिपय परिस्थितियों में दूसरों के नियन्त्रण से स्वतन्त्र होकर अपनी अन्तरात्मा के अनुसार कार्य करना है। स्वविवेक का अभिप्राय सही और गलत के बीच निर्णय करना है। इसलिए जिसके पास स्वविवेक से कार्य करने की शक्ति है, वह बुद्धि और विधि के नियम से बंधा रहता है।"

स्वविवेक शक्तियों और विशेष उत्तरदायित्वों को छोड़कर राज्यपाल से यह आशा की जाती है कि वह संवैधानिक प्रधान के रूप में आचरण करेगा। डॉ० अम्बेडकर ने कहा था कि राज्यपाल दल का प्रतिनिधि नहीं है, अपितु वह राज्य के सम्पूर्ण जनता का प्रतिनिधि है अतः उसे सक्रिय राजनीति से पृथक् रहना चाहिए। वह एक निष्पक्ष निर्णायक की तरह है। उसे यह देखते रहना चाहिए कि राजनीति का खेल नियमानुसार खेला जाय। उसे स्वयं एक खिलाड़ी नहीं बन जाना चाहिए। उसे राज्य की प्रगति के लिए कार्य करना चाहिए।

राज्यपाल के लिए हिदायतें (Guidelines for Governors)

स्वविवेक के क्षेत्र में राज्यपाल का आचरण निष्पक्ष, प्रसंगिक और उचित हो, इस उद्देश्य को लेकर कुछ क्षेत्र में यह मांग की गई कि राज्यपालों के लिए कुछ निर्देशक रेखायें या हिदायतें प्राप्त होनी चाहिए ताकि राज्यपाल समान परिस्थितियों में एक सा आचरण कर सकें। क्योंकि सन् 1967 के बाद से भिन्न-भिन्न राज्यों में राज्यपालों ने समान परिस्थितियों के होने पर भी भिन्न भिन्न ढंग से व्यवहार किया अतः इस मांग को बल मिला। मुख्यमंत्री की नियुक्ति, पदच्युति, राज्य विधानसभा के अधिवेशन को बुलाने, उसका सत्रावसान करने और उसे भंग करने तथा राज्य में संवैधानिक तन्त्र की असफलता की सूचना देने आदि के प्रश्नों पर विचार-विमर्श

करने के लिए तत्कालीन राष्ट्रपति वी० वी० गिरि ने नवम्बर 1970 में जम्मू-कश्मीर राज्य के राज्यपाल श्री भगवान सहाय के नेतृत्व में 5 सदस्यों की एक समिति का गठन किया। ये सदस्य थे—डॉ० वी० गोपाल रेड्डी, केरल के राज्यपाल एम० वी० विश्वनाथन्, महाराष्ट्र के राज्यपाल अली यावर जंग, बंगाल के भूतपूर्व राज्यपाल एस० एस० धवन। इस समिति ने अक्टूबर 1971 में अपने प्रतिवेदन को प्रस्तुत किया जिसकी सिफारिशों को राष्ट्रपति गिरि ने "समुचित प्रज्ञान" (Pooled wisdom) की संज्ञा दी। राज्यपालों के सम्मेलन, दिसम्बर 1971 में इस प्रतिवेदन पर विचार किया गया। समिति द्वारा दिये गये मुख्य सुझाव निम्न हैं—

(1) समिति राज्यपालों के लिए निर्देश रेखाएँ (Guidelines) निर्धारित करने के पक्ष में नहीं है। समिति का विश्वास था कि संविधान किसी ऐसी सत्ता की स्थापना नहीं करता जो राज्यपाल को हिदायतें दे सके। राज्यपालों के लिए निर्देशक रेखायें अंकित कर प्रजातन्त्र को विनाश से नहीं बचाया जा सकता। यह भी हो सकता है कि निर्देशक रेखायें परिस्थितियों में निर्देशक रेखायें संवैधानिक भावनाओं के ठीक विपरीत हों। सभी परिस्थितियों की पूर्व कल्पना करना भी कठिन है। अतः प्रजातन्त्र को विनाश से बचाने के लिए विधायकों और राजनीतिक दलों में अनुशासन की आवश्यकता है, राज्यपालों के निर्देशक रेखा की नहीं।

(2) जब मुख्यमंत्री कम से कम समय विधानसभा में अपना शक्ति-परीक्षण करने के लिए तैयार न हो और वह उसका सामना करने से मुंह चुराये तो राज्यपाल मुख्यमंत्री को पदच्युत कर सकता है।

(3) किसी मुख्यमंत्री या मन्त्रिमण्डल को विधानसभा के बहुमत का समर्थन है अथवा नहीं, इसका निर्धारण विधानसभा में ही हो सकता है परन्तु कोई मुख्यमंत्री विधानसभा में शक्ति परीक्षण के प्रश्न को टालता है तो प्रथम दृष्टि में यह अनुमान लगाया जा सकता है कि मुख्यमंत्री को विधानसभा में बहुमत का समर्थन प्राप्त नहीं है।

(4) जब वैकल्पिक सरकार के निर्माण की सम्भावना न हो तब राज्यपाल राष्ट्रपति को संकट की घोषणा करने और विधानसभा को भंग करने की सिफारिश कर सकता है।

(5) सामान्यतया नामजद (Nominated) अथवा जो विधानसभा का सदस्य न हो उसे मुख्यमंत्री पद पर नियुक्त नहीं करना चाहिए। यदि किसी असदस्य को नियुक्त किया भी जाय तो शीघ्रातिशीघ्र उसके निर्वाचन की व्यवस्था होनी चाहिए और यदि छः महीने में निर्वाचित न हो सके तो उसे अपने पद से त्याग पत्र दे देना चाहिए।

(6) मुख्यमंत्री के पद-ग्रहण करने के बाद अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति में अनावश्यक देरी नहीं होनी चाहिए।

(7) संयुक्त सरकारें साझेदारों के सहयोग और समर्थन पर निर्भर करती हैं। परन्तु यदि कोई साझेदार या सत्तारूढ़ दल का कोई गुट सरकार से समर्थन वापिस ले लेता है तो मुख्यमंत्री को पद त्यागने की आवश्यकता नहीं। परन्तु यदि साझेदार या गुट के अलग होने से मुख्यमंत्री के बहुमत पर गम्भीर प्रभाव पड़ता है अर्थात् वह अल्प मत में हो जाता है तो विधानमण्डल में उसे अपनी शक्ति-परीक्षण करना चाहिए।

(8) संयुक्त दलों की सरकार को नेता के संयुक्त दलों के निर्वाचित सदस्यों द्वारा चुना जाना चाहिए।

(9) राज्यपाल मंत्रियों के परामर्श को मानने के लिए बाध्य होना चाहिए। यद्यपि परामर्श के सम्बन्ध में उसे अपनी आपत्तियां को प्रकट करने का अधिकार होना चाहिए।

(10) दल-बदल प्रथा पर रोक लगाना वांछित नहीं क्योंकि ऐसा करना कुछ संवैधानिक धाराओं की उल्लंघन करना होगा। सत्तारूढ़ दल से असहमत होना विधायकों को संसदीय अधिकार ही नहीं बल्कि प्रजातन्त्र का प्राण भी है।

(11) राष्ट्रपति सचिवालय में एक कक्ष (Cell) की स्थापना की जाय जो राज्यपाल को समय-समय पर राजनीतिक और संवैधानिक विकास के सम्बन्ध में सूचनाएँ प्रदान करता रहे और उन्हें इस बात का ज्ञान हो जाए कि अमुक राज्यपाल ने अमुक स्थिति में कैसा आचरण किया और उससे कैसे आचरण की अपेक्षा की जाए।

(12) राज्यपाल राज्य का अध्यक्ष है। वह राष्ट्रपति का अभिकर्ता नहीं। उसके कार्य का क्षेत्र संविधान द्वारा निर्धारित है।

राज्यपाल को निर्दलीय और निष्पक्ष बनाने की आवश्यकता—

सन् 1967 से 1971 के काल में राज्यपाल द्वारा अपनाये गये आचरण ने गैर-कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल के भविष्य को अन्धकार में डाल दिया। अतः राज्यपाल का पद गैर-कांग्रेसी दलों के आलोचना का पात्र बन गया। अनेक क्षेत्र में राज्यपाल के नियुक्ति और स्थिति के सम्बन्ध में मूल परिवर्तनों की माग की जाने लगी। अनेक नेताओं ने यह सुझाव दिया कि राज्यपाल की नियुक्ति राज्य सरकार के परामर्श से की जाय जिसका अनुसमर्थन संसद द्वारा किया जाय। प्रशासनिक आयोग ने भी अपने 17 जून, 1969 के प्रतिवेदन में मुख्यमंत्री से परामर्श की प्रथा को स्वस्थ परम्परा की संज्ञा दी। लोकसभा में विरोधी दल के तत्कालीन नेता श्री राम सुभाग सिंह ने यह सुझाव दिया कि राज्यपाल की नियुक्ति निष्पक्ष परामर्शदाताओं की परिषद् की सहायता से राष्ट्रपति द्वारा होनी चाहिए। संवैधानिक और संसदीय अध्ययन की संस्था के तत्कालीन कार्यकारी सभापति डॉ॰ एम॰ एल॰ सिंघवी ने भी सुझाव

दिया कि राज्यपालों की नियुक्ति के लिए एक राष्ट्रपतीय आयोग होना चाहिए जिसमें विरोधी दल का प्रतिनिधित्व होना चाहिए।

राज्यपालों पर विरोधी दलों के प्रहार का मूल कारण यह था कि उनका विश्वास था कि राज्यपाल ने अपनी संवैधानिक शक्तियों का प्रयोग न तो अपने 'सविवेक' (Discretion) के अन्तर्गत किया है और न ही 'व्यक्तिगत निर्णय' के अन्तर्गत बल्कि केन्द्र के निर्देशन पर कांग्रेस दल के राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए किया है और केन्द्र ने राज्यपालों की संवैधानिक शक्तियों का दुरुपयोग किया है।

यह सत्य है कि जब तक विधानसभा के सदस्यों में तथा राजनीतिक दलों में सार्वजनिक नैतिकता का विकास नहीं होता तथा जब तक दल-बदलू विधायकों व सम्बन्ध में किसी आचार-संहिता का विकास नहीं होता और राजनीतिक दलों में सिद्धान्त के प्रति आस्था उत्पन्न नहीं होती तब तक राज्यपालों के लिए निर्दलीयता और निष्पक्षता से कार्य करना कठिन है। फिर भी राज्यपालों को निष्पक्ष एवं निर्दलीय बनाने के लिए निम्न कुछ सुझाव दिये जा सकते हैं—

(1) राजनीति में सक्रिय या निर्वाचनों में पराजित व्यक्तियों को राज्यपाल के पद पर नियुक्त नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि राजनीति के किसी भी व्यक्ति से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह निर्दलीय व निष्पक्ष बना रह सकता है।

(2) राज्यपाल की नियुक्ति के समय उस राज्य के मुख्यमंत्री की सलाह ही न ली जाये अपितु मन्त्रिमंडल व विरोधी दल के नेताओं से भी परामर्श लिया जाय। ऐसा होने पर राज्यपाल सब राजनीतिक दलों में विश्वास पैदा करने में सफल हो सकता जो उसके लिए राजनीतिक अस्थिरता के समय अत्यधिक लाभप्रद हो सकता है।

(3) प्रशासन में पर्याप्त अनुभव वाले व्यक्ति को ही इस पद पर नियुक्त किया जाना चाहिए। चरित्रवान, ईमानदार व जन-सेवा के लिए समर्पित व्यक्तियों को राज्यपाल बनाया जाना चाहिए।

(4) राज्यपाल के सविवेक के अधिकारों की स्पष्ट व्याख्या होनी चाहिए। उनका मूल कर्तव्य संविधान और प्रजातन्त्र की रक्षा, जनता का कल्याण और सेवा भाव होना चाहिए। उसे तो निष्पक्ष और निर्दलीय पर्यवेक्षक की भांति राज्य की राजनीतिक घटनाओं को देखना चाहिए न कि किन्हीं दलीय भावना से प्रेरित होकर।

(5) राज्यपाल पांच वर्ष के बाद पुन नियुक्त नहीं किया जाना चाहिए। साथ ही इस अवधि के बाद उसे राजनीति से सन्यास ले लेना चाहिए अर्थात् उसे किसी अन्य लाभ के पद पर नियुक्त नहीं किया जाना चाहिए। ऐसा न होने पर राज्यपाल अपने केन्द्रीय स्वामियों की इच्छा पूर्ति में ही लगा रहेगा जो उसकी निष्पक्षता में बाधा उपस्थित कर सकती है। सेवानिवृत्ति के बाद उसे पेन्शन दी जा सकती है।

(6) राज्यपाल को केवल केन्द्र का अभिकर्त्ता (Agent) मात्र नहीं होना चाहिए। जहां उसे राष्ट्रीय एकता के हितों की रक्षा करनी है वहाँ उसे राज्य की स्वायत्तता और प्रजातन्त्र की रक्षा के लिए प्रहरी भी होना चाहिए।

मंत्रि-परिषद्
(Council of Ministers)

संविधान में इस बात का उल्लेख किया गया है कि प्रत्येक राज्य में एक मंत्रि-परिषद् होगी जिसका प्रधान मुख्य मन्त्री होगा। संविधान की धारा 167 के अनुसार राज्यपाल जिन कार्यों को स्वेच्छानुसार करेगा, उनको छोड़कर शेष कार्यों में मंत्रि-परिषद्, राज्यपाल के कार्यों में सलाह और सहायता देगी। जैसा कि बताया जा चुका है कि संविधान ने राज्यपाल की स्वविवेक शक्तियों की व्याख्या अथवा परिभाषा नहीं की है। केवल आसाम में राज्यपाल के सम्बन्ध में यह बताया गया है कि वह अनुसूचित आदिम क्षेत्रों के प्रशासन के सम्बन्ध में राष्ट्रपति के अभिकर्ता के रूप में स्वविवेक के अनुसार कार्य कर सकता है। किन्तु किन विषयों पर स्वविवेक से निर्णय करेगा, यह निर्णय भी उसके विवेक पर ही निश्चित होगा और इस सम्बन्ध में उसका निर्णय ही अन्तिम होगा।

मुख्य-मन्त्री तथा अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति (Appointment of Chief Minister and Ministers) :—मुख्य-मन्त्री की नियुक्ति राज्यपाल करता है तथा अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति राज्यपाल मुख्यमन्त्री की सलाह से करता है। संविधान में यह भी लिखा गया है कि मन्त्रि-परिषद् सामूहिक रूप से विधानसभा के प्रति उत्तरदायी होगा। इसका अर्थ यह होता है कि राज्य में उत्तरदायी शासन की स्थापना की गई है। उत्तरदायी शासन में राज्यपाल मुख्य-मन्त्री की नियुक्ति करते समय सदा ही अपने विवेक का सहारा नहीं लेता। साधारण स्थिति में वह विधानसभा के बहुमत दल के नेता को ही मुख्य-मन्त्री बनाता है और उसकी सलाह पर अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति करता है। लेकिन यदि विधानसभा में किसी भी राजनैतिक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं होता है तो राज्यपाल अपने विवेक से मुख्य-मन्त्री तथा उसकी मन्त्रि-परिषद् की नियुक्ति में स्वतन्त्रता बरत सकता है। साधारणतया मुख्य-मन्त्री की नियुक्ति करते समय उसे परम्पराओं तथा रूढ़ियों का सहारा लेना होता है।

यहां यह बता देना आवश्यक है कि केन्द्र की भांति राज्यों में भी संसदीय शासन व्यवस्था को अपनाया गया है। इसके अनुसार आम चुनावों के बाद में शीघ्र ही विधानसभा का अधिवेशन बुलाकर उसमें बहुमत के नेता को मुख्य-मन्त्री बनाया जायेगा तथा मन्त्रि-परिषद् का निर्माण किया जायगा। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि किसी एक दल को सदा ही स्पष्ट बहुमत मिलता रहेगा। सन् 1952, 1957 तथा 1967 में क्रमशः ट्रावनकोर-कोचीन, उड़ीसा तथा राजस्थान में विरोधी दलों ने एक संयुक्त मोर्चा बनाकर अपने बहुमत को सिद्ध किया लेकिन विरोधी दलों के संयुक्त मोर्चे के नेता को राज्यपाल ने मुख्य-मन्त्री नियुक्त नहीं किया। राज्यपालों ने

कहा कि क्योंकि विधानसभा मे कांग्रेस ही सबसे बडा राजनैतिक दल है अत उसी के नेता को बुलाकर मुख्य मन्त्री बनाया गया। परन्तु उनका यह कहना किसी प्रकार से उचित नही है।

कुछ गलत परम्पराएँ भी मुख्य-मन्त्री की नियुक्ति के सम्बन्ध मे अपनाई जा रही हैं जो प्रजातन्त्र के लिए घातक सिद्ध हो सकती हैं। साधारणतया राज्यपाल विधानसभा के बहुमत दल के नेता को ही मुख्य-मन्त्री नियुक्त करेगा। इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति विधानसभा का सदस्य नही है वह मुख्य मन्त्री नही बन सकता। परन्तु इस परम्परा को तीन बार तोडा जा चुका है। सर्वप्रथम इस परम्परा को (1952) मद्रास राज्य मे तोडा गया जहाँ श्री सी०राजगोपालाचारी को विधान परिषद् का सदस्य नामजद कर उसे मुख्यमन्त्री बनाया गया जब कि श्री टी० प्रकाशम विधानसभा के सदस्य थे तथा संयुक्त मोर्चा के नेता थे जिनके पास बहुमत भी था। पुनः इस परम्परा को दूसरी बार बम्बई राज्य मे तोडा गया जहा श्री मोरारजी देसाई जो कि विधानसभा के लिए आम चुनावो मे हार गए थे वहा के राज्यपाल ने विधान परिषद् के लिए नामजद कर मुख्य मन्त्री नियुक्त किया और मन्त्रि-परिषद् बनाने को कहा। बिहार राज्य मे श्री बी० पी० मण्डल जो कि विधानसभा के सदस्य नही हैं राज्यपाल श्री कानूनगो ने उन्हे बिहार राज्य परिषद् का सदस्य बनाकर उन्हे मुख्य-मन्त्री नियुक्त किया है। राज्यपालो के इस प्रकार के कार्यों को देखकर यह अनुमान लगाया जाता है कि इस प्रकार के कार्य करने के पूर्व वे या तो केन्द्रीय सरकार की राय लेते हैं या उसके कहने पर इस प्रकार का कार्य करते हैं। यदि राज्यपाल इस प्रकार की अनुचित नियुक्तियां करते रहे तो निश्चित ही लोगो का राज्यपाल के पद से विश्वास समाप्त हो जाएगा जो प्रजातन्त्र की नींव को कमजोर कर देगा।

अन्त मे, निष्कर्ष के तौर पर यह कहा जा सकता है कि विशेष परिस्थितियों को छोडकर साधारण परिस्थितियो मे राज्यपाल उसी व्यक्ति को मुख्य-मन्त्री नियुक्त करेगा जो विधानसभा मे बहुमत दल का नेता होगा। इसके साथ ही मुख्य-मन्त्री जिन लोगो को मन्त्रि-परिषद् मे रखना चाहेगा उसमे राज्यपाल किसी तरह का हेर-फेर नही कर सकता। यदि वह ऐसा करता है तो मुख्य मन्त्री अपना पद त्यागने की धमकी देकर राज्यपाल को बाधित कर सकता है। अतः वास्तव मे मन्त्रियो की नियुक्ति का अधिकार राज्यपाल के पास न होकर मुख्य मन्त्री के पास होता है। परन्तु नियुक्ति की आज्ञा राज्यपाल द्वारा निकाली जाती है।

मन्त्रियो के बीच कार्य का बंटवारा (Distribution of Portfolios) :—
मुख्य मन्त्री की सलाह से राज्यपाल मन्त्रि-परिषद् के सदस्यो के बीच कार्यों का बटवारा करता है। मन्त्रि-परिषद् का सदस्य एक या अधिक विभागो का अध्यक्ष होता है। विभाग के प्रमुख कार्य के आधार पर उसके पद को सम्बोधित किया जाता है जैसे राजस्व सम्बन्धी कार्य करने वाला मन्त्री राजस्व मन्त्री, वित्त-विभाग को सम्भालने वाला वित्त मन्त्री आदि आदि। मन्त्रि-परिषद् के सदस्यों के पास वास्तव मे

बहुत अधिक कार्य होता है। अतः उनकी सहायता हेतु उप-मन्त्री होते हैं। वे स्वतन्त्र रूप से किसी विभाग के अध्यक्ष नहीं होते। वे मन्त्रि-परिषद् की बैठकों में भाग नहीं ले सकते। लेकिन आवश्यकता पड़ने पर उन्हें मन्त्रि-परिषद् की बैठक में बुलाया जा सकता है।

योग्यतायें (Qualifications) —जहाँ तक मन्त्रियों की योग्यताओं का प्रश्न है यह स्पष्ट है कि वह विधानसभा का सदस्य होना चाहिए। परन्तु संविधान में इस बात की व्यवस्था की गई है कि यदि कोई व्यक्ति विधान सभा का सदस्य न भी हो तो उसे केवल 6 माह के लिए मन्त्री बनाया जा सकता है। इस अवधि में उसे विधानसभा का सदस्य बनना आवश्यक होगा। ऐसा न होने पर वह अपने पद पर नहीं रह सकेगा।

कार्यकाल (Tenure) .—मन्त्रियों का कोई निश्चित कार्यकाल नहीं होता। सैद्धान्तिक रूप में मन्त्रियों का कार्यकाल राज्यपाल की इच्छा पर निर्भर है। परन्तु व्यावहारिक रूप में मन्त्री लोग तब तक अपने पद पर बने रहते हैं जब तक कि उन्हें विधानसभा का विश्वास प्राप्त है। मन्त्रियों में से जैसे ही विधानसभा का विश्वास उठ जाता है वे लोग अपना त्याग-पत्र दे देंगे, ऐसा न करने पर राज्यपाल मन्त्रि-परिषद् को पदच्युत कर देगा। इसके अतिरिक्त यदि विधानसभा में दल-बदली के कारण मन्त्रि-परिषद् के दल का बहुमत न रहे तब भी उन्हें अपने पद से त्याग-पत्र देना होता है। अतः मन्त्रि-परिषद् विधान सभा के प्रति उत्तरदायी होकर ही अपने पद पर रह सकती है। अतः मन्त्रियों के पद की कोई निश्चित अवधि नहीं होती।

वेतन और भत्ते (Pay and Allowances) :—मन्त्रियों के वेतन-भत्ते विधानसभा कानून द्वारा समय-समय पर निर्धारित करती है। विधानसभा को पूर्ण अधिकार है कि वह मन्त्रियों के वेतन में वृद्धि तथा कमी का कानून बना सके। इस समय राजस्थान के मुख्य मन्त्री को 1250 रुपये प्रतिमाह वेतन तथा 500 रुपये भत्ते के रूप में दिये जाते हैं। अन्य मन्त्रियों को 1250 रुपया मासिक वेतन तथा 250 रुपये भत्ते के रूप में दिया जाता है। राज्य मन्त्रियों को 1125 रु० मासिक वेतन दिया जाता है। उप-मन्त्रियों को 1000 रुपया मासिक वेतन दिया जाता है। इसके अतिरिक्त उन्हें बिना किराये का भवन साज-सज्जा सहित तथा सवारी भी प्रदान की जाती है।

शपथ—मन्त्रि-परिषद् के समस्त सदस्यों को अपने पद ग्रहण करने के पूर्व अपने पद की शपथ तथा गोपनीयता शपथ राज्यपाल के समक्ष लेनी होती है।

मन्त्रि-परिषद् के कार्य तथा अधिकार

(Powers and functions of Council of Ministers)

सैद्धान्तिक रूप में मन्त्रि-परिषद् का कार्य राज्यपाल को उसके कार्यों में सलाह देना है। परन्तु व्यावहारिक रूप में राज्यपाल की समस्त शक्ति का उपभोग

मन्त्रिपरिषद् के द्वारा किया जाता है। केन्द्र की भाँति राज्यों में उत्तरदायी शासन की स्थापना की गई है। ऐसी शासन व्यवस्था में राज्यपाल नहीं बल्कि जनता के प्रतिनिधि राज्य का शासन करते हैं। दूसरी बात यह है कि हमने संसदात्मक शासन व्यवस्था को अपनाया है। इस शासन व्यवस्था में केन्द्र तथा राज्यों में जो अध्यक्ष (राष्ट्रपति तथा राज्यपाल) होते हैं वे संवैधानिक अध्यक्ष होते हैं तथा समस्त शासन का कार्य मन्त्रि परिषद् के द्वारा किया जाता है। यही अपने कार्यों के लिए विधानसभा तथा अन्तिम रूप से जनता के प्रति उत्तरदायी होता है। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि जिन विषयों या कार्यों का सम्पादन राज्यपाल अपने विवेक से करता है उनको छोड़कर अन्य कार्यों में राज्यपाल को मन्त्रि-परिषद् की मन्त्रणा के अनुसार कार्य करना होता है।

मन्त्रि-परिषद् का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य राज्य की नीति निर्धारण करना है। मन्त्रि-परिषद् के प्रत्येक सदस्य को नीति सम्बन्धी निर्णय मानने होते हैं। यदि कोई मन्त्री नीति को मानने से अपनी असहमति प्रकट करता है तो उसके सामने सबसे अच्छा रास्ता अपने पद से त्याग-पत्र देना होता है।

प्रत्येक मन्त्री एक या एक से अधिक विभाग का राजनीतिक अध्यक्ष होता है। वह अपने विभागों के दैनिक कार्यों की देख रेख रखता है। उसका मुख्य कार्य अपने विभाग के सम्बन्ध की नीति को बनाना तथा योजनायें बनाना है। इसके अतिरिक्त वह यह भी देखता है कि नीति तथा योजना बराबर ठीक ढंग से क्रियान्वित की जा रही है या नहीं। प्रत्येक मन्त्री का यह कार्य होता है कि वह विधान-सभा के समक्ष अपनी नीतियाँ तथा कार्यों को प्रस्तुत करे, विधान सभा के सदस्यों के द्वारा पूछे गए प्रश्नों तथा पूरक-प्रश्नों का उत्तर दे, विधान सभा में हो रहे वाद विवाद में भाग ले, सम्बन्धित विभाग के बिलों (Bills) को विधान सभा में प्रस्तुत करे, बजट में हो रही बहस में भाग ले आदि आदि।

सामूहिक उत्तरदायित्व
(Collective Responsibility)

संविधान की धारा 164 के अनुसार मन्त्रि परिषद् सामूहिक रूप से विधान सभा के प्रति उत्तरदायी है। सामूहिक उत्तरदायित्व का अर्थ यह होता है कि सभी मन्त्री मिल कर एक मन्त्री की नीति का समर्थन करते हैं। सभी मन्त्री एक साथ मिल कर कार्य करते हैं। यदि किसी एक मन्त्री के कार्यों को विधानसभा अपनी स्वीकृति प्रदान नहीं करती अर्थात् उसके प्रति अविश्वास का प्रस्ताव पारित कर देती है तो सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के अन्तर्गत मन्त्रि-परिषद् के समस्त सदस्य एक साथ अपना त्याग-पत्र प्रस्तुत करते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि मन्त्रि-परिषद् के सदस्य एक साथ तैरते हैं तथा एक साथ डूबते हैं (They swim and sink together)।

मुख्यमन्त्री का स्थान —मुख्य-मन्त्री विधान सभा का नेता होता है। अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति राज्यपाल उसकी सलाह से ही करता है। वह मन्त्रियों के बीच कार्यों का बटवारा अपनी इच्छानुसार करता है। इस सम्बन्ध में उस पर किसी प्रकार का दबाव नहीं डाला जा सकता। वह जब चाहे तब मन्त्रियों के कार्यों में परिवर्तन कर सकता है। वह कुछ सीमा तक अपने मन्त्रियों के कार्यों का निरीक्षण भी करता है। वह मन्त्रि-मण्डल का प्रधान होता है। प्रधान होने के नाते वही मन्त्रि-मण्डल की बैठक को बुलाता है। वह भी वही तय करता है कि मन्त्रि-मण्डल की बैठक किस स्थान पर तथा कब होगी। साधारणतया मन्त्रि मण्डल की बैठक एक सप्ताह में एक बार होती है परन्तु यदि वह चाहे या आवश्यकता होने पर एक से अधिक बार भी बैठक बुला सकता है। वह इन बैठकों का सभापतित्व करता है। वह मुख्य मन्त्री होने के नाते राज्य का मुख्य प्रतिनिधि होता है। वह केन्द्र के साथ राज्य के सम्बन्ध में बात-चीत करता है। वह केन्द्रीय सरकार की विकास परिषद् का पदेन सदस्य होता है तथा राज्य की विकास परिषद् का पदेन अध्यक्ष होता है।

मुख्यमन्त्री राज्य प्रशासन की धुरी होता है। वह मन्त्रिमण्डल रूपी मेहराब का मुख्य प्रस्तर है। अपने साथी मन्त्रियों की तुलना में वह समानों में प्रथम (First among equals) की स्थिति रखता है। वह न केवल मन्त्रालय का नेतृत्व करता है वरन् समूचे राज्य का ही नेतृत्व करता है। वह अपने राज्य का एक प्रमुख व्यक्तित्व है तथा अपने राज्य विशेष में उसकी स्थिति प्रधानमन्त्री के समकक्ष होती है।

मुख्यमन्त्री की शक्ति, स्थिति एवं कार्यों के सम्बन्ध में प्रशासनिक सुधार आयोग (Administrative Reform Commission) ने अपने प्रतिवेदन में कुछ सुझाव दिये थे। उसमें कहा गया था कि मुख्यमन्त्री को अपनी परिषद् की टीम के वास्तविक नेता के रूप में व्यवहार करना चाहिए। यदि कोई मन्त्री उसकी राय से सहमत नहीं है तो वह उससे त्यागपत्र माँग सकता है। त्यागपत्र न देने की स्थिति में उसे हटाने के लिए आवश्यक कदम उठाये जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त मुख्यमन्त्री को सार्वजनिक कार्यों का एक उच्च मापदण्ड प्रस्तुत करना चाहिए तथा दूसरे मन्त्रियों से भी तदनुसार व्यवहार करने के लिए कहना चाहिए।

मुख्य-मन्त्री के उपर्युक्त कार्यों का अध्ययन करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि राज्य के मन्त्रि-मण्डल में मुख्य-मन्त्री का वह स्थान है जो संघीय मन्त्रि-मण्डल में प्रधानमन्त्री का। मुख्य-मन्त्री का प्रभाव राज्य के प्रशासन पर आसानी से देखा जा सकता है। वह किसी भी नीति को प्रभावित कर सकता है। मुख्य-मन्त्री के अधिकार, उसका प्रभाव तथा उसका वास्तविक स्थान राज्य में क्या है, यह उसके व्यक्तित्व पर निर्भर करता है। वह अपने व्यक्तित्व के कारण अपने सहयोगियों पर अमिट छाप रख सकता है तथा प्रशासन को प्रभावित कर सकता है।

मन्त्रि-परिषद् का राज्यपाल से सम्बन्ध
(Relation between Council of Ministers and Governor)

हमारे संविधान में यह लिखा गया है कि राज्यपाल के इच्छापर्यन्त मन्त्री अपने पद पर बने रहेंगे। इसका अर्थ यह नहीं कि राज्यपाल अपने मन्त्रियों को अपनी इच्छा से किसी समय भी पदच्युत कर सकेगा। राज्यपाल को मन्त्रियों को हटाने की यह शक्ति सैद्धान्तिक रूप में केवल संविधान में दी गई है। व्यवहार में राज्यपाल के पास नाममात्र की शक्तियाँ होंगी और मन्त्रियों के पास वास्तविक शक्तियाँ रहेंगी, अत: मन्त्रियों के पीछे जब तक विधान सभा में बहुमत होगा, तब तक उनको राज्यपाल अपने पदों से नहीं हटा सकेगा। चूँकि राज्यों में उत्तरदायी सरकार की स्थापना की गई है, अत: राज्यपाल केवल एक संवैधानिक अध्यक्ष रह गया है और अब राज्यपाल के हाथ में से लगभग वे सारी स्वविवेक अथवा स्वेच्छाचारी शक्तियाँ ले ली गई हैं, जो उसको भारत सरकार अधिनियम, 1935 के अनुसार दी गई थीं। यदि किसी निर्णय को केवल एक मन्त्री ने किया है और राज्यपाल के विचार में वह अनुचित निर्णय है, वह उस पर सारी मन्त्रि-परिषद् द्वारा विचार करवा सकता है।

1967 के आम चुनावों के बाद आधे से अधिक राज्यों में गैर-कांग्रेसी सरकारों की स्थापना हुई। विरोधी दलों ने संयुक्त मोर्चा का निर्माण किया और शासन सत्ता अपने हाथ में ली। परन्तु कई राज्यों में संयुक्त मोर्चे में दरारें पड़ने लगी और कई राज्यों में संयुक्त मोर्चे के घटक उनसे अलग हो गये। ऐसी स्थिति में राज्यपालों ने अलग-अलग राज्य में अलग-अलग माप-दण्ड अपनाया। उन्होंने राज्य के मुख्यमन्त्री को बरखास्त भी कर दिया (उ० प्रदेश तथा प० बंगाल)। राजस्थान में राज्यपाल ने संयुक्त मोर्चे की सरकार नहीं बनने दी जबकि उसके पास बहुमत था। इस प्रकार मुख्यमन्त्री की नियुक्ति, उसकी पदच्युति तथा विधान मण्डल को भंग करने सम्बन्धी अधिकार का राज्यपालों ने उचित और नियमित रूप से प्रयोग नहीं किया। फलस्वरूप राज्यपाल के संस्था की सन् 1967–71 के बीच बड़ी आलोचना हुई और यह माँग की गई कि राज्यपाल को निष्पक्ष और निर्दलीय होकर अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह करना चाहिये, न कि किसी राजनीतिक दल का अभिकर्ता (Agent) बन कर।

मुख्य-मन्त्री का यह कर्तव्य है कि राज्यपाल को मन्त्रि-परिषद् के निर्णयों तथा प्रशासन सम्बन्धी मामलों से सूचित रखे। राज्यपाल को यह भी अधिकार है कि मुख्य मन्त्री से किसी भी प्रशासन सम्बन्धी कार्य की सूचना प्राप्त कर सके। वह अपने मन्त्रियों को इंग्लैंड के राजा की भाँति चेतावनी, प्रोत्साहन तथा मन्त्रणा दे सकता है। यदि कोई मन्त्री किसी कार्य को करने के लिए दृढ़ संकल्प हो जाय और राज्यपाल की चेतावनी आदि का ध्यान न रखे, तो राज्यपाल उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता है। यद्यपि सारा राज्य प्रशासन राज्यपाल के नाम पर चलाया जाता

है तथापि इसके सम्बन्ध में सारा उत्तरदायित्व मन्त्रि-परिषद् का है। इतना होते हुए भी यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि राज्यपाल मिट्टी की मूर्ति के समान नहीं है। एक बुद्धिमान कूटनीतिज्ञ तथा अनुभवी राज्यपाल अपने राज्य की नीति को अवश्य ही प्रभावित कर सकता है। इंग्लैण्ड में यद्यपि शासक के पास भी नाम मात्र की शक्तियां ही हैं फिर भी महारानी विक्टोरिया और एडवर्ड सप्तम ने अपने देश की राजनीति विशेष तौर पर विदेश नीति को काफी हद तक प्रभावित किया।

भारत के नये संविधान (1950) में राज्यपाल को बहुत ही कम सविवेक की शक्तियां दी गई हैं। उदाहरण के लिए, यदि राष्ट्रपति बाहरी आक्रमण, युद्ध अथवा इसकी सम्भावना के कारण आपात घोषणा कर दे, तो राज्यपाल उस समय अपनी मन्त्री-परिषद् की मन्त्रणा से बाध्य नहीं होगा और वह केवल राष्ट्रपति के आदेशों का पालन करेगा। इसी प्रकार राज्यपाल के प्रतिवेदन के पश्चात् या और किसी अन्य तरीके से राष्ट्रपति को यह सन्तोष हो जाय कि किसी राज्य में संवैधानिक उपकरणों से शासन नहीं चल सकता है, तो वह अपना शासन घोषित कर सकता है। ऐसे समय में राज्यपाल राष्ट्रपति के अभिकर्त्ता के रूप में कार्य करेगा तथा राष्ट्रपति के आदेशों का पालन करते हुए राज्य के शासन के कार्यों को करेगा। ऐसी स्थिति में मन्त्रि-परिषद् को विघटित कर दिया जाता है। आसाम के राज्यपाल को अनुसूचित जनजातियों और सीमा के प्रदेशों में भी स्वविवेक से कार्य करने का अधिकार है। ऐसे विषयों पर जहां राज्यपाल अपने विवेक को कार्य रूप देता वह राज्यपाल अपने मन्त्रि-परिषद् से सलाह करने या उसकी सलाह से कार्य करने के लिए बाध्य नहीं होता है।

मन्त्रि-परिषद् का विधान सभा के साथ सम्बन्ध

(Relation between Council of Ministers and Legislature)

मन्त्रि परिषद् का राज्य की विधान सभा या व्यवस्थापिका के साथ बहुत गहरा सम्बन्ध है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि विधानसभा में जिस राजनीतिक दल का बहुमत होता है उसी के नेता को मन्त्रि-मण्डल के निर्माण के लिए बुलाया जाता है और उसी को राज्यपाल मुख्य-मन्त्री नियुक्त करता है। इसलिए मुख्य-मन्त्री विधान सभा तथा मन्त्रि-परिषद् के बीच कड़ी का कार्य करता है। नये संविधान के अन्तर्गत हमने संसदीय शासन व्यवस्था को अपनाया है जिसके अनुसार कार्यपालिका (मन्त्रि-परिषद्) व्यवस्थापिका (विधानसभा) में चुनी जाती है, तथा उसी के प्रति उत्तरदायी होती है और तब तक अपने पद पर बनी रहती है जब तक कि उसे विधान सभा का आशीर्वाद प्राप्त हो। विधानसभा में कार्यपालिका के प्रति सामूहिक उत्तरदायित्व तभी लागू किया जा सकता है जबकि मुख्य-मन्त्री को अपने सहयोगी मन्त्रियों को नियुक्त करने तथा हटाने का पूर्ण अधिकार प्राप्त हो। सारे मन्त्री मुख्य मन्त्री की अध्यक्षता में टीम की भांति कार्य करते हों और विधान सभा द्वारा एक मन्त्री के हटाये जाने पर सारे मन्त्री त्याग पत्र दे दें।

विधान सभा का मन्त्रि-परिषद् पर पूर्ण नियन्त्रण रहता है। विधान सभा अविश्वास, स्थगन प्रस्ताव और निन्दा प्रस्ताव, मन्त्रियों के वेतन में कटौती करने या मन्त्रियों के घोर विरोध करने पर भी किसी प्रस्ताव को पारित करके मन्त्रि-परिषद में विश्वास की कमी दिखा सकती है। ऐसी अवस्था में मन्त्रि-परिषद् के सदस्य प्राय: अपना त्याग पत्र दे देते हैं।

विधानसभा मन्त्रियों के कार्यों को जाँचने के लिए जाँच समिति भी नियुक्त कर सकती है। विधानसभा के सदस्य मन्त्रि परिषद् के सदस्यों से प्रश्न पूछ सकते हैं तथा पूरक प्रश्न भी पूछ सकते हैं। बजट पर भी विधान सभा का पूर्ण नियन्त्रण रहता है और इसकी इच्छा के बिना मन्त्रियों के द्वारा कुछ भी व्यय नहीं किया जा सकता।

मन्त्रियों का भी राज्य विधान सभा पर काफी प्रभाव रहता है। वे विधेयकों के पक्ष में कई तर्क प्रस्तुत करते हैं। धन विधेयक किसी निजी सदस्य द्वारा नहीं रखा जा सकता है। जिस प्रकार विधान सभा मुख्य-मन्त्री को अविश्वास का प्रस्ताव पारित करके हटा सकती है, वैसे ही वह भी राज्यपाल से विधानसभा का विघटन करवा सकता है। इसी कारण दोनों में गतिरोध उत्पन्न नहीं होने पाता, इसके विपरीत मेल-जोल बना रहता है।

अन्त में, यह कहा जा सकता है कि चूँकि विधान सभा में कार्यों या प्रश्नों पर निर्णय बहुमत के आधार पर होता है अतः मन्त्रि-परिषद् अपने दल के बहुमत के आधार पर किसी भी कार्य को कराने में सफल हो जाती है चाहे उसकी कितनी ही विपक्ष के द्वारा आलोचना की गई हो। अतः मन्त्री अपने बहुमत के कारण किसी भी कार्य को कराने में सफल हो जाता है। व्यावहारिकता में मन्त्रि-परिषद् ही अधिक शक्तिशाली होती है।

मन्त्रिमण्डल सचिवालय
(The Cabinet Secretariat)

राजस्थान में मन्त्रिमण्डल सचिवालय की स्थापना भारत सरकार के मन्त्रिमण्डल सचिवालय को ध्यान में रखते हुए सन् 1960 में की गई थी। इसे कुछ विशेष प्रकृति के कार्य सौंपे गये। जैसे मन्त्रिमण्डल की निर्णय प्रक्रिया में सहयोग देना, मन्त्रिमण्डल के निर्णयों की क्रियान्विति की देख-रेख करना, मुख्यमन्त्री द्वारा चाही गई महत्त्वपूर्ण सूचनायें उपलब्ध कराना, मुख्य सचिव (Chief Secretary) की सहायता करना, विदेशी मिशनों एवं सरकारों से व्यवहार रखना आदि। 1961 में राज्य स्तरीय सम्मेलनों का समस्त कार्य मन्त्रिमण्डल सचिवालय को सौंप दिया गया। इसके बाद क्षेत्रीय जिलाधीशों तथा पुलिस अधिक्षकों की मीटिंग का कार्य भी मन्त्रिमण्डल सचिवालय को सौंपा गया।

मन्त्रिमण्डल सचिवालय के कार्य (Functions of the Cabinet Secretariat)—
मन्त्रिमण्डल सचिवालय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दायित्वों का निर्वाह करता है।

यह मन्त्रिमण्डल के समक्ष विभी मामले की सही और समुचित तस्वीर प्रस्तुत करने के लिए आवश्यक परामर्श देता है। इसके द्वारा मन्त्रिमण्डल की बैठकों के लिए आवश्यक आंकड़ों तथा टिप्पणियों के साथ कार्य-सूचि तैयार की जाती है। यह मन्त्रिमण्डल के निर्णयों की क्रियान्विति की व्यवस्था करता है। इसके अलावा यह सामान्य प्रशासनिक समन्वय सम्बन्धी विषयों को पहल करता है। इसके द्वारा वरिष्ठ प्रशासनिक अधिकारियों के वार्षिक सम्मेलन बुलाए जाते हैं। इनमें विभागाध्यक्ष, जिलाधीश, सचिव और सभी मन्त्री भाग लेते हैं तथा दिन-प्रतिदिन के प्रशासन की असाधारण समस्याओं पर विचार करते हैं और समाधान ढूंढते हैं। मन्त्रिमण्डल सचिवालय के कुछ प्रमुख कार्य निम्न हैं—

(1) मन्त्रिमण्डल सम्बन्धी कार्य (Functions Concerning to Cabinet)—

यह मन्त्रिमण्डल की बैठकों तथा प्रक्रियाओं में सहायता करता है। इसका अनेक संवैधानिक विषयों से सम्बन्ध है। मुख्यमन्त्री अथवा अन्य मन्त्रियों द्वारा मांगी गई प्रत्येक सूचना तथा अन्य सहायता उपलब्ध कराता है। आर्थिक तथा सामान्य नीति सम्बन्धी मामलों में मन्त्रिमण्डल के सम्मुख सत्रोपचारिक टिप्पणियां रखता है। यह देखता है कि मन्त्रिमण्डल के द्वारा की गई सिफारिशें नियमों तथा विनियमों के अनुकूल हैं या नहीं।

(2) सचिवालय सम्बन्धी कार्य (Functions Concerning to Secretariat)—

मन्त्रिमण्डल सचिवालय को राजस्थान सचिवालय के विभिन्न विभागों द्वारा लिये गये महत्त्वपूर्ण निर्णयों का त्रै-मासिक प्रतिवेदन भेजना होता है। यह मुख्य सचिव द्वारा उठाई गई मुख्य जाँच में सहयोग करता है।

(3) केन्द्र तथा अन्य राज्यों से सम्बन्ध (Its relations with union and the other states)—

मन्त्रिमण्डल सचिवालय संघ सरकार तथा अन्य राज्यों की सरकारों से सम्बन्ध रखता है। उन्हें सामयिक रिपोर्ट भेजता है तथा उनसे पत्रों का आदान-प्रदान करता है। यह संवैधानिक मामलों को भी देखता है। यह भारत सरकार को, उनके द्वारा मांगे गये त्रै-मासिक विवरण भेजता है।

(4) गवर्नर तथा प्रशासन सम्बन्धी कार्य (Functions Concerning to Governor and Administration)—

यह राज-भवन तथा गवर्नर के समस्त कर्मचारी वर्ग की व्यवस्था करता है। यह जनसंख्या, कृषि, उद्योग, सिंचाई, स्वास्थ्य, शिक्षा आदि महत्त्वपूर्ण विषयों से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण मास्यिकी तैयार करता है। राज्य सरकार के प्रतिनिधि जिन सम्मेलनों में शामिल होते हैं, उनकी महत्त्वपूर्ण सिफारिशों के बारे में मन्त्रिमण्डल सचिवालय त्रै-मासिक प्रतिवेदन तैयार करता है। यह वार्षिक प्रशासनिक प्रतिवेदनों का संक्षिप्तीकरण अक्टूबर माह में तैयार करता है। यह सभी महत्त्वपूर्ण प्रकाशनों की समीक्षा करता है।

(5) पंचायती राज सम्बन्धी कार्य (Functions Concerning to Panchayati Raj)—

मन्त्रिमण्डल सचिवालय प्रजातान्त्रिक विकेन्द्रीकरण का मूल्यांकन करता है। प्रजातान्त्रिक विकेन्द्रीकरण के सम्बन्ध में लिये गये निर्णयों के बारे में यह मासिक प्रतिवेदन (Statement) तैयार करता है। यह एम०डी०ओ० तथा मजिस्ट्रेट द्वारा तैयार की गई अर्द्ध-वार्षिक निरीक्षण रिपोर्टों की परीक्षा करता है। यह जिलाधीशों तथा उप-जिलाधीश के द्वारा किये गये केस वर्क का मूल्यांकन करता है। यह वरिष्ठ अधिकारियों के सम्मेलनों का आयोजन करता है।

(6) योजना सम्बन्धी कार्य (Functions Concerning to Planning)—

योजना कार्यों पर होने वाले व्यय के लिए यह त्रै-मासिक प्रतिवेदन (जनवरी, अप्रेल, जुलाई तथा अक्टूबर) तैयार करता है। यह उत्पादनों के सम्बन्ध में अर्द्ध-वार्षिक प्रतिवेदन भी तैयार करता है।

(7) आर्थिक कार्य (Financial Functions)—

मन्त्रिमण्डल सचिवालय अगस्त में राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध में वार्षिक प्रतिवेदन तैयार करता है। यह जून मास में पिछले वर्ष के बजट की वार्षिक पुनरीक्षा तैयार करता है।

(8) सेवीवर्गी सम्बन्धी कार्य (Functions Concerning to Civil Services)—

मन्त्रिमण्डल सचिवालय अपने सभी अधिकारी तथा कर्मचारी वर्ग के सेवीवर्ग सम्बन्धी विषयों पर विचार करता है।

राजस्थान राज्य की व्यवस्थापिका
(Legislature of Rajasthan State)

संविधान की धारा 168 के अनुसार, कुछ राज्यों में द्विसदनी विधान मण्डल होंगे तथा कुछ अन्य राज्यों में केवल एक ही सदन होगा। उदाहरणार्थ पंजाब, उत्तरप्रदेश, बिहार, बंगाल, मद्रास, मैसूर, जम्मू तथा कश्मीर, महाराष्ट्र, आंध्र और मध्य प्रदेश में दो सदन हैं और राजस्थान, आसाम, हरियाणा, उड़ीसा, गुजरात, केरल और नागालैंड में एक सदन है। जहां राज्य में दो सदन हैं, उनको विधान सभा और विधान परिषद् के नाम से जाना जाता है। जहाँ केवल एक ही सदन है वहाँ पर उसे विधान सभा की संज्ञा दी गई है। इस प्रकार राजस्थान में व्यवस्थापिका एक सदन वाली है। संविधान की धारा 169 राज्यों में विधान परिषदों को हटाने अथवा स्थापित करने की व्यवस्था करती है। इसके अनुसार, संसद् किसी राज्य में से विधान परिषद् को तोड़ने अथवा स्थापित करने के लिए कानून बना कर व्यवस्था कर सकती है, यदि इस कार्य के लिए राज्य विधान सभा अपने सम्पूर्ण सदस्यों के बहुमत तथा उपस्थित एवं मत देने वाले सदस्यों के 2/3 बहुमत से ऐसा करने के लिए प्रस्ताव पास करे।

प्रान्तीय विधान समिति ने यह सिफारिश की थी कि प्रत्येक प्रान्त को यह निर्णय करने की आज्ञा दी जाय कि वह दो सदन रखना चाहता है अथवा एक। संविधान सभा ने इस प्रस्ताव को मान लिया और प्रान्तों को इस बारे में निर्णय करने की आज्ञा दी गई। फलतः कई प्रान्तों ने दो सदनों के पक्ष में निर्णय किया और कुछ ने एक सदन के पक्ष में। राजस्थान भी उन प्रान्तों में से था जिसने एक सदन के पक्ष में निर्णय दिया। द्विसदनीय प्रणाली के पक्ष में सबसे महत्त्वपूर्ण तर्क यह दिया जाता है कि इस प्रकार की व्यवस्था जहाँ होती है वहाँ कानून उतावलेपन में पारित नहीं होते हैं और प्रत्येक विधेयक पर गम्भीरता पूर्वक विचार किया जाता है। जो एक सदन रखना चाहते हैं उनके पक्ष में यह तर्क दिया जाता है कि दूसरे सदन के कारण व्यर्थ में ही खर्चा बढ़ जाता है। वैसे कोई भी कानून उतावलेपन में नहीं बनता क्योंकि प्रत्येक विधेयक के तीन वाचन होते हैं और फिर उसको प्रवर-समिति के पास भेजा जाता है तथा राज्यपाल को भी उसे लौटाने के अधिकार प्राप्त है। ऐबे सईस ने लिखा है कि "यदि द्वितीय सदन प्रथम सदन से सहमत हो जाता है तो यह व्यर्थ है और यदि इसका विरोध करता है तो शरारती है।" मेरियट ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि "द्विसदनीय प्रणाली के पक्ष में और विपक्ष में तर्क करने के पश्चात् हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि इतिहास का निर्णय द्विसदनीय प्रणाली के पक्ष में ही है।"

विधानसभा की बनावट (Composition) :—विधान सभा के सदस्यों की संख्या प्रत्येक राज्य में भिन्न भिन्न है। संविधान में इस बात का उल्लेख किया गया है कि विधान सभा के सदस्यों की संख्या कम से कम 60 तथा अधिक से अधिक 500 हो सकेगी। प्रत्येक राज्य में जनसंख्या के अनुसार विधान सभा की सदस्य संख्या निर्धारित है। साधारणतया 75,000 व्यक्तियों पर एक सदस्य निर्वाचित किया जाता है।

राजस्थान में विधान सभा की सदस्य संख्या राज्य पुनर्गठन से पूर्व 160 थी और अजमेर राज्य की विधान सभा के सदस्यों की संख्या 30 थी। परन्तु राज्य पुनर्गठन के पश्चात् अजमेर के राजस्थान में मिल जाने के बाद राजस्थान विधान सभा की सदस्य संख्या 176 निर्धारित की गई, जिसमें 28 स्थान अनुसूचित जातियों के लिए तथा 20 स्थान अनुसूचित जन-जातियों के लिए सुरक्षित रखे गए। चौथे आम चुनाव में राजस्थान विधान सभा के सदस्यों की संख्या 184 कर दी गई एवं छठे आम चुनाव में विधान सभा के सदस्यों की संख्या बढ़ाकर 200 कर दी गई है।

वयस्क मताधिकार (Adult Franchise):—विधानसभा के चुनाव के लिए नये संविधान के अन्तर्गत वयस्क मताधिकार की व्यवस्था की गई है। वयस्क मताधिकार का अर्थ यह है कि 21 वर्ष के प्रत्येक व्यक्ति को जाति, लिंग, भाषा, धर्म और प्रजाति इत्यादि के भेद के बिना वोट देने का अधिकार दिया गया है। केवल

विदेशियों, पागलों, दिवालियों और फौजदारी मामलों में दोषी सिद्ध होने वाले, जैसे खानदानी डाकुओं आदि को मत देने का अधिकार से वंचित रखा जाता है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व ब्रिटिश काल में केन्द्रीय तथा प्रान्तीय विधान मंडलों के चुनाव के लिए साम्प्रदायिक निर्वाचकगण की प्रथा प्रचलित थी। नए संविधान के लागू होने पर इस प्रकार की साम्प्रदायिक चुनाव प्रथा को बन्द कर दिया गया है तथा इसके स्थान पर संयुक्त निर्वाचकगण की प्रथा अपनाई गई है। किसी जाति के लिए कोई स्थान सुरक्षित नहीं रखे गये हैं, केवल अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जन-जातियों के लिए सुरक्षित स्थान रखने की व्यवस्था संविधान द्वारा प्रारम्भ में 10 वर्ष के लिए की गई थी परन्तु उसे और बढ़ा दिया गया है अर्थात् अब यह व्यवस्था जनवरी 1980 तक लागू रहेगी।

विधानसभा के निर्वाचन हेतु सम्पूर्ण राज्य को निर्वाचन क्षेत्रों में बाँटा जाता है। प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र में साधारणतया 75,000 की जनसंख्या का प्रतिनिधित्व हो। विधानसभा के निर्वाचन हेतु एक सदस्य वाले निर्वाचन क्षेत्र है। जिन निर्वाचन क्षेत्र में अनुसूचित जातियों या अनुसूचित जन-जातियों के लिए स्थान सुरक्षित हैं, उन क्षेत्रों में उन्हीं जातियों के व्यक्ति चुनाव में खड़े हो सकते हैं, परन्तु मतदान का अधिकार उस क्षेत्र में रहने वाले सभी नागरिकों को होता है।

विधानसभा की सदस्यता के लिए अर्हताएँ (Qualifications) —किसी राज्य की विधानसभा का सदस्य निर्वाचित होने के लिए प्रायः वही अर्हताएँ और शर्तें रखी गई है जो लोक सभा के सदस्यों के लिए रखी गई है। विधानसभा के लिए निर्वाचन में खड़े होने वाले प्रत्याशियों के लिए यह आवश्यक है कि —

(1) वह व्यक्ति भारत का नागरिक हो,

(2) जिसकी आयु 25 वर्ष से कम न हो,

(3) वह ऐसी अन्य योग्यताएँ रखता हो जो संसद के किसी कानून द्वारा निश्चित की जायें।

संविधान में इस बात को कहा गया है कि निम्न अयोग्यताओं (Disqualifications) वाले व्यक्ति विधान सभा के सदस्य नहीं हो सकेंगे —

(1) भारत सरकार या किसी राज्य सरकार के अधीन किसी ऐसे लाभ के पद पर हो, जिस पद को कानून द्वारा राज्य के विधान मण्डल ने उन्मुक्ति नहीं दी है,

(2) यदि उसका मस्तिष्क ठीक नहीं है, तथा किसी मान्य न्यायालय ने उक्त घोषणा करदी है,

(3) यदि वह दिवालिया है,

(4) यदि वह भारत का नागरिक नहीं है, अथवा स्वेच्छापूर्वक किसी अन्य देश की नागरिकता उसने ग्रहण करली है अथवा यदि उसकी राज्य भक्ति किसी अन्य विदेशी राज्य के प्रति है, अथवा

(5) यदि वह राज्य के विधानमण्डल के किसी कानून के द्वारा विधानमण्डल की सदस्यता के अधिकार से वंचित कर दिया गया है।

इन अयोग्यताओं के अतिरिक्त हाल ही में कुछ अन्य बातों को अयोग्यताओं के साथ जोड़ा गया है जैसे—

छुआछूत के अपराधी को चुनाव लड़ने के लिए अयोग्य ठहराया गया है। यह व्यक्ति छुआछूत के लिए दण्ड मिलने की तारीख से छः वर्षों तक के लिए चुनाव लड़ने में अयोग्य रहेगा। छुआछूत कानून में इस प्रकार का संशोधन संसद ने गत वर्ष (1976) में किया था और इसका नाम 'नागरिक अधिकार संरक्षण कानून' रखा गया।

इसी प्रकार यदि किसी व्यक्ति को अनाज व दवाओं की जमाखोरी, मुनाफाखोरी अथवा मिलावट के अपराध में सजा दी गई हो और उसे कम से कम छः मास का कारावास मिला हो तो ऐसा व्यक्ति अपनी सजा की तारीख से चुनाव लड़ने में अयोग्य होगा और छूटने के बाद भी पाँच वर्षों तक चुनाव नहीं लड़ सकेगा।

इसके अतिरिक्त भारत में यदि किसी व्यक्ति को किसी भी अपराध में दो वर्ष से अधिक की सजा मिली हो तो भी ऐसा व्यक्ति चुनाव लड़ने में अयोग्य होगा और उसके छूटने के पाँच साल बाद तक यह अयोग्यता जारी रहेगी।

अवधि (Tenure).—विधानसभा की अवधि 5 वर्ष है परन्तु यह इससे पूर्व भी राज्यपाल द्वारा विघटित की जा सकती है। संकटकालीन घोषणा के समय संसद इस अवधि को बढ़ा सकती है परन्तु ऐसी परिस्थिति में संसद इस अवधि को एक समय में एक वर्ष से अधिक नहीं बढ़ा सकती और संकटकालीन घोषणा के समाप्त होने के पश्चात् इसे 6 महीने से अधिक नहीं बढ़ा सकती। हाल ही में संविधान के 42वें संवैधानिक संशोधन के द्वारा लोक सभा तथा राज्य विधान मण्डलों की कार्य अवधि 5 वर्ष से बढ़ा कर 6 वर्ष कर दी गई थी। परन्तु मार्च 1977 में हुए आम चुनावों में कांग्रेस दल की जबरदस्त हार और जनता दल की केन्द्र में सरकार बनने के पश्चात् लोक-सभा तथा राज्य विधान-मण्डलों के कार्य-काल को पुनः पाँच वर्ष किये जाने के प्रयत्न जारी है। चुनाव घोषणा पत्र में जनता दल ने इस बात को महत्व दिया था कि उनकी सरकार बनने पर वह 42वें संवैधानिक संशोधन को रद्द करेगी। केन्द्र में जनता दल की सरकार बन गई और वे 42वें संवैधानिक संशोधन को रद्द करने के लिए दृढ़ संकल्प है। ऐसी स्थिति में लोक सभा तथा राज्य विधान-मण्डलों की अवधि को पुनः 5 वर्ष करने के सम्बन्ध का एक विधेयक लोक सभा में रखा गया है। लोक सभा स्थगित हो जाने के परिणामस्वरूप उस पर अभी विचार नहीं हो पाया है।

गणपूर्ति (Quorum) :—राजस्थान विधानसभा में कार्य करने के लिए सदस्य संख्या विधान सभा के कुल सदस्य संख्या का दसवाँ भाग रखा गया है। इसका

अर्थ यह हुआ कि कम से कम राजस्थान विधान सभा में 20 सदस्यों का उपस्थित होना अनिवार्य है। इसके अभाव में विधानसभा में की जाने वाली कार्यवाही गैर-कानूनी होगी। विधान सभा की बैठक तभी हो सकती है जबकि इसमें निश्चित संख्या उपस्थित हो, अन्यथा बैठक स्थगित कर दी जाती है।

विधान सभा के सदस्यों के विशेषाधिकार (Privileges of Members of the State Legislature) —विधान सभा के सदस्यों को भी संसद के सदस्यों की भांति विशेषाधिकार दिये गये हैं। संविधान की धारा 194 के अनुसार विधान सभा के सदस्यों को भाषण की स्वतन्त्रता दी गई है। सदन अथवा बैठक में दिये गये भाषण के आधार पर उन पर मुकदमा नहीं चलाया जा सकता। यदि सदन कोई भाषण, कार्यवाही अथवा कोई और बात प्रकाशित करता है, उसके लिए किसी सदस्य को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। सदस्यों तथा कमेटी के सदस्यों की शक्तियाँ, विशेषाधिकार तथा सुविधायें समय-समय पर विधान सभा निश्चित करेगी। विधान सभा समय-समय पर अपने सदस्यों का वेतन निश्चित करेगी। विधान सभा के अधिवेशन के दिनों में उनको गिरफ्तार भी नहीं किया जा सकता।

विधान सभा के सत्र (Sessions of the State Legislature) —विधान सभा के सत्र अथवा अधिवेशन एक वर्ष में कम से कम दो होने चाहिए। पहिले अधिवेशन के अन्त में तथा दूसरे अधिवेशन के प्रारम्भ में 6 मास से अधिक समय नहीं बीतना चाहिए। राज्यपाल विधान सभा के अधिवेशन को बुलाता है। वह उसके अधिवेशन को समाप्त भी कर सकता है।

सदस्यों द्वारा शपथ (Oath of Members) —विधानसभा के सदस्य अपने निर्वाचन होने पर तब तक विधानसभा के सदस्य नहीं कहलायेंगे जब तक कि वे अपने पद के प्रति तथा संविधान के प्रति वफादारी की शपथ नहीं ले लेते।

विधानसभा के अधिकारी (Officers of the Legislature) —विधान सभा के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष होते हैं। विधान सभा को अपने अध्यक्ष (Speaker) तथा उपाध्यक्ष (Deputy Speaker) को चुनने का अधिकार है। अध्यक्ष विधान सभा की बैठकों का सभापतित्व करता है। विधान सभा के अध्यक्ष के अधिकार तथा कर्तव्य लोक सभा के अध्यक्ष के समान मिलते जुलते हैं। उसका सबसे बड़ा कार्य यह है कि विधान सभा में सब कार्यवाहियों को नियमों तथा विनियमों के अनुसार चलाये। वह विधान सभा में शान्ति बनाये रखने के लिए भी उत्तरदायी है। वह यह भी देखता है कि कोई सदस्य असंसदीय भाषा (Unparliamentary Language) का प्रयोग न करे। उसकी अनुमति के बिना कोई भी सदस्य अपना भाषण नहीं दे सकता। अध्यक्ष बनने के पश्चात् वह व्यक्ति राजनीतिक दलों की गतिविधियों से ऊपर रह कर सभी दलों को समान समझता है तथा किसी के साथ पक्षपात

नहीं करता। वह सदन के अधिकारों की रक्षा करता है। उसे निर्णायक मत देने का अधिकार होता है।

विधान सभा के अध्यक्ष का चुनाव बहुमत के आधार पर होता है। फिर भी राज्य का मुख्य मन्त्री यह चाहता है कि अध्यक्ष का चुनाव सर्वसम्मति से हो और इसके लिए वह विरोधी दलों के नेताओं से भी परामर्श करता है। अध्यक्ष बनने के बाद वह विधान सभा की सब कार्यवाहियों को निष्पक्ष रूप से चलाता है। उसके पास से इस बात का अन्तिम निर्णय होता है कि अमुक बिल धन विधेयक (Money bill) है या नहीं। अध्यक्ष की अनुपस्थिति में उपाध्यक्ष विधान सभा की बैठकों की अध्यक्षता करता है।

अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष को हटाने का वही तरीका है जो लोक सभा के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष को हटाने का है। यदि विधानसभा अपनी अवधि से पूर्व विघटित कर दी जाती है तो अध्यक्ष के पद की समाप्ति नहीं होती। वह अपने पद पर नई विधान सभा के अधिवेशन तक आसीन रहता है। जब अध्यक्ष को हटाने का प्रस्ताव विचाराधीन हो तो उस समय उपाध्यक्ष विधानसभा की बैठकों का सभापतित्व करेगा। अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष यदि चाहें तो अपने पद को त्यागपत्र देकर छोड़ सकता है। अध्यक्ष यदि अपने पद से त्याग पत्र देना चाहे तो वह उपाध्यक्ष के पास अपना त्याग पत्र भेजेगा और यदि उपाध्यक्ष त्याग पत्र देना चाहे तो त्याग पत्र अध्यक्ष के पास भेजेगा।

राज्य विधान सभा की शक्तियाँ
(Powers of the State Legislature)

राज्य की विधान सभा को कई प्रकार के अधिकार दिये गये हैं। अध्ययन की दृष्टि से विधान सभा के अधिकारों को निम्न भागों में बाटा जा सकता है : (क) विधायिनी अधिकार, (ख) वित्तीय अधिकार तथा (ग) कार्यपालिका पर नियन्त्रण का अधिकार।

विधायिनी अधिकार (Legislative Powers) :—विधान सभा का मुख्य अधिकार कानून निर्माण करना है। राज्य की विधान सभा राज्य सूची पर कानून निर्माण कर सकती है। इसके अतिरिक्त इसे समवर्ती सूची (Concurrent List) पर भी कानून बनाने का अधिकार है। परन्तु यदि किसी समवर्ती विषय पर केन्द्र तथा राज्य दोनों कानून बना दे तो केन्द्र का कानून प्रभावशाली रहेगा। राज्य सूची में 66 विषय हैं तथा समवर्ती सूची में 47 विषय रखे गए हैं : राज्य सूची के मुख्य विषय ये हैं—सार्वजनिक व्यवस्था, आरक्षी दल, न्याय प्रशासन, कारागार, सुधारालय, स्थानीय स्वशासन, जन-स्वास्थ्य तथा सफाई, तीर्थ यात्रा, कृषि, सचार, शिक्षा, पुस्तकालय, वन, मछली पकड़ना, बाजार और मेले, सट्टा और जुआ, खनिजों का विकास, उद्योग, व्यापार, बाट और माप, राजस्व, उत्पादन शुल्क आदि आदि।

विधान सभा के द्वारा पारित किये गये विधेयकों को राज्यपाल के पास अनुमति के लिए भेजा जाता है। यदि राज्यपाल अपनी अनुमति विधेयक पर दे देता है अर्थात् हस्ताक्षर कर देता है तो वह विधेयक कानून बन जाता है। परन्तु राज्यपाल को यह अधिकार प्राप्त है कि वह उस विधेयक को पुन विचार के लिए विधान सभा के पास भेज दे और विधान सभा को उस पर विचार करना होगा। यदि विधान सभा विधेयक को दुबारा राज्यपाल के सुझावों सहित या बिना उनके भी पास कर देती है तो राज्यपाल को उस पर अपनी अनुमति देनी होगी। राज्यपाल चाहे तो किसी विधेयक को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भी भेज सकता है। राष्ट्रपति उस पर अनुमति दे सकता है अथवा उस पर कुछ सुझाव दे सकता है।

वित्तीय अधिकार (Financial Powers)—विधान सभा को अनेक प्रकार के वित्तीय अधिकार प्राप्त हैं। बजट पर उसका पूर्ण नियन्त्रण होता है। प्रत्येक वित्तीय वर्ष प्रारम्भ होने के पूर्व वित्त मन्त्री विधान सभा के सम्मुख राज्य की आय-व्यय का लेखा (बजट) प्रस्तुत करता है। बजट में आगामी वर्ष के आय व्यय का उल्लेख के अतिरिक्त गत वर्ष की आय-व्यय का वर्णन भी होता है। वित्त मन्त्री द्वारा पेश की गई माँग को विधान सभा कम कर सकती है अथवा अस्वीकार भी कर सकती है परन्तु उसे उन माँगों को बढ़ाने का अधिकार नहीं है। बिना विधान सभा की स्वीकृति के कोई भी टैक्स (कर) जनता पर नहीं लगाया जा सकता और न ही किसी प्रकार का धन राजकोष से खर्च किया जा सकता है।

साधारणतया बजट के दो भाग कर दिये जाते है—(1) राज्य की संचित निधि पर भारित व्यय तथा (2) अभारित व्यय। राज्य की संचित निधि पर विधान सभा में बहस हो सकती है लेकिन उस पर मतदान नहीं हो सकता। इस संचित निधि के खर्चे में राज्यपाल के वेतन तथा भत्ते, विधान सभा का अध्यक्ष, उपाध्यक्ष और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के वेतन तथा भत्ते और राज्य लोक-सेवा आयोग के खर्चे आदि आते है। इसका अर्थ यह है कि इस खर्चे के सम्बन्ध में विधान सभा की स्वीकृति लेनी आवश्यक नहीं है क्योंकि यह व्यय संचित निधि से संविधान के अनुसार किया जाता है। इसके अतिरिक्त शेष व्यय पर विधान सभा का पूर्ण नियन्त्रण रहता है। राज्यपाल को वित्तीय विधेयकों को पुन विचार के लिए विधान सभा के पास लौटाने का अधिकार नहीं है।

कार्यपालिका पर नियन्त्रण (Control over the Executive)—केन्द्र की भाँति राज्यों में भी संसदीय शासन व्यवस्था की स्थापना की गई है। इस प्रकार की व्यवस्था में कार्यपालिका (मन्त्रि-परिषद्) विधान सभा से चुनी जाती है, विधान सभा के प्रति उत्तरदायी होती है तथा तब तक ही कार्य कर सकती है जब तक कि विधान सभा का आशीर्वाद प्राप्त रहता है। इस प्रकार विधान सभा का राज्य की वास्तविक कार्यपालिका पर पूर्ण नियन्त्रण रहता है। ये नियन्त्रण के तरीके हैं—(क) अविश्वास का प्रस्ताव, (ख) स्थगन का प्रस्ताव, (ग) निन्दा प्रस्ताव,

(घ) मन्त्री के वेतन में कटौती। तथा (ट) मन्त्रियों द्वारा रखे गये किसी महत्वपूर्ण विधेयक को अस्वीकार करके अथवा मन्त्रियों के घोर विरोध करने पर भी किसी विधेयक को पास करके मन्त्रि-परिषद् में विश्वास की कमी प्रकट करना। इसके अतिरिक्त विधान सभा के सदस्य मन्त्रियों से प्रश्न तथा पूरक प्रश्न पूछ सकते हैं। उन्हें इन प्रश्नों का उत्तर देना होता है। केवल उन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए मन्त्रियों को बाधित नहीं किया जा सकता जो कि सार्वजनिक हित में नहीं होता है। इस प्रकार विधान सभा का कार्यपालिका पर नियन्त्रण रहता है।

विधान सभा इन कार्यों के अतिरिक्त भारत गणराज्य के राष्ट्रपति को निर्वाचित करने के लिए एक निर्वाचक मण्डल का रूप ग्रहण करती है। विधान सभा को कुछ मात्रा में संविधान में संशोधन करने का भी अधिकार है। संविधान की कई धाराओं के संशोधन के लिए आधे राज्यों के विधान मण्डलों की स्वीकृति आवश्यक होती है। इन धाराओं में जो मुख्य विषय आते हैं वे हैं, राष्ट्रपति के चुनाव, संसद् में राज्यों के प्रतिनिधित्व आदि।

विधान सभा की शक्तियों पर सीमायें

(Restrictions on the Powers of the Legislature)

यद्यपि राज्य विधान मण्डलों को बहुत सी शक्तियां दी गई हैं तथापि ये असम्पूर्ण हैं। इसका कारण यह है कि उनको संविधान में संशोधन करने का कोई अधिकार नहीं है। इसके अतिरिक्त राज्य विधान मण्डल को समवर्ती सूची के विषय पर कानून बनाने का अधिकार है परन्तु उसका कोई कानून संसद् के कानून का विरोधी है तो संसद् का कानून लागू किया जायेगा और राज्य की विधान मण्डल द्वारा बनाया गया कानून उस सीमा तक रद्द समझा जायेगा जहां तक यह संसद् के कानून का विरोधी है। राज्य विधान मण्डल को संघ-सूची पर भी कानून बनाने का अधिकार नहीं है। इसके अतिरिक्त विधान सभा की शक्तियों पर निम्न सीमाएँ लगाई गई हैं—

(1) संकटकालीन घोषणा के समय संसद् को राज्य सूची पर कानून बनाने का अधिकार है। जब राज्यपाल राष्ट्रपति को यह सूचना दे कि राज्य का शासन संविधान के अनुसार नहीं चलाया जा सकता, या वह अन्य किसी प्रकार इस बात से सन्तुष्ट हो जाए कि राज्य का शासन संविधान की धाराओं के अनुसार नहीं चलाया जा सकता तो वह अपना शासन घोषित कर देता है। राष्ट्रपति का शासन घोषित करने से उस राज्य का शासन राष्ट्रपति स्वयं या अपने प्रतिनिधि के द्वारा चलाता है क्योंकि ऐसी संकटकालीन अवस्था में राष्ट्रपति के पास राज्य की समस्त कार्यपालिका शक्ति आ जाती है। संसद को ऐसी राज्य सूची पर कानून बनाने का अधिकार मिल जाता है।

(2) यदि राज्य सभा उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से एक प्रस्ताव पास कर दे कि राज्य सूची के किसी विषय पर राष्ट्रीय हित

में कानून बनाना आवश्यक है, तो संसद् को ऐसे विषय पर कुछ सीमित समय के लिए कानून बनाने का अधिकार होगा।

(3) राज्यपाल को संविधान में कुछ स्वविवेक तथा व्यक्तिगत निर्णय का अधिकार दिया गया है। उदाहरण के लिए, आसाम के राज्यपाल को अनुसूचित जन-जातियों और समवर्ती प्रदेशों के सम्बन्ध में ऐसी शक्तियां प्राप्त हैं। यदि आसाम का विधान मण्डल इस सम्बन्ध में कोई कानून बनाता है तो राज्यपाल को उन कानूनों को लागू करने या न करने का अधिकार है।

(4) कुछ ऐसे विधेयक भी होते हैं जिन्हें विधान सभा में रखने से पूर्व राष्ट्रपति की स्वीकृति आवश्यक होती है। इस प्रकार की आवश्यकता उन विधेयकों के लिए होती है जो जनता की भलाई के लिए व्यापार वाणिज्य तथा एक राज्य का दूसरे राज्य के साथ व्यापार करने पर रुकावट पैदा करे।

(5) राज्यपाल को यह अधिकार दिया गया है कि वह किसी विधेयक को राष्ट्रपति की अनुमति के लिए सुरक्षित रख सकता है।

राज्य विधान मण्डल में कानून बनाने की प्रक्रिया
(Legislative Procedure of the State Legislature)

धन विधेयक (Money Bill) .—विधेयक दो प्रकार के होते हैं—धन विधेयक और साधारण विधेयक। धन विधेयकों का सम्बन्ध कर लगाने, हटाने, कम करने, बढ़ाने और अन्य व्यय से होता है। धन विधेयक के सम्बन्ध में विधान सभा को सारी शक्तियां प्राप्त हैं। जहां दूसरा सदन भी होता है वहां उसके पास कोई वास्तविक शक्तियां नहीं होतीं। धन विधेयक केवल विधान सभा में पारित हो सकता है। विधान सभा के सदस्य उसमें कोई कटौती कर सकते हैं परन्तु वे किसी रकम को बढ़ा नहीं सकते। वे किसी रकम को स्वीकृति देने से इन्कार कर सकते हैं। धन विधेयक राज्य के वित्त मन्त्री द्वारा या उसकी अनुपस्थिति में अन्य किसी मन्त्री द्वारा विधान सभा में प्रस्तुत किया जाता है। कोई निजी सदस्य धन विधेयक को विधान सभा में पेश नहीं कर सकता। बजट या वार्षिक वित्त-विवरण धन विधेयक का सर्वोत्तम उदाहरण है। वित्त मन्त्री इसको पहली अप्रेल से पूर्व विधान सभा के सम्मुख प्रस्तुत करता है। बजट के दो भाग होते हैं। पहले भाग में वह व्यय दिखाया जाता है जो राज्य की संचित निधि से किया जाता है। निम्नलिखित व्यय प्रत्येक राज्य की संचित निधि पर भारित व्यय होता है—

(1) राज्यपाल की उपलब्धियाँ और भत्ते तथा उसके पद से सम्बद्ध अन्य व्यय,

(2) विधान सभा के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष के, तथा जहाँ विधान परिषद् है, वहाँ विधान परिषद् के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष के वेतन तथा भत्ते,

(3) ऋण भार और तत्सम्बन्धी खर्चे,

(4) उच्च न्यायालय के वेतन और भत्तों सम्बन्धी खर्चे;

(5) किसी न्यायालय या मध्यस्थ न्यायाधिकरण के निर्णय डिक्री, या पंचाट के भुगतान के लिए आवश्यक कोई राशियाँ,

(6) अन्य कोई खर्च जो भारतीय संविधान द्वारा या राज्य के विधान मण्डल के कानून द्वारा इस प्रकार भारित घोषित की जाय।

संविधान के अनुच्छेद 229, 291 तथा 322 में निम्नलिखित व्यय भी संचित निधि पर भारित किये गये हैं—

(1) उच्च न्यायालय के पदाधिकारियों और सेवकों के वेतन, भत्ते और निवृत्ति वेतन, तथा उच्च न्यायालय के प्रशासनीय व्यय [229 (3)]।

(2) राज्य के लोक सेवा आयोग के प्रबन्ध के लिए आवश्यक खर्च जिनके अन्तर्गत आयोग के सदस्यों तथा कर्मचारियों को दिये जाने वाले वेतन भत्ते तथा निवृत्ति वेतन आदि (322)।

उपर्युक्त जो व्यय राज्य की संचित निधि पर भारित है उन पर राज्य के विधान मण्डल में मतदान नहीं हो सकता। लेकिन विधान मण्डल में उक्त व्ययों पर वाद-विवाद हो सकता है। अन्य सभी व्यय विधान सभा के सामने अनुदान की माँग के रूप में आने चाहिए। विधान सभा के सदस्यों को उन माँगों को स्वीकार करने या अस्वीकार करने का तो अधिकार है परन्तु किसी माँग को बढ़ाने का अधिकार नहीं है। विधान सभा के सदस्य उसमें नई माँग भी नहीं जोड़ सकते। अनुदान के लिए कोई माँग राज्यपाल की सिफारिश के बिना विधान सभा के सम्मुख नहीं रखी जायगी। ज्योंही विधान सभा ने अनुदान के लिए माँगें स्वीकार करली, त्योंही उनको तथा संचित निधि में होने वाले खर्चों को विनियोग विधेयक के रूप में पेश किया जाता है और विधान सभा उसको औपचारिक रूप से पारित करती है। विशेष कर लगाने, बढ़ाने या कम करने के सम्बन्ध में सरकारी प्रस्ताव विधान सभा के सम्मुख वित्त विधेयक के रूप में पेश किया जाता है। जहाँ पर विधान सभा के सदस्यों को किसी कर को स्वीकार, अस्वीकार या कम करने का अधिकार है परन्तु उन्हें नये करों का तजवीज करने या करों को बढ़ाने का कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। नये करों को लगाने अथवा पुराने करों को बढ़ाने के लिए सारी तजवीजें केवल वित्त मन्त्री के द्वारा ही रखी जा सकती हैं। इस प्रकार जब दोनों धन विधेयक विधान सभा पारित कर देती है तो उसे विधान परिषद् के पास भेजा जाता है। जहाँ विधान परिषद् नहीं होती वहाँ सीधा पारित धन विधेयक राज्यपाल के पास हस्ताक्षर के लिए प्रस्तुत किया जाता है। राज्यपाल धन विधेयक पर अनुमति देने से इन्कार नहीं कर सकता। राज्यपाल के हस्ताक्षर के पश्चात् वह विधेयक कानून बन जाता है।

साधारण विधेयक (Ordinary Bill) :—साधारण विधेयक दो प्रकार के होते हैं : निजी सदस्य विधेयक (Private Members Bill) और सरकारी विधेयक (Government Bill)। *साधारण विधेयकों का सम्बन्ध करों के लगाने, घटाने अथवा बढ़ाने से नहीं होता है।* साधारण विधेयक न केवल मन्त्रियों अपितु विधान सभा के

सदस्यों के द्वारा भी रखे जा सकते हैं। ऐसे साधारण विधेयक जो मन्त्रियों के अतिरिक्त राज्य विधान मण्डल (विधान सभा तथा विधान परिषद्) के अन्य सदस्यों द्वारा रखे जाते हैं, उन्हें निजी सदस्य विधेयक कहा जाता है। जो विधेयक मन्त्रियों द्वारा पेश किये जाते हैं उन्हें सरकारी विधेयक कहा जाता है। किसी विधेयक को कानून बनाने से पूर्व निम्न अवस्थाओं से गुजरना होता है—

विधेयक को प्रस्तुत करना तथा प्रथम वाचन (Introduction and First-Reading of the Bill) —सरकारी विधेयकों के लिए एक महीने का नोटिस देने की आवश्यकता नहीं होती है। निजी सदस्य विधेयक को प्रस्तुत करने के लिए तारीख निश्चित कर दी जाती है। निश्चित तिथि को विधेयक प्रस्तुत करने वाला सदस्य अपने स्थान पर खड़ा होकर उस विधेयक को प्रस्तुत करने के लिए सदन की अनुमति मांगता है और इसके पश्चात् विधेयक के शीर्षक को पढ़ता है। यदि विधेयक बहुत महत्त्वपूर्ण हो तो उसको प्रस्तुत करने वाला उस विधेयक के गुणों के बारे में संक्षिप्त भाषण दे सकता है। यदि उस सदन में उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों का बहुमत उस प्रस्ताव का समर्थन करे, तो वह प्रस्ताव स्वीकृत समझा जाता है।

इसके पश्चात् इस विधेयक को सरकारी गजट में छाप दिया जाता है। सरकारी विधेयक के लिए सदन की आज्ञा लेना आवश्यक नहीं है और न ही नोटिस देने की आवश्यकता है। इसके लिए यह काफी समझा जाता है अगर इसको सरकारी गजट में छाप दिया जाय। सरकारी विधेयक पर किसी समय आवश्यकता के अनुसार विचार किया जा सकता है। परन्तु निजी सदस्य विधेयकों पर केवल उसी समय विचार किया जाता है जब उसके लिए विशेष रूप से समय निश्चित किया जाय। इस प्रक्रिया को विधेयक का प्रथम वाचन कहा जाता है।

द्वितीय वाचन (Second Reading) .—प्रथम वाचन के बाद विधेयक को पेश करने वाला सदस्य यह प्रस्ताव रखता है कि उसके विधेयक का दूसरा वाचन किया जाय। इस अवस्था में विधेयक की प्रत्येक धारा पर बड़ी गहराई से विचार-विमर्श तथा वाद-विवाद नहीं होता बल्कि केवल उसके साधारण सिद्धान्तों पर ही विचार होता है। जब कोई विधेयक बहस के बाद पास हो जाता है तो उसको प्रवर समिति (Select Committee) में भेज दिया जाता है।

प्रवर समिति अवस्था (Select Committee Stage) —प्रवर समिति विधान मण्डल के 25–30 सदस्यों की बनी होती है। द्वितीय वाचन के बाद विवाद पूर्ण विधेयकों को प्रवर समिति के पास भेज दिया जाता है। इस अवस्था में विधेयक की प्रत्येक धारा की गहरी छानबीन की जाती है। अनेक प्रकार के सुझाव इस अवस्था में रखे जाते हैं और अन्त में एक प्रतिवेदन तैयार किया जाता है। इस प्रतिवेदन को सदन के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है।

तृतीय वाचन (Third Reading) *—प्रवर समिति के प्रतिवेदन के पश्चात् विधेयक का तृतीय वाचन आरम्भ होता है। इसमें विधेयक में बहुत ही साधारण परिवर्तन किये जा सकते हैं। इस अवस्था में विधेयक के साधारण सिद्धान्तों पर बहस की जाती है तथा भाषा सम्बन्धी अशुद्धियाँ ठीक की जाती हैं। इस अवस्था में विधेयक की धाराओं में परिवर्तन नहीं किया जा सकता या तो विधेयक को पूर्ण रूप से स्वीकार कर लिया जाता है और या फिर उसे अस्वीकार कर दिया जाता है।

जिन राज्यों में केवल एक सदन है, वहाँ पर विधेयक विधान सभा से पास हो जाने के पश्चात् राज्यपाल के पास अनुमति के लिए भेज दिया जाता है।

राज्यपाल की स्वीकृति (Assent of the Governor) —जब कोई विधेयक विधान मण्डल से पास हो जाता है तो उसे राज्यपाल के पास स्वीकृति के लिए भेजा जाता है। राज्यपाल या तो उस पर अपनी अनुमति दे देता है अर्थात् हस्ताक्षर कर देता है या विधान मण्डल के पास पुनः विचार करने के लिए अपने संशोधनों सहित भेज देता है। यदि राज्य विधान मण्डल उस विधेयक को राज्यपाल द्वारा किये गये संशोधनों सहित या उनके बिना दुबारा पास कर देता है तो राज्यपाल को अपनी स्वीकृति देनी होगी। राज्यपाल की स्वीकृति के पश्चात् वह विधेयक कानून बन जायगा।

राजस्थान राज्य की न्यायपालिका
(Judiciary of Rajasthan State)

किसी भी राज्य में न्यायपालिका का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण होता है। सरकार के तीन अंग होते हैं—कार्यपालिका, व्यवस्थापिका तथा न्यायपालिका। न्यायपालिका का महत्व इसलिए है कि वह विधान मण्डल द्वारा बनाये गये कानूनों को भंग करने वालों को दण्ड देती है। दूसरी ओर नागरिकों के मूल अधिकारों की रक्षक है। यह संविधान के संरक्षक के रूप में भी कार्य करती है। आज विश्व के सभी देशों में न्यायपालिकाओं को स्वतन्त्र रखा जाता है जिससे कि नागरिकों की अधिक स्वतन्त्रता बनी रह सके। गार्नर (Garner) ने न्यायपालिका की किसी राज्य में महत्वता बताते हुए लिखा है कि एक सभ्य राज्य की न्याय के व्यवस्था के बिना कल्पना भी नहीं की जा सकती है। लार्ड ब्राइस (Lord Bryce) के अनुसार, "किसी शासन की श्रेष्ठता जाँचने के लिए उसकी न्याय व्यवस्था की निपुणता से बढ़कर और कोई अच्छी कसौटी नहीं है क्योंकि किसी और चीज से नागरिकों की सुरक्षा और हितों पर इतना प्रभाव नहीं पड़ता जितना उसके उस ज्ञान से कि वह एक निश्चित, शीघ्र तथा पक्षपात रहित न्याय शासन पर निर्भर रह सकता है।"

भारत में भी संघ तथा राज्यों में स्वतन्त्र न्याय व्यवस्था की स्थापना की गई है। साधारणतः सब राज्यों में दोहरी न्यायपालिकायें होती हैं—संघ की तथा

राज्यों की। संयुक्त राज्य अमेरिका में दोहरी न्याय व्यवस्था है और वहाँ संघ तथा राज्यों के न्यायालय एक दूसरे से पृथक् है, परन्तु भारत में इस व्यवस्था को नही अपनाया है। ब्रिटिश शासन काल में सम्पूर्ण देश में एक ही संगठित न्यायपालिका का प्रबन्ध था। नये संविधान में भी इसी प्रकार की संगठित न्यायपालिका की व्यवस्था की गई हैं। भारत में जो व्यवस्था अपनाई गई है उसके अनुसार संघीय उच्चतम न्यायालय के अधीन राज्यों के उच्च न्यायालय रखे गए हैं और उनके अधीन जिला न्यायालय रखे गये है। ये न्यायालय परस्पर एक दूसरे के अधीन हैं तथा एक के निर्णय उसके अधीन न्यायालय को मान्य होते हैं तथा उनके निर्णयों की अपीलें अपने ऊपरी न्यायालय में होती है। इस प्रकार भारतीय न्याय व्यवस्था एक शृंखलाबद्ध न्याय-व्यवस्था है।

राजस्थान का उच्च न्यायालय

(High Court of Rajasthan)

संविधान की धारा 214 में यह उल्लेख किया गया है कि प्रत्येक राज्य में एक उच्च न्यायालय होगा। धारा 215 के अनुसार, प्रत्येक उच्च न्यायालय एक अभिलेख न्यायालय होगा तथा उसे अपने अपमान के लिए दण्ड देने की शक्ति होगी। अधीन न्यायालय इसके निर्णयों को प्रमाणित मानते है। इन धाराओं के अनुरूप राजस्थान में भी एक उच्च न्यायालय की स्थापना की गई है, जिसका मुख्य कार्यालय जोधपुर में रखा गया है। हाल ही में पूर्वी राजस्थान के लोगों को शीघ्र न्याय दिलाने के लिए 31 जनवरी 1976 को जयपुर में हाईकोर्ट की एक बैंच की स्थापना की गई जिसका उद्घाटन तत्कालीन विधि मंत्री हरिराम चन्द्र गोखले ने किया। उद्घाटन भाषण में विधि मंत्री ने कहा कि पूर्वी राजस्थान के लोगों में काफी समय से बैंच के स्थापना की जरूरत महसूस की जा रही थी। उन्होंने कहा कि जयपुर में बैंच की स्थापना का निर्णय उपयोगिता के आधार पर किया गया है। विधि मंत्री ने कहा कि सरकार चाहती है कि लोगों को शीघ्र व सस्ता न्याय मिले। जयपुर में बैंच आने से पूर्वी भाग के लोगों के लिए दूरी काफी कम हो जायेगी। आखिर जनता न्याय चाहती है और उसका ख्याल हमारे दिमाग में हमेशा रहना चाहिये। उन्होंने कहा कि देश में कुछ लोगों का मत है कि उच्च न्यायालय को विभाजित नहीं किया जाना चाहिये। ऐसा करने पर उसके स्तर में गिरावट आयेगी। लेकिन अधिकांश लोगों का मत है कि बैंच के प्रश्न पर एक विचार पर दृढ नहीं रहा जा सकता। यह परिस्थितियों पर निर्भर करता है। यहाँ से पहले भी कई राज्यों में दो या तीन बैंचें स्थापित की गई हैं।

तीन एकल पीठ तथा एक द्विखण्ड पीठ बनाई गई है। न्यायाधीश पुरुषोत्तम दास कुदाल, श्री के. डी शर्मा तथा श्री डी पी गुप्ता की एकल पीठ है जबकि न्यायाधीश रामजीलाल गुप्ता व राजेन्द्र सच्चर की द्विखण्डपीठ है।

उच्च न्यायालय का संगठन (Composition of High Court) —उच्च न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधिपति तथा कुछ न्यायाधीश होते हैं। न्यायाधीशों की संख्या राष्ट्रपति के द्वारा समय-समय पर निर्धारित की जाती है। प्रारम्भ में संविधान के अनुच्छेद 216 के परन्तुक में उपबन्धित किया था कि राष्ट्रपति उच्च न्यायालय के लिए समय-समय पर जितने न्यायाधीशों की आवश्यकता समझे, उतने नियुक्त कर सकता है और समय-समय पर न्यायालय के लिए अधिकतम न्यायाधीशों की संख्या भी वही निर्धारित करेगा। किन्तु सप्तम् संशोधन अधिनियम ने अनुच्छेद 216 के उक्त परन्तुक को समाप्त कर दिया है क्योंकि उसका अब कोई व्यावहारिक महत्त्व नहीं रह गया है। इस समय राजस्थान उच्च न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधिपति तथा 8 दूसरे न्यायाधिपति हैं। वर्तमान मुख्य न्यायाधीश न्यायमूर्ति श्री वेदपाल त्यागी हैं।

न्यायाधीश की नियुक्ति (Appointment of the Judges) :— उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति की नियुक्ति राष्ट्रपति भारत के प्रधान न्यायाधिपति (उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति) तथा उस राज्य के राज्यपाल की सलाह से करता है। अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति करते समय राष्ट्रपति इनके अतिरिक्त उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की सलाह भी लेता है। मुख्य न्यायाधीश और अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति स्वयं अपने हस्ताक्षर और मुद्रा सहित अधिपत्र द्वारा करता है।

न्यायाधीशों की योग्यताएं (Qualifications) —उच्च न्यायालय के न्यायाधीश बनने के लिए कुछ योग्यताओं का निर्धारित किया गया है, उनके अभाव में कोई भी व्यक्ति न्यायाधीश के पद पर नियुक्त नहीं किया जा सकेगा। वे योग्यताएं निम्नलिखित हैं :

(1) वह भारत का नागरिक हो।

(2) वह भारत में किसी न्यायपद पर कम से कम 10 वर्ष कार्य कर चुका हो, तथा

(3) भारत के किसी राज्य के उच्च न्यायालय में कम से कम 10 वर्ष तक अधिवक्ता रह चुका हो।

कार्यकाल (Tenure) —न्यायाधीशों के कार्यकाल के सम्बन्ध में यह स्पष्ट किया गया है कि वे 62 वर्ष तक अपने पद पर रह सकेंगे। लेकिन कोई भी न्यायाधीश अवधि से पूर्व यदि चाहे तो त्याग-पत्र देकर अपने पद से हट सकता है। सेवा निवृत्त होने के पश्चात् उसे पेन्शन भी दी जाती है।

न्यायाधीशों को पदच्युत करना (Removable of the Judges):— उच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश को हटाने का वही तरीका काम में लाया जाता है जो कि उच्चतम न्यायालय के किसी न्यायाधीश के हटाने के लिए लाया जाता है।

इस प्रकार उच्च न्यायालय के न्यायाधीश अपने पदों पर उतने ही सुरक्षित है जितने कि उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश अपने पदों पर सुरक्षित है। न्यायपालिका की स्वतन्त्रता को बनाये रखने के लिए यह आवश्यक समझा गया कि न्यायाधीशों के हटाने का तरीका कठिन होना चाहिये जिससे उनके सत्ता की सुरक्षा हो सके और वे कार्यपालिका के दबाव में न आ सके। अतः संविधान में यह उपलब्ध रखा गया है कि उच्च न्यायालय का कोई भी न्यायाधीश तब तक नहीं हटाया जा सकता जब तक संसद् के दोनों सदन उस पर सिद्ध कदाचार अथवा असमर्थता का आरोप लगाकर उपस्थित एवं मतदान करने वाले दो-तिहाई सदस्यों के बहुमत से और समस्त संख्या के बहुमत से इस हेतु उसी अधिवेशन में एक प्रस्ताव पारित कर दे राष्ट्रपति के पास न भेज दे। उस पर राष्ट्रपति के हस्ताक्षर होने के पश्चात् उस न्यायाधीश को अपने पद से हटा दिया जायेगा।

न्यायाधीशों का वेतन आदि (Pay and Allowances of Judges)—उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति को 4,000 रुपये तथा अन्य न्यायाधीशों को 3,500 रुपये मासिक वेतन दिया जाता है। उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन आदि में कमी नहीं की जा सकती। इस सम्बन्ध में न तो संसद और न राज्य के विधान मण्डल को किसी प्रकार से अधिकार प्राप्त है। केवल एक ही स्थिति में राष्ट्रपति न्यायाधीशों के वेतन में कमी कर सकता है और वह स्थिति है वित्तीय आपात (Financial Emergency) की घोषणा। जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि न्यायाधीशों का वेतन राज्य की सचित निधि से दिया जाता है। इनके वेतन, भत्ते आदि पर राज्य की विधान सभा मतदान भी नहीं कर सकती है। ऐसा करने का मुख्य अभिप्राय यह था कि न्यायपालिका को स्वतन्त्र रखा जा सके। अन्यथा कार्यपालिका के द्वारा वेतन में कमी की धमकी देकर अनुचित कार्य कराया जा सकता है।

सेवा-निवृत्ति के पश्चात् वकालत पर रोक (Restrictions on Practice after Retirement)—प्रारम्भ में संविधान में इस बात का उल्लेख किया गया था कि जो व्यक्ति उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के पद पर रह चुका है, वह फिर भारत क्षेत्र के किसी न्यायालय में या अन्य किसी अधिकारी के सामने वकालत या अन्य कार्य नहीं कर सकता। परन्तु संविधान के सप्तम् संशोधन अधिनियम ने उच्च न्यायालय के अवकाश प्राप्त न्यायाधीशों को वकालत करने के अधिकार दे दिये है। संशोधन के अनुसार न्यायाधीशों को इस बात की स्वीकृति दे दी है कि वे उच्चतम न्यायालय में वकालत कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त किसी ऐसे उच्च न्यायालय में भी वकालत कर सकते है जिसमें वे स्वयं स्थाई न्यायाधीश न रह चुके हो। इस संशोधन की विधि आयोग ने आलोचना की है।

उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की स्वतन्त्रता (Freedom to the Judges of High Court)—उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की स्वतन्त्रता को बनाये रखने के लिए संविधान में पर्याप्त व्यवस्था की गई है। जो अग्रांकित है—

(1) उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति के द्वारा की जाती है। इस प्रकार केन्द्रीय सरकार के द्वारा न्यायाधीशों की नियुक्ति की जाती है, न कि राज्य सरकार के द्वारा।

(2) न्यायाधीशों के पद की अवधि सुरक्षित होती है। उन्हें साधारणतया अपने पद से नहीं हटाया जा सकता। जो हटाये जाने की प्रक्रिया है वह बहुत ही कठिन है। उनके अवकाश ग्रहण करने की आयु संविधान द्वारा निश्चित होती है।

(3) उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन संविधान में निश्चित किये गये हैं तथा उनके सेवा की शर्तें संसद ने तय कर दी है। वेतन तथा उनके विशेषाधिकार में परिवर्तन बाद में नहीं किया जा सकता।

(4) न्यायाधीशों के वेतन राज्य की संचित निधि में से दिये जाते हैं। राज्य विधान मण्डल उनके वेतन कम नहीं कर सकती। राज्य विधान मण्डल इस पर मत-दान भी नहीं कर सकती है।

(5) उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की सेवा निवृत्ति आयु 62 वर्ष रखी गई है। स्विट्जरलैण्ड, संयुक्त राज्य अमेरिका के कुछ राज्यों में तथा सोवियत रूस में न्यायाधीशों की कार्यावधि कम रखी गई है और फिर न्यायाधीश अपने धन्धों में पुनः लग जाते हैं, इससे न्याय-कार्यों में बाधा उत्पन्न होती है और न्यायाधीशों को दलों की सहायता पर आश्रित रहना पड़ता है। इसलिए भारत में न्यायाधीशों को स्वतन्त्र रखने के लिए उनका कार्यकाल लम्बा रखा गया है।

(6) न्यायपालिका को स्वतन्त्र बनाये रखने के लिए यह भी आवश्यक माना गया है कि न्यायाधीशों के लिए कुछ योग्यतायें निर्धारित की जायें जिससे कि केवल अनुभवी और ऊँचे चरित्र के व्यक्ति ही इस पद पर नियुक्त किये जा सकें। भारत में न्यायाधीशों के लिए कुछ योग्यतायें निर्धारित की गई हैं।

उच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार तथा शक्तियाँ
(Jurisdiction and Powers of High Court)

उच्च न्यायालयों के क्षेत्राधिकार के सम्बन्ध में अनुच्छेद 230, 231 तथा 232 का इस प्रकार संशोधन कर दिया गया है कि दो या दो से अधिक राज्यों के लिए एक या एक से अधिक सम्मिलित उच्च न्यायालय स्थापित किया जा सके और जिससे फलस्वरूप किसी उच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार किसी संघ-राज्य-क्षेत्र तक विस्तृत हो सके अथवा जिससे फलस्वरूप ऐसा कोई अधिकार क्षेत्र छीना जा सके। साधारणतया किसी राज्य का अधिकार क्षेत्र उस राज्य की सीमाओं तक विस्तृत होता है जिसमें वह स्थित है। लेकिन अनुच्छेद 230 और 231 के अनुसार संसद् किसी अन्य राज्य के लिए भी बढ़ा सकती है। राजस्थान के उच्च न्यायालय का क्षेत्र सम्पूर्ण राजस्थान है।

उच्च न्यायालय की शक्तियाँ
(Powers of the High Court)

उच्च न्यायालय को दो प्रकार की शक्तियाँ प्राप्त हैं —(1) न्याय सम्बन्धी तथा (2) प्रशासनिक। इसके अतिरिक्त उच्च न्यायालय अभिलेख न्यायालय के रूप में भी कार्य करता है। उच्च न्यायालय के न्याय सम्बन्धी कार्यों को पुनः दो भागों में बाँटा जा सकता है —प्रारम्भिक तथा अपीलीय क्षेत्राधिकार। नीचे हम प्रत्येक का अलग अलग वर्णन करेंगे।

प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार
(Original Jurisdiction)

उच्च न्यायालय को लगभग वे ही अधिकार प्राप्त हैं जो नये संविधान लागू होने से पहले थे और उनमें बहुत कम परिवर्तन किया गया है। नये संविधान के प्रारम्भ होने से पूर्व 1950 तक केवल कलकत्ता, मद्रास और बम्बई प्रान्तों के उच्च न्यायालय को अधिकार प्राप्त था कि वे अपने सीमित क्षेत्राधिकार में कुछ लेख या आदेश निकाल सकें। किन्तु संविधान के अनुच्छेद 226 ने सभी उच्च न्यायालयों को यह अधिकार प्रदान किया है कि वे मौलिक अधिकारों के प्रवर्तन के लिए तथा अन्य प्रयोजनों के लिए अपने अधिकार क्षेत्र सम्बन्धी सारे राज्य क्षेत्र में किसी व्यक्ति या प्राधिकारी के प्रति उचित निर्देश, आदेश या लेख निकाल सकते हैं। यहाँ यह बता देना भी उचित होगा कि जहाँ उच्चतम न्यायालय को मौलिक अधिकारों के रक्षण तथा प्रवर्तन के लिए कई प्रकार के लेख जारी करने का अधिकार है उसी प्रकार उच्च न्यायालय के अधिकार क्षेत्र में इस प्रकार के लेख जारी करने के अधिकार दिये गये हैं। इन लेखों या आदेशों के अन्तर्गत बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार पृच्छा और उत्प्रेषण आते हैं। इस प्रकार उच्च न्यायालय द्वारा अधिकारों सम्बन्धी रक्षा सीधा हो सकती है।

इसके अतिरिक्त प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत उच्च न्यायालय को वसीयत, विवाह-विच्छेद, विवाह-विधि, कम्पनी विधि तथा उच्च न्यायालयों के अपमान के विषय में सभी उच्च न्यायालयों को प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार प्राप्त है। सैनिक न्यायाधिकरण उच्च न्यायालय के अधिकार क्षेत्र में नहीं आते हैं।

नये संविधान के लागू होने के पश्चात् उच्च न्यायालय के अधिकारों में कुछ वृद्धि हुई है। अब राजस्व तथा उसकी वसूली से सम्बन्धित कुछ प्रश्न उच्च न्यायालय के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार में आ गये हैं। पहले उच्च न्यायालय राजस्व सम्बन्धी विषयों पर विचार नहीं कर सकते थे।

अपीलीय क्षेत्राधिकार
(Appellate Jurisdiction)

राजस्थान के उच्च न्यायालय को भारत के अन्य उच्च न्यायालयों की भाँति अपने अधीन न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध अपील सुनने का अधिकार प्राप्त है।

दीवानी, फौजदारी तथा राजस्व सम्बन्धी सभी प्रकार के निर्णयों के विरुद्ध अपील राज्य के उच्च न्यायालय में की जाती है। दीवानी क्षेत्र में यह जिला न्यायाधीश के निर्णय के विरुद्ध अपील सुनता है। किन्तु दीवानी के मामलों में लघुवाद न्यायालय (Small Cause Court) के निर्णयों के विरुद्ध उच्च न्यायालय में कोई अपील नहीं हो सकती। फौजदारी मामलों में उच्च न्यायालय सत्र न्यायाधीशों (Sessions Court) के द्वारा दिये गये निर्णयों की अपील सुनता है। जब एक अभियुक्त को सत्र-न्यायाधीश दण्ड दे देता है तो उस निर्णय के विरुद्ध अपील उच्च न्यायालय में की जा सकती है। यदि सत्र-न्यायाधीश द्वारा किसी अभियुक्त को मृत्यु दण्ड दिया है तो उस पर उच्च न्यायालय की पुष्टि आवश्यक है। राजस्व सम्बन्धी अपीलें भी उच्च न्यायालय में प्रस्तुत की जाती हैं। नये संविधान के लागू होने के पूर्व उच्च न्यायालय को राजस्व सम्बन्धी मामले की अपील सुनने का अधिकार प्राप्त नहीं था। किन्तु अब इस प्रकार का अधिकार नये संविधान के अन्तर्गत उच्च न्यायालय को दिया गया है। य राजस्व मण्डल के द्वारा दिये गये निर्णयों के विरुद्ध अपील सुनते हैं।

उपर्युक्त विषयों सम्बन्धी अपीलों के अतिरिक्त उच्च न्यायालय तलाक और विवाह, उत्तराधिकार, भूमि प्राप्ति, दिवालियापन और संरक्षकता आदि अभियोगों में भी अपील सुनता है। संविधान के 42 वें संशोधन के अनुसार उच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार को सीमित कर दिया गया है। उच्च न्यायालय के अधिकारों में इस अधिनियम से निम्न परिवर्तन किये गये हैं—

(1) उच्च न्यायालय को ऐसे विवाद पर विचार करने का अधिकार नहीं होगा, जिसमें केन्द्रीय कानून को चुनौती दी गई हो।

(2) 42वें संविधान संशोधन की धारा 24 के अनुसार यदि महान्यायवादी के द्वारा की गई प्रार्थना के आधार पर यदि सर्वोच्च न्यायालय सन्तुष्ट हो जाये कि एक ही प्रकार के कानूनी प्रश्नों से सम्बन्धित विवाद उसके सामने तथा एक या एक से अधिक न्यायालयों के सामने उपस्थित हैं और ये प्रश्न सामान्य महत्व के सारभूत प्रश्न हैं तो सर्वोच्च न्यायालय उच्च न्यायालय से ऐसे सभी मामलों को अपने पास मंगाकर निर्णय दे सकता है।

(3) यदि सर्वोच्च न्यायालय न्याय के हित में आवश्यक समझे तो एक न्यायालय से किसी विवाद, अपील या कार्यवाही को दूसरे उच्च न्यायालय को हस्तान्तरित कर सकता है।

(4) इस संवैधानिक संशोधन की धारा 38 और 58 के द्वारा उच्च न्यायालयों का लेख जारी करने की शक्ति को संशोधित व सीमित कर दिया गया है। संशोधन के पूर्व उच्च न्यायालयों को मौलिक अधिकार लागू करने तथा अन्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए लेख, आदेश या निर्देश जारी करने का अधिकार था। अब

उच्च न्यायालय के द्वारा मौलिक अधिकारों (Fundamental Rights) को लागू करने के लिए तो लेख, आदेश तथा निर्देश जारी किया जा सकता है लेकिन अन्य वैधानिक अधिकारों के लिए नहीं। अब उच्च न्यायालयों का केवल निम्न मामलों में क्षेत्राधिकार प्राप्त होगा—(i) संशोधन की धारा 38 में यह भी व्यवस्था की गई है कि उच्च न्यायालयों द्वारा उस समय तक कोई अन्तिम आदेश नहीं जारी किया जा सकेगा, जब तक कि दूसरे पक्ष को नोटिस न दे दिया गया हो, और उसको सुन न लिया गया हो। (ii) उच्च न्यायालय को ऐसा कोई अन्तिम आदेश जारी करने का अधिकार नहीं होगा जिससे सार्वजनिक हित को किसी अंश में बाधा पहुँचे। (iii) धारा 58 के आधार पर यह व्यवस्था की गई है कि उच्च न्यायालय में जो विवाद विचाराधीन है उन पर भी यह बात लागू होगी।

प्रशासकीय न्यायाधिकरण
(Administrative Tribunals)

42वें संविधान की धारा 46 के अनुसार विभिन्न न्यायाधिकरणों की व्यवस्था की गई है जिससे न्यायालयों का क्षेत्राधिकार कम हो गया है। न्यायाधिकरण की स्थापना का कारण शीघ्र न्याय दिलवाना है। सरकार का यह विचार कि न्यायालयों की प्रक्रिया लम्बी होने से लोगों को न्याय प्राप्त करने में बहुत समय लग जाता। ये न्यायाधिकरण शीघ्र न्याय देने का कार्य करेंगे। प्रशासकीय न्यायाधिकरण को संघीय कर्मचारियों, राज्य कर्मचारियों, भारत राज्यक्षेत्र की स्थानीय या अन्य किसी सत्ता के अधीन कार्यरत अधिकारियों या भारत सरकार के या उसके नियन्त्रण में कार्य करने वाले किसी निगम (Corporation) के कर्मचारियों की भर्ती या सेवा शर्तों से सम्बन्धित विवादों की सुनवाई का अधिकार होगा। इसके अधीन संघ के लिए एक न्यायाधिकरण और प्रत्येक राज्य के लिए एक अलग न्यायाधिकरण या दो या अधिक राज्यों के लिए एक न्यायाधिकरण की स्थापना का अधिकार संसद को होगा, और संसद के द्वारा ही इस प्रकार के न्यायाधिकरण की शक्तियों और क्षेत्राधिकार को परिभाषित किया जायेगा। इस प्रकार राज्य कर्मचारियों के विवाद को पहले प्रशासकीय न्यायाधिकरण के लिए प्रस्तुत करना होगा। अब कर्मचारी अपने विवाद सीधे उच्च न्यायालय के पास नहीं ले जा सकते।

लेकिन यहां यह बता देना आवश्यक है कि हाल ही में हुए लोक सभा चुनावों में जनता पार्टी ने यह घोषित किया था कि वह यदि बहुमत प्राप्त करती है तो 42 वें संविधानिक संशोधन को रद्द करेगी और न्यायपालिका को पुनः स्वतन्त्र बनायेगी तथा उसे अपने अधिकार पुनः लौटायेगी। चुनाव में जनता पार्टी की भारी जीत और उनकी सरकार के निर्माण के बाद वह अपने वायदे को पूरा करेगी। 42वें संविधानिक संशोधन को रद्द करने के सम्बन्ध में नयी सरकार कदम उठा रही है। यदि ऐसा होता है तो उच्च न्यायालय के अधिकारों के सम्बन्ध में जो

परिवर्तन किए गए हैं वे रद्द हो जायेंगे और उन्हें उनके अधिकार वापिस मिल जाएंगे।

प्रशासन सम्बन्धी अधिकार
(Administrative Powers)

न्यायालय सम्बन्धी अधिकार के अतिरिक्त उच्च न्यायालय को कुछ प्रशासनिक अधिकार भी दिये गए हैं। उच्च न्यायालय को अपने अधीन न्यायालयों के प्रबन्ध व निरीक्षण सम्बन्धी अधिकार प्राप्त है। इस अधिकार के अन्तर्गत उच्च न्यायालय अपने अधीनस्थ न्यायालयों और न्यायाधिकरणों पर निगरानी रखता है। इस अधिकार के अनुसार वे अपनी अधीन अदालतों में से किसी भी अभियोग के कागजों को मंगवा सकता है। यदि किसी अधीन न्यायालय में कोई अभियोग चल रहा है, जिसमें भारतीय संविधान की व्याख्या का प्रश्न उत्पन्न होता है तो उच्च न्यायालय ऐसे मुकदमे को अपने पास हस्तान्तरित कर सकता है। अधीन न्यायालयों की कार्य पद्धति, रिकार्ड और रजिस्टर तथा लेखा-जोखा रखने के सम्बन्ध में भी उच्च न्यायालय अपने अधीन न्यायालयों के लिए नियम तथा उप-नियम बना सकता है। उच्च न्यायालय को यह भी अधिकार प्राप्त है कि वह किसी अधीन न्यायालय में चल रहे मुकदमे को किसी दूसरे न्यायालय में भेज सकता है। इसके अतिरिक्त स्वयं उस मुकदमे की जाँच पड़ताल अपने हाथ में ले सकता है। यह अधीन न्यायालयों के कर्मचारियों (क्लर्क आदि) तथा वकील आदि की फीस निश्चित कर सकता है। यह जिला न्यायालय तथा उसके छोटे न्यायालयों के अधिकारियों की नियुक्ति, पदोन्नति और अवकाश आदि के सम्बन्ध में नियम बना सकता है। उच्च न्यायालय के पदाधिकारियों तथा कर्मचारियों की नियुक्ति की शक्ति मुख्य-न्यायाधीश के पास होती है। इसके अतिरिक्त उच्च न्यायालय उस कानून को अमान्य या अवैध घोषित कर सकती है।

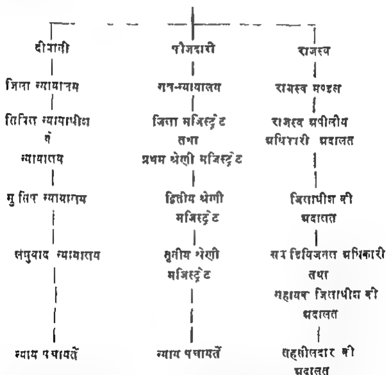
उच्च न्यायालय एक अभिलेख न्यायालय के रूप में
(High Court as Court of Records)

राज्य में उच्च न्यायालय एक अभिलेख न्यायालय के रूप में कार्य करते हैं अर्थात् इसके द्वारा की गई कार्यवाहियाँ तथा निर्णय राजकीय पत्र में छापे जाते हैं तथा उनका रिकार्ड रखा जाता है। इसके अतिरिक्त इन निर्णयों का हवाला अन्य अभियोगों में दिया जा सकता है। इसे अपने अपमान का दण्ड देने का भी अधिकार प्राप्त है।

अधीन न्यायालय
(Sub-ordinate Courts)

उच्च न्यायालय के अधीन राज्य में कई स्तरों पर अनेक प्रकार के न्यायालय

में न्यायालयों का एक क्रम होता है जिसमें एक से ऊपर एक न्यायालय होता है। ऊपर के न्यायालय अपने से नीचे के न्यायालयों के अपीलों की सुनवाई करते हैं तथा बड़े मुकदमों की प्रारम्भिक कार्यवाही करते हैं। उच्च न्यायालय के अधीन न्यायालयों का संगठन और उनका प्रादेशिक क्षेत्राधिकार सम्पूर्ण रूप से राज्य के विषय हैं। राज्य के विधान मण्डल के किसी अधिनियम के द्वारा अधीन न्यायालयों के प्रादेशिक क्षेत्राधिकार में या न्यायालयों में ली जाने वाली फीसों में परिवर्तन किया जा सकता है। राजस्थान में अधीन न्यायालय के क्रम को नीचे के चित्र से स्पष्ट किया जा सकता है –



उक्त तालिका से राज्य में न्याय की व्यवस्था स्पष्ट हो जाती है। जैसा कि बताया जा चुका है, न्यायालय तीन प्रकार के होते हैं—दीवानी, फौजदारी तथा राजस्व। दीवानी न्यायालयों में सबसे नीचे स्तर की अदालत न्याय पंचायत होती है तथा सबसे ऊपर उच्च न्यायालय। इसी तरह फौजदारी तथा राजस्व सम्बन्धी विवादों के लिए न्यायालयों के स्तर निश्चित कर दिये गये हैं। अब हम तीनों प्रकार के न्यायालयों का आगे वर्णन करेंगे—

दीवानी न्यायालय (Civil Court) :—सबसे छोटी अदालत लघुवाद न्यायालय होती है। ये बड़े शहरों में छोटे-छोटे मामलों का शीघ्रता से निर्णय करने के लिए स्थापित किये जाते हैं। इनके निर्णय के विरुद्ध वैधानिक प्रश्न के अतिरिक्त और किसी बात पर अपील नहीं हो सकती। इस न्यायालय में 200 रु० से 500 रु० तक के मामलों को सुनने का अधिकार है। इसके ऊपर मुन्सिफ न्यायालय होते हैं जिनमें साधारणतया 2,000 रुपये तक के मामलों को सुनने का अधिकार होता है। कहीं-कहीं इन न्यायालयों को 5,000 रुपये तक के मुकदमे सुनने का अधिकार दिया गया है। इन न्यायालयों के ऊपर सिविल जज होते हैं जो मुन्सिफ न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध अपील सुनते हैं तथा 10,000 रु० से 20,000 रुपयों तक के मुकदमे को सुनने का कार्य करते हैं। इस न्यायालय के ऊपर जिला न्यायालय होते हैं जो सिविल जजों के दिये गए निर्णयों के विरुद्ध की गई अपील सुनते हैं तथा इनके न्यायालय में किसी भी रकम का मुकदमा किया जा सकता है। इनके निर्णयों के विरुद्ध अपील उच्च न्यायालयों में होती है। राजस्थान में जिला व सत्र-न्यायाधीश एक ही व्यक्ति होता है और जिला एवं सत्र-न्यायाधीश कहा जाता है। जब वह दीवानी मामलों को सुनता है तब वह जिला न्यायाधीश कहलाता है और जब वह फौजदारी मामलों को सुनता है तो उसे सत्र न्यायाधीश कहा जाता है। जिला न्यायाधीशों को प्रारम्भिक तथा अपीलीय दोनों प्रकार के अधिकार प्राप्त हैं। वह अपने निम्न न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध अपील सुनता है। वह संरक्षकता, दिवालियापन, तलाक आदि से सम्बन्धित अभियोगों को भी सुनता है। वह जिले की दीवानी अदालतों की निगरानी रखता है और कार्यों का बटवारा करता है।

फौजदारी न्यायालय (Criminal Court) :—फौजदारी न्यायालयों में सबसे छोटी श्रेणी की अदालत तृतीय श्रेणी के मजिस्ट्रेट या दण्डाधिकारी की होती है। तृतीय श्रेणी के दण्डाधिकारी लघु अभियोगों को सुनते हैं। इनको किसी अपराधी को 50 रुपये जुर्माना और एक माह की कैद की सजा देने का अधिकार है। इनसे ऊपर द्वितीय श्रेणी के मजिस्ट्रेट का न्यायालय होता है। इनको 200 रुपये का जुर्माना तथा 6 माह की कैद देने का अधिकार है। इन दोनों श्रेणियों के मजिस्ट्रेटों के पास अपील के अधिकार नहीं होते। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि इन दोनों मजिस्ट्रेटों के पास प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार ही प्राप्त है। इन दोनों श्रेणियों के न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध अपील सुनने का अधिकार जिला मजिस्ट्रेट को दिया गया है जो स्वयं प्रथम श्रेणी का मजिस्ट्रेट होता है। जिला मजिस्ट्रेट को कुछ मामलों में प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार भी दिया गया है, वह दो वर्ष की कैद की सजा तथा 1,000 रुपया जुर्माना कर सकता है।

इन तीनों प्रकार के दण्डाधिकारियों के अतिरिक्त जिले में सब-डिविजनल मजिस्ट्रेट तथा अतिरिक्त जिला मजिस्ट्रेट भी होते हैं जो ऐसे अभियोगों के अतिरिक्त जिनमें मृत्यु दण्ड दिया जाता है लगभग वे सभी प्रकार के मुकदमे सुन सकते हैं।

इनको भी द्वितीय तथा तृतीय श्रेणी के मजिस्ट्रेटो के निर्णयो के विरुद्ध अपील सुनने के अधिकार प्राप्त होते है।

प्रथम श्रेणी के दण्डाधिकारी की न्यायालय के ऊपर सत्र न्यायाधीश का न्यायालय होता है। इसके पास सभी प्रथम श्रेणी दण्डाधिकारियों के निर्णयो के विरुद्ध अपील की जा सकती है। सत्र न्यायाधीश खून, तथा अन्य अत्यन्त गम्भीर अभियोगो आदि के मामलो की सुनवाई करते हैं। इन्हे किसी भी प्रकार की सजा देने का अधिकार होता है। यहाँ तक कि अभियुक्तो को मृत्यु दण्ड भी दे सकते हैं परन्तु उस पर उच्च न्यायालय की पुष्टि आवश्यक मानी गई है। कही कही पर सिविल और अतिरिक्त न्यायाधीश होते है जिन्हे दीवानी मामलो मे 20,000 रुपये की रकम के मामलो को सुनने तथा फौजदारी मे सत्र-न्यायालय के समान अधिकार होते है।

सत्र न्यायालय की अपीलें उच्च न्यायालय मे होती है। दण्ड न्यायालयो की कार्य प्रणाली के सम्बन्ध मे सम्पूर्ण भारत मे एकरूपता है क्योकि दण्ड-प्रक्रिया-संहिता सारे भारत मे न्यायालयो पर समान रूप से लागू है।

राजस्व न्यायालय (Revenue Court) :—राजस्व सम्बन्धी मामलो को सुनने के लिए राज्य मे राजस्व न्यायालयो की स्थापना की गई है। राजस्व न्यायालयो मे सबसे नीची श्रेणी की अदालत तहसीलदार की अदालत होती है। तहसीलदार के न्यायालय की अपील सब डिवीजनल अधिकारी या सहायक जिलाधीश की अदालत मे होती है। इन अधिकारियो के निर्णयो के विरुद्ध अपील जिलाधीश की अदालत मे होती है। 1 अप्रेल 1965 के पूर्व जिलाधीश के निर्णयो के विरुद्ध अपील सुनने का अधिकार आयुक्त (Commissioner) के पास था। परन्तु अप्रेल 1965 से आयुक्त के पद को हटा दिया गया है, अत जिलाधीश के राजस्व सम्बन्धी मामलो के निर्णय के विरुद्ध अपील राजस्व अपील अधिकारी (Revenue Appellate Authority) के पास होती है। इनके निर्णयो के विरुद्ध अपीले राजस्व मण्डल मे होती है। राजस्व मण्डल (Revenue Board) का कार्यालय पहले जयपुर मे था और वर्तमान मे यह अजमेर मे है। राजस्व मण्डल के निर्णय राजस्व के मामलों मे अन्तिम होते हैं। परन्तु कुछ कानूनी मामलो मे इनकी अपील उच्च न्यायालय के पास की जा सकती है।

पचायत न्यायालय (Panchayat Court) :—दीवानी फौजदारी तथा राजस्व न्यायालयो के अतिरिक्त राजस्थान मे पचायत न्यायालयों की भी स्थापना की गई है। जिसे न्यायपचायत कहते है। ये न्याय पचायतें गाँवो के छोटे-छोटे मामलो को निपटाने का कार्य करती है। पाँच सात ग्राम पचायतो के क्षेत्र मे एक न्याय पचायत होती है जिसके सदस्य निर्वाचित होते है तथा प्रत्येक पचायत से एक न्याय पंच चुना जाता है जो न्याय पचायत का सदस्य होता है। उन्हे दीवानी तथा फौजदारी मामलो मे कई प्रकार के अधिकार दिये गये है। इनके निर्णयो के विरुद्ध

अधीन मुन्सिफ न्यायालयों में की जा सकती है। न्याय पंचायतों का विस्तृतरूप से वर्णन हम आगे अध्याय में करेंगे।

अधीन न्यायालयों पर नियन्त्रण (Control Over Sub-ordinate Courts) जिला न्यायालयों और उनसे निम्न स्तर न्यायालयों के ऊपर राज्य के उच्च न्यायालय का नियन्त्रण रहता है। भारतीय संविधान का अनुच्छेद 235 इस बात की व्यवस्था करता है कि जिला न्यायाधीश के पद के स्तर के नीचे के किसी पद को धारण करने वाले राज्य की न्यायिक सेवा के व्यक्तियों की पद-स्थापना, पदोन्नति और उनकी अवकाश देने सहित जिला न्यायालयों तथा उनके अधीन न्यायालयों का नियन्त्रण राज्य के उच्च न्यायालय में निहित है। इस प्रकार उच्च न्यायालय का नियन्त्रण अधीन न्यायालयों पर उनमें किसी निम्न पद को धारण करने वाले राज्य की न्यायिक सेवा के व्यक्तियों की पद स्थापना, पदोन्नति और उनको अवकाश देने के सम्बन्ध में है किन्तु यह नियन्त्रण जिला न्यायाधीश से निचले पदों वाले न्यायिक अधिकारियों पर ही लागू होता है। संक्षेप में सारे निम्नतर न्यायालय उच्च न्यायालय के प्रशासनिक नियन्त्रण में कार्य करते हैं।

न्यायपालिका और कार्यपालिका का पृथक्करण (Separateon of Judiciary with Executive) . राज्य के नीति निर्देशक तत्वों (अनुच्छेद 50) के अन्तर्गत संविधान राज्य को परामर्श देता है कि "राज्य की लोक-सेवाओं में राज्य न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक रखने का प्रयास करे।" सभी लोगों की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए यह आवश्यक माना गया है कि न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक रखा जाय। जैसा कि माण्टेस्क्यू ने अपने शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त की विवेचना में कहा है—"उस देश में स्वतन्त्रता नहीं रह सकती, जिसमें न्यायपालिका को व्यवस्थापिका और कार्यपालिका से अलग न रखा जाता हो।" भारत में जिला स्तर पर एक ही व्यक्ति में कार्यपालिका तथा न्यायपालिका के अधिकार निहित थे। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् इस सम्बन्ध में कदम उठाया गया कि जिला स्तर पर न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक किया जाय। राजस्थान में भी इस कार्य को तीव्र गति से किया जा रहा है और यहाँ के बहुत से जिलों में इन दोनों अंगों को पृथक कर दिया गया है। ऐसा करने से लोगों की अधिक सुरक्षा तथा न्याय मिलने की हम आशा कर सकते हैं।

एडवोकेट जनरल

प्रत्येक राज्य में एक एडवोकेट जनरल की व्यवस्था की गई है। यह अधिकारी राज्य में मुख्य विधि अधिकारी होता है। संविधान की धारा 165 के अनुसार एडवोकेट जनरल की नियुक्ति राज्य के राज्यपाल द्वारा की जायेगी तथा वह अपने पद पर राज्यपाल के प्रसादपर्यन्त कार्य करता है। जहाँ तक इस पद की योग्यता का प्रश्न है, संविधान में लिखा गया है कि जो योग्यतायें उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के लिए आवश्यक मानी गई हैं वही इस पद के लिए हैं।

संविधान की धारा 165 (2) में बताया गया है कि एडवोकेट जनरल का मुख्य कर्तव्य राज्य सरकार को कानूनी विषयों पर मन्त्रणा देना है। इसके अतिरिक्त राज्यपाल समय समय पर जो कर्तव्य सुपुर्द करें उनको सम्पादित करना है। एडवोकेट जनरल राज्य सरकार के कानूनी मुकदमों की पैरवी भी करते हैं। उन्हें राज्य की विधान सभा के कार्यों में भाग लेने का अधिकार प्राप्त है परन्तु किसी भी मामले पर वह विधान सभा में मत नहीं दे सकता। विधान सभा में कानूनी विषयों पर उसकी राय महत्त्वपूर्ण समझी जाती है।

परीक्षोपयोगी प्रश्न

1. राज्यपाल की शक्तियों और स्थिति का वर्णन कीजिये। क्या राज्यपाल निरपेक्ष या निरंकुश बन सकता है?

   Explain the powers and position of the Governor. Can Governor become despotic ?

2. क्या राज्यपाल के पास कोई विवेक के अधिकार हैं? किन परिस्थितियों में राज्यपाल अपने विवेक के अधिकार का प्रयोग कर सकता है?

   Is there any discretionary powers with the Governor ? Under what circumstances can he use his discretionary powers ?

3. "राज्यपाल एक ही समय पर संवैधानिक अध्यक्ष है वास्तविक अध्यक्ष है और केन्द्र का अभिकर्त्ता है।" आलोचनात्मक समीक्षा कीजिये।

   "Governor at the same time a constitutional head, a real head and an agent of the Centre" Critically examine this statement

4. राज्य विधान मण्डल के संगठन, कार्य और अधिकारों का वर्णन कीजिये।

   Explain the composition, functions and powers of State Legislature

5. विधान मण्डल कार्यपालिका तथा वित्तीय प्रशासन पर किस प्रकार नियन्त्रण रखता है?

   How the State Legislature controls the Executive and Financial Administration ?

6. राज्यपाल तथा विधानसभा के सम्बन्धों की व्याख्या कीजिये। किन परिस्थितियों में राज्यपाल विधान मण्डल को भंग कर सकता है?

   Describe the relation between the Governor and the State Legislature Under what circumstances can Governor dissolve the State Legislature (Assembly) ?

7. राजस्थान में न्यायिक प्रशासन की समीक्षा कीजिये।

   Explain the Judicial Administration in Rajasthan.

8. उच्च न्यायालय के संगठन, कार्यों तथा अधिकारों का वर्णन कीजिये।

   Describe the Composition, functions and powers of the High Court.

9. 42वें संवैधानिक संशोधन में उच्च न्यायालय के अधिकारों के सम्बन्ध में क्या परिवर्तन किये गये ?

   What changes have been done in relations to the powers of the High Courts under 42nd Constitutional Amendment

16

राजस्थान राज्य का सचिवालय

(STATE SECRETARIAT)

भारत के नये संविधान के अनुसार संसदीय शासन व्यवस्था की स्थापना संघ तथा राज्यो मे की गई है। इस प्रकार की शासन व्यवस्था मे मन्त्रि-मण्डल के पास मे कार्यपालिका सम्बन्धी अधिकार होते हैं। कार्यपालिका का मुख्य कार्य होता है नीति निर्धारित करना तथा यह देखना कि नीति को सुचारु रूप से लागू किया जाय। जैसा कि बताया जा चुका है कि प्रत्येक मन्त्री के पास एक या एक से अधिक विभाग होते हैं। अपने सम्बन्धित विभाग की नीति बनाना तथा उसे लागू करने की जिम्मेदारी विभाग के मन्त्री पर होती है। परन्तु वास्तव मे मन्त्री को नीति निर्धारित करने मे सचिवालय के अधिकारियो का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। उनके अभाव मे कोई भी मन्त्री सफलतापूर्वक कार्य नही कर सकता।

मन्त्री लोग जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि होते हैं और यह आवश्यक नहीं कि जो विभाग उन्हे दिया जाय उसके बारे मे उसका पूर्ण ज्ञान हो। ऐसी दशा मे सचिवालय के अधिकारियों का महत्त्व और भी बढ जाता है। सर सिडनी लो के अनुसार "किसी भी युवक को वित्त मन्त्रालय मे द्वितीय श्रेणी का क्लर्क बनने के लिए हिसाब की परीक्षा पास करना जरूरी है, लेकिन वित्त मन्त्री कोई ऐसा व्यक्ति बन सकता है जो ईटन तथा आक्सफोर्ड की शिक्षा को भूल चुका है और जब दशमलवो मे कोष का लेखा उसके सामने पहली बार रखा जाता है तब वह उन छोटे-छोटे बिन्दुओं का अर्थ सचमुच जानना चाहता है।" इसी प्रकार किसी युवक अफसर को कैप्टन का पद नही दिया जाता यदि उसे सैनिक के इतिहास मे आने वाली कुछ व्यूह-रचनाओ की जानकारी न हो, लेकिन युद्ध मन्त्री शान्तिप्रिय व्यक्ति हो सकता है, "हमारे यहाँ ऐसा हो चुका है—जो सेना को ही बेकार समझता है और उसके विषय मे कुछ भी ज्ञान प्राप्त करने से बचता रहता है।"

उपर्युक्त उदाहरणो से यह स्पष्ट हो जाता है कि सचिवालय के प्रशासकीय अधिकारी मन्त्रियो को उनके कार्यों मे बडा योगदान करते हैं। लार्ड मिलनर ने मन्त्रियो और उनके अधीनस्थ अधिकारियो के सम्बन्धो की व्यवस्था बड़े रोचक शब्दो मे की है। उनके अनुसार—"प्राय नियुक्त होने समय मन्त्री विभागीय कार्य व्यापार

के बारे में कुछ नहीं जानते। उनके पास नीति होती है, अपने विचार होते हैं, लेकिन जब उनका सम्पर्क उन व्यावहारिक कठिनाइयों, नये संकटों, विस्तृत संचित ज्ञान तथा अनुभव से होता है, जो स्थाई अधिकारी विषय के बारे में रखते हैं तब उन विचारों में बहुत परिवर्तन हो जाता है। वस्तुतः उच्च श्रेणी के प्रशासकीय अधिकारियों का प्रमुख कर्तव्य राजनीतिज्ञ की अस्पष्ट आकांक्षाओं तथा धुंधले विचारों को देह और प्राण देना है। जब मन्त्री की नीति को अव्यवहार्य न बनाने की निष्कपट भावना से कर्तव्य का सच्चाई से पालन किया जाता है और कुछ उपयोगी वस्तु का निर्माण करने की सदिच्छा रहती है तब प्रशासकीय अधिकारी राज्य की नीति को पर्याप्त प्रभावित करते हैं।[1]

अन्त में यह कहा जा सकता है कि मन्त्रियों का कार्य नीति निर्धारण करना है, और जब एक बार नीति निश्चित हो जाय, तब प्रशासकीय अधिकारियों का यह अनिवार्य कार्य हो जाता है कि वे उस नीति को कार्यान्वित करने के लिए सद्भावना से ठीक-ठीक प्रयत्न करें, चाहे वे इससे सहमत हों या असहमत। इस अध्याय में हम राजस्थान राज्य के सचिवालय के संगठन तथा कार्यों का उल्लेख करेंगे।

राजस्थान राज्य का सचिवालय तथा मुख्य विभाग

राजस्थान राज्य का सचिवालय जयपुर में स्थित है। सचिवालय में ही राज्य के मन्त्रियों के कार्यालय हैं। यहीं से राज्य की महत्वपूर्ण नीति सम्बन्धी तथा प्रशासकीय आज्ञायें प्रसारित की जाती हैं। सचिवालय में अनेक विभाग हैं जिनका राजनीतिक अधिकारी मन्त्री तथा प्रशासकीय अधिकारी सचिव होता है। यह सचिव भारतीय प्रशासकीय सेवा का सदस्य होता है। सचिवालय के मुख्य विभाग निम्न हैं—

1. नियुक्ति विभाग
2. सामान्य प्रशासन विभाग
3. गृह विभाग
4. वित्त विभाग
5. उद्योग एवं खनिज विभाग
6. राजस्व विभाग
7. वन विभाग
8. आबकारी तथा कर विभाग
9. कृषि विभाग
10. स्वायत्त शासन विभाग
11. चिकित्सा तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य विभाग
12. सार्वजनिक निर्माण विभाग
13. श्रम विभाग
14. शिक्षा विभाग
15. न्याय विभाग
16. योजना विभाग
17. सहकारिता विभाग

विभाग का संगठन : प्रत्येक विभाग का एक राजनीतिक अध्यक्ष होता है जिसे मन्त्री कहा जाता है। मन्त्री की सहायता हेतु उप-मन्त्री तथा राज्य मन्त्री होते हैं। राजस्थान में चौथे आम चुनाव के पश्चात् राज्यमन्त्री तथा संसदीय सचिव बनाये

जाने लगे हैं। इसके पूर्व राज्य मे इस प्रकार की कोई व्यवस्था नही थी। यह राजनीतिक अधिकारी राज्य की विधान सभा का सदस्य होता है तथा मन्त्रिमण्डल का भी सदस्य होता है। इसका कार्य मुख्य रूप से नीति निर्धारण होता है। उप-मन्त्री, राज्य मन्त्री तथा ससदीय सचिव मन्त्री को उसके कार्यों मे सलाह देने के साथ-साथ यह भी देखते हैं कि जो नीति निर्धारित की गई है उसका ठीक प्रकार से पालन हो रहा है या नही। उप-मन्त्री, राज्य मन्त्री तथा ससदीय सचिव मन्त्रिमण्डल की बैठक मे भाग नही लेते परन्तु विधान सभा के प्रति उत्तरदायी होते हैं। राजनीतिक अधिकारियों के नीचे सचिवालय मे कार्य करने वाले उच्च अधिकारी आते हैं जो मन्त्रियो को नीति निर्धारण मे आवश्यक सहायता तथा सलाह देते हैं। सचिवालय की सीमाओ के बाहर के अधिकारी जिन्हे दूसरे शब्दो मे प्रशासकीय विभागाध्यक्ष कहते है, उनका मुख्य कर्तव्य नीति को कार्य रूप देना होता है।

सचिवालय मे विभाग का सर्वोच्च अधिकारी सचिव होता है। कभी-कभी एक सचिव के पास एक से अधिक विभाग हो सकते हैं। दूसरी ओर महत्वपूर्ण विभाग मे कभी एक से अधिक सचिव भी हो सकते हैं। जिन विभागो मे कार्य-भार अधिक होता है वहाँ अतिरिक्त सचिव, सयुक्त सचिव तथा विशेष सचिव का पद रखा जाता है। साधारणतया एक विभाग मे सचिव, उप-सचिव, सहायक सचिव, अनुभाग अधिकारी, कार्यालय अधीक्षक, उच्च लिपिक, निम्नलिपिक तथा चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी होते है।

सचिवालय के बाहर प्रशासकीय विभागाध्यक्ष होते है जिन्हे साधारण बोलचाल की भाषा मे विभागाध्यक्ष कहते हैं जिनका मुख्य कार्य नीति को कार्यान्वित करना होता है। ये विभागाध्यक्ष साधारणतया सचालक, निदेशक, महानिरीक्षक तथा आयुक्त आदि कहलाते हैं। इन विभागाध्यक्षो के अधीन उप सचालक, उप-निदेशक, उप-महा-निरीक्षक तथा उपायुक्त होते हैं। पुन: इन अधिकारियो के अधीन जिला क्षेत्र के अधिकारी होते हैं। इस प्रकार राज्य का प्रशासन चलता रहता है।

वर्तमान मे राज्य के कार्यों मे अपार वृद्धि हो जाने से विभिन्न स्तरो पर सरकारी विभागों मे कर्मचारियों की सख्या मे भी अत्यधिक वृद्धि हुई है। सचिवालय भी इसका अपवाद नही है। हालत यह है कि सचिवालय के स्टाफ मे इतनी वृद्धि हो गई है जितनी सम्भवतः प्रशासनिक दृष्टि से आवश्यक नही है। इसके कारण अनेक बार कार्यों का दोहराव व अनिराव होता है। सरकारी अधिकारियों के पदो मे अनेक आवश्यक स्तर बना दिये जाते हैं जिससे पदोन्नतियाँ बडी जल्दी होती रहती है। इन सब के परिणामस्वरूप सभी स्तरो पर कर्मचारियो की क्षमता व बुद्धि घट जाती है। प्रशासनिक अधिकारी सदा अपनी सेवा की सुरक्षा, वेतन, भत्ते और पदोन्नति के अवसरों में ही उलझे रहते हैं। वे अपने कर्तव्यों एव दायित्वो के प्रति सजग नहीं रहते। इन प्रवृत्तियो के कारण प्रशासनिक कार्यों की गति बढने की अपेक्षा लालफीता-शाही, धीमा कार्य और अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं। सचिवालय के

स्टाफ में होने वाली वृद्धि उसके कार्य में होने वाली वृद्धि के अनुपात में नहीं है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि अतिरिक्त स्टाफ प्रायः दूसरों से गप्प लड़ाने में तथा अनावश्यक रूप से कागजों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने में समय व्यतीत करता है।

सचिवालय के कार्य
(Functions of the Secretariat)

राज्य सचिवालय सरकार की नीतियों और कार्यक्रम निर्धारित करने में मन्त्रिपरिषद् की सहायता और परामर्श देने की महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यह सरकारी नीति रचना के लिए आवश्यक सामग्री एकत्रित करता है तथा उसका विश्लेषण करके मन्त्रिपरिषद् के सम्मुख प्रस्तुत करता है। यह अपने बहुमूल्य परामर्श से मन्त्रिपरिषद् को निर्णय लेने में सहायता करता है। सचिवालय द्वारा निष्पादन अभिकरणों (Executive Agencies) को सरकारी कार्यक्रमों की कुशल एवं शीघ्र कार्यान्विति के लिए मार्गदर्शन किया जाता है। साथ ही नीतियों एवं कार्यक्रमों की क्रियान्विति पर देख-रेख रखता है और समय-समय पर सरकारी कार्यक्रमों का सही-सही मूल्यांकन करता है। कुल मिलाकर सचिवालय के कार्यों को संक्षेप में निम्न प्रकार बताया जा सकता है—

(1) नीति सम्बन्धी विषयों पर निर्णय प्राप्त करना तथा नीति सम्बन्धी निर्णयों को स्पष्ट भाषा में उल्लेख करना।
(2) नियोजन तथा वित्त सम्बन्धी कार्य।
(3) विधायी कार्य।
(4) सेवीवर्ग प्रबन्ध की नीतियाँ निर्धारित करना।
(5) कानूनी परामर्श देना।
(6) सचिवालय के प्रशासनिक विभागों में समन्वय तथा स्पष्टता स्थापित करना।
(7) केन्द्र तथा अन्य राज्य सरकारों एवं योजना आयोग जैसे केन्द्रीय अभिकरणों के साथ संचार की व्यवस्था करना।
(8) क्षेत्रीय विभागों द्वारा किये गये कार्यों का मूल्यांकन, निरीक्षण, नियन्त्रण और समन्वय करना।

सचिवालय की कार्य-प्रणाली
(Working of the Secretariat)

सचिवालय के विभिन्न स्तरों के पदाधिकारी अपने पद के महत्त्व के अनुसार कार्य करते हैं। प्रत्येक सचिव अपने अधीनस्थ कर्मचारियों पर सामान्य नियन्त्रण एवं पर्यवेक्षण रखता है। वह प्रत्येक कर्मचारी को कुशलता एवं सरलता से कार्य सम्पन्न करने में मदद देता है। उप-सचिव द्वारा सचिव की सहायता की जाती है। वह समय-समय पर सचिव द्वारा सौंपे गये कार्य सम्पन्न करता है।

एक विभाग कई अनुभागों (Sections) में बटा रहता है और प्रत्यक अनुभाग का अधीक्षक (Superintendent) यह व्यवस्था करता है कि अनुभाग में आने वाले सभी कागज पत्रों पर उचित कार्यवाही की जावे। अधीक्षक की देख-रेख में कार्यालय की प्रक्रिया के अनुशीलन की व्यवस्था की जाती है। वह सभी नियमों, अधिनियमों, कार्यालय प्रक्रियाओं तथा फाइल रखने के तरीकों से परिचित रहता है। इस हेतु वह अपने सहायकों को आवश्यक निर्देश प्रदान करता है। वह किसी निर्णय के "क्या" पर प्रभाव नहीं डालता वरन् "कैसे" का सुझाव देता है। निर्णय लेना उच्चाधिकारियों का कार्य है।

राज्य सचिवालय की कार्यप्रणाली का स्पष्ट विवरण सचिवालय की लघु पुस्तिका (Secretariat Manual) में दिया गया है तदनुसार राजस्थान सचिवालय म फाइल प्रक्रिया के दो भाग किये गये हैं। (i) टिप्पणियाँ, तथा (ii) पत्र व्यवहार (Notes and Correspondence)। टिप्पणी के अन्तर्गत सम्बन्धित विषय पर विभाग का अभिमत शामिल रहता है। इसमें विवाद प्रस्तुत किया जाता है, कार्यवाही का सुझाव दिया जाता है तथा अन्तिम आदेश प्रसारित किये जाते है। फाइल म 'पत्र-व्यवहार' भाग पर अनेक टिप्पणियाँ की जाती हैं। इस भाग में किसी विषय पर प्राप्त किए गये तथा भेजे गए सभी पत्र शामिल रहते हैं। इन पत्रों को दिनांक के अनुसार प्रबन्धित किया जाता है और क्रमशः संख्या लगाई जाती है। नई फाइल किसी भी पत्र या टिप्पणी के आधार पर बनाई जाती है। महत्वहीन प्रवृत्ति के समस्त पत्रों को रद्दी की टोकरी में डालने की अपेक्षा एक अलग फाइल मे रख दिया जाता है। कोई भी नई फाइल प्रारम्भ करने से पूर्व सम्बन्धित कर्ता यह देखता है कि उस विषय मे पहले से तो कोई फाइल नहीं है। जब किसी विषय पर होने वाला पत्र व्यवहार रुक जाता है तो वह फाइल भी बन्द हो जाती है। प्रत्येक नये विषय पर नई फाइल बनाई जाती है।

Secretariat Manual में यह भी बताया गया है कि एक कागज को किस प्रकार प्रदर्शित किया जावे, साथ बाँधा जाए तथा फाइल के अन्दर जिल्द अथवा कवर रखा जावे, पृष्ठों और पैराग्राफों पर नम्बर किस प्रकार डाला जाय तथा आवश्यकता की पर्चो किस प्रकार लगाई जाय। फाइल रखने का तरीका इस प्रकार का होना चाहिए ताकि एक अधिकारी किसी फाइल को मंगाकर तत्सम्बन्धी सभी बातों की जानकारी प्राप्त कर सके। जब निर्णय लेने मे अन्य विभाग की राय जानना अपेक्षित होता है तो तत्सम्बन्धी फाइल उस विभाग को भेज दी जाती है। सभी अधिकारियों की टिप्पणी तथा राय में युक्त फाइल उच्च अधिकारियों तथा मन्त्रियों को निर्णय लेने मे सहायता देती है। पत्राचार का तरीका भी Secretariat Manual में वर्णित रहता है। उसमें स्पष्टतः बताया गया है कि सचिवालय के बाहर वाले व्यक्तियों एवं अधिकारियों को पत्र व्यवहार में किस प्रकार सम्बोधित किया जाय।

सचिवालय प्रक्रिया समिति के सुझाव (Suggestion of the Secretariat Procedure Committee)—

राजस्थान सरकार ने 15 जुलाई, 1971 को एक समिति नियुक्त की, जिसे यह कार्य सौंपा गया कि सरकारी कार्यों तथा सरकारी निर्णयों की कार्यान्विति में होने वाली देर की समस्या का अध्ययन करे और कार्य प्रक्रिया को सरल बनाने के तरीके खोजे और देरी को दूर करे। समिति के सदस्य ये थे—मुख्य सचिव, गृह आयुक्त, वित्त आयुक्त, तथा विशेष सचिव (नियुक्ति) को इसका कन्वीनर बनाया गया। समिति को दस दिन में प्रतिवेदन प्रस्तुत करने को कहा गया। समिति के सुझाव संक्षेप में निम्नलिखित रहे—

(1) सामान्य स्थायी आदेश जो कार्य प्रक्रिया के नियमों में शामिल हैं, उनके विरुद्ध मंत्री को स्थायी आदेश नहीं बनाने चाहिए।

(2) सचिवालय पुनर्गठन समिति द्वारा सुझाई गई ग्रुप व्यवस्था सभी विभागों में अपनायी जानी चाहिए। केवल कुछ ऐसे विभाग छोड़ दिए जाएँ जहाँ सैल व्यवस्था या वर्तमान रूप रखना सन्तोषजनक प्रतीत होती है।

(3) सचिवों द्वारा समय-समय पर विभागीय कार्यालयों का दौरा करके बकाया की स्थिति की देखरेख करनी चाहिए।

(4) किसी भी मामले के सम्बन्ध में आने वाली आपत्तियों से सम्बन्धित निर्देशों को थोड़े-थोड़े देने की अपेक्षा एक साथ प्रसारित किया जाए।

(5) प्रत्येक विभाग को एक छोटा विभागीय पुस्तकालय स्थापित करना चाहिए जिसमें सम्बन्धित नियम, कार्य प्रक्रिया के निर्देश और आवश्यक व्यावसायिक साहित्य का संग्रह किया जाय।

(6) सचिवालय के विभागों में हिन्दी अनुवाद कार्यों को सम्पन्न करने के लिए विधि रचना संगठन में चार व्यक्तियों से युक्त एक पृथक सैल रखना चाहिए।

(7) विभागों की अत्यन्त गुप्त फाइलों को रखने के लिए एक गुप्त अभिलेख कक्ष होना चाहिए।

(8) सचिवालय के अधिकारियों से दर्शकों के साक्षात्कार का समय 2.30 से 3.30 एक घण्टे का होना चाहिए। इस काल में अधिकारी उपलब्ध रहें और कोई अन्य काम हाथ में न लें।

(9) इसी प्रकार मंत्री भी दर्शकों से मिलने का समय दोपहर को रखें।

(10) सहायकों के पदों पर नियुक्तियाँ 50% प्रत्यक्ष भर्ती द्वारा और 50% पदोन्नति द्वारा की जानी चाहिए।

(11) सचिवालय और क्षेत्रीय कार्यालय के अधिकारियों में आपसी परिवर्तन होना चाहिए। आयुक्तों सचिवों, विशेष सचिवों के पद का कार्यकाल 5 वर्ष से अधिक न हो और सचिवालय में निरन्तर पदावधि 7 वर्ष से ज्यादा न हो, सचिवालय के दो कार्यकालों के बीच क्षेत्रीय कार्यालयों में सेवा का समय कम से कम दो वर्ष होना चाहिए।

(12) वरिष्ठ लिपिकों को कम से कम 4 महीने का सेवाकालीन प्रशिक्षण दिया जाय। वरिष्ठ सचिवीय कर्मचारियों के लिए रिफ्रेशर कोर्स रखे जायें। इस सम्बन्ध में संगठन एवं प्रविधि विभाग SIPA के साथ मिलकर एक कार्यक्रम तैयार करें।

(13) विभागीय सचिव को यह देखना चाहिए कि वित्त विभाग, विधि विभाग और नियुक्ति विभाग आदि को अनावश्यक सन्दर्भ नहीं भेजे जाए। वैधानिक मामलों के विभाग को सैल व्यवस्था के आधार पर पुनर्गठित किया जाए।

(14) सेवा नियमों की व्याख्या सामान्यतः नियुक्ति विभाग के सचिव द्वारा की जाय और केवल जटिल मामले ही नियुक्ति विभाग के विशेष सचिव की सम्मति और विशेष स्वीकृति के लिए भेजे जाएँ।

(15) सदर्भ विभागों के सचिवों को यह ध्यान रखना चाहिए कि उनके विभाग में कोई मामला 15 दिन से अधिक नहीं रहे और अर्जेन्ट मामले 7 दिन से अधिक नहीं रहें।

(16) सरकार को एक पृथक समिति नियुक्त करनी चाहिए जो राजस्थान सेवा नियमों (RSR) सामान्य वित्तीय और लेखा नियमों (G F and A R) तथा विनियम प्रक्रिया नियमों की पुनरीक्षा करे और वित्त विभाग से प्रशासनिक विभाग को वित्तीय मामलों में शक्ति हस्तांतरण की सम्भावनाओं का विवेचन करें।

राज्य सरकार ने अपने 20 जनवरी 1972 के आदेश के अनुसार समिति की कुछ सिफारिशों को स्वीकार कर लिया है और तदनुसार कुछ व्यवस्था को अपना लिया है तथा वैधानिक मामलों के विभाग को सैल व्यवस्था के आधार पर पुनर्गठित किया है।

मुख्य सचिव पद एवं कार्य
(The Chief Secretary Position & Roll)

राज्य सचिवालय में एक पद सोपान में शीर्ष पर मुख्य सचिव रहता है वह सचिवालय के उचित एवं कुशल कार्य संचालन के लिए उत्तरदायी है। इस पद के महत्त्वपूर्ण दायित्वों को देखते हुए यह अपेक्षा की जाती है, कि एक योग्य, अनुभवी, ईमानदार तथा निष्पक्ष व्यक्ति को इस पद पर नियुक्त किया जायगा ताकि वह सभी अधिकारियों का सम्मान तथा विश्वास प्राप्त कर सके। मुख्य सचिव मुख्यमंत्री का प्रमुख परामर्शदाता है। यह राज्य मंत्रीमण्डल के सचिव के रूप में भी कार्य करता है। मुख्यमंत्री के परामर्शदाता के रूप में वह मंत्रियों के प्रस्तावों के प्रशासनिक कार्यों के परिणामों का विस्तार से विवेचन करता है।

प्रशासनिक सुधार आयोग ने राज्य स्तर के प्रशासन पर अपनी रिपोर्ट में सुझाया है कि आधुनिक प्रशासन की चुनौतियों को देखते हुए मुख्य सचिव पद पर ऐसा व्यक्ति नियुक्त होना चाहिए जो अपने दीर्घकालीन अनुभव तथा व्यक्तिगत क्षमता

के आधार पर सभी का सम्मान प्राप्त कर सके। वह अपने दायित्वों का निर्वाह प्रभावशाली रूप से तभी कर सकेगा जब कि वह वरिष्ठतम पदाधिकारी हो तथा उसकी नियुक्ति के समय योग्यता को उचित सम्मान दिया जाये। इसके विपरीत एक चिन्तनीय तथ्य यह है कि मुख्य सचिव की नियुक्ति में राजनैतिक प्रभाव उल्लेखनीय बन जाता है। लूट व्यवस्था (Spoil System) की भाँति राज्य का मुख्यमंत्री बदलते ही मुख्य सचिव का पद खतरे में पड़ जाता है। मुख्य सचिव मुख्यमंत्री का विश्वसनीय व्यक्ति होना चाहिए जिससे कि वह अपने उत्तरदायित्वों को पूरा कर सके। किन्तु यदि ऐसा होता है तो इसकी सबसे बड़ी हानि यह होती है कि योग्यता की अवहेलना हो सकती है तथा मुख्य सचिव या तो बहुत लम्बे समय तक अपने पद पर बना रहेगा या अन्य समय में ही अपने पद पर से हट जाएगा। स्वस्थ प्रशासन के लिए यह उत्तम नहीं है।

मुख्य सचिव का राज्य प्रशासन में मुख्य स्थान होता है। वह अनेक महत्वपूर्ण कार्य करता है। उसके कुछ मुख्य कार्य निम्न हैं—

(1) वह सचिवालय में कार्य के समन्वय तथा अनुशासन की स्थापना करता है।

(2) वह अन्य सचिवों के उपयुक्त कार्यों की व्यवस्था करता है।

(3) वह मन्त्रियों द्वारा दिये गए परामर्श के प्रशासनिक प्रभावों का अवलोकन करता है।

(4) वह निर्धारित प्रशासनिक मापदण्डों एवं प्रक्रियाओं के अतिक्रमण या अनियमितताओं पर रोक लगाता है।

(5) वह नागरिक सेवाओं के आचरण तथा ईमानदारी का उच्च स्तर निर्धारित करता है।

(6) वह राज्य की नागरिक सेवाओं का अध्यक्ष होता है।

इस प्रकार मुख्य सचिव का पद राज्य के प्रशासनिक पदों में सबसे बड़ा और महत्वपूर्ण होता है। सचिवालय में प्रशासन के संचालन का उत्तरदायित्व इसी पर है।

परीक्षापयोगी प्रश्न

1. राजस्थान राज्य के सचिवालय के संगठन तथा कार्यों का वर्णन कीजिए।
   Explain the Composition and Functions of the Rajasthan State Secretariat.
2. मुख्य सचिव का महत्व, कार्य तथा अधिकारों का वर्णन कीजिए।
   Describe the importance, functions and powers of Chief Secretary.

17

राजस्थान में जिला प्रशासन

(DISTRICT ADMINISTRATION IN RAJASTHAN)

प्रशासन की सुविधा की दृष्टि से जिस प्रकार भारतवर्ष को प्रान्तो मे या राज्यो मे विभाजित किया गया है, उसी प्रकार प्रान्तो को प्रशासन की दृष्टि से डिवीजनों (कमिश्नरी) मे विभाजित किया गया था। राजस्थान भी पाँच डिवीजनो मे बटा हुआ था। ये डिवीजन थे—जोधपुर, अजमेर, उदयपुर, कोटा तथा बीकानेर। डिवीजन का प्रधान अधिकारी आयुक्त (कमिश्नर) हुआ करता था। यह अधिकारी भारतीय प्रशासनिक सेवा का सदस्य होता था। वह अपने डिवीजन के जिलाधीशो के कार्यों की देखभाल करने का महत्त्वपूर्ण कार्य करता था। राज्य सरकार की आज्ञायें उसी के माध्यम से जिलाधीशो के पास भेजी जाती थीं। आयुक्त जिलाधीशो के राजस्व सम्बन्धी निर्णयो की अपीलें सुनता था और उनके निर्णयो की अपीलें राजस्व मण्डल मे हुआ करती थी। प्रत्येक डिविजन मे आयुक्त की सहायतार्थ अतिरिक्त आयुक्त भी हुआ करते थे।

कुछ वर्षों पूर्व आयुक्त के पद की समाप्ति कर दी गई। इसका कारण प्रशासनिक व्यय मे कमी करना था। इस पद के समाप्त हो जाने पर जिलाधीशो के सम्बन्ध सीधे राज्य सरकार के साथ स्थापित हो गये हैं। राजस्व सम्बन्धी अपीलें जो पहले आयुक्त के पास हुआ करती थी अब एक नये अधिकारी के पास होगी जिसे राजस्व अपीलीय अधिकारी कहते हैं। ये अधिकारी राजस्थान प्रशासनिक सेवा के सीनियर व्यक्ति होते है। राजस्थान मे चार राजस्व अपीलीय अधिकारियो की नियुक्ति की गई है जिनके अधिकार क्षेत्र मे निम्न जिले आते हैं।

(1) राजस्व अपीलीय अधिकारी, जयपुर
अजमेर, अलवर, जयपुर, झुन्झनूं, सीकर और टोंक के जिले।

(2) राजस्व अपीलीय अधिकारी, उदयपुर
बांसवाड़ा, भीलवाड़ा, चित्तौड़गढ़, डूंगरपुर और उदयपुर के जिले।

(3) राजस्व अपीलीय अधिकारी, कोटा
भरतपुर, बूंदी, झालावाड़, कोटा और सवाई माधोपुर के जिले।

(4) राजस्व अपीलीय अधिकारी, बीकानेर

बाड़मेर, बीकानेर, चूरू, गंगानगर, जैसलमेर, जालोर, जोधपुर, नागौर, पाली और सिरोही के जिले।

राजस्व अपीलीय अधिकारियों के निर्णयों की अपील राजस्व मण्डल में होती है जिसके निर्णय अन्तिम होते हैं।

सन् 1965 के अन्त में जोधपुर तथा बीकानेर में पुनः आयुक्तों की नियुक्ति की गई है। इन्हें सीमावर्ती आयुक्त कहा जाता है। भारत-पाकिस्तान युद्ध (1965) के पश्चात् राजस्थान सरकार ने यह निर्णय लिया कि सीमा क्षेत्र की सुरक्षा तथा व्यवस्था हेतु सीमा आयुक्त नियुक्त किये जायें। इनका मुख्य कार्य नागरिक सुरक्षा, नागरिक रसद, यातायात तथा जल प्रदाय साधनों का विकास तथा सीमावर्ती गाँवों की समस्याओं को सुलझाना है। इनका कार्यालय क्रमशः जोधपुर तथा बीकानेर में है।

जिले की प्रशासनिक इकाइयाँ (Administrative Units in the District)—

प्रत्येक जिला प्रशासनिक एवं राजस्व की दृष्टि से तीन स्तरों में विभाजित होता है। तीनों स्तरों पर राजस्व एवं विकास कार्यों के लिए अलग-अलग अधिकारियों की व्यवस्था की गई है। वे स्तर हैं—(1) **जिला स्तर**—इसका मुख्यालय जिले में किसी मुख्य स्थान (नगर) में होता है। (2) **उप-खण्ड स्तर**—इसमें 2 से 4 तहसीलें रहती हैं। (3) **तहसील**—यह जिला प्रशासन का सबसे छोटा स्तर है। विकास की दृष्टि से भी जिले को तीन स्तरों में विभाजित किया जा सकता है—जिला स्तर, खण्ड स्तर तथा ग्राम स्तर।

जिला प्रशासन के तीनों स्तरों पर अनेक महत्त्वपूर्ण अधिकारी कार्य करते हैं। प्रथम स्तर का क्षेत्राधिकार सम्पूर्ण जिला है तथा इसके मुख्य अधिकारी हैं—जिलाधीश, पुलिस अधीक्षक, जिला कृषि अधिकारी, जिला परिषद् का अध्यक्ष, जिला स्वास्थ्य अधिकारी, जिला शिक्षा अधिकारी आदि। मध्यवर्ती स्तर बड़े जिले में दो और छोटे जिले में एक ही रहता है। इस स्तर में तहसील उप-खण्ड, पंचायत समिति आदि होते हैं। इसके मुख्य अधिकारी हैं—उप-आयुक्त, सब डिविजनल आफिसर, तहसीलदार; विकास अधिकारी प्रधान, आदि। तृतीय स्तर पर गाँव है। इस स्तर पर ग्राम पंचायतें, न्याय पंचायतें, पटवारी, ग्राम सेवक आदि होते हैं। इन सभी का जिला प्रशासन में महत्त्वपूर्ण योगदान होता है।

जिलों की शासन व्यवस्था
(District Administration)

जिले का सबसे प्रमुख अधिकारी जिलाधीश कहलाता है। जिलाधीश को बड़े महत्त्वपूर्ण तथा व्यापक अधिकार प्राप्त हैं। वह जिलाधीश के रूप में जिले का

मालगुजारी की वसूली करता है एव मजिस्ट्रेट के रूप मे शाति तथा व्यवस्था बनाये रखने के लिए उत्तरदायी होता है। जिले मे हुए झगडो का निर्णय करना भी उसी के अधिकार क्षेत्र मे आता है। सम्पूर्ण जिले की पुलिस भी उसी के निर्देशन मे रहती हैं। वह भारतीय प्रशासनिक सेवा का वरिष्ठ सदस्य होता है। राजस्थान मे आयुक्तो का पद समाप्त होने के पश्चात् जिलाधीश ही अपने जिले मे सरकार का प्रतिनिधि होता है। वह सरकार को अपने जिले सम्बन्धी आवश्यक सूचना प्रस्तुत करता है और सरकार उन्ही सूचनाओ के आधार पर कार्य करती है।

जिलाधीश के कार्य
(Functions of the Collector)

जिलाधीश के निम्न कार्य हैं —

1 *मालगुजारी सम्बन्धी कार्य*

2. शासन सम्बन्धी कार्य

3 न्याय सम्बन्धी कार्य

4 निरीक्षण सम्बन्धी कार्य

5 निर्वाचनो का सचालन

6. प्रोटोकोल कार्य

7. सकटो का निवारण

8. विकास सम्बन्धी कार्य

9. जन कल्याण के कार्य

10. अन्य कार्य

1. मालगुजारी सम्बन्धी कार्य :—जिलाधीश को अग्रेजी मे कलेक्टर कहते हैं, *जिसका शाब्दिक अर्थ होता है वसूल करने वाला। अतः जिले मे माल*-गुजारी वसूल करने का उत्तरदायित्व उसी पर होता है। भूमि व्यवस्था तथा मालगुजारी वसूल करने मे उसकी सहायता हेतु कई अधिकारी हैं—जैसे उप-जिलाधीश, तहसीलदार, नायब-तहसीलदार, कानूनगो तथा पटवारी आदि। ये सभी अधिकारी जिलाधीश के अधीन कार्य करते है तथा वह इनके कार्यों का निरीक्षण समय-समय पर करता रहता है। वही भूमि के रजिस्ट्रेशन, परिवर्तन तथा बटवारे का प्रबन्ध करता है और उससे सम्बन्ध रखने वाले विवादो का निर्णय करता है। जिले का आबकारी विभाग भी उसी के मातहत कार्य करता है तथा मादक वस्तुएं जैसे भाँग, गाजा, शराब, अफीम आदि का लाइसेंस भी वही देता है। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि जिलाधीश को मालगुजारी को घटाने बढाने का अधिकार नहीं है परन्तु अकाल, बाढ तथा अतिवृष्टि इत्यादि के सकटकाल मे वह राज्य सरकार को जिले मे राहत की सिफारिश कर सकता है और सरकार उस पर आवश्यक रूप

से ध्यान देती है। इसके अतिरिक्त जिले का खजाना भी उसी के अधीन कार्य करता है।

2. शासन सम्बन्धी कार्य :—जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि जिलाधीश पर जिले में शान्ति और सुव्यवस्था बनाये रखने का उत्तरदायित्व है। इस उत्तरदायित्व को पूरा करने में उसकी सहायता के लिए कई मजिस्ट्रेट नियत रहते हैं। वह सम्पूर्ण जिले का दौरा करता रहता है जिससे कि अधीनस्थ कर्मचारी सजगता पूर्वक कार्य करते रहें। जिले की व्यवस्था की सूचना वह राज्य सरकार को समय-समय पर देता है, उसकी सरकार उसी की सूचना को प्रामाणिक मानती है। शान्ति भंग होने की आशंका से वह किसी सभा या जुलूस पर रोक लगा सकता है तथा धारा 144 भी लागू कर सकता है।

जिलाधीश को प्रथम श्रेणी मजिस्ट्रेट (I Class Magistrate) के अधिकार भी प्राप्त होते हैं। वह पुलिस द्वारा अपराधियों को पकड़वाता है तथा दण्ड की व्यवस्था करवाता है। वह अपने अधीन मजिस्ट्रेटों के कार्यों की जाँच करता है तथा कुछ विवादों की अपीलें भी सुनता है। इन अधिकारों के अतिरिक्त वह अपने जिले में दौरा करता है, जनता से सम्पर्क स्थापित तथा जिले की वास्तविक स्थिति का ज्ञान प्राप्त करता है। अपने दौरे में वह पुलिस जेल, म्युनिसिपैलिटी आदि स्थानों का निरीक्षण करता है। जिलाधीश को कुछ नियुक्तियाँ करने का अधिकार भी प्राप्त होता है जिनमें मुख्यः लेखक, चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी आते हैं।

3. न्याय सम्बन्धी कार्य :—फौजदारी तथा मालगुजारी सम्बन्धी मुकद्दमे जिलाधीश की अदालत में आते हैं। जैसा कि पिछले पृष्ठों में बताया गया है कि जिलाधीश के पास प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेट के न्यायिक अधिकार प्राप्त हैं। वह किसी अपराधी को दो वर्ष तक की सजा और 1,000) रुपया तक जुर्माना कर सकता है। उसके पास द्वितीय तथा तृतीय श्रेणी के मजिस्ट्रेटों के निर्णयों के विरुद्ध अपीलें आती हैं। फौजदारी के मुकदमों का वह निर्णय करता है और इस सम्बन्ध की छोटी अदालतों का निरीक्षण भी करता है। उसके द्वारा फौजदारी मामलों में दिये गये निर्णयों की अपील सत्र न्यायाधीश की अदालत में होती है। मालगुजारी सम्बन्धी मामलों में उसके द्वारा दिये गए निर्णयों की अपील राजस्व अपील अधिकारी के न्यायालय में की जाती है।

4. निरीक्षण सम्बन्धी कार्य :—सम्पूर्ण जिले की शासन व्यवस्था का दायित्व जिलाधीश पर है। इसलिए जिले के प्रायः सभी विभाग उसकी कार्य सीमा में आ जाते हैं। वह जिले में स्थित किसी भी विभाग का साधारण निरीक्षण कर सकता है। जिला स्तर कार्यालय के अधिकारी वैसे तो अपने सम्बन्धित विभाग के विभागाध्यक्ष के अन्तर्गत होते हैं, परन्तु वे परोक्ष रूप में जिलाधीश के अन्तर्गत भी होते हैं। प्रत्येक जिला अधिकारी जिलाधीश को अपने विभाग की मासिक सूचना प्रस्तुत करते हैं।

इसके अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार की सूचना यदि जिलाधीश किसी विभाग से चाहता है तो सम्बन्धित विभाग द्वारा वाछित सूचना शीघ्र ही प्रस्तुत की जाती है। वह जिले मे सरकार का प्रतिनिधि होता है और इसके नाते वह सरकार को जिले के सम्बन्ध की सूचना प्रस्तुत करता है।

5 निर्वाचनो का संचालन :—जिले मे होने वाले समस्त चुनावो (ससद, विधान सभा तथा स्थानीय निकायो) का सचालन करने का दायित्व जिलाधीश का ही है। इस कार्य मे जिलाधीश की सहायता जिला चुनाव अधिकारी द्वारा की जाती है। इसके अतिरिक्त जिले के विभिन्न अधिकारी तथा कर्मचारी जिलाधीश को उसके कार्यों को सम्पन्न करने मे सहायता करते हैं।

6. प्रोटोकोल सम्बन्धी कार्य :—जिलाधीश जिले का प्रमुख प्रशासकीय अधिकारी होने के नाते उसे V I P's के आगमन पर उनका स्वागत व रहने आदि की व्यवस्था करने का कर्तव्य उसी का है। जब मन्त्री व अन्य राजनीतिक नेता किसी भी जिले मे आता है तो जिलाधीश का कर्तव्य है कि वह उनके साथ रहे तथा उनके रहने व स्वागत की व्यवस्था करे। इस कार्य मे जिलाधीश के कार्यों मे बडी बाधा उपस्थित होती है। प्रशासनिक सुधार आयोग ने जिला प्रशासन पर अपनी रिपोर्ट मे कहा कि "किसी बडे आदमी के आगमन पर तथा उसके रहने आदि का प्रबन्ध करने मे जिलाधीश का समय खराब नही होना चाहिये और न ही उसकी उपस्थिति अनिवार्य होनी चाहिये। राज्य सरकारो को इस सम्बन्ध मे कडे निर्देश भेजने चाहिये कि इन अनावश्यक कार्यों मे कलेक्टर अपना समय बरबाद न करें।

7. संकटो का निवारण :—जिलाधीश तथा कलेक्टर का एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह है कि जब जिले मे या जिले के किसी भाग मे सकट उत्पन्न हो जाय तो जिला अधिकारियो व अभिकरण उसके निवारण मे लग जाते है। परन्तु इसका सम्पूर्ण उत्तरदायित्व जिलाधीश पर ही आता है। यह सकट, सूखा, बाढ, अग्नि काण्ड, भूकम्प, महामारी आदि के रूप मे हो सकता है। प्रत्येक स्थिति मे सम्पूर्ण जिला प्रशासन द्वारा उसका मुकाबला किया जाता है। जिलाधीश यदि उचित समझे तो जिलो के किसी भी अधिकारी, कार्यालय, साधन एव सेवा को इस कार्य के मदद करने मे आमन्त्रित कर सकता है।

8 विकास सम्बन्धी कार्य :—हाल ही मे जिलाधीश के कार्य जिला विकास अधिकारी (District Development officer) के रूप मे महत्त्वपूर्ण हो गये है। सामुदायिक विकास योजना एव कार्यक्रमो के फलस्वरूप जिलाधीश को जिले के विकास कार्यों के सम्पादन के लिए उत्तरदायी बनाया गया है। जिलाधीश राज्य सरकार को जिला के विकास के सम्बन्ध के प्रतिवेदन प्रस्तुत करता है। वह जिले के

विकास कार्यों में समन्वय करता है तथा उनके मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करता है।

जिलाधीश को जिले के विकास अधिकारी के नाते कुछ प्रशासनिक एवं नियन्त्रण की शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। वह जिला विकास से जुड़े हुये अधिकारियों एवं कर्मचारियों के कार्यों की निगरानी रखता है। उनके दौरे (Tours), कार्यक्रम, अवकाश तथा मासिक प्रगति प्रतिवेदन (Monthly Progress Report) के सम्बन्ध में भी अनेक शक्तियाँ रखता है। यदि कोई विभागाध्यक्ष जिलाधीश की राय से सहमत नहीं होता है, जिलाधीश अपने प्रस्ताव अथवा सुझाव को सरकार के सम्मुख प्रस्तुत कर सकता है।

पंचायती राज संस्थाओं में जिलाधीश का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। वह उनकी बैठकों में उपस्थित रहता है, बहस में भाग लेता है, अपने सुझाव देता है पर मतदान नहीं कर सकता। वह पंचायत तथा पंचायत समितियों पर बाहर से नियन्त्रण रखता है और यह देखता है कि ये संस्थाएँ अपने निर्धारित कार्यों के सम्पादन में भटक न जायें। वह पंचायत समिति के कार्यों तथा प्रगति का मूल्यांकन करने के लिए प्रतिवर्ष व्यापक निरीक्षण करता है। राजस्थान में पंचायत समिति तथा जिला परिषद् अधिनियम, 1959 के भाग 59 तथा 69 में जिला विकास अधिकारी की शक्तियों व कार्यों का उल्लेख किया गया है।

9. कल्याणकारी कार्य :—भारत में लोक कल्याणकारी राज्य की धारणा को स्वीकार किया है। जिला स्तर पर लोक कल्याण के कार्यों को जिलाधीश द्वारा सम्पादित किया जाता है। वह सामुदायिक विकास, सहकारिता, जन-स्वास्थ्य, शिक्षा तथा अन्य कल्याणकारी क्रियाओं में सम्बन्ध रखता है तथा सक्रिय रूप से इनमें भाग लेता है।

10. अन्य कार्य :—जिलाधीश के द्वारा उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त अन्य कई छोटे-मोटे कार्य सम्पन्न किये जाते हैं। वह जिले में अल्प बचत कार्यक्रम को प्रोत्साहन देता है, प्रचार एवं जन सम्पर्क कार्यक्रमों को सचालित करता है, जिले के प्रमुख लोगों से सम्पर्क करता है, जिले की समस्याओं पर जनता का ध्यान आकर्षित करता है। वह जनता के समारोह में भाग लेता है।

जिलाधीश के कार्यों एवं अधिकारों की व्याख्या करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह जिले का सर्वेसर्वा होता है तथा उसके पास में कई प्रकार के अधिकार होते हैं। ब्रिटिश शासनकाल में जिलाधीश को 'माँ-बाप' माना जाता था क्योंकि जिले में वह सरकार का प्रतिनिधि होता था और शान्ति तथा सुव्यवस्था बनाये रखने का उसका उत्तरदायित्व होता था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद जिलाधीश का पद पहले जैसा गौरवपूर्ण नहीं रहा है। कारण यह है कि यहाँ पर जनता की सरकार की स्थापना

की गई है और जनता द्वारा चुने गये व्यक्ति सरकार का निर्माण करते है। जिलाधीश इस प्रकार चुने गये व्यक्ति (मन्त्री) के अधीन होता है। अत उसे जनता का सेवक होकर ही कार्य करना पडता है।

कई लोग जिलाधीश के न्याय सम्बन्धी अधिकारो को लेकर उसकी आलोचना करते है। उनका यह तर्क है कि जिलाधीश के पास शासन तथा न्याय सम्बन्धी दोनो ही प्रकार के अधिकार होने से उसके तानाशाह बनने की आशका रहती है। वास्तव मे एक ही व्यक्ति के हाथो मे जब न्याय तथा प्रशासन की शक्तियाँ आ जाती है तो नागरिको के अधिकारो की उचित रक्षा नही हो सकती। राज्य के नीति निर्देशक तत्व मे इस बात पर बल दिया गया है कि न्याय तथा प्रशासन को राज्य मे अलग अलग व्यक्तियो को दिया जाय। राजस्थान मे इस प्रकार की व्यवस्था को मूर्त रूप देने के लिए कदम उठाया है।

राजस्थान मे 2 अक्टूबर, 1959 से लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण की योजना लागू होने पर भी जिलाधीश का पद वैसा ही महत्वपूर्ण बना हुआ है। अन्य कार्यों के अतिरिक्त अब उसके पास विकास का कार्य भी आ गया है। इस योजना के लागू होने से जिलाधीश को जिला विकास अधिकारी बनाया गया है। इसके नाते वह जिला परिषद का पदेन सदस्य होगा। वह जिला परिषद् की बैठको मे अपने सुझाव रख सकता है, किसी प्रश्न पर विवाद कर सकता है परन्तु मत देने का अधिकार उसे नही दिया गया है। वह जिला विकास अधिकारी होने के नाते जिला के विकास कार्यों की देख-रेख करता है, तथा उनके सुधार हेतु सुझाव देता है। वह जिले की पचायत समितियो को विकास कार्यों के लिए दी गई धन-राशि का निरीक्षण कर सकता है। इस प्रकार पंचायत राज या प्रजातान्त्रिक विकेन्द्रीकरण के लागू होने पर भी जिलाधीश जिले का महत्वपूर्ण अधिकारी है।

जिले की आन्तरिक व्यवस्था

सब-डिवीजन (Sub Division) :—प्रशासन की सुविधा के लिए जिले को सब डिवीजनो मे विभक्त कर दिया जाता है। प्रत्येक सब डिविजन का एक अधिकारी होता है जिसे सब-डिवीजनल अधिकारी कहते हैं। यह पद राजस्थान प्रशासकीय सेवा के सदस्यो को दिया जाता है। इस पदाधिकारी के अधिकार अपने क्षेत्र मे लगभग वही होते हैं जो जिले मे जिलाधीश के। इस अधिकारी को सब डिविजनल मजिस्ट्रेट भी कहा जाता है क्योकि उसे प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेट के अधिकार प्राप्त होते हैं। जिलाधीश की भाँति इसे भी न्याय तथा मालगुजारी सम्बन्धी अधिकार प्राप्त हैं। परन्तु राजस्थान मे न्यायपालिका के कार्यपालिका से पृथक् होने के परिणामस्वरूप इस अधिकारी के न्याय सम्बन्धी अधिकारो मे कमी कर दी गई है। राजस्थान अभी 82 सब डिवीजनो मे बँटा हुआ है।

तहसील (Tehsil) :—प्रत्येक सब-डिविजन मे कुछ तहसीलें होती हैं, जिनका मुख्य अधिकारी तहसीलदार होता है। उसकी सहायता के लिए नायब-

तहसीलदार, कानूनगो तथा अन्य कर्मचारी होते हैं। तहसील के लगान तथा भूमि सम्बन्धी सब अधिकार उसमें निहित होते हैं। ग्राम-पंचायतों की देख-रेख करना भी उसी का कार्य है। उसको द्वितीय श्रेणी के मजिस्ट्रेट के अधिकार प्राप्त होते हैं। उसके द्वारा दिये गये निर्णयों की अपील जिलाधीश के पास की जाती है।

ग्राम (Village):—प्रत्येक तहसील में कुछ गाँव होते हैं। गाँवों के कर्मचारी प्रायः गिरदावर, पटवारी, चौधरी तथा चौकीदार होते हैं। वास्तव में पटवारी के पास में भूमि सम्बन्धी ब्यौरा होता है जिसके आधार पर मालगुजारी वसूल होती है। चौधरी लगान वसूल करके खजाने में भेजता है तथा चौकीदार गाँव की आवश्यक सूचना निकटवर्ती थाने में देता है। इन सभी कर्मचारियों के कार्यों का निरीक्षण तहसीलदार तथा नायब-तहसीलदार करते हैं।

जिला स्तर पर अन्य विभाग
(Various Departments on District Level)

प्रत्येक जिले में कई प्रकार के विभाग कार्य करते हैं। ये विभाग अपने विभागाध्यक्ष की देख-रेख में कार्य करते हैं। नीचे हम कुछ महत्वपूर्ण जिला स्तर विभागों का वर्णन कर रहे हैं :—

न्याय विभाग :—प्रत्येक राज्य में एक उच्च न्यायालय की स्थापना की गई है। राजस्थान में यह न्यायालय जोधपुर में स्थित है। उच्च न्यायालय के अधीनस्थ प्रत्येक जिले में न्यायालय होते हैं। जिले में एक जिला और सत्र न्यायाधीश होता है। वह दीवानी तथा फौजदारी मुकदमों का निर्णय करता है। यदि जिला न्यायाधीश सत्र न्यायाधीश से भिन्न हो तो पहला दीवानी तथा दूसरा फौजदारी मुकदमों की सुनवाई करता है। सत्र न्यायाधीश को प्राण-दण्ड की ओर सब प्रकार का दण्ड देने का अधिकार है। वह अधीनस्थ मजिस्ट्रेटों के निर्णयों की अपीलें भी सुनता है और निर्णय देता है। जिला व सत्र न्यायाधीश के अन्तर्गत जिले के भिन्न-भिन्न भागों में मजिस्ट्रेट, मुन्सिफ तथा अन्य न्यायाधीश भी होते हैं।

पुलिस विभाग :—अमन तथा चैन के लिए पुलिस व्यवस्था अत्यन्त आवश्यक है। हमारे देश में जनता पुलिस विभाग के कर्मचारियों को बहुत आदर से नहीं देखती किन्तु उन देशों में जहाँ शिक्षा प्रगति पर है, पुलिस विभाग का काफी आदर है। पुलिस विभाग को जन साधारण का सहयोग होना चाहिये तभी वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। पुलिस अधिकारियों को जनता में भय नहीं पैदा करना चाहिये अपितु प्रेम से जनता का सहयोग प्राप्त करना चाहिये।

जिले में पुलिस विभाग का प्रधान पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट होता है। वह भारतीय पुलिस सेवा का सदस्य होता है। उसकी सहायता के लिए आवश्यकतानुसार डिप्टी पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट रखे जाते हैं। पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट जिले भर की पुलिस का प्रधान होता है, और जिले की पुलिस उसकी आज्ञा को मानती है, किन्तु शान्ति

स्थापना तथा सुरक्षा के लिए पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट को भी जिलाधीश की आज्ञा का पालन करना होता है। जिले के भागो मे पुलिस निरीक्षक तथा उप-भागो मे जिन्हे थाने कहते है थानेदार (सहायक निरीक्षक) होते हैं। थानेदारो के अधीन कुछ गांवो की आन्तरिक सुरक्षा का उत्तरदायित्व होता है। वे पुलिस के सिपाहियो की सहायता से अपने अधीन क्षेत्र की सुरक्षा की व्यवस्था करते हैं। इनको गांवो की सब सूचनायें वहां का चौकीदार देता है। पुलिस की आज्ञानुसार यह लोग रात को रखवाली करते है।

ठीक इसी प्रकार पुलिस का खुफिया विभाग होता है जो गुप्त रूप मे चोरी-डकैती तथा अन्य अराजकताकारी षडयन्त्रो का पता लगाता है। खुफिया पुलिस का एक विभाग केन्द्रीय सरकार के पास भी रहता है, जिससे सरकार को अखिल भारतीय शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने में, अपराधियो को पकडने मे बहुत सहायता मिलती है।

जेल विभाग —प्रत्येक जिले मे दण्ड पाये हुए अपराधियो को रखने के लिए जिला जेल होती है। जेलो का सबसे बडा अधिकारी जेलो का महा निरीक्षक होता है, उसके अधीन जेल सुपरिन्टेन्डेन्ट होते हैं जो डिवीजन स्थित जेल की व्यवस्था करते है। जिला जेल का प्रबन्ध जेलर के अधीन होता है और उसकी सहायता के लिए कुछ सिपाही होते है। जिला जेल मे कैदियो के खान-पान, स्वास्थ्य, कार्य आदि सब प्रबन्ध जेलर के हाथ मे होता है।

स्वास्थ्य विभाग —राजस्थान मे स्वास्थ्य विभाग को दो भागो मे बांटा जा सकता है—(7) चिकित्सा तथा (2) स्वास्थ्य। हमारे राज्य मे ये दोनो विभाग एक व्यक्ति के अधीन रखे गए है जो सचालक चिकित्सा तथा स्वास्थ्य विभाग कहलाता है। प्रत्येक डिवीजन मे सहायक सचालक का पद रखा गया है। प्रत्येक जिले मे जिला चिकित्सा एव स्वास्थ्य अधिकारी होता है। यह विभाग चिकित्सालयो तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्यों का प्रशासन करता है। इस अधिकारी के कार्यों मे सहायता करने के लिए सैनेटरी इन्सपेक्टरो की भी नियुक्ति की जाती है।

राजस्थान सरकार ने आयुर्वेदिक चिकित्सा प्रणाली को भी अपनाया है। *आयुर्वेदिक चिकित्सा सम्बन्धी शिक्षा की संस्थायें एक प्रिन्सीपल के अधीन रखी गई हैं* और औषधालय तथा रसायन शालाये एक सचालक के अधीन रखी गई है। जिला क्षेत्र पर निरीक्षक होता है जो अपने क्षेत्र मे औषधालयो को दवाइयां आदि भिजवाने की व्यवस्था करता है। वैद्यो के वेतन, भत्ते आदि इसी कार्यालय से उठाये जाते हैं।

शिक्षा विभाग —जिलास्तरीय विभागो मे शिक्षा विभाग एक महत्वपूर्ण विभाग है। शिक्षा विभाग का जिला अधिकारी निरीक्षक होता है, जिसे आजकल जिला शिक्षा अधिकारी भी कहा जाता है जो उप सचालक, शिक्षा विभाग के अन्तर्गत कार्य करता है। इसके अधीन जिले की समस्त सैकेण्डरी तथा हायर सेकेण्ड्री

स्कूल होते है। निरीक्षक को उसके कार्यों में सहायता के लिए उप-निरीक्षक तथा सब-उप-निरीक्षक होते है। ये अधिकारी क्रमशः मिडिल तथा प्राथमिक स्कूलो की देखभाल करते हैं। इन अधिकारियो का मुख्य कार्य शिक्षा की सुविधा को बढाना है।

सहकारी विभाग :—जिला स्तर पर सहकारी विभाग का अधिकारी सहायक रजिस्ट्रार होता है। यह अधिकारी अपने क्षेत्र में सहकारी आन्दोलन को जनप्रिय बनाने का कार्य करता है। इसके अधीन कई सहकारी निरीक्षक कार्य करते हैं। सहकारी निरीक्षक दो प्रकार के होते हैं—प्रथम निरीक्षक (एग्जूक्टिव) तथा द्वितीय निरीक्षक (ऑडिट)। इनकी सहायता हेतु सहायक निरीक्षक होते है। यह विभाग गाँवो मे बहुत लोकप्रिय हो गया है फिर भी सहकारी आन्दोलन को जारी रखने की आवश्यकता है।

कृषि विभाग :—प्रत्येक जिले मे एक कृषि विभाग होता है जिसका अध्यक्ष जिला कृषि अधिकारी कहलाता है। इसका मुख्य कार्य अपने क्षेत्र मे कृषि की उन्नति करना है। वह जिले मे स्थापित सरकारी खेतों की देखभाल रखता है। कृषि पर अनुसंधान करवाता है। बीज की व्यवस्था करता है। धान के भण्डार की व्यवस्था करता है तथा धान को चूहो आदि जानवरो से बचाने के लिए व्यवस्था करता है। वह अपने क्षेत्र मे खेती के आधुनिक तरीकों का प्रचार करता है। इसके अतिरिक्त अच्छी खाद का वितरण भी इसी के द्वारा किया जाता है।

जन निर्माण विभाग :—जिले स्तर पर एक जन निर्माण विभाग भी होता है। साधारणतया इसका अधिकारी अधिशासी अभियन्ता होता है। इसका मुख्य कार्य सरकारी भवनों, सड़कों आदि का निर्माण करना तथा उनको ठीक बनाये रखना है। इस अधिकारी की सहायता के लिए सहायक अभियन्ता, ओवरसीयर तथा ड्राफ्ट्समैन आदि होते हैं।

वन विभाग :—मानव जीवन मे वन का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। इसी महत्वता को ध्यान में रखते हुए प्रत्येक जिले मे एक वन विभाग खोला गया है। इसके अधिकारी को जिला वन अधिकारी कहते है। इस अधिकारी का मुख्य कार्य वन की रक्षा करना है। इसके अतिरिक्त वन में होने वाली आवश्यक वस्तुओ की सुरक्षा प्रदान करना है। पेड़, पौधे आदि लगाने का कार्य भी इसी अधिकारी का है।

उपर्युक्त विभागों के अतिरिक्त और भी कुछ विभाग जिले मे होते है—जैसे जन सम्पर्क कार्यालय, कर तथा आबकारी आदि।

परीक्षोपयोगी प्रश्न

1. जिले की आन्तरिक व्यवस्था का वर्णन कीजिए।
   Explain the internal composition of a District.

2 "जिला प्रशासन सरकार का एक आवश्यक अंग है।" भारत में जिले का प्रशासन किस प्रकार से होता है। व्याख्या कीजिये।

"The District Administration constitutes an essential part of the Government" Show how the administration of a District in India is carried on

3. जिले में जिलाधीश के महत्त्व और कार्यों का वर्णन कीजिए।
Discuss the importance of the Collector and explain his functions

4 जिले में जिलाधीश के कार्यों और महत्व की व्याख्या कीजिए। अन्य जिला अधिकारियों के साथ उसके क्या सम्बन्ध होते हैं?

Examine positions and powers of the Collector in a District. Study his relations with other principal officers of the District

---

18

राजस्थान और स्थानीय स्वशासन

(LOCAL GOVERNMENT IN RAJASTHAN)

"हम प्रजातन्त्रात्मक सरकार का पूरा लाभ नहीं उठा सकते जब तक कि हम यह बात मान कर नहीं चलते कि सम्पूर्ण समस्याएँ केन्द्रीय समस्याएँ नहीं हैं और ऐसी समस्याएँ जो केन्द्रीय नहीं हैं, उनका हल उस स्थान पर और उन लोगों द्वारा होना आवश्यक है जिनके द्वारा वे अधिक अनुभव की जाती हैं।"

(एच० जे० लास्की)

स्थानीय संस्थाओं का महत्त्व तथा आवश्यकता
(Need and Importance of Local Institutions)

डी० टॉकविल का कथन है कि—"स्थानीय संस्थाओं में स्वतन्त्र राष्ट्रों की शक्ति छिपी रहती है। एक राष्ट्र भले ही स्वतन्त्र सरकार की प्रणाली की स्थापना करले, परन्तु स्थानीय संस्थाओं के बिना उसमें स्वतन्त्रता की भावना जाग्रत नहीं हो सकती।" अतः यह कहा जाता है कि किसी भी प्रजातन्त्र को तब तक वास्तविक प्रजातन्त्र नहीं कहा जा सकता जब तक कि उसमें स्थानीय स्वशासन की व्यवस्था न हो। स्थानीय स्वशासन संस्थायें वे प्रशिक्षण स्कूल हैं जिनमें कि देश के भावी प्रजातन्त्र के कर्णधार प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं। ये स्थानीय संस्थायें अपने क्षेत्र के लोगों को केवल प्रजातन्त्र का प्रशिक्षण ही नहीं देतीं, अपितु वे कुछ ऐसे कार्य भी करती हैं जो कि समाज के अस्तित्व के लिए परमावश्यक होते हैं। स्थानीय स्वशासन अपना कार्य स्वयं करने का अवसर देकर स्थानीय जनता में शासन सम्बन्धी बातों की अभिरुचि तथा उत्तरदायित्व की भावना जागृत करता है। उसमें लोगों को एक दूसरे का विश्वास और पारस्परिक सेवा की भावना से सेवा करने तथा, इस प्रकार, अपने नगर अथवा जिले के सामने अपने व्यक्तिगत हितों को गौण मानने की शिक्षा मिलती है। इसमें राजनीतिज्ञों और जन सेवकों को शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिलता है। स्थानीय संस्थाएँ अधिक लोगों को शासन कला से परिचित कराती हैं। बड़े-बड़े नेता प्रारम्भ में स्थानीय संस्थाओं के द्वारा शासन संचालन की प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करते हैं। ये संस्थाएँ नागरिकों को सुशिक्षित बनाकर और उनमें अधिकारों तथा कर्तव्यों की भावना जाग्रत करके प्रजातन्त्र की सफलता में सहायता पहुँचाती हैं।

भारत में स्थानीय स्वशासन का इतिहास
(History of Local Self-Government in India)

भारत में स्थानीय स्वशासन संस्थाओं का अस्तित्व अति प्राचीन काल से रहा है। इसका उल्लेख रामायण, जातक कथाओं तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। कौटिल्य ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' में चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन काल के नागरिक (Municipal) शासन का वर्णन किया है। प्राचीन काल में भारतीय ग्रामों को स्वशासन का पूर्ण अधिकार प्राप्त था। उनका शासन पचायतों के हाथ में रहता था, जिन्हें शासन तथा न्याय के व्यापक, यद्यपि अलिखित अधिकार प्राप्त थे। ये पचायतें ग्रामों की सफाई, स्थानीय सड़कों और नहरों की व्यवस्था और मन्दिरों आदि धार्मिक स्थानों के प्रबन्ध के लिए उत्तरदायी होती थी। जब सड़कों तथा तालाबों की मरम्मत आवश्यक होती थी, तब ग्राम पचायतें अपने गाँवों की सभी गाड़ियों, बैलों और जन शक्ति का उपयोग कर सकती थी। ये न्यायालयों का कार्य भी करती थी। उन्हें दीवानी तथा फौजदारी विवादों को सुनने का अधिकार होता था। ये पचायतें प्रजातन्त्रात्मक होती थी और गावों की समस्त जनता मिलकर इसका चुनाव करती थी।

प्राचीन भारत के नगरों में भी स्थानीय स्वशासन का प्रचार था। चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में रहे हुए यूनानी राजदूत मेगस्थनीज के शब्दों से प्रतीत होता है कि मौर्य राजधानी पाटलिपुत्र में एक जन-निर्वाचित म्युनिसिपल कमेटी थी। वह छ पृथक समितियों द्वारा नगर का प्रबन्ध करती थी। प्रत्येक समिति का कार्य पृथक था। इन प्रादेशिक नगरपालिकाओं और ग्राम पचायतों के अतिरिक्त भारत में जातीय पचायतें भी थी। इन सस्थाओं के सदस्य विभिन्न जातियों के लोग होते थे। वे सहकारी सभाओं का कार्य करती थी। ये अपने सदस्यों के सामाजिक तथा आर्थिक हितों का साधन करती थी। जातीय पचायतें अब भी प्रचलित हैं। चमार, धोबी, भगी आदि जातियों में उनका प्रचार विशेष रूप से है। ये पचायतें जाति के छोटे-छोटे झगड़े निबटाती है। ये अपराध करने वाले को अर्थ-दण्ड दे सकती है। उन्हें जाति को भोज देने का आदेश भी दे सकती है। गम्भीर मामलों में य अपराधियों का बहिष्कार करने या उन्हें जाति से निकाल देने का दण्ड भी दे सकती हैं।

मुस्लिम शासन काल में स्थानीय स्वशासन
(Local Self-Government during The Muslim Period)

मुस्लिम शासकों ने भारत में स्थानीय स्वशासन के विकास में कोई प्रोत्साहन नहीं दिया और न ही उन्होंने प्रचलित व्यवस्था को नष्ट करने का प्रयत्न किया। वे शहरी प्रवृत्तियों के लोग थे और उन्होंने भारतीय ग्रामों में बहने वाली धाराओं को रोकने की कोई आवश्यकता नहीं समझी। फलत स्थानीय स्वशासन सस्थाएँ पूर्ववत अपना कार्य सचालन करती रही। परन्तु नगरों में इन सस्थाओं की पूर्ण

हानि हुई, क्योंकि वहाँ पर नागरिक प्रशासन केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि कोतवाल को सौंप दिया गया था।

ब्रिटिशकाल में स्थानीय स्वशासन
(Local Self-Government during the British Period)

ब्रिटिश शासन का प्रारम्भिक काल भारत की स्थानीय स्वशासन संस्थाओं के लिए मृत्युदण्ड (Warrant of Death) सिद्ध हुआ। अंग्रेजों ने केन्द्रीयकृत शासन की नीति प्रारम्भ की। सम्पूर्ण सत्ता केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों को सौंप दी गई और वह उसका प्रयोग सुसंगठित नौकरशाही के द्वारा करने लगी। फलतः नगरों तथा ग्रामों में प्रचलित स्वशासन संस्थाओं का पतन हो गया। परन्तु क्रियात्मक अनुभव ने शासकों को शीघ्र ही सिखा दिया कि इस विशाल देश में पूर्ण केन्द्रीयकृत शासन सम्भव नहीं है। अतः 19वीं शताब्दी के अन्त में उन्हें पुनर्जीवित करने के प्रयत्न प्रारम्भ किये गए। 1857 तक अनेक कानून बनाये गये जिनके द्वारा समस्त भारत के नगरों में म्युनिसिपल कमेटी की स्थापना तथा उनके सदस्यों की नियुक्ति की व्यवस्था हुई। इन कानूनों के अनुसार अनेक नगरों में म्युनिसिपल कमेटियों की स्थापना तो हो गई, किन्तु इस कार्य में दो महत्त्वपूर्ण रुकावटें थीं। प्रथम तो यह कि कानूनों के द्वारा म्युनिसिपल कमेटियों की स्थापना अनिवार्य नहीं की गई थी, अतः इस दिशा में उल्लेखनीय प्रगति नहीं हुई। अनेक नगर म्युनिसिपल शासन से वंचित रह गए। दूसरे इन कानूनों के द्वारा चुनाव का सिद्धान्त स्वीकार नहीं किया गया। इसलिए जो भी कमेटियाँ स्थापित हुईं उनके सदस्य नामजद (Nominated) होते थे।

1870 के पश्चात् आंशिक रूप से शहरी संस्थाओं में चुनाव के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया। लॉर्ड रिपन के शासन काल में इस दिशा में और प्रगति हुई। रिपन के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप चुनाव का सिद्धान्त सब सभी म्युनिसिपल कमेटियों में लागू कर दिया गया। अध्यक्ष के निर्वाचन का अधिकार भी सदस्यों को दिया गया। 1919 में मॉण्टेग्यू चेम्सफोर्ड (Montagu Chelmsford Reforms) सुधारों के परिणामस्वरूप स्थानीय शासन हस्तान्तरित विषय बना दिया गया जिसका प्रशासन भारतीय निर्वाचित मंत्री के पास रखा गया। फलतः अनेक प्रान्तों में स्थानीय स्वशासन को प्रजातान्त्रिक बनाने के लिए कानूनों का निर्माण किया गया। मताधिकार व निर्वाचित सदस्यों की संख्या में वृद्धि की गई।

1935 के भारतीय अधिनियम के द्वारा प्रान्तों को पूर्ण स्वराज्य प्रदान किया गया। इससे स्थानीय शासन के विकास को नई शक्ति मिली। उदाहरण के लिए, बम्बई में म्युनिसिपल चुनावों के लिए वालिग मताधिकार जारी कर दिया गया और सदस्यों को नामजद करने की प्रथा बन्द कर दी गई।

ब्रिटिश शासन के समाप्ति के बाद स्थानीय स्वशासन के विकास के लिए अनेक महत्त्वपूर्ण कदम उठाये गये। विभिन्न राज्यों में कांग्रेसी सरकारें ने ग्राम स्वराज्य को पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए कार्यरत हो गईं।

अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक राज्य के कार्य बहुत सीमित थे क्योंकि राज्य अधिकतर एक पुलिस राज्य होता था परन्तु अब कल्याणकारी राज्य की भावना का उदय हो चुका है। अब सरकार के कार्य पहले की अपेक्षा बहुत बढ़ गए हैं। केन्द्रीय सरकार स्वयं समस्त कार्य नहीं कर सकती है, अतः केन्द्रीय सरकार बहुत से कार्य स्थानीय सरकारों को दे देती है। स्थानीय सरकारों को वे विषय दिये जाते हैं जो स्थानीय हितों से सम्बन्धित हों और जो प्रश्न सम्पूर्ण देश के हित से सम्बन्धित हैं, प्राय केन्द्रीय सरकार को दे दिये जाते हैं। इस प्रकार प्रशासन को सुचारु रूप से चलाने के लिए भी स्थानीय स्वशासन की अत्यन्त आवश्यकता है।

राजस्थान में स्वायत्त शासन संस्थायें
(Local Self-Institutions in Rajasthan)

राजस्थान के निर्माण के पूर्व देशी रियासतों में स्वायत्त शासन संस्थाओं के निर्माण तथा विकास की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया था। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जोधपुर, जयपुर तथा बीकानेर में स्थानीय स्वशासन संस्थाओं के नाम पर नगरपालिकाओं का निर्माण किया गया। ये नगरपालिकायें वास्तव में नगरपालिकायें नहीं थी, अपितु एक प्रकार से सरकारी विभाग थे। इन नगरपालिकाओं के सदस्य सरकारी अधिकारी होते थे जिन पर सरकार का पूर्ण नियन्त्रण रहता था। न ही ये संस्थायें स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति करती थी। धीरे-धीरे अन्य देशी रियासतों में भी नगरपालिकाओं का निर्माण किया गया। भिन्न भिन्न देशी रियासतों में नगरपालिका अधिनियम भी भिन्न-भिन्न थे। राजस्थान के निर्माण के पश्चात् इस बात का अनुभव किया गया कि सभी नगरपालिकाओं के लिए एक अधिनियम बनाया जाय। तत्पश्चात् सन् 1951 में इस प्रकार का कदम उठाया गया और राजस्थान विधान सभा द्वारा नगरपालिका अधिनियम पारित किया गया जिसे राजस्थान नगरपालिका अधिनियम नाम दिया गया। इस अधिनियम में कुछ कमियों का अनुभव किया गया। अतः सन् 1959 में पुनः एक अधिनियम पारित किया गया जिसे राजस्थान नगर पालिका अधिनियम 1959 कहा जाता है।

स्थानीय स्वशासन की दूसरी संस्था को पंचायत कहा जाता है। देशी रियासतों में भी पंचायत की बुरी दशा रही। राजस्थान में पंचायतों के विकास का इतिहास अगले पृष्ठों में दिया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं में नगरपालिका तथा पंचायतें मुख्य होती हैं। कुछ देशी रियासतों में (जिनमें जयपुर तथा बीकानेर मुख्य हैं) जिला बोर्डों की भी स्थापना की गई थी। राजस्थान के निर्माण के पश्चात् जिला बोर्डों को प्रोत्साहन दिया गया तथा अन्य भागों में भी उनकी स्थापना की गई। इसके अतिरिक्त सन् 1954 में 'राजस्थान जिला बोर्ड अधिनियम' बनाया गया जिसके अन्तर्गत राजस्थान के अन्य भागों में उनकी स्थापना

तथा विकास की व्यवस्था की गई। राजस्थान में सन् 1959 में लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण की स्थापना के साथ ही जिला बोर्डों को समाप्त कर दिया गया तथा उनके स्थान पर जिला परिषदों का गठन किया गया। अतः अब राजस्थान में स्थानीय स्वशासन की आधारभूत संस्थायें नगरपालिकायें तथा पंचायतें हैं। इस अध्याय में नगरपालिकाओं तथा पंचायतों के सम्बन्ध में विस्तार से वर्णन किया जा रहा है।

राजस्थान में नगरपालिकायें
(Municipalities in Rajasthan)

साधारणतया दस हजार की जनसंख्या वाले शहर या कस्बे में नगरपालिका की स्थापना की जाती है। इनकी स्थापना नगर तथा कस्बे के प्रबन्ध के लिए की जाती है। नगरपालिकाओं की स्थापना राज्य सरकार द्वारा की जाती है।

संगठन (Composition) :—नगरपालिका के सदस्यों की संख्या राज्य सरकार के द्वारा निश्चित की जाती है। सदस्यों की संख्या निश्चित करते समय राज्य सरकार अनुसूचित जातियों के प्रतिनिधित्व का ध्यान भी रखती है। किसी स्थान पर जनसंख्या के अनुपात में जितने स्थान अनुसूचित जन-जातियों को प्राप्त होते हैं, उन्हें सुरक्षित घोषित कर दिया जाता है। नगरपालिका के संगठनों में महिलाओं को भी महत्त्व दिया गया है। प्रत्येक नगरपालिका में दो महिलायें सदस्य होंगी। यदि कोई महिला चुनकर न आये तो सहवरण की व्यवस्था अपनाई जाएगी। यदि एक महिला चुनकर आये तो एक महिला का सहवृत किया जायेगा। सहवरण करने का अधिकार नगरपालिका मण्डल को दिया गया है।

सदस्य की योग्यतायें (Qualifications):—राजस्थान नगरपालिका अधिनियम, 1959' के अन्तर्गत नगरपालिका का सदस्य होने के लिए निम्न योग्यतायें होना आवश्यक माना गया है—

(1) वह व्यक्ति नगरपालिका क्षेत्र में रहने वाला हो तथा नगरपालिका चुनाव सूची में उसका नाम हो।
(2) जो किसी दण्ड न्यायालय से नैतिक पतन के अपराध के कारण छः मास से अधिक समय के लिए दण्डित न किया गया हो।
(3) जो दुराचरण के कारण केन्द्रीय या किसी राज्य सरकार या किसी स्थानीय सत्ता की सेवा से मुक्त न किया गया हो।
(4) जो राज्य सेवा या स्थानीय संस्थाओं की सेवा में न हो।
(5) जो दिवालिया न हो।
(6) जो कुष्ट रोग से पीड़ित न हो।
(7) जो किसी अधिकार-युक्त न्यायालय द्वारा विकृत मस्तिष्क का घोषित न किया गया हो।

(8) जो नगरपालिका के किसी रूप में ठेके, *व्यापार इत्यादि से सम्बन्धित* न हो।

(9) जो नगरपालिका की ओर से या उसके विरुद्ध किसी मामले में वकील न हो।

(10) जिस पर किसी कर या अन्य देयों की एक वर्ष से अधिक *भुगतान की* रकम बकाया शेष न हो।

मताधिकार तथा मत देने की प्रणाली (Voting right and Voting Procedure) —प्रत्येक व्यक्ति जो किसी वार्ड की निर्वाचक नामावली में उस समय पंजीकृत है, *उस वार्ड में उसे मत देने का अधिकार होगा।* कोई भी व्यक्ति एक से अधिक वार्ड में मतदान नहीं कर सकेगा। प्रत्येक निर्वाचक एक मत देगा, परन्तु जिन वार्डों में एक से अधिक सदस्य निर्वाचित किये जाते हैं, वहाँ प्रत्येक निर्वाचक उतने *ही मत देगा जितने कि सदस्य वहाँ से निर्वाचित किये जाने को हैं। लेकिन कोई भी* निर्वाचक किसी भी एक उम्मीदवार को एक से अधिक मत नहीं दे सकता। मत गुप्त मतदान प्रणाली के द्वारा दिये जाते हैं।

अवधि (Tenure) नगरपालिका के सदस्यों की कार्याविधि तीन वर्ष की *होती है। इस अवधि को राज्य सरकार दो वर्ष के लिए बढ़ा सकती है। इस अवधि* से पूर्व भी नगरपालिका मण्डल को राज्य सरकार भंग कर सकती है। ऐसी स्थिति में नगरपालिका का कार्य प्रशासकों के द्वारा किया जाता है, जिनकी नियुक्ति सरकार द्वारा की जाती है।

अधिकारी (Officers) : प्रत्येक नगरपालिका के सदस्य अपने में से एक अध्यक्ष तथा एक उपाध्यक्ष का निर्वाचन करते हैं। वे अपनी अवधि या नगरपालिका मण्डल की अवधि तक अपने पद पर बने रह सकते हैं। उन्हें दो-तिहाई बहुमत से *उनके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पारित कर हटाया जा सकता है। वे स्वयं अपने* पद से त्याग-पत्र दे सकते हैं।

अध्यक्ष मण्डल की बैठकों को आमन्त्रित करता है तथा उनकी अध्यक्षता करता है। वह नगरपालिका के वित्तीय तथा कार्यकारी प्रशासन पर नियन्त्रण तथा *देख-रेख रखता है। वह नगरपालिका के रिकार्ड को समुचित प्रकार से रखवाने* की व्यवस्था करता है। अध्यक्ष की अनुपस्थिति में उपाध्यक्ष उसके सभी कार्य करता है।

अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष के अतिरिक्त बड़ी नगरपालिकाओं में आयुक्त, सचिव, रेवेन्यू अधिकारी आदि भी होते हैं। इनकी नियुक्ति सरकार द्वारा की जाती है।

समितियाँ (Committees) : प्रत्येक शहर में परिषद् की एक कार्यकारिणी समिति होगी, जिसमें—

(i) परिषद् का सभापति,

(ii) परिषद् का उप-सभापति,

(iii) परिषद् द्वारा निर्वाचित परिषद् के सात सदस्य,

(iv) परिषद् द्वारा निर्मित समितियों के अध्यक्ष ।

परिषद् का, नगरपालिका आयुक्त, कार्यकारिणी समिति का पदेन सचिव होगा । कार्यकारिणी समिति के अतिरिक्त प्रत्येक परिषद् साधारणतया निम्नलिखित समितियों का निर्माण करेगी, जिनके सदस्यों की संख्या सात से अधिक नहीं होगी—

(i) वित्त समिति,

(ii) स्वास्थ्य तथा सफाई समिति,

(iii) भवन तथा निर्माण समिति,

(iv) नियम तथा उप-नियम समिति, तथा

(v) सार्वजनिक वाहन समिति ।

नगरपालिका की सम्पत्ति तथा निधि : प्रत्येक मण्डल चल तथा अचल दोनों प्रकार की सम्पत्ति धारण कर सकता है, चाहे वह नगरपालिका की सीमाओं के अन्दर हो या बाहर । इस प्रकार की सम्पत्ति मण्डल के निर्देश, प्रबन्ध और नियन्त्रण के अधीन होगी । निम्न सभी नगरपालिका की सम्पत्ति होगी—

(i) समस्त सार्वजनिक नगर अथवा शहर परकोटे, फाटक, बाजार, पशुवध गृह, खाद, मल के ढेर तथा प्रत्येक प्रकार के सार्वजनिक भवन जो नगरपालिका की निधि से निर्मित हुए हैं ।

(ii) समस्त सार्वजनिक स्रोत, तालाब, जलाशय, हौज, कुएँ, झरने, कृत्रिम नहरें, नाले, सुरंगें, नल, पम्प तथा जल प्रदाय कार्य, तथा इनसे सम्बन्धित अथवा सम्बद्ध सभी पुल, भवन, एंजिन, निर्माण कार्य, सामग्री तथा वस्तुएँ तथा किसी सार्वजनिक तालाब तथा कुएँ से जुड़ी हुई कोई भूमि जो निजी सम्पत्ति न हो ।

(iii) समस्त मल प्रवाह तथा नालियाँ तथा ऐसे समस्त मल प्रवाह नालियाँ, सुरंगें, पुलियें, गटर तथा जलमार्ग जो किसी पथ के नीचे अथवा, पथ के साथ साथ हो तथा उनसे सम्बद्ध सभी निर्माण कार्य, सामग्रियाँ, तथा वस्तुएँ तथा मण्डल द्वारा मार्गों, गृहों, पाखानों, मल प्रवाहों, मल कूपों तथा अन्य स्थानों से संग्रहीत सभी गर्द, गन्दगी, गोबर, राख, कूड़ा, प्राणी पदार्थ, कचरा (जो चाहे किसी प्रकार के हों) तथा जानवरों के मृत शरीर ।

(iv) नगरपालिका के अन्तर्गत ऐसी राजकीय भूमियाँ जैसा कि राज्य सरकार सामान्य तथा विशिष्ट आज्ञा द्वारा नगरपालिका मण्डल में निहित करे ।

(v) समस्त सार्वजनिक पथ तथा उनकी पटरियाँ, पत्थर तथा अन्य पदार्थ तथा ऐसे पथों के लिए रखे गये समस्त वृक्ष, खड़ी की गई वस्तुएँ, सामग्रियाँ, औजार तथा अन्य वस्तुएँ ।

(vi) उपहार अथवा अन्य रूप में उसको हस्तान्तरित सभी राजकीय भवन तथा निजी भूमियाँ तथा भवन।

नगरपालिका के कार्य : प्रत्येक नगरपालिका का यह कर्तव्य होगा कि वह अपने प्राधिकार के अन्तर्गत नगरपालिका के क्षेत्र के अन्दर सरकार द्वारा सौंपे गये कार्यों को सम्पादित करे। नगरपालिका के कार्यों को अध्ययन की दृष्टि से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(1) प्राथमिक कार्य, तथा (2) विशेष कार्य।

प्राथमिक कार्य (Primary Functions)—

(i) सार्वजनिक मार्गों, स्थानों और भवनों में रोशनी की व्यवस्था करना,

(ii) सार्वजनिक मार्गों व स्थानों पर जल छिड़कना,

(iii) सार्वजनिक मार्गों स्थानों, मल-प्रणालों तथा ऐसे समस्त स्थानों जो निजी सम्पत्ति न हो, स्वच्छ करना,

(iv) *किसी भवन या भवनों में या तत्सम्बन्धी शौचालयों, शौचगृहों, पेशाब*-घरों, मलकूपों या ऐसी ही चीजों के लिए अन्य सामान्य पात्रों से मलिनता, कूड़ा, कर्कट, मल, दुर्गन्ध या कोई अन्य हानिकारक पदार्थों को हटाना,

(v) आग लगने के समय आग बुझाने तथा जीवन व सम्पत्ति की सुरक्षा की व्यवस्था करना,

(vi) उद्वेगकारी या खतरनाक व्यापारों या वृत्तियों का नियमन करना,

(vii) खतरनाक भवनों को सुरक्षित करना या हटाना तथा अस्वास्थ्यकर बस्तियों या स्थानों का उद्धार करना,

(viii) मृतकों एवं मृत पशुओं के व्यवस्थापन के स्थानों की व्यवस्था करना तथा उनकी देख-रेख करना,

(ix) सार्वजनिक मार्गों, पुलियों, नगरपालिका के सीमा चिह्नों, बाजारों, पशु *वध गृहों, नालियों, मल प्रणालों, जल निकास कार्यों, मल प्रणाली कार्यों, स्नानागारों*, धोने के स्थानों, पानी पीने के स्रोतों, तालाबों, कुओं, बाँधों आदि का निर्माण, परिवर्तन तथा देख-रेख करना,

(x) *सार्वजनिक शौचालयों, शौचगृहों और पेशाबगृहों का निर्माण करना,*

(xi) मार्गों का नामकरण करना तथा मकानों पर मकान नम्बर लिखना,

(xii) जन्म तथा मृत लोगों का लेखा रखना,

(xiii) जनता को शीतला के टीके लगाना,

(xiv) नगरपालिका के अन्दर पशु की लसिका (लिम्फ) की सप्लाई के लिए अपेक्षित बछड़ों, गायों या भैंसों के रहने के लिए उपयुक्त स्थानों की व्यवस्था करना,

(xv) नगरपालिका के अन्दर ऐसे कुत्तों को जो पागल हो या जिनका कोई मालिक न हो, नष्ट करना या शहर से दूर रखने की व्यवस्था करना,

(xvi) नगरपालिका के वार्षिक कार्यों की रिपोर्ट बनाना तथा छपवाना,

(xvii) मल और कूड़े करकट से मिश्रित खाद तैयार करने के लिए प्रबन्ध करना, और

(xviii) पशु गृह को स्थापित करना तथा उसकी देख-रेख करना।

विशेष कार्य (Extra ordinary Functions)—नगरपालिका के विशेष कार्य निम्न हैं—

(i) किसी खतरनाक रोग के समय रोगियों के लिए रहने तथा उनके लिए विशेष चिकित्सा का प्रबन्ध करते हुए ऐसे उपायों की व्यवस्था करना जिनसे रोग फैलने न पावे तथा रोग का निराकरण किया जा सके।

(ii) नगरपालिका की सीमाओं के अन्दर निराश्रित व्यक्तियों को या उनके लिए दुर्भिक्ष अथवा कमी के समय सहायता देते हुए उनका साधारण करना।

उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त नगरपालिकाओं को कुछ ऐच्छिक कार्य भी करने होते हैं जैसे नये सार्वजनिक मार्ग बनाना, गलियाँ बनाना, सार्वजनिक वाटिकाओं, उद्यानों, पुस्तकालयों, अजायबघरों, पागलखानों, सूचना केन्द्र आदि की व्यवस्था करना, गन्दी बस्तियों को समाप्त करना तथा उनके स्थान पर गरीबों के लिए स्वच्छ मकानों की व्यवस्था करना, सड़कों के किनारों पर हरे वृक्ष लगाना, जनगणना करना, जन स्वास्थ्य तथा शिशु कल्याण की उन्नति की व्यवस्था करना, मेले तथा प्रदर्शनियाँ लगाना, रोगी वाहन सेवा की व्यवस्था करना, सार्वजनिक अस्पताल तथा औषधालय स्थापित करना, पागल कुत्तों के काटे हुए व्यक्तियों के इलाज की व्यवस्था करना, प्राथमिक विद्यालयों को स्थापित करना आदि।

नगरपालिका द्वारा लगाये जाने वाले कर

राजस्थान नगरपालिका अधिनियम के अन्तर्गत नगरपालिकाओं को कर लगाने का अधिकार दिया गया है। परन्तु यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि नगरपालिका कर लगाने से पूर्व उस सम्बन्ध में सामान्य नियम तथा उपनियम बनाती है तथा सरकार की स्वीकृति प्राप्त करती है। सरकार को अधिकार प्राप्त है कि वह किसी भी समय किसी भी कर को हटाने के लिए नगरपालिका को आदेश दे सकती है। नगरपालिका के करों को दो भागों में बाँटा जा सकता है—(1) अनिवार्य कर तथा (2) अन्य कर।

अनिवार्य कर (Compulsory Taxes)—

(1) नगरपालिका में स्थित भवनों अथवा भूमियों अथवा दोनों के वार्षिक किराये पर कर।

(2) नगरपालिका की सीमाओं में उपभोग, प्रयोग अथवा विक्रय के लिए लाये गये सामान तथा पशुओं पर कर। तथा

(3) वृत्तियों तथा व्यवसायों पर कर।

अन्य कर (Other Taxes)—

(1) नगरपालिका में किराये के लिए निरन्तर चलने वाले अथवा रखे जाने वाले वाहन अथवा अन्य सवारियो पर कर।

(2) नगरपालिका में रखे जाने वाले कुत्तो पर कर।

(3) सवारी करने, सवारी खींचने, भार वहन अथवा बोझा ढोने के पशुओं पर कर, जब वे किसी नगरपालिका में रखे जायें।

(4) नगरपालिका में प्रवेश करने वाले वाहनो तथा अन्य सवारियों तथा पशुओ पर मार्ग-कर।

(5) नगरपालिका में बाँधी जाने वाली नौकाओ पर कर।

(6) सफाई कर।

(7) निजी शौचालयो अथवा शौच-गृहो को स्वच्छ करने का कर।

(8) रोशनी कर।

(9) कारीगरो पर कर। तथा

(10) कोई भी अन्य कर जो राज्य विधान-मण्डल, संविधान के अन्तर्गत नगरपालिका को आरोपण की शक्ति दे।

आय के साधन (Sources of Income) : नगरपालिका के निम्न आय के साधन होते है—

(1) नगरपालिका द्वारा लगाये गये करो से आय।

(2) सरकार से प्राप्त अनुदान।

(3) सरकार की अनुमति से लिए गये ऋण से आय, तथा

(4) फाइन तथा लाइसेन्स से प्राप्त आय।

किसी भी नगरपालिका को सफलतापूर्वक कार्य करने के लिए पर्याप्त आय के साधन होना आवश्यक है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व देशी रियासतो मे जो नगरपालिकायें अपने उत्तरदायित्वों को निभाने में असफल रही उसका मुख्य कारण आय के साधनों की कमी ही था। नये नगरपालिका अधिनियम के अन्तर्गत नगरपालिकाओ को पर्याप्त आय के साधन दिये गए हैं जिससे वे अपने कर्तव्यों को पूरा करने मे सफल हो सके।

नगरपालिकाओ पर नियन्त्रण (Control over the Municipalities) :

नगरपालिकायें कानून द्वारा निर्मित अनैसर्गिक व्यक्ति है। अतः नगरपालिकाओं को अपने सीमाबन्धो मे रहना चाहिए तथा उन्हें अपने सम्पूर्ण कर्तव्यो का निर्वाहन तथा सम्पूर्ण दायित्वो को सम्पन्न करना चाहिए। साथ ही उन्हें बिना किसी अपव्यय के कुशलतापूर्वक कार्य करना चाहिए तथा नगरपालिका सम्बन्धी नीतियों का पालन करना चाहिये।

अतः मुख्य प्रश्न यह है कि यह कौन देखे कि नगरपालिका अपने क्षेत्र में कार्य कर रही है, अपने दायित्वों का निर्वाहन कर रही है, अपने सम्पूर्ण कर्तव्यों का पालन कर रही है तथा कुशलतापूर्वक कार्य कर रही है। इसमें नीति सम्बन्धी नियन्त्रण भी सम्मिलित है। यह सब देखने के लिए नियन्त्रण आवश्यक है। नियन्त्रण दो प्रकार से होता है—

(1) न्यायालयों द्वारा, तथा

(2) सरकार द्वारा।

न्यायालयों द्वारा नियन्त्रण
(Control through Courts)

न्यायालयों का नियन्त्रण निम्न प्रकार से होता है—

(i) दीवानी कार्यवाही द्वारा,

(ii) क्रिमिनल कार्यवाही द्वारा तथा

(iii) अपील द्वारा यदि कानून में ऐसी अपील का प्रावधान हो।

दीवानी कार्यवाही निम्न रूप धारण कर सकती है—

(i) याचिकायें,

(ii) स्थगन आदेश के लिए वाद,

(iii) घोषणा के लिए वाद, तथा

(iv) क्षति-पूर्ति के लिए वाद।

किन्तु न्यायालयों का नियन्त्रण सरकार के प्रशासनिक विभाग के नियन्त्रण से बहुत कुछ सीमित है। न्यायालय नगरपालिकाओं की नीति को नियन्त्रित नहीं कर सकते।

सरकार द्वारा नियन्त्रण
(Government Control)

सरकार नगरपालिकाओं पर निम्न प्रकार नियन्त्रण रखती है—

(1) नीति विषयक नियन्त्रण, तथा

(2) प्रशासनिक नियन्त्रण।

नीति विषयक नियन्त्रण
(Control Over Policy Formation)

सरकार नगरपालिकाओं को निम्न तीन प्रकार नियन्त्रित करती है—

(1) नियम बना कर, आदेश तथा निर्देश प्रदान करके।

(2) नगरपालिकाओं द्वारा बनाये गये नियमों तथा उपनियमों को अस्वीकार करके, तथा

(3) नगरपालिका के स्वीकृत किसी नियम या उप-नियम का रूपान्तरण या निरस्त करके।

सरकार उक्त रीतियो से नगरपालिकाओ की नीति को बडी प्रभावयुक्त तरीके से नियन्त्रित कर सकती है। परन्तु इस प्रणाली से किसी नगरपालिका के किसी विशेष मामले को नियन्त्रित नही किया जा सकता। इस प्रणाली मे केवल नीति का सामान्य नियन्त्रण ही होता है।

प्रशासनिक नियन्त्रण (Administrative Control)—साधारणतया सरकार नगरपालिकाओ के दिन प्रतिदिन के कार्यों मे हस्तक्षेप नही कर सकती किन्तु उसमे सामान्य नियन्त्रण निहित रहता है। इस सम्बन्ध मे सरकार को दो प्रकार की शक्तिया प्राप्त हैं—

(1) साधारण शक्तियाँ, तथा (2) असाधारण शक्तियाँ।

सरकार की साधारण शक्तियाँ जिनके द्वारा वह नगरपालिका प्रशासन को नियन्त्रित करती है, वे निम्न हैं—

(i) निरीक्षण व पर्यवेक्षण करके,

(ii) पीडाजनक, अशान्तिकारक तथा अवैधानिक आदेशो को स्थगित करके।

(iii) नगरपालिका के मामलो मे जाँच करके,

(iv) वित्तीय मामलो को नियन्त्रित करके,

(v) नगरपालिका सेवा के नियन्त्रण द्वारा, तथा

(vi) नगरपालिका मण्डल, परिषद् या उसके अधिकारियो द्वारा पारित किसी आज्ञा मे सशोधन करके।

नगरपालिका प्रशासन को नियत्रण करने के लिए सरकार की असाधारण शक्तिया निम्न हैं—

(i) नगरपालिका मण्डलो या परिषदो की अवधि बढाने या उसे अधिक्रमित करके,

(ii) नगरपालिका मण्डलो या परिषदो को भग करके,

(iii) नगरपालिका के कर्तव्यो को स्वय अपने हाथ मे लेकर स्वय या अपने अधिकारियो द्वारा सम्पन्न करा सकती है।

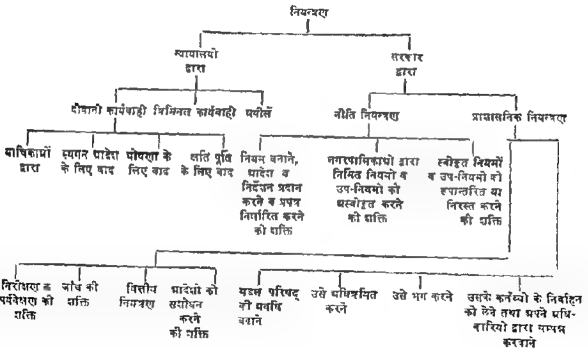
उपर्युक्त शक्तियो के द्वारा सरकार नगरपालिकाओ को नियत्रण मे रखती है। सरकार के नियत्रण को अगले पृष्ठ मे चार्ट द्वारा भी समझाया गया है।

राजस्थान में पंचायतें

(Panchayats in Rajasthan)

भारत मे पचायतें : भारत ग्रामो का देश है। यहाँ की 75 प्रतिशत जनसख्या ग्रामो मे निवास करती है। भारत मे ग्राम पचायतो की यशस्वी ऐतिहासिक परम्परा रही है। स्थानीय शासन के सम्बन्ध मे ग्रामीण लोकतन्त्रीय सस्थायें प्राचीनकाल से किसी न किसी रूप में कार्यशील रही हैं। इतिहास इस बात के उदाहरण

नगरपालिका-प्रशासन का नियन्त्रण चार्ट



प्रस्तुत करता है कि भारत मे कई सत्ताओ तथा साम्राज्यो का उत्थान तथा पतन हुआ, तथा ग्राम पचायतो की स्थिति मे कोई विशेष परिवर्तन नही हुआ। चार्ल्स मेटकेफ (1830) के कथनानुसार . 'ग्राम पचायतें छोटे लोकतन्त्र हैं, जिनके स्वय अपने भीतर प्राय प्रत्येक चीज, जिसकी उन्हे जरूरत हो सकती है, मौजूद है, और वे जो प्रत्येक विदेशी सम्बन्ध से मुक्त है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे नश्वरो के बीच अनश्वर है। शासन पर शासन ध्वस्त होते जाते हैं, क्रांति के बाद क्रांति आती है परन्तु ग्राम पचायत का अनवरत क्रम जारी है। अत मैं चाहता हूँ कि ग्राम सम्बन्धी विधानो मे परिवर्तन नही किया जाये। मैं ऐसी प्रत्येक चीज से भयभीत हूँ जिसमे उन्हे भग कर देने की प्रवृत्ति पाई जाती है।''

फिर भी भारत मे विदेशी शासन के समय जानबूझ कर ग्राम समुदाय को नष्ट भ्रष्ट करने के प्रयत्न किये गये। गाधीजी ने पचायतो की महत्त्वता को बताते हुए कहा, ''भारत गाँवो मे निवास करता है और जब तक भारत मे ग्राम जीवन का पुनरुद्धार नही किया जायेगा तब तक अपना राष्ट्र कठिनता से जीवित रह पायेगा।

ग्राम पचायतें प्राचीनकाल से चली आ रही हैं परन्तु ब्रिटिश शासनकाल मे प्राशासनिक व्यवस्था के केन्द्रीकरण तथा अन्य कारणो से ग्राम पचायत व्यवस्था को धक्का लगा और ये पचायतें प्राय: नष्ट हो गईं। लार्ड रिपन के वायसराय काल मे स्वायत्त शासन की दिशा मे कदम उठाये गये और ग्रामो मे पचायतो के निर्माण के लिए प्रयत्न किए गए। सन् 1919 के भारतीय अधिनियम के अन्तर्गत स्वायत्त सस्थाओ को हस्तान्तरित विषयो के अन्तर्गत कर दिया गया जिसका सचालन भारतीय व्यक्तियो के हाथ मे था। सन् 1935 के भारतीय अधिनियम के अन्तर्गत प्रातीय स्वशासन की नीव डाली गई और इस विषय को जनता द्वारा चुने गये व्यक्तियो के अधीन रखा गया। परन्तु परिस्थितियोवश पचायतो का उत्थान ब्रिटिश शासन काल मे न हो सका। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद पचायतो पर विशेष ध्यान दिया गया। हमारे सविधान मे पचायतो को मान्यता प्रदान की गई है और यह कहा गया है कि

> ''राज्य ग्राम पचायतो का सगठन करने के लिए कदम उठायेगा और उन्हे ऐसे आवश्यक अधिकार आदि देगा, जिससे कि वे स्वायत्त शासन की इकाइयो के रूप मे सुचारु रूप से कार्य कर सकें।''

पचायतो को आवश्यक अधिकार सौंप कर हमने राज्य के नीति निर्देशक सिद्धातो को अमली जामा पहनाया है।

राजस्थान मे पचायतों का इतिहास (The History of Panchayats in Rajasthan) भारत मे पचायतो की एक झाकी देखने के बाद अब हम राजस्थान की देशी रियासतो मे पचायतो का इतिहास देखेंगे। देशी रियासतो के प्रशासन मे पचायतो को भी स्थान दिया गया था। वे पचायतें इतनी प्रगतिशील नही थी कि ग्रामो की जनता की आवश्यकता की पूर्ति कर सकें। उसका मुख्य कारण यह था कि एक तो पचायतो के पास धन की कमी थी और दूसरी ओर उनको कोई विशेष

अधिकार नहीं दिए गए। फिर भी ये पंचायतें वर्तमान पंचायतों का प्रारम्भिक काल माना जा सकता है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद सन् 1949 में जब राजस्थान के विभिन्न राज्यों के एकीकरण से संयुक्त राजस्थान का निर्माण हुआ तब कुछ राज्यों में ग्राम पंचायतें पहले ही कार्य कर रही थी। परन्तु उन सब में कोई एकरूपता नहीं थी। पंचायतों के संगठन की दिशा में प्रथम कदम संयुक्त राजस्थान (भूतपूर्व राजस्थान), जिसकी राजधानी उदयपुर थी, द्वारा पंचायत राज अध्यादेश 1948 लागू करना था। इस अध्यादेश द्वारा कुछ लोगों के समूह के लिए एक पंचायत का निर्माण करने की व्यवस्था थी।

सन् 1949 में जयपुर, जोधपुर, बीकानेर तथा मत्स्य संघ के संयुक्त राजस्थान में मिलने से वर्तमान राजस्थान का निर्माण हुआ। इस समय तक ग्राम पंचायतें सात विभिन्न कानूनों (भूतपूर्व राजस्थान, जोधपुर, बीकानेर, जयपुर, सिरोही, भरतपुर एवं करौली) के अधीन कार्य कर रही थी। अतएव राज्यभर के लिए एक समान पंचायत कानून की आवश्यकता थी। इस आवश्यकता की पूर्ति राजस्थान पंचायत अधिनियम सन् 1953 के पारित होने पर हुई, जो 1 जनवरी, 1954 से लागू किया गया।

इस अधिनियम के अधीन पंचायतों का पुनर्गठन किया गया तथा जहाँ पहले पंचायतें नहीं थी वहाँ पंचायतें स्थापित की गईं। प्रत्येक पंचायत की जनसंख्या 3,000 से 8,000 तक की रखी गई, अब उसे 500 से 2,500 तक कर दी गई। तहसील स्तर पर तहसील पंचायतों का संगठन किया गया। राज्य भर में 208 तहसील पंचायतें बनाई गईं। 2 अक्टूबर, 1959 से राजस्थान में प्रजातान्त्रिक विकेन्द्रीकरण की स्थापना की गई। इस अधिनियम के पारित होने पर तहसील पंचायतों को समाप्त कर दिया गया और उनके स्थान पर न्याय पंचायतों का संगठन किया गया। नीचे हम पंचायतों का विस्तार से वर्णन करेंगे।

संगठन तथा निर्वाचन (Composition and Election) : राज्य सरकार द्वारा एक गाँव या कुछ गाँवों के समूह के लिए एक पंचायत की स्थापना की जाती है। लेकिन उन गाँवों को पंचायत में सम्मिलित नहीं किया जाता है जो किसी नगरपालिका के क्षेत्र में आते हों।

सामान्यतया एक पंचायत में 5 से 20 तक निर्वाचित सदस्य होते हैं, जिन्हें पंच कहा जाता है। पंचायत क्षेत्र वार्डों में विभाजित होता है और प्रत्येक वार्ड से एक पंच वयस्क मताधिकार के द्वारा चुना जाता है। निर्वाचित पंचों के अतिरिक्त दो महिलायें, एक अनुसूचित जाति तथा एक अनुसूचित जन-जाति (यदि अनुसूचित जनजातियों की जनसंख्या 5 प्रतिशत से अधिक हो) के सदस्यों का सहवरण किया जाता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक पंचायत क्षेत्र में सहकारी समितियों के अध्यक्ष ग्राम पंचायत के सह-सदस्य के रूप में कार्य करेंगे। इन्हें पंचायत की प्रत्येक बैठक में उपस्थित

होने तथा बोलने का अधिकार होता है। इन्हें उत्पादन कार्यक्रम में सम्बन्धित विषयों पर मत देने का अधिकार प्राप्त है, इसके अतिरिक्त किसी विषय पर वे मतदान नहीं कर सकते है। (सादिक अली रिपोर्ट के अनुसार)

पंचों की योग्यताएँ (Qualifications of Panches) प्रत्येक व्यक्ति जो किसी पंचायत क्षेत्र या उसके वार्ड में, चुनाव में, मत देने का अधिकारी है, पंच के रूप में चुने जाने या नियुक्त किये जाने योग्य होगा, जब तक कि ऐसा व्यक्ति—

(क) केन्द्रीय सरकार या राज्य सरकार या स्थानीय सत्ता के अधीन पूर्ण कालीन या अशकालिक वैतनिक नियुक्ति पर नहीं है,

(ख) आयु में 25 वर्ष से कम का नहीं है,

(ग) सरकारी नौकरी से नैतिक पतन के युक्त दुराचरण के कारण निकाला गया न हो,

(घ) पंचायत के साथ या उसके द्वारा किये या उसकी ओर से किसी ठेके में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष स्वयं या अपने भागीदार, स्वामी या कर्मचारी द्वारा हिस्सा या हित नहीं रखता है, जबकि ऐसे हिस्से या हित के लिए किए गए किसी कार्य का वह स्वामी है,

(ङ) शारीरिक या मानसिक रोग या दोष से पीड़ित नहीं है जो उसको कार्य करने में अयोग्य बनाते है,

(च) किसी न्यायालय द्वारा नैतिक पतन युक्त किसी अपराध का दोषी नहीं ठहरा दिया गया है, तथा

(छ) पंचायत की ओर से अथवा उसके विरुद्ध वकील के रूप में नियुक्त नहीं है।

सरपंच तथा उप-सरपंच (Sarpanch and Up-Sarpanch) प्रत्येक पंचायत में एक सरपंच होगा तथा एक उप सरपंच होगा। सरपंच ऐसा व्यक्ति होगा जो पंच के रूप में चुने जाने और हिन्दी पढ़ने लिखने के योग्य अवश्य हो और वह सम्पूर्ण पंचायत क्षेत्र के निर्वाचकों द्वारा वयस्क मताधिकार के द्वारा चुना जायगा। उप-सरपंच पंचों में से चुना जाता है तथा उसे भी हिन्दी पढ़ना व लिखना आना आवश्यक है।

सरपंच तथा उप सरपंच को अविश्वास का प्रस्ताव पारित कर हटाया जा सकता है। किन्तु सरपंच को हटाने के लिए कुल पंचों के तीन चौथाई मतों की आवश्यकता होती है जबकि उप-सरपंच को हटाने का प्रस्ताव आधे से अधिक मतों के द्वारा स्वीकार किया जा सकता है। सरकार द्वारा भी सरपंच या उप-सरपंच को कार्य की लापरवाही के कारण किसी भी समय हटाया जा सकता है।

अवधि (Tenure) साधारणतया पंचायत की अवधि तीन वर्ष होती है। किन्तु राज्य सरकार इस अवधि को अधिक से अधिक एक वर्ष के लिए बढ़ा सकती

है। दूसरी ओर अवधि के पूर्व पंचायत को उसकी अयोग्यता के लिए तोड़ा जा सकता है।

कार्य का संचालन (Working Procedure). पंचायत की बैठक आवश्यकतानुसार होती है। सरपंच पंचायत क्षेत्र के अन्दर किसी स्थान पर पंचायत में कार्य निपटाने के लिए जितनी बार आवश्यक हो पंचायत की बैठक को बुला सकता है। परन्तु पन्द्रह दिन में एक बार कम से कम पंचायत की बैठक होना आवश्यक है। सरपंच यदि आवश्यक समझे तो पंचायत की एक आवश्यक बैठक बुला सकता है और कम से कम एक तिहाई पंचों द्वारा लिखित में ऐसा करने की मांग करने पर तीन दिन के भीतर वह ऐसी एक विशेष बैठक बुलाने की व्यवस्था करेगा। किसी भी कार्य को करने के लिए गणपूर्ति का होना आवश्यक होता है। यह गणपूर्ति सरपंच सहित पंचों की सम्पूर्ण संख्या की एक तिहाई होती है। पंचायत की बैठक साधारणतया जनसाधारण के लिए खुली होगी परन्तु उपस्थित पंचों के बहुमत द्वारा उसे गुप्त बनाने का निर्णय लिया जा सकता है। पंचायत की बैठक का सभापतित्व सरपंच के द्वारा किया जाता है उसकी अनुपस्थिति में उप-सरपंच बैठक का सभापतित्व करता है। यदि सरपंच तथा उप-सरपंच दोनों ही अनुपस्थित हों तो उपस्थित पंच अपने में से एक पंच को ऐसी सभा का सभापतित्व करने के लिए चुनेंगे।

पंचायत के निर्णय बहुमत के आधार पर किये जाते हैं। किसी विषय पर समान मत आने पर बैठक के सभापति को दूसरा तथा निर्णायक मत देने का अधिकार होता है। कुछ विषय ऐसे भी होते हैं जिनको करने के लिए सरपंच सहित पंचों की कुल संख्या के दो-तिहाई भाग का बहुमत आवश्यक होगा। ये विषय निम्न हैं—

(1) पीने, नहाने और धोने के प्रयोजनों के लिए पानी की पूर्ति हेतु कुओं, तालाबों और पोखरों का निर्माण।

(2) नए मार्गों का निर्माण।

(3) नये भवनों का निर्माण।

सरपंच पंचायत के द्वारा लिए गए निर्णयों को लागू करने के लिए उत्तरदायी होता है। वही पंचायत का रिकार्ड रखता है। सरपंच की अनुपस्थिति में उप-सरपंच उसके अधिकारों का उपयोग करता है।

पंचायतों के कार्य
(Functions of Panchayats)

1960 के पूर्व पंचायत अधिनियम के अन्तर्गत पंचायतों को दो प्रकार के कार्य करने होते थे—अनिवार्य तथा ऐच्छिक। अनिवार्य कार्य प्रत्येक पंचायत को आवश्यक रूप से करने होते थे, परन्तु ऐच्छिक कार्य की व्यवस्था करना पंचायत की इच्छा पर निर्भर करता था। परन्तु अब पंचायतों को कई प्रकार के कार्य करने होते हैं, जिनमें से मुख्य अग्रलिखित हैं—

1 स्वच्छता एव स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्य
2 सार्वजनिक निर्माण कार्य
3. शिक्षा एवं संस्कृति सम्बन्धी कार्य
4 स्वय एव पचायत क्षेत्र की सुरक्षा के कार्य
5 प्रशासन सम्बन्धी कार्य
6 जन-कल्याण सम्बन्धी कार्य
7 कृषि तथा वन परिरक्षण सम्बन्धी कार्य
8 पशुओ की नस्ल सुधारने तथा उनके रक्षा सम्बन्धी कार्य
9 ग्रामोद्योग सम्बन्धी कार्य
10 विविध कार्य

1 स्वच्छता एव स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्य : (i) गृहस्थी के उपयोग तथा पशुओ के लिए जल प्रदाय,
(ii) सार्वजनिक सड़को, नालियो, बाँधो, तालाबो, कुओ तथा अन्य सार्वजनिक स्थानो की सफाई तथा निर्माण,
(iii) स्वच्छता, मलवहन, कैदेश की रोक तथा उसे कम करना, हटाना और मृत पशुओ की लाशो को निपटाना,
(iv) जनसाधारण का सरक्षण तथा सुधार करना,
(v) चाय, काफी तथा दूध की दुकानो का लाइसेन्स देना,
(vi) श्मशानो तथा कब्रिस्तानो की व्यवस्था, सधारण तथा नियमन की व्यवस्था करना,
(vii) खेल के मैदानो तथा सार्वजनिक बागो की व्यवस्था करना,
(viii) लावारिस लाशों तथा लावारिस मवेशियो को निपटाना,
(ix) सार्वजनिक शौचालयो का निर्माण तथा उनकी सफाई की व्यवस्था करना,
(x) किसी संक्रामक रोग के आरम्भ होने, फैलने या पुनराक्रमण के निरोध के लिए उपाय करना,
(xi) अस्वास्थ्यकर बस्तियो का सुधार करना,
(xii) प्रसूति एव शिशु कल्याण के कार्य करना,
(xiii) चिकित्सा सुविधा उपलब्ध करना,
(xiv) मनुष्यो तथा पशुओ के टीका लगाने के लिए प्रोत्साहन;
(xv) नये भवनो के निर्माण का नियमन तथा वर्तमान भवनो का विस्तार तथा परिवर्तन करना।

2. सार्वजनिक निर्माण कार्य : (i) सार्वजनिक मार्गों, नालियो, बन्धो तथा पुलो का निर्माण, सधारण तथा मरम्मत की व्यवस्था करना,

(ii) पंचायत क्षेत्र में रोशनी की व्यवस्था करना,
(iii) पंचायत क्षेत्र के अन्दर मेले, बाजारों, क्रय-विक्रय स्थानों, हाटों, तांगा स्टैण्डों तथा गाड़ियों के ठहरने का नियमन एवं नियन्त्रण करना,
(iv) शराब की दुकानें तथा बूचड़खाने का निर्माण, संधारण तथा नियन्त्रण करना,
(v) सार्वजनिक मार्गों तथा क्रय-विक्रय के स्थानों एवं अन्य सार्वजनिक स्थानों में पेड़-पौधे लगाना तथा उनका संधारण और परिरक्षण करना,
(vi) आवारा और लावारिस कुत्तों को खत्म करना,
(vii) धर्मशालाओं का निर्माण करना तथा उन्हें स्वच्छ एवं साफ रखने की व्यवस्था करना,
(viii) नहाने तथा कपड़े धोने के घाटों की व्यवस्था करना,
(ix) बाजारों की स्थापना एवं उनकी देख-भाल करना,
(x) शिविर मैदानों की व्यवस्था एवं उनका संधारण,
(xi) अकाल या कमी के समय में निर्माण कार्यों का प्रारम्भ एवं उनका संधारण अथवा रोजगार की व्यवस्था करना,
(xii) गोदामों (वेयर हाउसेज) की स्थापना करना,
(xiii) पशुओं के पानी पीने के लिए तालाबों की खुदाई तथा उनकी सफाई की व्यवस्था करना।

शिक्षा एवं संस्कृति सम्बन्धी कार्य (Educational and Cultural Functions):
(i) शिक्षा का प्रसार करना,
(ii) अखाड़ों, क्लबों तथा मनोरंजन एवं खेल-कूद के अन्य स्थानों की व्यवस्था देखभाल करना,
(iii) कला एवं संस्कृति की उन्नति के लिए थियेटरों की स्थापना करना;
(iv) पुस्तकालयों एवं वाचनालयों की स्थापना एवं व्यवस्था करना;
(v) सार्वजनिक रेडियो एवं ग्रामोफोन लगाना,
(vi) पंचायत क्षेत्र में सामाजिक एवं नैतिक उत्थान करना जिसमें मद्य-निषेध को प्रोत्साहन, अस्पृश्यता निवारण, पिछड़ी जातियों की स्थिति में सुधार, भ्रष्टाचार का उन्मूलन, जुआबाजी एवं निरर्थक मुकदमाबाजी को निरुत्साहित करना।

4. स्वयं एवं पंचायत क्षेत्र की सुरक्षा के कार्य : (i) पंचायत क्षेत्र और उसके अन्तर्गत फसलों की देख-रेख करना,
(ii) आक्रमणात्मक एवं खतरनाक व्यापारों अथवा व्यवहारों का नियन्त्रण, रोकना एवं उनको समाप्त करना,
(iii) आग लगने पर आग बुझाना तथा जीवन एवं सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए सहायता पहुँचाना।

5. प्रशासन सम्बन्धी कार्य (Administrative Functions): (i) भूमि तथा मकानों पर नम्बर लगाना,

(ii) जन-गणना करना,

(iii) पंचायत क्षेत्र में कृषि एवं उत्पादन की वृद्धि के लिए कार्यक्रम बनाना,

(iv) ग्रामीण विकास योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए उपयोग में आने वाली रसद एवं वित्तीय आवश्यकताओं का विवरण तैयार करना,

(v) सर्वेक्षण करना,

(vi) पशुओं के खड़े रहने के स्थान, खलियानों, चारागाहों तथा सामूहिक भूमियों का नियन्त्रण करना,

(vii) मेलों तथा त्यौहारों की व्यवस्था तथा उनको नियन्त्रित करना,

(viii) बेरोजगारी सम्बन्धी आंकड़े तैयार करना,

(ix) जिन शिकायतों को पंचायत दूर नहीं कर सकती उनके बारे में समुचित अधिकारी को रिपोर्ट करना,

(x) पंचायत का रेकार्ड तैयार करना तथा उसकी देख भाल रखना,

(xi) जन्म, मृत्यु तथा विवाहों का लेखा रखना,

(xii) पंचायत क्षेत्र के भीतर गाँवों के विकास के लिए योजना बनाना।

6. जन कल्याण सम्बन्धी कार्य (Public Welfare Functions) :—

(i) भूमि सुधार की योजना को लागू करने में सहायता देना,

(ii) लगड़ो, लूलो, निराश्रितो तथा रोगियो को राहत प्रदान करना,

(iii) प्राकृतिक संकट के समय सहायता के कार्य करना,

(iv) पंचायत क्षेत्र में भूमि तथा अन्य साधनों के सहकारी प्रबन्ध की व्यवस्था करना और सामूहिक खेती, उधार समितियों तथा बहुउद्देश्यीय सहकारी समितियों का संगठन करना,

(v) बंजर भूमि को कृषि योग्य बनाना और राज्य सरकार की पूर्व अनुमति से बंजर भूमि को खेती के अन्तर्गत लाना,

(vi) सामुदायिक कार्यों तथा पंचायत क्षेत्र की उन्नति के लिए स्वेच्छापूर्वक श्रम का आयोजन करना,

(vii) उचित मूल्य वाली दुकानें खोलना,

(viii) परिवार आयोजन का प्रचार करना,

7. कृषि तथा वन परिरक्षण सम्बन्धी कार्य (Agriculture and Forest Conservation Works) :—

(i) कृषि उत्पन्न तथा आदर्श कृषि फार्मों की स्थापना,

(ii) धान्यागारों की स्थापना करना;

(iii) राज्य सरकार द्वारा पंचायत क्षेत्र में स्थित बंजर तथा पड़त भूमि को कृषि के अन्तर्गत लाना,

(iv) कृषि उपज बढ़ाने की दृष्टि से पंचायत क्षेत्र में कृषि का न्यूनतम स्तर सुनिश्चित करना,

(v) अच्छे खाद की व्यवस्था तथा वितरण करना,

(vi) अच्छे बीजों के लिए नर्सरी स्थापित करना,

(vii) उन्नत बीजों का उत्पादन तथा प्रयोग करना,

(viii) सहकारी खेती को प्रोत्साहन देना,

(ix) फसलों की रक्षा के उपाय करना,

(x) छोटे सिंचाई कार्य करना,

(xi) ग्राम वनों का वर्धन, परिरक्षण तथा सुधार करना,

(xii) डेयरी फार्मिङ्ग को प्रोत्साहन देना,

8. पशुओं की नस्ल सुधारने तथा उनकी रक्षा सम्बन्धी कार्य :—(i) पशु तथा पशु नस्ल सुधारने और पशु धन की सामान्य देख-रेख की व्यवस्था करना;
(ii) नस्ली सांडों का भरण-पोषण करना,

9. ग्रामोद्योग सम्बन्धी कार्य . कुटीर तथा ग्रामोद्योगों का उन्नयन, उनका सुधार तथा उनको प्रोत्साहन देना,

10 विविध कार्य : (i) स्कूलों में गमन तथा उनके अनुबद्ध समस्त इमारतों का निर्माण तथा उनकी मरम्मत करना;

(ii) प्राइमरी स्कूलों के अध्यापकों के लिए रहने हेतु क्वार्टर बनाना;

(iii) डाक सेवा का कार्य करना,

(iv) एजेन्ट के रूप में या अन्यथा, अल्प बचत योजना सर्टिफिकेट्स की बिक्री करना ।

पंचायतों के अधिकार (Powers of Panchayats) : —पंचायत को वे सभी कार्य करने की शक्ति होगी है जो उसके कर्तव्यों के सम्पादन के लिए आवश्यक हो। इस सम्बन्ध में यदि कोई व्यक्ति पंचायत की अवज्ञा करे तो उसको पंचायत द्वारा 15 रु० जुर्माने का दण्ड दिया जा सकता है और अवज्ञा फिर भी जारी रहे तो पहले दिन के पश्चात् जितने दिन अवज्ञा जारी रहे, प्रतिदिन एक रुपए तक के जुर्माने का दण्ड दिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त यदि पंचायत किसी व्यक्ति को पंचायत अधिनियम के अनुसार कोई कार्य करने का आदेश दे और वह व्यक्ति उस कार्य को नियमित समय पर नहीं कर सके तो पंचायत स्वयं ऐसे कार्यों को करा सकती है तथा उस व्यक्ति से कार्य को कराने का खर्च वसूल कर सकती है।

यदि कोई व्यक्ति पंचायत की आज्ञाओं से अपने को दुःखित पाये तो वह उस पंचायत पर अधिकार क्षेत्र रखने वाली पंचायत समिति या न्याय पंचायत को

अपील कर सकता है। अपील करने की अवधि ऐसी आज्ञा की प्रतिलिपि प्राप्त करने के समय को छोड़कर 30 दिन की होगी। इसके बाद अपील पेश नहीं की जा सकेगी।

पंचायत को यह अधिकार प्राप्त है जिसमें यदि कोई व्यक्ति कोई ऐसा कार्य करे जिससे दूसरे व्यक्ति या व्यक्तियों को हानि पहुँच सकती हो तो ऐसे कार्य को रोकने के लिए निषेधाज्ञा निकाल सकती है।

इसके अतिरिक्त पंचायत को सार्वजनिक रास्तों, सार्वजनिक स्थानों तथा पंचायत में निहित सम्पत्ति पर किये गये अतिक्रमणों को हटा सकती है।

राज्य सरकार पंचायत को पंचायत के अधिकार क्षेत्र के अन्दर के किसी भी क्षेत्र या सरकार को देय भूमि राजस्व तथा अन्य कर संग्रह करने का अधिकार दे सकती है। इस कार्य को करने के लिए पंचायत को वसूली का 10 प्रतिशत संग्रहण शुल्क दिया जाता है। इस कार्य से पंचायत कोष की वृद्धि होती है। ऐसा करने पर उस क्षेत्र के पटवारी पंचायतों के अधीन रहेंगे।

पंचायत अपने बजट का ध्यान रखते हुए पंचायत क्षेत्र में पुस्तकालय तथा वाचनालय खोल सकती है तथा उन्हें चला सकती है।

राजस्थान में पंचायत वित्त

(Panchayat Finances in Rajasthan)

पंचायत के वित्तीय साधनों की समस्या भी एक विचारणीय प्रश्न है। जब तक पंचायतों के पास अपनी आवश्यकता को पूरा करने के साधन नहीं होंगे तब तक पंचायत आन्दोलन सफल नहीं होगा। स्वर्गीय श्री वल्लभभाई पटेल ने इस समस्या पर विचार किया और वे इस मत पर आये कि "साधारणतया यह कहा जाता है कि मतदाताओं को मत देने की सुविधा बढ़ा दी गई है तथा स्थानीय संस्थाओं को अधिक अधिकार दे दिये गये हैं। सत्य है, प्रजातन्त्र में ऐसा होना भी चाहिए। लेकिन ये सब सुविधायें देने का तब तक कोई महत्त्व नहीं होगा जब तक कि स्थानीय वित्त समस्या न सुलझाई जाय। इसके अभाव में मत वृद्धि व स्थानीय संस्थाओं के कार्यों में वृद्धि करना ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार एक मृत औरत को सजाना।"

पंचायतों को कर लगाने का अधिकार—*स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व पंचायत वित्त व्यवस्था बड़ी शोचनीय रही है।* उनके पास कार्य अधिक थे लेकिन धन का अभाव था। यही कारण था कि कोई ठोस कार्य पंचायतें न कर सकीं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् इस समस्या की ओर ध्यान दिया जा रहा है। संविधान ने पंचायतों को यह अधिकार दिया है कि वे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कर लगाकर धन प्राप्त कर सकती हैं। लेकिन कर लगाने के लिए पंचायत को सरकार की पूर्व अनुमति लेनी होती है। पंचायत द्वारा अग्रांकित कर लगाये जा सकते हैं—

(1) कृषि भूमि के लगान पर कर जो प्रति रुपया 3 पैसे से अधिक नहीं हो सकता।

(2) व्यापार व पेशों पर कर।

(3) भवनों पर कर।

(4) उद्योग धन्धों पर कर।

(5) बैल गाड़ियों के अतिरिक्त अन्य सवारियों पर कर।

(6) शुद्ध जल का प्रबन्ध करने के उपलक्ष में कर।

आय के अन्य साधन—राज्य सरकार प्रत्येक पंचायत को 20 न० पै० प्रति व्यक्ति के हिसाब से प्रति वर्ष जन-संख्या के आधार पर अनुदान देती है। इसके अतिरिक्त पंचायतों को पशु बाड़े से आय, चरागाहों और पटत भूमि से आय, सुलभ की गई सेवाओं का शुल्क तथा प्रशासनिक मामलों में जुर्मानों से आय होती है। पंचायतों की आय में वृद्धि करने हेतु, राज्य सरकार द्वारा 50 एकड़ तक सिंचाई करने वाले तालाब पंचायत को हस्तान्तरित कर दिये गये हैं। इन तालाबों से जो आय (सिंचाई अथवा मछली पालन) होती है वह पंचायत की आय होती है। प्रत्येक पंचायत को 15 बीघा भूमि पेड़ों के लिए दी गई है जो पंचायत के लिए आय का अच्छा साधन हो सकती है।

कर लगाने के क्षेत्र में पंचायत को गृह कर, चुंगी, वाहन कर, यात्री कर, वाणिज्य कर तथा फसलों पर कर लगाने का अधिकार प्राप्त है। परन्तु यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि ग्राम पंचायतें नया कर लगाते समय हिचकिचाती हैं, जो उचित नहीं है। यदि जन-साधारण को यह समझाया जाय कि करों से प्राप्त होने वाला धन उन्हीं के हित में खर्च होगा तो आशा है किसी प्रकार की कठिनाई सामने नहीं आयेगी। ग्रामीण क्षेत्रों में सामाजिक तथा आर्थिक विकास का जो उत्तरदायित्व पंचायतों पर डाला गया है, उसको पूरा करने के लिए पंचायत कोष में काफी धन का होना आवश्यक है। सरकारी अनुदान या ऋण पर निर्भर रह कर कोई भी पंचायत अपनी जिम्मेवारी पूरा नहीं कर सकती। अतः पंचायतों को अपने लिये आवश्यक धन की व्यवस्था स्वयं ही करनी चाहिये। तभी भारत में लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण सफल हो सकेगा।

पंचायतों पर सरकारी नियंत्रण (Government Control over Panchayats):—पंचायतों के प्रशासन सम्बन्धी, समस्त विषयों के लिए, सरकार मुख्य नियन्त्रक सत्ता होगी। दीवानी और फौजदारी अधिकार क्षेत्र से सम्बन्ध रखने वाले विषयों के अतिरिक्त पंचायत समिति (उस पंचायत क्षेत्र पर) अधिकार क्षेत्र रखती हो, पंचायत के मामलों की सामान्य निगरानी रखेगी और पंचायत समिति द्वारा जारी किये गये निर्देशों का पंचायत द्वारा पालन किया जायेगा।

इसके अतिरिक्त यदि कोई पंचायत अपने कर्तव्य को करने में त्रुटि करती है और उसकी जाँच के बाद यह सिद्ध हो जाता है तो पंचायत अधिकारी पंचायत को

उस कर्तव्य को पूरा करने के लिए अवधि निश्चित कर सकता है। यदि उस निश्चित अवधि में भी पचायत अपने कर्तव्यों को नहीं कर पाती है उस कार्य को करने के लिये कोई व्यक्ति निश्चित किया जा सकता है और उस पर हुआ खर्चा पचायत से वसूल किया जायेगा।

आकस्मिक संकट के समय राज्य सरकार की शक्ति

आकस्मिक संकट की दशाओं में राज्य सरकार किसी भी ऐसे काम के सपादन की अथवा किसी भी ऐसे कार्य के करने की व्यवस्था कर सकती है जिसको सपादन करने की शक्ति पचायत को दी गई है और जिसका शीघ्र सम्पादन या किया जाना, उसके मत में जन साधारण की सुरक्षा के लिए आवश्यक है। साथ में राज्य सरकार यह भी आदेश दे सकती है कि इस कार्य का खर्चा पचायत द्वारा उस कार्य के करने वाले को चुकाया जाय।

पचायत का विघटन अथवा अधिक्रमण यदि सरकार इस बात से सन्तुष्ट हो जाय कि पचायत अपने कर्तव्यों को पूरा करने में असफल हुई है या उनके निर्वाह में निरन्तर त्रुटियां करती है या अपनी शक्तियों का अतिक्रमण या अपनी शक्तियों का दुरुपयोग किया है या पचायत सम्बन्धित अधिकारियों की आज्ञा की अवहेलना करती है, तो राज्य सरकार ऐसी पचायतों को सुनवाई का अवसर देकर तथा सम्बन्धित जिला परिषद् से राय लेकर पचायत का विघटन या एक वर्ष के लिए अधिक्रमण कर सकती है। किसी पचायत का विघटन कर दिये जाने पर निम्नलिखित परिणाम होंगे—

(1) *सरपच और उसके समस्त पच, विघटन आज्ञा में निर्दिष्ट तिथि से* अपने पद रिक्त कर देंगे परन्तु इससे उनके पुन निर्वाचन पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा।

(2) उक्त पचायतों की समस्त शक्तियों तथा कर्तव्यों का, उक्त अवधि में एक प्रशासक जिसे राज्य सरकार समय समय पर नियुक्त करेगी, द्वारा प्रयोग तथा पालन किया जायेगा।

सरकार द्वारा अधिकारियों और कर्मचारियों की नियुक्ति

सरकार पचायतों के प्रशासन के सम्बन्धित अधिकारी तथा कर्मचारी वर्ग की नियुक्ति करती है। ये अधिकारी पचायतों का निरीक्षण करते हैं तथा उनके कार्यों की सूचना राज्य सरकार को देते हैं।

निरीक्षण तथा जांच पड़ताल : (क) राज्य सरकार या विशिष्टतः प्राधिकृत कोई अधिकारी पचायत की अचल सम्पत्ति का निरीक्षण कर सकता है।

(ख) एक लिखित आज्ञा द्वारा, कोई ऐसी पुस्तक अथवा दस्तावेज मगा सकती है और उसका निरीक्षण कर सकती है जो पचायत के नियन्त्रण में हो।

(ग) सरकार पंचायत के किसी दस्तावेज, प्रतिलिपि विवरण तथा प्रतिवेदनों को माँग सकती है।

(घ) राज्य सरकार किसी पंचायत के विचार के लिए सम्मति भेज सकती है जिसे वह आवश्यक समझे।

(ङ) राज्य सरकार किसी पंचायत, सरपंच, उप-सरपंच, पंच आदि के विरुद्ध जाँच पड़ताल कर सकती है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्य सरकार का पंचायतों पर काफी नियन्त्रण है। परन्तु इसका अर्थ हमें यह नहीं लेना चाहिए कि सरकार या उसके विशिष्ट अधिकारी पंचायत के दैनिक कार्यों में हस्तक्षेप करते हैं। वे तो केवल तभी हस्तक्षेप करते हैं जब वे इस बात से सन्तुष्ट हो जाते हैं कि पंचायत अब कार्य करने में असफल हो रही है या अधिकारों का दुरुपयोग कर रही है। अन्त में यह कहा जा सकता है कि पंचायतें राजस्थान में सफलतापूर्वक कार्य कर रही हैं।

न्याय पंचायतें

राजस्थान पंचायत अधिनियम, 1953 के अन्तर्गत तहसील पंचायतों का संगठन किया गया था। परन्तु सन् 1960 में राजस्थान पंचायत अधिनियम में एक संशोधन के द्वारा तहसील पंचायतों का अन्त कर दिया गया तथा उनके स्थान पर न्याय पंचायतों का संगठन किया गया है। अब तक ग्राम पंचायतों को जो न्यायिक अधिकार थे वे अब न्याय पंचायतों को दे दिए गये हैं।

न्याय पंचायतों का संगठन : साधारणतया 5 से 7 पंचायतों के क्षेत्र में एक न्याय पंचायत की स्थापना की जाती है। जहाँ तक न्याय पंचायत के सदस्यों का प्रश्न है, पंचायत अधिनियम में यह स्पष्ट किया गया है कि जितने पंचायत क्षेत्र मिल कर न्याय पंचायत की स्थापना करते हैं उतने ही न्याय पंचायत में सदस्य होंगे। उदाहरण के लिए यदि 5 पंचायतों के क्षेत्रों को मिलाकर एक न्याय पंचायत की स्थापना की जाती है तो उस न्याय पंचायत में न्याय पंचों की संख्या 5 होगी।

निर्वाचन : न्याय पंचायतों के सदस्यों का निर्वाचन अप्रत्यक्ष रूप से होता है। प्रत्येक पंचायत के पंच तथा सरपंच मिलकर एक न्याय पंच का चुनाव करते हैं। इस प्रकार जितनी पंचायतें न्याय पंचायत के क्षेत्र में होती हैं उतने ही न्याय पंच होते हैं।

न्याय पंचों की योग्यता : कोई व्यक्ति, न्याय पंचायत के सदस्य के रूप में चुने जाने के योग्य नहीं होगा—

(i) यदि वह 30 वर्ष से कम आयु का हो, या

(ii) यदि वह धारावाहिक, स्वच्छन्द और सुपाठ्य रूप से हिन्दी पढ़ने तथा लिखने में असमर्थ हो, या

(iii) वह किसी ग्राम पचायत, पचायत समिति, जिला परिषद्, राज्य विधान सभा या ससद् का सदस्य हो, या

(iv) पागल, दिवालिया, सजा पाया हुआ हो।

कार्यकाल : न्याय पचायत के यथा सम्भव लगभग एक तिहाई सदस्य प्रत्येक द्वितीय वर्ष की समाप्ति पर आवर्तन से बदलते रहेगे।

न्याय पंचायतो के कार्य तथा अधिकार

न्याय पचायतो को अपने क्षेत्र मे कई प्रकार के छोटे-छोटे मामलो मे न्याय करने का अधिकार दिया गया है। न्याय पचायतो को दीवानी तथा फौजदारी मामले मे निर्णय करने का अधिकार भी दिया गया है। अधिनियम मे इस बात की व्यवस्था की गई है कि जो विषय न्याय पचायत के फौजदारी अधिकार क्षेत्र मे आते है उन विषयो पर फौजदारी न्यायालय के समान ही विचार तथा हस्तक्षेप कर सकेगी। न्याय पचायतो को डिग्री करने तथा जुर्माना करने का भी अधिकार है। परन्तु यदि न्याय पचायत जाँच के पश्चात् इस निर्णय पर पहुँचे कि उसके सामने दायर किया गया मुकदमा झूठा, निस्सार अथवा परेशान करने के लिए है तो वह अभियोक्ता को, अपराधी को, 5 रुपये तक, अथवा जैसा उचित समझे क्षति पूर्ति देने के लिए आज्ञा दे सकती है।

यहाँ हम न्याय पचायत के दीवानी तथा फौजदारी मामलो मे अधिकारो का सक्षेप मे वर्णन करेगे।

दीवानी मामलो में अधिकार क्षेत्र : न्याय पचायत को निम्नलिखित दावो की सुनवाई करने का अधिकार होगा—

(1) निश्चित रकमो के दावे, जो 250 रुपये से अधिक न हो।

(2) अचल सम्पत्ति पर प्रभाव न डालने वाले ठेके को तोडने के लिए हरजाने के दावे जो 250 रुपये से अधिक न हो।

(3) चल सम्पत्ति को अन्याय से लेने अथवा उसको नुकसान पहुँचाने के क्षति-पूर्ति के लिए दावे, जो 250 रुपये से अधिक न हो।

(4) किसी विशिष्ट चल सम्पत्ति अथवा उसके मूल्य के लिए दावे, जो 250 रुपये से अधिक न हो।

न्याय पचायत निम्न मुकदमो की सुनवाई नही कर सकेगी।

(1) किसी अल्प वयस्क अथवा विकृत मस्तिष्क वाले व्यक्ति द्वारा अथवा उसके विरुद्ध,

(2) उसी न्याय पचायत के अध्यक्ष, अथवा किसी भी सदस्य या उसी न्याय-क्षेत्र के अन्तर्गत विद्यमान पचायत क्षेत्र के सरपच अथवा किसी भी पच के द्वारा अथवा उसके विरुद्ध,

(3) किसी विवाद अथवा विषय के सम्बन्ध में जिसमें कोई दावा अथवा प्रार्थना पत्र किसी राजस्व अधिकारी के समक्ष लाया या दिया जा सकता है।

साधारणतया न्याय पंचायत में दीवानी दावे तीन वर्ष के भीतर प्रस्तुत किये जा सकते हैं, परन्तु इस मियाद के बाद कोई भी दावा न्याय पंचायत द्वारा नहीं लिया जायगा। न्याय पंचायत 6 प्रतिशत ब्याज सहित डिग्री दे सकती है। डिग्री न्याय पंचायत स्वयं तामील करवा सकती है अथवा उस क्षेत्र के मुन्सिफ मजिस्ट्रेट के पास तामील के लिए भेज सकती है। मुन्सिफ मजिस्ट्रेट इन डिग्रियों की तामील ठीक उसी प्रकार करायेगा जैसे कि उसके न्यायालय से दी गई डिग्रियां हों।

फौजदारी मामलों में अधिकार क्षेत्र

न्याय पंचायतों को निम्न फौजदारी विषयों पर न्याय करने का अधिकार दिया गया है—

(क) पुलिस में न होते हुए पुलिस की वर्दी पहन कर लोगों को सिपाही होने का विश्वास दिलाना।

(ख) झगड़ा तथा शांति भंग करना।

(ग) सम्मन की तामील से बचने के लिए भाग जाना।

(घ) सरकारी कर्मचारियों के बुलाने पर न आना, या उनके प्रश्नों का उत्तर न देना।

(ङ) सरकारी अधिकारी द्वारा लिये गये बयान पर हस्ताक्षर न करना, आज्ञा की अवज्ञा करना, जान-बूझ कर किसी अपराध की सूचना न देना, अदालती कार्यवाही में बैठे सरकारी अधिकारी का अपमान करना आदि।

(च) तौलने के लिए झूठे उपकरण तथा तोल व बाट का प्रयोग।

(छ) सार्वजनिक झरने या जलाशय का पानी गन्दा करना, सार्वजनिक रास्ते पर तेजी से गाड़ी चलाना या सवारी करना, सार्वजनिक रास्ते में खतरा, रुकावट या क्षति पहुँचाना।

(ज) जलने वाली वस्तु का, जिससे मनुष्य के जीवन आदि को खतरा हो, कारोबार करना या विस्फोटक पदार्थ का कारोबार करना।

(झ) जनता के प्रति कष्टकारक या अश्लील कार्य करना।

(ञ) गैर कानूनी अनिवार्य बेगार लेना।

(ट) चोरी करना जो 25 रुपये से अधिक न हो, बेईमानी से चल सम्पत्ति का गबन करना अथवा उसको निजी प्रयोग में लाना या चोरी की सम्पत्ति लेना यह जानते हुए कि यह चोरी की है, जिसकी रकम 25 रुपये से अधिक न हो।

(ट) शरारत करना या 10 रुपये के कीमत के जानवर को मार डालना या उसे क्षति पहुँचाना।

(ड) अनधिकार गृह-प्रवेश।

(ढ) कोई भी ऐसा शब्द उच्चारण करना अथवा कोई ऐसा संकेत करना जो कि किसी स्त्री के शील को अपमानित करने के दृष्टिकोण से किया गया हो।

(ण) जनता में नशे की हालत में उपस्थित होना और किसी व्यक्ति को चिढ़ाना।

उपर्युक्त विषयों पर न्याय पंचायत अपना निर्णय दे सकती है। इसे अपराधी पर 50 रुपये तक का जुर्माना करने का अधिकार है। यदि कोई व्यक्ति तीन माह में जुर्माना जमा नहीं कराता है तो न्याय पंचायत को अधिकार प्राप्त है कि इस अवधि के बाद प्रति 2 रुपये पर एक दिन के कारावास की सजा दे सकती है। इस प्रकार की आज्ञाओं की तामील उस क्षेत्र के मजिस्ट्रेट के द्वारा कराई जाती है। न्याय पंचायत को यह भी अधिकार प्राप्त है कि वह जिस व्यक्ति के साथ अपराध हुआ है उसे जुर्माने की पूरी रकम या उसका कुछ हिस्सा दिला सकती है।

न्याय पंचायतों की कार्य-प्रणाली

कोई व्यक्ति जो न्याय पंचायत में दावा या मुकदमा दायर करना चाहता है तो वह अध्यक्ष या उसकी अनुपस्थिति में किसी भी सदस्य को लिखित या मौखिक प्रार्थना करेगा। इस सम्बन्ध में प्रार्थी को निश्चित शुल्क भी जमा करना होता है। तत्पश्चात् जिस दिन उस मुकदमे की कार्यवाही की जानी होती है उसकी सूचना वादी या अभियोक्ता को (समय तथा स्थान सहित) दी जाती है। न्याय पंचायत प्रार्थी या अभियोक्ता की प्रार्थना सुन कर तथा जाँच कर उसके दावे या अभियोग को खारिज कर सकती है, लेकिन उसे ऐसा करने के लिए कारण लिखने होंगे। यदि प्रतिवादी या अपराधी उस न्याय पंचायत क्षेत्र के बाहर रहता हो या सम्मन जारी करने के समय ऐसे क्षेत्र के बाहर हो तो न्याय पंचायत सम्बन्धित पुलिस या मजिस्ट्रेट के पास तामील के लिए भेजेगी जो उसकी तामील उसी प्रकार करवायेंगे जैसे वह उन्हीं के न्यायालय का सम्मन हो।

मुकदमे के पक्षकारों को न्याय पंचायत के सम्मुख स्वयं उपस्थित हो सकते हैं। यदि पंचायत उचित समझे तो उनमें से किसी को वैयक्तिक रूप से उपस्थित होने से मुक्त कर सकती है तथा उसके प्रतिनिधि को उपस्थित होने की अनुमति दे सकती है। भारतीय प्रथा के अनुसार सामान्यतः पर्दानशीन स्त्रियां वैयक्तिक उपस्थिति से मुक्त मानी जाती हैं।

न्याय पंचायत द्वारा भेजे गये सम्मन पर यह लिखना आवश्यक है कि वह व्यक्ति गवाही देने या कोई दस्तावेज पेश करने के सम्बन्ध में बुलाया जा रहा है।

न्याय पंचायतें न्याय व औचित्य के न्यायालय हैं। अतः न्याय पंचायतों का परम कर्त्तव्य है कि वे प्रत्येक वैध चीज का पता लगायें। उन्हें केवल मात्र गवाही पर ही निर्भर नहीं रहना चाहिए। सत्यता का पता लगाने के साधन तर्क-संगत तथा न्याय-संगत होने चाहिए। मारपीट करना, जाति बाहर करने का डर बताना या लाटरी द्वारा निर्णय करना उचित नहीं है। मामले की सुनवाई करते समय ऐसा कोई पंच उसमें भाग नहीं ले सकता जो उस मामले में अपना कुछ स्वार्थ रखता हो।

नियन्त्रण या निगरानी के अधिकार

किसी न्याय पंचायत द्वारा किसी दावे या मामले पर विचार कर दी गई सजा, डिक्री या आदेश की कोई अपील नहीं होगी। हालांकि उस क्षेत्र के मुख्य मजिस्ट्रेट को यह अधिकार प्राप्त है कि वह चाहे तो किसी मुकदमे के कागजात मंगवा सकता है तथा इसके निर्णय में आवश्यक परिवर्तन कर सकता है। इस प्रकार की कार्यवाही किसी पक्ष के निवेदन पर या न्यायालय स्वतः कर सकेगा।

न्याय पंचायतों को अपने कार्यों की वार्षिक रिपोर्ट जिला या सत्र-न्यायाधीश को प्रस्तुत करनी होती है। राज्य सरकार को किसी भी न्याय पंचायत या उसके पंच को उसकी अदक्षता या अपनी शक्ति के दुरुपयोग करने पर हटाने का अधिकार प्राप्त है। राज्य सरकार यदि चाहे तो न्याय पंचायत को कुछ समय के लिए या पूरे समय के लिए तोड़ सकती है। इसके अतिरिक्त राज्य सरकार से अधिकृत अधिकारी (जिलाधीश) न्याय पंचायत की अचल सम्पत्ति का निरीक्षण कर सकते हैं, लिखित आज्ञा द्वारा पुस्तक अथवा दस्तावेज मंगा सकते हैं और उनका निरीक्षण कर सकते हैं। अधिकृत अधिकारी को यह भी अधिकार प्राप्त है कि वह न्याय पंचायतों की कार्यवाहियों और कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में लिये विवरणों, प्रतिवेदनों या दस्तावेजों की प्रतिलिपियां मांग सकते हैं।

अतः न्याय पंचायतों पर भी सरकार या उसके द्वारा प्राधिकृत अधिकारियों का किसी न किसी रूप में लगातार नियन्त्रण रहता है।

परीक्षोपयोगी प्रश्न

(1) स्थानीय स्वशासन से आप क्या समझते हैं ? भारत में उसके महत्व का वर्णन कीजिये।

What do you understand by Local Self-Government ? What is its importance in India ?

(2) राजस्थान मे म्युनिसिपेलिटियो के सगठन तथा कार्यों का वर्णन कीजिये। सरकार उन पर क्या नियन्त्रण रखती है ?

Describe the composition and functions of Municipalities in Rajasthan What is the extent of the control exercised on Municipalities by the Government ?

(3) राजस्थान मे म्युनिसिपेलिटियो के आय के साधनो का वर्णन कीजिये।

Describe the sources of income of Municipalities in Rajasthan

(4) ग्राम पचायतो के विकास का इतिहास और उसके सगठन तथा कार्यों का वर्णन कीजिये। ग्राम प्रशासन मे पचायतो का क्या स्थान है?

Trace the development of Village Panchayats and describe their composition and functions. What part do they play in village administration

(5) राजस्थान मे पचायतो के आय के साधनो का वर्णन कीजिये और उन पर सरकारी नियंत्रण की व्याख्या कीजिये।

Describe the sources of income of Village Panchayats in Rajasthan and discuss the Government controal over them.

(6) राजस्थान मे न्याय पचायतो के सगठन तथा मुख्य कार्यों का वर्णन कीजिये।

Describe the organization and functions of Nyaya Panchayats in Rajasthan.



19

लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण

(DEMOCRATIC DECENTRALIZATION)

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् देश के सम्मुख एक बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न था कि भारत का चहुँमुखी विकास किस प्रकार किया जाय। इस प्रश्न को हल करने के लिए समिति बनाई गई जिसके अध्यक्ष स्वर्गीय बलवन्तराय मेहता थे। अतः इस समिति का नाम भी बलवन्त राय मेहता समिति रखा गया। इस समिति ने केन्द्रीय सरकार को सुझाव दिया कि यदि देश में तीव्र गति से प्रगति करनी है तो विकेन्द्रीकरण आवश्यक है। समिति ने अपनी रिपोर्ट में 'त्रि स्तरीय व्यवस्था' का सुझाव दिया जिसके अनुसार सबसे नीचे का स्तर गाँवों को माना गया तथा वहाँ पंचायतों का सगठन किया जाय। बीच का स्तर जिसे खण्ड स्तर भी कहते हैं, खण्ड समिति या पंचायत समिति बनाने का सुझाव दिया। चौथे पर जिला परिषद् के सगठन की सिफारिश की गई।

लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण का अर्थ (Meaning of Democratic Decentralization) —इसके पहले कि हम राजस्थान में लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था का अध्ययन करें, इस शब्द के अर्थ को समझ लेना आवश्यक है। इस शब्द के अर्थ है को समझने के लिए विकेन्द्रीकरण का अर्थ स्पष्ट करना होगा। विकेन्द्रीकरण का अर्थ होता है—'सत्ता का बटवारा या वितरण'। यह शब्द केन्द्रीकरण शब्द का बिल्कुल विपरीत अर्थ रखता है। इसमें प्रशासन की सत्ता एक ही स्थान पर कुछ लोगों के हाथ में केन्द्रित होती है, जबकि विकेन्द्रीकरण में सत्ता का वितरण अधिक से अधिक लोगों में होता है। इस विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था में सरकार अपने प्रशासनिक अधिकार नीचे के स्तरों में बाँट देती है।

जब इस प्रकार की व्यवस्था किसी राज्य में होती है तो प्रत्येक व्यक्ति सरकारी कार्य को अपना कार्य समझने लगता है। इसका परिणाम यह होता है कि सभी कन्धे से कन्धा मिला कर प्रत्येक कार्य को करते है जिससे राज्य की प्रगति बड़ी तेजी से होने लगती है। इसका एक और परिणाम होता है, कि सरकार छोटे-छोटे कार्यों से छुटकारा पा जाती है और अपना ध्यान अन्य आवश्यक कार्यों में लगा सकती है।

विकेन्द्रीकरण के अर्थ को समझने के पश्चात् लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण का अर्थ आसानी से समझा जा सकता है। लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण का अर्थ होता है—'लोकतन्त्र के सिद्धान्तों के आधार पर विभिन्न स्तरो पर स्थानीय संस्थाओं का निर्माण किया जाय तथा उनमें प्राशासनिक सत्ता का इस प्रकार वितरण किया जाय कि जनसाधारण को प्रत्येक स्तर पर उसकी अनुभूति हो सके और वह अपने उत्तरदायित्व को महसूस कर सके।' इस प्रकार लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण में छोटी-छोटी इकाइयों की स्थापना की जाती है तथा उसका सगठन लोकतन्त्र के सिद्धान्तों के आधार पर होता है और उनको प्रशासनिक अधिकार दिये जाते हैं। इस व्यवस्था को ही जनता का अपना सच्चा शासन कहा जा सकता है।

बलवन्तराय मेहता अध्ययन दल की सिफारिशें
(Recommendations of Balwant Rai Mehta Study Team)

श्री बलवन्त राय मेहता दल की सिफारिशों के अनुसार लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण व्यवस्था में तीन स्तरीय व्यवस्था होगी। सबसे नीचे पचायतें होंगी, बीच में पचायत समिति तथा सबसे ऊपर जिला परिषद् होगी।

(1) इनमें केवल पचायतें ही सीधे चुनाव (Direct Election) द्वारा निर्वाचित होंगी। निर्वाचित सदस्यों के अतिरिक्त दो महिला सदस्यों और परिगणित जाति तथा परिगणित कबीले (Scheduled Tribes) से एक-एक सदस्य का सहवृत (Co-opt) निर्वाचित सदस्यों द्वारा किया जायेगा। पचायत का एक सभापति (Chairman) भी होगा। उन ग्राम पचायतों के अतिरिक्त जो कि प्रशासकीय कार्य करेंगी, निश्चित गांवों के प्रत्येक समुदाय के लिए एक-एक न्याय पचायत भी होगी न्याय पचायत के सदस्यों का निर्वाचन जिला दण्डनायक (District Magistrate), ग्राम पचायत द्वारा दी गई सूची में से करेगा।

(2) पचायत समिति के सदस्यों का निर्वाचन अप्रत्यक्ष निर्वाचन (Indirect Election) द्वारा खण्ड (Block) में स्थित पचायतों में से होगा। इस खण्ड में जो म्युनिसिपैलिटी होगी, प्रत्येक अपने एक-एक सदस्य का निर्वाचन, पचायत समिति में भेजने के लिए करेगी। इसके अतिरिक्त निर्वाचित जगहों (Elective Seats) में 10% खण्ड में कार्यरत सहकारी समितियों के प्रतिनिधियों या तो चुने हुए या सहवृत (Co opt) किये गये सदस्यों से भरी जायेगी। सब डिविजनल अधिकारी या रेवेन्यू डिवीजनल अधिकारी इसका अध्यक्ष (Chairman) होगा—पहले दो वर्षों के लिए। पचायत समिति का कार्यकाल 5 वर्ष का होगा।

(3) जिला परिषद् के सदस्यों में जिले की सभी पचायत समितियों के अध्यक्ष होंगे। राज्य विधान सभा तथा संसद् के वे सभी सदस्य जिनके निर्वाचन क्षेत्र (Constituencies) जिले में पड़ते हों और जो कुछ या पूरे जिले का प्रतिनिधित्व

करते हों, इसके सदस्य होंगे। जिला स्तरीय अधिकारी (District Level Officers) भी इनकी बैठकों में भाग लेंगे। जिला परिषद् का एक अध्यक्ष होगा।

(4) पंचायत समिति के कार्य—पंचायत समिति के कार्य कृषि के प्रत्येक पहलू का विकास, जानवरों की नस्ल व स्वास्थ्य में सुधार, लघु व स्थानीय उद्योगों को बढ़ावा, जन सेवा, कल्याणकारी कार्य, प्राथमिक शालाओं को चलाना, तथा आँकड़ों का लेखा रखना है। पंचायत समिति को राज्य सरकार के अभिकर्ता (Agent), जो विकास योजनायें इसे दी गई हैं, उन्हें कार्य रूप देना है। समिति ने यह भी सिफारिश की कि अन्य कार्य पंचायत समितियों को तभी दिये जायें जब कि वे कार्यक्षम जनतान्त्रिक संस्थाओं की तरह कार्य करना प्रारम्भ कर देंगी।

(5) पंचायत समिति के आय के साधन निम्न होंगे—

(1) खण्ड में जमा किये हुए भूमि कर का कुछ प्रतिशत भाग।

(2) भूमि से प्राप्त होने वाली आय (Land Revenue) पर कर।

(3) पेशे पर लगाया गया कर।

(4) अचल सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर लगाया गया शुल्क।

(5) सम्पत्ति से होने वाली आय तथा किराया।

(6) मौजारों तथा पट्टा देने पर आय।

(7) तीर्थ-यात्रा कर, मनोरंजन कर, प्राथमिक शिक्षा शुल्क, मेले तथा बाजारों से होने वाली आय।

(8) मोटर-गाड़ियों में टैक्स से होने वाली आय का कुछ भाग।

(9) जनता द्वारा स्वेच्छापूर्वक दिया गया दान।

(10) सरकार द्वारा दिये गये अनुदान।

(6) राज्य सरकारों को चाहिए कि वे इन समितियों को शर्त पर या बिना शर्त पर अनुदान दें, विशेष तौर पर आर्थिक तौर से पिछड़ी हुई जगहों (Areas) का ध्यान रखते हुए।

(7) केन्द्रीय या राज्य सरकार द्वारा जो भी धन खण्ड में खर्च किया जाता है वह पंचायत समिति के द्वारा ही, प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से खर्च किया जाना चाहिए। इसका अपवाद यह है कि अगर समिति किसी संस्था की सीधे ही मदद करने की सिफारिश करे, तो वैसा ही सरकार द्वारा किया जाय।

(8) समिति के तकनीकी अधिकारी जिला स्तर के तकनीकी बड़े अधिकारी के तकनीकी नियन्त्रण में हों, परन्तु उन्हें मुख्य प्रशासकीय अधिकारी के प्रशासकीय तथा कार्य सम्बन्धी नियन्त्रण में रहना होगा।

(9) समिति का वार्षिक बजट जिला परिषद् द्वारा अनुमोदित होना चाहिए।

(10) सरकार द्वारा थोड़ा नियन्त्रण बनाये रखना, उदाहरण के लिए, जनता के हित के लिए, पंचायत समिति का उल्लंघन किया जा सकता है।

(11) *पचायत समिति का संगठन निर्वाचन के आधार पर ही होना चाहिए,* साथ ही यह भी नियम होना चाहिए कि दो महिला सदस्यो तथा अनुसूचित जातियों तथा कबीलो के एक-एक सदस्य का सह वरण (Co-opt) किया जा सके और किसी दूसरे गुट को विशेष प्रतिनिधित्व देने की आवश्यकता नही है।

(12) *पचायत के साधन*—मकान कर से प्राप्त धन, बाजारो व वाहनो पर टैक्स, चु गी कर, चरागाह से आमदनी, पशुओ की बिक्री पर कर तथा पचायत समिति द्वारा दिये गये अनुदान।

(13) भूमि कर को इकट्ठा करने के लिए ग्राम पचायतो को अभिकरण (Agency) मानना चाहिए और उन्हे कमीशन देते रहना चाहिए। इस कार्य के लिए *पचायतो का स्तर, प्रशासकीय व विकास कार्य, जो जितना अधिक करती हो,* व अच्छा करती हो, के अनुसार निर्धारित कर देना चाहिए। सिर्फ उन्ही पचायतो को जो कम से कम एक न्यूनतम स्तर तक सन्तोषप्रद कार्य कर रही हो, को यह अधिकार दिया जाय।

(14) *ग्राम पचायतो का यह अधिकार होना चाहिए कि वे पचायत समिति* को प्राप्त हुए भूमि कर मे से नियम (Statutory) के द्वारा एक निश्चित भाग प्राप्त कर सके।

(15) ग्राम पचायतो का बजट पचायत समिति द्वारा जांच किया हुआ व अनुमोदित हो। पचायत समिति के मुख्य अधिकारी को पचायत पर वही शक्ति प्राप्त होगी, जो कि जिलाधीश को पचायत समिति पर प्राप्त होती है। कोई भी ग्राम पचायत राज्य सरकार के अतिरिक्त और किसी के द्वारा भग नही की जा सकती। राज्य सरकार भी इसे जिला परिषद् की सलाह व सिफारिश पर ही भग करेगी।

(16) *ग्राम पचायतों के मुख्य कृत, अन्य कृत्यों के अतिरिक्त निम्न हैं*—स्वच्छ व स्वास्थ्यप्रद जल की समुचित व्यवस्था करना, पीने के पानी को गन्दा होने से बचाना और गन्दे पानी का पीने के लिए उपयोग न होने देना, प्रकाश व स्वच्छता की व्यवस्था करना, जमीन का प्रबन्ध करना, आंकडो का सग्रह, तथा अन्य आवश्यक लेखा-जोखा रखना तथा पिछडी हुई जातियो की भलाई का ध्यान रखना। इसके अतिरिक्त पचायत को सौपी गई योजनाओं को अमल मे लाने के लिए पचायत समिति के अभिकरण के तौर पर भी कार्य करेगी।

(17) न्याय पचायत का कार्यक्षेत्र ग्राम सेवक क्षेत्र से भी बडा हो सकता है और पचायतो द्वारा जो सुभाव, नाम सूची मे दिये गये हो, उनमे से जिला मजिस्ट्रेट न्याय पचायत के सदस्यो के नाम का निर्वाचन कर सकते हैं।

(18) विभिन्न पचायत समितियो मे ताल-मेल बनाये रखने के लिए आवश्यक है कि जिला परिषद् बनाई जाये, जिसके सदस्य सभी पंचायत समितियों के

अध्यक्ष हो, क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करने वाले विधानसभा सदस्य तथा संसद् सदस्य हों और जिला स्तरीय अन्य सदस्य हों।

(19) यदि लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण के इस प्रयोग से हम अधिक लाभ प्राप्ति की आशा रखते हैं, तो इसके लिए आवश्यक है कि इस योजना में तीनों स्तरों (Three Tires) को एक साथ शुरू किया जाय व सारे जिले में तीनों स्तरों—पंचायत, पंचायत समिति तथा जिला परिषदों का कार्य एक ही समय में शुरू कराया जाय।

राजस्थान में लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण
(Democratic Decentralization in Rajasthan)

राजस्थान भारत का पहला राज्य था जिसने लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण को अपनाया। यह राजस्थान के लिए एक गर्व की बात थी। यह योजना अधिनियम के रूप में राजस्थान राज्य विधान सभा में 13 मई, 1959 को प्रस्तुत की गई। तत्पश्चात् राजस्थान विधान सभा ने इसे पारित कर दिया। 9 सितम्बर, 1959 को भारत के राष्ट्रपति ने अपनी अनुमति इस अधिनियम पर दे दी। इस अधिनियम का नाम राजस्थान पंचायत समितियां तथा जिला परिषद् कानून रखा गया। 2 अक्टूबर, 1959 को नागौर में स्वर्गीय प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू के कर कमलों द्वारा इस योजना का उद्घाटन किया गया। इसके बाद आज देश के सभी राज्यों ने इस योजना को अपनाया है।

अधिनियम का उद्देश्य :—द्वितीय पंचवर्षीय योजना में योजना आयोग ने इस बात पर बल दिया कि प्रत्येक योजना निम्न स्तर से चालू की जावे और इसके लिए पंचायतों को आधारशिला बनाया जावे। ग्रामीण विकास की सब योजनायें ग्रामणी सहायता तथा आत्मनिर्भरता के आधार पर बनें। सामुदायिक विकास योजना के कार्यक्रम का अध्ययन करने वाली समिति ने श्री बलवन्तराय मेहता की अध्यक्षता में काफी छानबीन की कि सामुदायिक विकास योजनायें लागू करने के बाद हमने कितनी सफलता प्राप्त की? उसने यह देखा कि हमारे विकास कार्यक्रम के पीछे जो भावना थी कि यह ग्राम लोगों का कार्यक्रम बने, लेकिन यह बन नहीं पाया। अतः उस समिति ने सिफारिश की कि विकास योजना के कार्यक्रम के सम्बन्ध में एक विकेन्द्रीय प्रशासन की योजना खण्ड तथा जिला स्तर पर लागू की जाय जिससे कि गांव अपने विकास की जिम्मेदारी समझें और उस गांव की पंचायत सक्रिय होकर अपने विकास कार्यक्रम में जुट जावें। अतः इस विधेयक द्वारा राज्य में पंचायत समितियां तथा जिला परिषदें स्थापित करने का कानून बनाना तय किया गया। इस विधेयक द्वारा राजस्थान पंचायत अधिनियम, 1953 में भी आवश्यक संशोधन किये जायेंगे जिससे कि पंचायतें इस विधेयक द्वारा लोकतन्त्रीय त्रिमूर्तीय ढांचे—पंचायत, पंचायत समिति एक निगम निकाय होगी तथा उस खण्ड का प्रशासन तथा

सामुदायिक विकास कार्यक्रम का संचालन पंचायतों की सहायता से पंचायत समिति द्वारा किया जायगा। जिला परिषद् भी एक निगम निकाय होगी तथा यह जिले में होने वाले विकास तथा योजना कार्यक्रमों के लिए एक सलाहकार तथा परिवेक्षण संस्था होगी। यह जिले की समस्त पंचायत समितियों की समस्याओं पर विचार कर उनमें समन्वय स्थापित तथा उनके कार्यों का परिवेक्षण करेगी। जिला परिषदों के बनने पर *जिला बोर्ड समाप्त हो जायेंगे। पंचायत, पंचायत समिति तथा जिला परिषद्* स्तर पर विधेयक द्वारा प्रस्तावित कृत्यों से जनता सभी विकास कार्यक्रमों में दिल खोल कर सक्रिय भाग ले सकेगी। सरकार यह आशा करती है कि उससे स्थानीय जनता में उत्साह उत्पन्न होगा तथा नेतृत्व की भावना जागेगी। जो लोकतन्त्रीय संस्थाओं में सफलतापूर्वक कार्य संचालन के लिए अत्यन्त आवश्यक है।''

उपर्युक्त उद्देश्यों के आधार पर ही यह अधिनियम बनाया गया है। इसमें अब यह आशा की जाती है कि जनता में आत्मनिर्भरता जागेगी। वे अपना विकास स्वयं करने को आतुर होंगे। अपनी आवश्यकताओं तथा अपनी इच्छाओं के अनुसार कार्य कर सकेंगे। इसलिए उनको काफी अधिकार तथा आर्थिक सहायता दिये जाने का प्रावधान रखा गया है। इन संस्थाओं पर सरकार का अबाध नियन्त्रण नहीं होगा। *बहुत सम्भव है कि ये लोग त्रुटियां करेंगे परन्तु त्रुटियां करके भी वे सीखेंगे—यह* हमारा ध्येय होगा। आखिर वे जनता के प्रतिनिधि हैं और उनकी इच्छा को ही वे व्यक्त करते हैं।

उपर्युक्त कानून के अन्तर्गत राजस्थान के प्रत्येक जिले में एक जिला परिषद् की स्थापना की गई। राजस्थान में कुल 26 जिले हैं, इस प्रकार 26 जिला परिषदों की स्थापना की गई। जहाँ तक पंचायत समितियों का प्रश्न है राजस्थान में 232 पंचायत समितियों का गठन किया गया। पंचायतों की व्यवस्था राज्य में पहले से ही की जा चुकी थी, जिसका विवरण पहले अध्याय में दिया जा चुका है। इस अध्याय में हम पंचायत समितियों तथा जिला परिषदों का वर्णन करेंगे।

पंचायत समितियां
(Panchayat Samities)

संगठन : राज्य सरकार किसी भी खण्ड में पंचायत समिति की स्थापना कर सकती है। विकास खण्ड के क्षेत्र में जितनी ग्राम पंचायतें आती हैं, उनके सरपंच उसके पदेन सदस्य होंगे। यदि खण्ड की किसी पंचायत के सरपंच का स्थान रिक्त है तो, जब तक वह स्थान न भरा जाय, तो उस पंचायत का उप—सरपंच खण्ड की पंचायत समिति का सदस्य होगा। यदि खण्ड के किसी पंचायत के सरपंच तथा उप-सरपंच दोनों के स्थान रिक्त हों तो, जब तक दोनों स्थानों में से कोई भी एक न भरा जाय, पंचायत द्वारा अपने अन्य पंचों में से चुना गया कोई भी व्यक्ति, उस खण्ड की पंचायत समिति का सदस्य होगा। इसके अतिरिक्त यदि किसी पंचायत को राज्य

सरकार ने तोड़ दिया है तो ऐसी स्थिति में पचायत समिति उस पचायत क्षेत्र के किसी व्यक्ति को सहवृत (Co-opt) कर सकती है।

राज्य सरकार ने सन् 1964 में पचायत के कानून में संशोधन किया जिसके अनुसार पचायत समिति के कुछ पदेन सदस्य और बढ़ गये। इस संशोधन में उप-जिलाधीश तथा पचायत समिति से चुन कर गये विधान सभा के सदस्य भी पचायत समिति के अब पदेन सदस्य होंगे। लेकिन उप-जिलाधीश को पंचायत समिति के कार्यों में मतदान करने का कोई अधिकार नहीं होगा। जबकि विधान सभा के सदस्य को यह अधिकार दिया गया है परन्तु विधान सभा के सदस्य किसी स्थाई समिति के अध्यक्ष या प्रधान नहीं बन सकते हैं।

पचायत समिति में सहवृत सदस्य : प्रत्येक पचायत समिति में कुछ सहवृत सदस्य होते हैं। इन सदस्यों को चुनने का अधिकार केवल पदेन सदस्यों को होता है। चुनाव बहुमत के आधार पर किया जाता है। निम्न व्यक्ति पचायत समिति के सदस्यों के रूप में सहवृत किये जायेंगे—

(i) दो महिलायें, यदि पचायत समिति की कोई महिला सदस्य न हो,

(ii) एक महिला, यदि सरपचों में एक महिला सदस्य हो।

(iii) अनुसूचित जातियों के दो व्यक्ति, यदि ऐसा कोई व्यक्ति पचायत समिति का सदस्य न हो।

(iv) अनुसूचित जातियों का एक व्यक्ति यदि एक सरपच इस जाति का चुनकर आ गया हो,

(v) अनुसूचित जन-जातियों के दो व्यक्ति, यदि अनुसूचित जन-जातियों का कोई सरपच न हो तथा खण्ड की कुल जनसंख्या का 5 प्रतिशत से अधिक जनजाति की जनसंख्या हो,

(vi) ग्रामदान गाँवों के प्रतिनिधि जो प्रत्येक गाँव से एक होगा।

पचायत समिति के सह-सदस्य : सन् 1964 में किये गये संशोधन के अनुसार उक्त सदस्यों के अतिरिक्त पचायत समिति में कुछ सह-सदस्य होंगे—

(i) विकास खण्ड की सेवा सहकारी समितियों के अध्यक्षों द्वारा उन्हीं में से निर्वाचित एक प्रतिनिधि,

(ii) विकास खण्ड के सेवा सहकारी समितियों तथा मार्केटिंग सहकारी समितियों के अतिरिक्त अन्य सहकारी समितियों के द्वारा उन्हीं में से निर्वाचित एक प्रतिनिधि, और

(iii) विकास खण्ड में काम करने वाली मार्केटिंग सहकारी समितियों के अध्यक्ष।

यहाँ यह बता देना उचित होगा कि सह-सदस्यों को पचायत समिति की बैठकों में भाग लेने का अधिकार तो है परन्तु उन्हें मत देने का अधिकार केवल

उत्पादन कार्यक्रम सम्बन्धी मामलों पर ही है, अन्य विषयों पर नहीं। इसके अतिरिक्त ये प्रधान, उप-प्रधान, पंचायत समिति की स्थाई समिति के अध्यक्ष आदि भी नहीं बन सकते।

पंचायत समिति के प्रधान तथा उप-प्रधान : प्रत्येक पंचायत समिति का एक प्रधान तथा उप-प्रधान होगा जो पंचायत समिति के सदस्यों द्वारा उनमें से ही चुना जायगा। लेकिन सन् 1964 के संशोधन के अनुसार पंचायत समिति के पदेन तथा सहवृत सदस्य (उप-जिलाधीश को छोड़कर) एवं पंचायतों के निर्वाचित तथा सहवृत सदस्य प्रधान तथा उप-प्रधान के चुनाव में भाग लेंगे।

इस संशोधित कानून में इस बात की भी व्यवस्था की गई है कि एक साधारण मतदाता भी प्रधान बन सकता है। अतः यह प्रावधान रखा गया कि पंचायत समिति का प्रधान कोई ऐसा व्यक्ति बन गया है जो पंचायत समिति का सदस्य नहीं है तो वह उसका पदेन अतिरिक्त सदस्य माना जायगा।

यदि पंचायत समिति का प्रधान किसी पंचायत का सरपंच चुन लिया जाता है तो वह नाम मात्र का सरपंच उस पंचायत का रहेगा। ऐसी स्थिति में उप सरपंच पंचायत का कार्य करेगा तथा वह ही उस पंचायत का पंचायत स[illegible] में प्रतिनिधित्व करेगा।

प्रधान तथा उप-प्रधान की शक्तियाँ और कार्य : किसी पंचायत समिति का प्रधान—

(1) पंचायत समिति की बैठकें बुलायेगा, उसका सभापतित्व तथा कार्य संचालन करेगा।

(2) पंचायत समिति के अभिलेखों को देखेगा।

(3) पंचायत में कार्य के उपक्रम की भावना तथा उत्साह उत्पन्न करने के लिए प्रोत्साहन देगा।

(4) पंचायत समिति तथा उसकी स्थायी समितियों में कार्य करने वाले कर्मचारियों तथा विकास अधिकारी पर प्रशासनिक नियंत्रण रखेगा।

(5) आपातकालीन स्थिति में विकास अधिकारी से परामर्श से स्थिति का मुकाबला करने के उचित कदम उठायेगा।

(6) प्रधान, प्रत्येक वर्ष के अन्त में, उस वर्ष के दौरान विकास अधिकारी के कार्य के सम्बन्ध में, एक गुप्त प्रतिवेदन जिला विकास अधिकारी को भेजेगा जो उस प्रतिवेदन की एक प्रति अपने स्वयं के गुप्त प्रतिवेदन के साथ, राज्य सरकार को भेजेगा।

जब प्रधान का पद रिक्त हो, तो पंचायत समिति का उप-प्रधान नये प्रधान के निर्वाचित होने तक पंचायत समिति के प्रधान की शक्तियों का प्रयोग तथा कार्यों का सम्पादन करेगा।

प्रधान या उप-प्रधान में अविश्वास का प्रस्ताव : प्रधान या उप-प्रधान में अविश्वास का प्रस्ताव पंचायत समिति के सदस्यों द्वारा लाया जा सकता है। ऐसा करने के लिए जिलाधीश को सूचना दी जाती है। तत्पश्चात् जिलाधीश इसके लिए बैठक बुलाने के लिए पंचायत समिति के सदस्यों को बैठक की तिथि से कम से कम 15 दिन पहले सूचना रजिस्टर्ड डाक पत्र से भेजेगा। यह सूचना निर्धारित प्रपत्र पर दी जावेगी तथा इसकी एक प्रति सूचना पट्ट पर लगाई जायेगी। यदि किसी सदस्य के निवास स्थान पर डाकखाना नहीं हो या शीघ्रता से सूचना नहीं पहुँच सके तो तहसील के द्वारा सूचना भेजी जायगी।

परन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्रधान या उप-प्रधान के विरुद्ध पद भार सम्भालने के 6 महीने के भीतर कोई अविश्वास का प्रस्ताव नहीं लाया जा सकता है। अविश्वास का प्रस्ताव पंचायत समिति के कुल सदस्यों के कम से कम दो-तिहाई सदस्यों के समर्थन से पारित होना आवश्यक है। अविश्वास के प्रस्ताव में वह सदस्य जिसके विरुद्ध प्रस्ताव लाया गया है, अपना मत दे सकता है तथा वह भी उन सदस्यों की संख्या में सम्मिलित किया जावेगा।

प्रधान या उप-प्रधान को हटाने की सरकार की शक्ति : राज्य सरकार किसी प्रधान या उप-प्रधान या सदस्य को उसके पद से हटा सकती है, यदि उसकी राय में—

(1) वह पंचायत समिति के कार्यों को राज्य सरकार के आदेशों के अनुसार नहीं करे, या उनका पालन नहीं करे या पालन करने से इन्कार कर देवे, या

(2) उन शक्तियों का जो उसको प्रदान की गई हैं, दुरुपयोग करता है, या

(3) वह अपने कर्तव्य पालन में आचरण भ्रष्ट होने का दोषी पाया गया हो।

सरकार जाँच करने के दौरान में उसे पद से निलम्बित कर सकती है। उसे पद से हटाने के पहले राज्य सरकार उसे सुनवाई का उचित अवसर देगी तथा जिला परिषद् से भी परामर्श लेगी। लेकिन जिला परिषद् को यह परामर्श प्रेषित पत्र की तारीख से 30 दिन के भीतर देना होगा। यदि प्रधान या उप-प्रधान या सदस्य इस धारा के अन्तर्गत हटा दिया जाता है तो वह हटाये जाने की तिथि से तीन वर्ष तक प्रधान या उप-प्रधान या सदस्य नहीं रह सकेगा।

प्रधान या उप-प्रधान या सदस्य को हटाये जाने के पहले उसके विरुद्ध स्पष्ट लिखित में दोष लगाये जायेंगे। दोषारोपण की प्रतिलिपियाँ उसको दी जायेंगी तथा उचित समय दिया जावेगा, जिसमें उसे उत्तर देना होगा। उत्तर प्राप्त होने पर राज्य सरकार उसे यदि उचित समझे तो उसे व्यक्तिगत सुनवाई का मौका दे सकती है।

प्रधान या उप-प्रधान या सदस्य दुराचरण के लिए अपने पदकाल में किये गये कार्यों के लिए ही दोषी हो सकता है। अपने पदकाल के पहले या बाद में किये गये कार्यों के लिए दोषी नहीं माना जा सकता है।

पंचायत समिति का कार्यकाल : सामान्यतया पंचायत समिति का कार्यकाल तीन वर्ष का होता । लेकिन सरकार यदि चाहे तो निश्चित कार्यकाल के पूर्व इसे तोड़ सकती है अथवा इसकी अवधि एक वर्ष तक के लिए बढ़ा सकती है ।

पंचायत समिति के सदस्य बनने के लिए अयोग्यतायें

ऐसा कोई भी व्यक्ति पंचायत समिति का सदस्य बनने के लिए अयोग्य होगा, यदि वह—

(i) केन्द्रीय सरकार या किसी राज्य स्थानीय सत्ता के अधीन कोई पूर्णकालिक या अंशकालिक वैतनिक नियुक्ति पर है,

(ii) 25 वर्ष से कम आयु का है,

(iii) नैतिक पतन युक्त दुराचार के कारण सरकारी सेवाओं से हटाया हुआ है,

(iv) पंचायत समिति में उपहार या व्यवस्थापन में कोई वेतन युक्त पद या लाभप्रद स्थान धारण करता है,

(v) वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से पंचायत समिति के लिये किये गये किसी कार्य या समिति के साथ संविदा में हित या हिस्सा रखता है,

(vi) कोढ़ी है या अन्य शारीरिक या मानसिक दोष या रोग से पीड़ित है जिसके कारण वह कार्य करने के अयोग्य हो गया हो,

(vii) किसी सक्षम न्यायालय द्वारा नैतिक पतन युक्त किसी अपराध का दोषी ठहराया गया है,

(viii) दिवालिया हो,

(ix) जो पंचायत समिति या पंचायत द्वारा लगाये गये किसी कर या फीस को उसके अदा करने की तिथि के दो महीने में नहीं भुगतता है,

(x) पंचायत समिति की ओर से या उसके विरुद्ध वकील के रूप में नियोजित है,

(xi) राजस्थान पंचायत नियम, 1953 के अन्तर्गत किसी पंचायत के सरपंच या उप-सरपंच या पंच अथवा न्याय पंचायत में अध्यक्ष या सदस्य के रूप में निर्वाचन के लिए अयोग्य है ।

पंचायत समिति के सदस्यों की सदस्यता का समाप्त होना

किसी पंचायत समिति का कोई सदस्य अपनी सदस्यता खो देता है, यदि वह—

(i) उपर्युक्त अयोग्यताओं में से किसी अयोग्यता से युक्त है या हो जाता है, या

(ii) उसके निर्वाचित, सहवृत या मनोनीत, यथा स्थिति, होने की तारीख से प्रारम्भ होने वाले किसी वर्ष में कुल मिलाकर—

1 सामुदायिक विकास

(1) ग्रार्थिक नियोजन, उत्पादन तथा सुख-सुविधायें प्राप्त करने के लिए ग्राम सस्थाम्रो का सगठन करना।

(2) पारस्परिक सहकारिता के सिद्धान्तो पर ग्राधारित ग्राम समुदाय मे ग्रात्मविश्वास तथा स्वावलम्बन की प्रवृत्ति उत्पन्न करना।

(4) समुदाय की भलाई के लिए ग्रामीण क्षेत्रो मे काम मे नहीं लिए जाने वाले समय तथा शक्ति का प्रयोग करना।

2. कृषि

(1) परिवार, ग्राम तथा खण्ड के लिए ग्रधिक कृषि उत्पादन के लिए योजना बनाना तथा उसे पूरा करना।

(2) थल तथा जल के साधनो का प्रयोग तथा नवीनतम शोध पर ग्राधारित खेती की सुधरी हुई रीतियो का प्रसार करना।

(3) ऐसे सिंचाई कार्यो, जिनकी लागत 25,000 रुपये से ग्रधिक न हो, का निर्माण करना।

(4) सिंचाई के कुग्रो, बाँधो, एनिकटो तथा मेड बन्धो के निर्माण के लिए सहायता का प्रावधान रखना।

(5) भूमि को कृषि योग्य बनाना तथा कृषि भूमियो पर भू रक्षण की व्यवस्था करना।

(6) ग्रच्छे बीज को प्राप्त करने की व्यवस्था करना तथा उनका वितरण करना।

(7) फल तथा सब्जियो का विकास करना।

(8) खादो तथा उर्वरको को लोकप्रिय बनाना तथा उनका वितरण करना।

(9) स्थानीय खाद सम्बन्धी साधनो का विकास करना।

(10) सुधरे हुए कृषि ग्रौजारो का प्रयोग, खरीद तथा निर्माण को बढावा देना तथा उनका वितरण करना।

(11) पौधो की रक्षा करना।

(12) राज्य प्रायोजना मे बताई गई नीति के ग्रनुसार व्यापारिक फसलो का विकास करना।

(13) सिंचाई तथा कृषि के विकास के लिए उधार तथा ग्रन्य सुविधायें प्रदान करना।

3. पशु-पालन

(1) ग्रभिजात ग्रभिजनन साडो की व्यवस्था करके, क्षुद्र साडो को बधिया करके ग्रौर कृत्रिम गर्भाधान की स्थापना तथा सधारण द्वारा स्थानीय पशुग्रो की कमोन्नति करना।

(2) ढोर, भेड़, सूअर, कुक्कुटादि तथा ऊँटों की सुधरी नस्लों को प्रस्तुत करना, इनके लिए सहायता देना तथा लघु आधार पर अभिजनन फार्मों को चलाना।

(3) छूत की बीमारियों को रोकना।

(4) सुधरा हुआ चारा तथा पशु खाद की व्यवस्था करना।

(5) प्राथमिक चिकित्सा केन्द्रों तथा छोटे पशु औषधालयों की स्थापना करना।

(6) दुग्धशालाओं की स्थापना व दूध भेजने की व्यवस्था करना।

(7) ऊन को श्रेणीबद्ध करना।

(8) क्षुद्र ढोरों की समस्या को सुलझाना।

(9) पंचायत के नियन्त्रण के तालाबों में मछलियों का विकास करना।

4. स्वास्थ्य तथा ग्राम सफाई

(1) टीका, स्वास्थ्य सेवाओं की स्थापना तथा उनका विस्तार, और व्यापक रोगों की रोकथाम करना।

(2) पीने योग्य पानी की सुविधायें उपलब्ध करना।

(3) परिवार आयोजन करना।

(4) औषधालयों, दवाखानों, डिस्पेन्सरियों, प्रसूति केन्द्रों तथा प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों का निरीक्षण करना।

(5) व्यापक स्वच्छता तथा स्वास्थ्य के लिए अभियान चलाना।

5. शिक्षा

(1) प्राथमिक पाठशालाओं की व्यवस्था करना।

(2) प्राथमिक पाठशालाओं को बुनियादी पद्धति में परिवर्तित करना।

(3) माध्यमिक स्तरों तक छात्र-वृत्तियां तथा आर्थिक सहायतायें जिनमें अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जन-जातियों व अन्य पिछड़ी जातियों के सदस्यों के लिए छात्रवृत्तियां तथा आर्थिक सहायताएँ सम्मिलित हैं, की व्यवस्था करना।

(4) लड़कियों की शिक्षा का विस्तार तथा स्कूल-माताओं का नियोजन करना।

(5) कक्षा प्रथम से पाँचवीं तक के विद्यार्थियों को छात्रवृत्तियों तथा निर्वाह-वृत्तियों का भुगतान करना।

6. समाज शिक्षा

(1) सूचना, सामुदायिक व विनोद केन्द्रों की स्थापना करना।

(2) युवक सगठनो की स्थापना करना।
(3) पुस्तकालयो की स्थापना करना।
(4) ग्राम सेविकाओं तथा ग्राम साथिनो के प्रशिक्षण तथा उनकी सेवाओं के उपयोग का विशेष रूप मे ध्यान रखते हुए महिलाओं तथा बालको के बीच काम करना।
(5) प्रौढ शिक्षा की व्यवस्था तथा प्रसार करना।

7. संचार साधन

(1) सडको का निर्माण करना।
(2) पुल बनवाना।
(3) सडको तथा पुलो की मरम्मत करवाना।

8. सहकारिता

(1) सेवा सहकारी समितियो, औद्योगिक, सिंचाई, कृषि तथा अन्य सहकारी सस्थाओं की स्थापना मे तथा उन्हे शक्तिशाली बनाने मे सहायता देकर सहकारी कार्यों को प्रोत्साहित करना।
(2) सेवा सहकारी सस्थाओं मे भाग लेना तथा उन्हे सहायता देना।

9. कुटीर उद्योग

(1) रोजी कमाने के अधिक अवसर देने के लिए तथा गावो मे आत्मनिर्भरता को बढाने के लिए कुटीर एव छोटे पैमाने के उद्योगो की स्थापना तथा विकास करना।
(2) उद्योग तथा नियोजन सम्बन्धी सम्भावित साधनो का सर्वेक्षण करना।
(3) उत्पादन केन्द्रो एव प्रशिक्षण केन्द्रो की स्थापना करना।
(4) कारीगरो तथा शिल्पकारो की कुशलता को बढाने के कार्य करना।
(5) सुधरे हुए औजारो को लोकप्रिय बनाना।

10. पिछड़े वर्गों के लिए कार्य

(1) अनुसूचित जातियो तथा अनुसूचित जन-जातियो तथा अन्य पिछडे वर्गों के लाभ के लिए सरकार द्वारा सहायता प्राप्त छात्रावासो का प्रबन्ध करना।
(2) समाज कल्याण के स्वयं-सेवी सगठनो को मजबूत बनाना तथा उनकी गतिविधियो का समन्वय करना।
(3) सयम, मद्यनिषेध एवं समाज सुधार सम्बन्धी प्रचार करना।

11. आपात्कालीन सहायता

आग, बाढ, महामारी तथा अन्य व्यापक प्रभावशाली आपदाओं की दशा मे आपातिक सहायता का प्रबन्ध करना।

12. आंकड़ों का संग्रह

ऐसे आंकड़ों का संग्रह तथा संकलन जो कि पंचायत समिति, जिला परिषद् या राज्य सरकार द्वारा आवश्यक समझे जायें।

13. प्रचार

(1) सामुदायिक रूप से सुनने की योजना बनाना।

(2) प्रदर्शनियाँ लगाना।

(3) प्रकाशन करवाना।

14. वन

(1) ग्राम वन की व्यवस्था करना।

(2) बाड़ी-बागों में भराई कराना।

15. विविध

(1) पंचायतों की समस्त गतिविधियों का पर्यवेक्षण तथा उनका पथ प्रदर्शन एवं ग्राम व पंचायत योजनाओं का निर्माण करना।

(2) घृणास्पद, भयानक अथवा हानिकारक व्यापारों, धन्धों तथा रिवाजों का नियमन करना।

(3) गन्दी बस्तियों का पुनरुद्धार करना।

(4) हाटों तथा अन्य सामाजिक संस्थाओं—उदाहरणार्थ सार्वजनिक पार्कों, बागों, फलोद्यानों व फार्मों आदि की स्थापना, प्रबन्ध तथा निरीक्षण करना।

(5) स्मारकों की स्थापना तथा प्रबन्ध करना।

(6) खण्ड में स्थित दरिद्रालयों, आश्रमों, धर्मशालाओं, पशु चिकित्सालयों तथा अन्य संस्थाओं की स्थापना तथा निरीक्षण करना।

(7) अल्प बचत तथा बीमा के द्वारा मितव्ययिता को प्रोत्साहन देना।

(8) लोक-कला तथा संस्कृति को प्रोत्साहित करना।

(9) पंचायत समिति के मेलों का आयोजन एवं प्रबन्ध करना

(10) ग्राम भवन का निर्माण करना।

(11) ऐसे किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए बनाये गये न्यासों का प्रबन्ध जिसके लिए पंचायत समितियों की निधि का प्रयोग किया जाए।

पंचायत समिति की आय तथा व्यय
(Income and Expenditure of Panchayat Samities)

पंचायत समिति की आय निम्न साधनों द्वारा होती है—

(1) राज्य सरकार द्वारा पंचायत समिति को हस्तान्तरित दायित्वों के लिए अनुदान।

समितियों का विचार था कि यह व्यवस्था सफलता की ओर बढ़ रही है। थोड़ी-बहुत कमियों का होना स्वाभाविक है। हमें इस बात को स्वीकार करना होगा कि पंचायती राज व्यवस्था से ग्रामीण जनता की राजनीतिक जागरूकता में वृद्धि हुई है। इससे जनता तथा उसके प्रतिनिधि एवं जनता व प्रशासन में निकटता आई है। जनता और प्रशासन के बीच की खाई काफी पट चुकी है। अब गाँव का साधारण व्यक्ति विकास अधिकारी के कमरे में बेहिचक तथा पूर्ण विश्वास के साथ घुसता है। इसके अतिरिक्त विकास अधिकारी व अन्य अधिकारी भी उसके साथ अच्छी तरह से पेश आते हैं।

गाँवों में पंचों तथा सरपंचों को जो अवसर उपलब्ध मिला है, इससे जन-सेवा की भावना भी कार्यरत है। ग्रामीण जनता का पंचों तथा सरपंचों से सम्पर्क बना रहता है। लोग आसानी से उनसे मिल सकते हैं और अपनी कठिनाइयों को उनसे दूर करवा सकते हैं।

राजस्थान में लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण की योजना को सफल होने में समय तथा साधनों की आवश्यकता है। किसी भी कार्य को जब प्रारम्भ किया जाता है तो कठिनाइयाँ सामने आती हैं परन्तु धीरे-धीरे ये कठिनाइयाँ कम होती रहती हैं। यह बात इस योजना के लिए भी लागू होती है। साधनों से हमारा तात्पर्य यह है कि प्रजातान्त्रिक विकेन्द्रीकरण की संस्थाओं को अधिक मात्रा में साधन दिए जाने चाहिएँ। कोई भी संस्था सरकारी अनुदान के द्वारा स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य नहीं कर सकती क्योंकि सरकार का उस पर नियन्त्रण बढ़ जाता है। ग्राम पंचायत, पंचायत समिति तथा जिला परिषद् को अपने स्वयं के आय के साधनों में वृद्धि करनी चाहिए। इतिहास इस बात को स्पष्ट करता है कि पहले जो पंचायतें अपने कार्य को करने में असफल हुईं उसका मुख्य कारण था—धन की कमी। अतः इन संस्थाओं को सफलता प्राप्त करने के लिए अपने आय के साधनों में वृद्धि करना आवश्यक है।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि इस योजना को जन योजना बना दिया जाना चाहिए। एक ऐसे वातावरण की स्थापना की जानी चाहिए जिससे कि ग्रामीण जनता का प्रजातान्त्रिक विकेन्द्रीकरण में विश्वास बढ़े। आज राजस्थान को ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण देश को विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता है। हमें हर हालत में ऐसे कार्य करने होंगे जो इसकी सफलता में सहायक हों। इस योजना का असफल होना इस बात का द्योतक होगा कि लोगों में आज भी सत्ता प्राप्त करने की लालसा है; तथा वे सत्ता का केन्द्रीयकरण चाहते हैं। हमें आत्म-विश्वास, लगन तथा सच्चे दिल से इस योजना को सफल बनाने में जुट जाना चाहिए और हम देखेंगे कि यह योजना सफलता के चरम को छू लेगी।

परीक्षोपयोगी प्रश्न

1. लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण का अर्थ बताते हुए राजस्थान में लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण पर एक लेख लिखिए।

Define Democratic Decentralization and write an essay on Democratic Decentralization in Rajasthan.

2. पंचायत समिति के संगठन, कार्य तथा अधिकारों का वर्णन कीजिये । क्या आप इसके सुधार के लिए सुझाव दे सकते है ?

Describe the Composition, function and power of Panchayat Samities. Can you give suggestions for its improvement

3. जिला परिषद् के संगठन तथा कार्यों का वर्णन कीजिये ।

Describe the composition and functions of Zila Parisads.